

GOVERNMENT OF INDIA  
ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA  
CENTRAL  
ARCHÆOLOGICAL  
LIBRARY

---

ACCESSION NO. 36906

CALL No. 294.3095416

Fi





# बौद्धधर्म और बिहार

36906

श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'



294.3095416

Tri

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना



प्रकाशक  
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्  
पटना-३

[ ० ]

प्रथम संस्करण, स्वरूप प्रकाशकाधीन  
विक्रमाब्द २०१६, शकाब्द १८८२, सिंहाब्द १९६०  
मूल्य सजिद्ध—८.००

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL  
LIBRARY, NEW DELHI.

Acc. No. 36906.....

Date 25.5.63.....

Ref. No. 294-3095416.....

मुद्रक

ज्ञानपीठ ( प्रा० ) लि०,

पटना-४

## वक्तव्य

बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग के अन्तर्गत संचालित 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' प्रारंभ से ही ऐसे दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन करती आ रही है, जिन्हें कई कारखों से हिन्दी के अन्य प्रकाशक प्रकाशित नहीं कर पाते। परिषद् का प्रकाशन-कार्य व्यापारिक लाभ की दृष्टि से न होकर, हिन्दी-साहित्य के अपूर्ण अंगों तथा मौलिक अनुसन्धानविषयक ग्रन्थों की पूर्ति के विचार से सम्यक् होता है। बिहार-सरकार अपनी इस संस्था के माध्यम से सतत सचेष्ट है कि हिन्दी के साधारण पाठकों की भी अध्ययन-वृत्ति सुसज्जित-सम्पन्न बनाई जाय और दुरुह तथा अछूते विषयों को भी रोचक साहित्य के रूप में उनके समक्ष प्रस्तुत किया जाय। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन परिषद् के इसी दृष्टिकोण का परिचायक है।

सन् १९५६ ई० में, बुद्ध-परिनिर्वाण की २५००वीं वर्ष-जयन्ती के उपलक्ष्य में, शिक्षा-विभाग ने परिषद् के माध्यम से 'बौद्धधर्म के विकास में बिहार की देन' शीर्षक निबन्ध लिखाने के लिए अखिल भारतीय स्तर पर प्रतियोगिता कराई थी। उसने इसके व्यय के लिए परिषद् को एक अलग से धनराशि भी दी। उस प्रतियोगिता में प्रस्तुत ग्रन्थ का ७५ पृष्ठीवाला प्रारूप सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित होकर प्रथम पुरस्कार से सम्मानित हुआ। उस समय निबन्धों के निर्णायकों ने परिषद् के साथ निबन्ध को परिषद् से प्रकाशित कराने का सुझाव दिया। बाद में निबन्ध के लेखक श्री 'सहृदय' ने बड़े परिश्रम से उसका विस्तार कर सर्वांगपूर्ण पाण्डुलिपि तैयार कर दी। परिषद् के संचालक-मण्डल ने पाण्डुलिपि का निरीक्षण-परीक्षण कर प्रकाशित करने की अपनी स्वीकृति दे दी। वस्तुतः बिहार-प्रदेश की जिस भूमि में सिद्धार्थ ने छह वर्षों तक कठिन तपस्या की, जिसमें उन्होंने बुद्धत्व-लाभ किया, जिसमें स्वयं धर्म-प्रचार का कार्य किया, वहाँ उन्हें सारिपुत्र-जैसा धर्म-सेनापति प्राप्त हुआ और वहाँ के सम्राट् अशोक ने उनके धर्म-विस्तार में अपना सारा जीवन लगा दिया, उस भूमि का कोई बौद्ध सांस्कृतिक इतिहास हिन्दी में न होना, एक बहुत बड़ा खलनेवाला विषय था। हमें संतोष है कि उस अभाव की पूर्ति इस ग्रन्थ के प्रकाशन से हो गई है। वद्यपि परिषद् ने इसके पहले ही बौद्धसाहित्य-विषयक, स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव-लिखित 'बौद्धधर्म-दर्शन' और पण्डित मोहनलाल महतो 'विगोमी'-लिखित 'जातककालीन भारतीय संस्कृति' नामक दो प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित किये थे, तथापि इस इतिहास-प्रधान ग्रन्थ का अपना एक अलग वैशिष्ट्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की लेखन-शैली रोचक और सरस है। इसमें २५०० वर्षों की बौद्ध संस्कृति की उन घटनाओं की परम्परा है, जिनके साथ किसी-न-किसी प्रकार बिहार-प्रदेश का सम्बन्ध है। लेखक ने कई स्थलों में प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर अपनी नवीन

मान्यता स्थापित की है, जिसके सम्बन्ध में इतिहास और पुरातत्त्व विद्वान् ही निर्णय दे सकते हैं। किन्तु, ग्रन्थ में कतिपय बौद्ध स्थानों के सम्बन्ध में लेखक का जो नवीन अनुसन्धान है, वह उनकी गवेषणात्मक प्रवृत्ति का शुभ प्रतीक है। बौद्ध संस्कृति से सम्बन्ध रखनेवाले प्रान्तीय स्तर पर, प्रायः जितने विषय हो सकते हैं, लेखक ने उन सबका समावेश, परिशिष्टों के साथ, ग्रन्थ में कर दिया है। बौद्धधर्म और दर्शन का सुबोध और संचित परिचय भी 'प्राक्कथन' भाग में दे दिया गया है, जिससे ग्रन्थ प्रायः सर्वांगपूर्ण बन गया है।

इस प्रकार के क्षेत्रीय अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों के सम्बन्ध में, आलोचकों की ओर से प्रान्तीयता की संकीर्ण भावना का विचार रखना, हिन्दी-साहित्य के विविध अंगों की सम्पुष्टि के लिए हितकर नहीं कहा जा सकता। हमारा तो विश्वास है कि यदि अंधकार में विलीन क्षेत्रीय इतिहास और मानचित्र सर्वांगपूर्ण तैयार कराकर प्रकाश में लाये जायें, तो हिन्दी-साहित्य के भांडागार की समृद्धि के साथ ही देश के अनेक अतीत गौरव-रत्नों की खान उद्घाटित हो जाय। इतिहास और पुरातत्त्व के प्रेमियों की ओर से इस प्रकार का प्रयास होना चाहिए, अब ऐसा समय आ गया है। इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने अपनी ओर से ऐसा ही प्रयास किया है।

ग्रन्थ के लेखक श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सद्बुद्ध' हिन्दी-संसार के सुपरिचित कवि और निबन्ध-लेखक हैं। अनुसन्धान-सम्बन्धी इनका यह ग्रन्थ विद्वानों में पूर्ण यश अर्जित करेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

वसन्तोत्सव  
शकाब्द १८८१; विक्रमान्द २०१६ }  
ख्रिष्टाब्द १९६० ई०

वैद्यानाथ पारखेय

परिषद्-संचालक





अन्वकार

श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

जिन्होंने बड़ी आश लगाकर मुझे पढ़ाया-लिखाया ; किन्तु जिन्हें  
मैं जीवन में कुछ भी न दे सका

उन्हीं

अपने स्वर्गीय पूज्य पिता

परिडत नरेश त्रिपाठी

को

तर्पण-स्वरूप श्रद्धया समर्पित

—‘सहृदय’

THE UNIVERSITY OF CHICAGO  
LIBRARY

1910

1910

1910

1910

1910

1910



## प्राक्कथन

इस पुस्तक की रचना एक आकस्मिक घटना है। सन् १९५६ ई० में, सम्पूर्ण भारत में, वैशाख पूर्णिमा को भगवान् बुद्ध-परिनिर्वाण की २५००वीं वर्ष-जयन्ती मनाई जानेवाली थी। इस जयन्ती के उपलक्ष्य में बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग की एक विज्ञप्ति 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिपद्' ( पटना ) की ओर से प्रसारित हुई। विज्ञप्ति में उल्लेख था कि केवल ७५ पृष्ठोंवाले 'बौद्धधर्म' के विकास में बिहार की 'देन' शीर्षक निबन्धों पर तीन पुरस्कार दिये जायेंगे। सर्वोत्कृष्ट निबन्ध ३००) ६० से, द्वितीय श्रेणी का निबन्ध २००) से और तृतीय स्थान प्राप्त करनेवाला निबन्ध १००) से पुरस्कृत होगा।

दिसम्बर १९५५ ई० में विज्ञप्ति प्रसारित हुई और जनवरी सन् १९५६ के अन्त तक निबन्धों की माँग की गई। प्रतियोगिता अखिल भारतीय स्तर पर हुई। इसके पहले ऐसे विषयों की ओर मेरा ध्यान बिलकुल नहीं था और न इस विषय पर पुस्तक लिखने का विचार ही था। मैंने उस प्रतियोगिता में भाग लिया, और मेरा निबन्ध अखिल भारतीय स्तर पर सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित होकर प्रथम पुरस्कार का भागी बना।

इस अवसर पर मैंने जो प्रश्न सामग्री एकत्र की, वह उस छोटे निबन्ध में अन्तर्भूत नहीं हो सकी। इसके अतिरिक्त मेरे मन में ऐसा भी विचार उठा कि इस परिश्रम का एक मात्र उद्देश्य क्या तीन सौ रुपये प्राप्त करना ही था? क्यों न एकत्र की गई शेष सामग्री से इस निबन्ध को विलुप्त कर पुस्तकाकार प्रकाशित कराऊँ? मेरे इसी विचार के फलस्वरूप आज यह पुस्तक आपके समक्ष प्रस्तुत है। पुस्तक में जो विषय हैं, मेरे नहीं हैं। मेरा तो केवल अध्ययन, चिन्तन और प्रतिपादन की शैली मात्र है। इसकी जो अच्छाई होगी, उन विद्वान् लेखकों की होगी, जिनके ग्रन्थों का मन्थन करके मैंने ग्रन्थन निकालने का प्रयास किया है। हाँ, इसके दोष निश्चित रूप से मेरे होंगे।

इस पुस्तक में, बौद्धधर्म के साथ विगत २५०० वर्षों का, बिहार-प्रदेश के योगदान का मूल्यांकन, ऐतिहासिक कालक्रमानुसार किया गया है। इसमें बिहार-प्रदेश के तत्कालीन धार्मिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक स्थितियों, बिहार-स्थित विभिन्न राज्यों, बौद्ध स्थानों, बुद्ध अथवा बौद्धधर्म-सम्बन्धी घटनाओं और सहयोगियों की चर्चा आपको मिलेगी। इसके अतिरिक्त इसमें आज के बिहार की तत्कालीन भौगोलिक स्थिति का ज्ञान; बिहार के बौद्ध विद्वानों, धर्म-प्रचारकों, कलाकारों, श्रेष्ठियों और राजाओं के सहयोग का विवरण; बौद्धधर्म को बिहार की भाषा और कला की देन का परिचय आदि भी आप प्राप्त करेंगे। किन्तु, बौद्धधर्म और उसका दर्शन क्या है, इसके विवरण का अभाव आपको शायद खटकेंगा।



बौद्धधर्म और दर्शन पर प्रकाश डालना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं था, अतः इस प्राक्कथन में उसकी थोड़ी चर्चा कर देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है ; क्योंकि पुस्तक की आधारभूमि 'बौद्धधर्म' ही है।

### बौद्धधर्म

भगवान् बुद्ध को बिहार-प्रदेश के 'उरुवेला' स्थान में जो ज्ञान प्राप्त हुआ था, वही ज्ञान बौद्धधर्म का केन्द्र-बिन्दु है। वह ज्ञान इतना ही था कि दुःख है, दुःख-समुदय (कारण) है, दुःख का निरोध है और दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद (उपाय) है। छह वर्षों की घोर तपस्या के बाद उक्त चार बातें उनकी प्रत्यक्ष हुई थीं। भारतीय ऋषि ज्ञान के द्रष्टा होते थे, लूटा नहीं। भगवान् बुद्ध इन 'चार आर्यसत्त्वों' के वैसे ही द्रष्टा थे। उपर्युक्त चार बातों को बौद्धधर्म में चार आर्यसत्त्व कहा गया है। किन्तु, बुद्ध ने इनमें से चौथी 'दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद' को आठ अंगोंवाला कहा है। इन आठों के नाम हैं—सम्मादिट्ठि (सम्यक् दृष्टि), सम्मा सङ्खप्पो (सम्यक् संकल्प), सम्मा वाचा (सम्यक् वचन), सम्मा कम्मन्तो (सम्यक् कर्म), सम्मा आजीवो (सम्यक् आजीविका), सम्मा वायामो (सम्यक् व्यायाम), सम्मा सति (सम्यक् स्मृति) और सम्मा समाधि (सम्यक् समाधि)। इन्हीं आठों को अष्टांगिक मार्ग कहते हैं। ये ही ऐसे रास्ते हैं, जिनपर चलने से निर्वाण प्राप्त हो सकता है, अतः इन्हें मध्यम मार्ग भी कहा जाता है। इन्हें मध्यम मार्ग इसलिए भी कहते हैं कि इनके आचरण में न तो शरीर को कठिन तपस्या करके गलाना-पचाना है या न अधिक रागों में ही फैसना है। जिस संध्या में भगवान् बुद्ध को बोधिवृक्ष के नीचे यह ज्ञान प्राप्त हुआ, उस रात के प्रथम वाम में, वहीं इसका अनुलोम-विलोम करके, उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त का भी आविष्कार किया। इसी प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त का चक्र बुद्ध ने 'अपिपत्तनमृगदाव' (सारनाथ) में पंचवर्गीय भिक्षुओं को, शिक्षा देने के क्रम में, सर्वप्रथम चलाया था।

#### १. दुःख—

उपर्युक्त 'चार आर्यसत्त्वों' के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध ने जो सूत्र विवेचन किया है, उनमें दुःख के लिए प्रत्यक्ष उदाहरण रखे हैं—

जाति पि दुक्खा, जरा पि दुक्खा, मरणं पि दुक्खं, सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपाया सापि दुक्खा, अपि ये हि सम्पयोगो पि दुक्खो, पिबे ठी विप्पयोगो पि दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तं पि दुक्खं, संश्रितेन पञ्चुपादानक्खन्धा दुक्खा। —दीघनिकाय २, ६, ५, १६

अर्थात्—“जन्म, बुढ़ापा, मरण, शोक, रुदन, परिदेवन, दीर्घकाल, अप्रिय का संयोग, प्रिय का विषोग, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति आदि दुःख हैं। वस्तुतः पञ्च उपादान-स्कन्ध मात्र दुःख हैं। ये सारी बातें मनुष्यमात्र के लिए अनुभूत और प्रत्यक्ष हैं। अतः दुःख सत्य है।”

बौद्धधर्म में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को उपादानस्कन्ध माना गया है—रूपदानस्कन्धो, वेदनुपादानस्कन्धो, संज्ञुपादानस्कन्धो, विज्ञानुपादानस्कन्धो।

( क ) भगवान् बुद्ध आकाश को छोड़कर पृथ्वी, जल वायु और अग्नि—इन चार महाभूतों को रूप मतलाते हैं। इन्हें वैशेषिक दर्शन में भूत द्रव्य कहा गया है।

( ख ) वस्तुओं के सम्पर्क अथवा उनके विचार के सम्पर्क से जो वस्तु सुख-दुःख का अनुभव करती है, वही वेदना उपादानस्कन्ध है।

( ग ) वेदना के पश्चात् बुद्धि में जो पहले से अंकित संस्कार हैं, उसके द्वारा वस्तुओं को ( नाम से ) जो हम पहचानते हैं, वही संज्ञा है।

( घ ) रूपों की वेदना और संज्ञाओं का संस्कार हमारी बुद्धि में पहले से ही पड़े रहते हैं। इनके सहयोग से जो हम ज्ञान करते हैं, वही संस्कार उपादान स्कन्ध है।

( ङ ) उक्त चारों के अतिरिक्त भगवान् बुद्ध चित् (चेतनत्व) को विज्ञान उपादान स्कन्ध कहते हैं, जिसे सांख्य 'महत्' कहता है।

उपर्युक्त सारी वस्तुएँ दुःख हैं, अतः इनका निरोध बौद्धधर्म का मुख्य सिद्धान्त है।

## २. दुःख-समुदय—

दुःख-समुदय (दुःखों के कारण) के सम्बन्ध में बुद्ध का कहना है कि काम, भव, विभव, इन्द्रिय-सुख, यश आदि की तृष्णा ही दुःख-समुदय है—कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा। इनमें कामतृष्णा जगत् के वास्तु भोगों की तृष्णा है, भवतृष्णा जीवन (जीने) की तृष्णा है और विभवतृष्णा पुनर्जन्म प्राप्त करने की तृष्णा है। इन विषयों का संसर्ग या स्मरण भी तृष्णा पैदा करता है। इनमें पञ्चतन्मात्राएँ ( रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ) भी दुःख-समुदय हैं। अतः, इनका उच्छेद ही एकमात्र निर्वाण का मार्ग है।

## ३. दुःख-निरोध—

भगवान् बुद्ध इन सारी तृष्णाओं के परित्याग को ही दुःख-निरोध कहते हैं। उनका कहना है कि विषय अथवा उनके विचार-विकल्प तक की काम-तृष्णा के निरोध ही जाने पर ही उपादान का निरोध होता है। उपादान ( पंचोपदानमय विषय-संग्रह ) के निरोध पर ही भव-निरोध होता है और भव-निरोध से ही विभव-निरोध होता है। अर्थात्—काम, भव और विभव की तृष्णा ही दुःख-समुदय है। इन सबका निरोध करना ही बौद्धधर्म का मुख्य पराक्रम है। इस दुःख-निरोध की नींव पर ही बौद्ध-दर्शन के विविध बहुभूमिक प्रासाद खड़े किये गये हैं।

## ४. दुःखनिरोध-गामिनी प्रतिपद् (अष्टांगिक मार्ग) —

उपर्युक्त दुःखनिरोध के जो अष्टांगिक मार्ग हैं, वे भी आर्यसत्य हैं। इनके नाम पहले लिखे गये हैं। इनके तीन भाग होते हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा।

( क ) शील में—सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म और सम्यक् आजीविका है। ( ख ) समाधि में—सम्यक् व्याचाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि है और ( ग ) प्रज्ञा में—सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प है।

या चात्तुसो विसाख, सम्मा वाचा यो च सम्माकम्मन्तो यो च सम्मा आजीवो इमे

धम्मा सीलक्खन्धे सङ्गहिता; यो च सम्मावायामो वा च सम्मा सति वा च सम्मासमाधि इमे धम्मा समाधिक्खन्धे सङ्गहिता; या च सम्मादिट्ठि यो च सम्मासङ्कप्पो इमे धर्मा पञ्जाक्खन्धे सङ्गहिता' ति<sup>१</sup> ।

उपर्युक्त अष्टांगिक मार्गों में तीन भाग हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। इनमें हिंसा, चोरी और व्यवभिचार कायिक हैं; मिथ्या भाषण, चुगलखोरी, अप्रिय भाषण और प्रलाप वाचिक हैं तथा लोभ, प्रतिहिंसा और मिथ्या धारणा मानसिक हैं। ये सारे बुरे कर्म हैं और इनके विपरीत अर्थवाले अच्छे कर्म हैं।

(१) इन मले-दुरे कर्मों को पहचान लेना ही सम्यक् दृष्टि है। (२) राग, हिंसा और प्रतिहिंसा से रहित संकल्प को सम्यक् संकल्प कहते हैं। (३) सम्यक् वचन उसे कहते हैं, जिसमें मिथ्या, चुगलखोरी, अप्रिय और कलहकारक वचन न हो तथा सर्वदा सत्य एवं प्रिय वचन बोला जाता हो, (४) हिंसा, चोरी और व्यवभिचार से रहित कर्म ही सम्यक् कर्म कहलाता है। (५) सम्यक् आजीव वह है, जिस जीविकोपार्जन में शस्त्र, प्राणी, मांस और विष का व्यापार न होता हो। (६) सम्यक् व्यायाम में इन्द्रियों का संयम, बुरी भावनाओं का परित्याग, अच्छी भावनाओं के उत्पादन का प्रयत्न और उत्पन्न की गई अच्छी भावनाओं को सुस्थिर रखने का पराक्रम होता है। (७) सम्यक् स्मृति उसे कहते हैं, जिसमें सदा इस विषय का स्मरण रखा जाता है कि काय, वेदना, संज्ञा, चित्त और मन (अर्थात्—पंचोपदान-स्कन्ध)—सभी क्षण-क्षण नाश-जन्मा तथा मलिनधर्मा हैं। इसी प्रकार (८) सम्यक् समाधि उसे कहते हैं, जिस में मन के सम्पूर्ण विक्षेप दूर होकर चित्त स्थिर हो जाय। 'योगसूत्र' इसी को योग कहता है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

भगवान् बुद्ध ने इन अष्टांगिक मार्गों में से सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प को स्थिर रखनेवाली प्रज्ञा का विवेचन किया है तथा सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म और सम्यक् आजीविका के लिए पंचशील का विधान किया है, एवं सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि के लिए समाधि की विविध प्रक्रिया बतलाई है। उपर्युक्त अष्टांगिक मार्ग ही, समाधि को छोड़कर, बौद्धधर्म में सप्तङ्ग नाम से अभिहित हैं।

भगवान् बुद्ध को बिहार-प्रदेश के 'उरुवेला' क्षेत्र में जिन चार आर्यसत्त्वों का ज्ञान हुआ था, उनका अतिसंक्षेप में यही सार है। बुद्ध इन्हीं चार आर्यसत्त्वों का सर्वत्र प्रचार-प्रसार करके दुःख से छुटकारा दिलाने के लिए इनके आचरण करने का उपदेश देते थे। इन विषयों को ठीक-ठीक समझनेवाला ही भिक्षु कायानुपश्यी, वेदनानुपश्यी, चित्तानुपश्यी और धर्मानुपश्यी कहलाता था। इसी तरह कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना को ही बौद्धधर्म में चार स्मृति-प्रस्थान कहा गया है।

उपर्युक्त 'चार आर्यसत्त्व' ही बौद्ध धर्म-चक्र की सम्पूर्ण अराखों की एकमात्र धुरी हैं,



जिनके सहारे भगवान् बुद्ध अपने धर्मचक्र को निरन्तर चलाते रहते थे—ये केचिहुसला धम्मा सम्बन्धे चत्तुसु अरियसत्थे सु सङ्गहं गच्छन्ति<sup>१</sup> ।

## बौद्ध-दर्शन

बौद्ध-दर्शन के मुख्य विषय तीन हैं—दुःख, प्रतीत्यसमुत्पाद (ज्ञानिकवाद) और अनात्म। १. दुःख—के सम्बन्ध में 'बौद्धधर्म' वाले विवरण में लिखा जा चुका है और बतलाया गया है कि सांसारिक सारे पदार्थ और शरीर के सारे धर्म दुःख-समुद्भूत हैं। इनकी सम्पूर्णां सृष्ट्याओं का छेदन ही निर्वाण है, जो मानवमात्र के लिए साध्य है। इसी सिद्धान्त के प्रतिपादन में ही बौद्ध-दर्शन का विकास हुआ है। भगवान् बुद्ध ने सकल धर्मों के उत्पत्त्य के लिए ही प्रतीत्यसमुत्पाद (ज्ञानिकवाद) और अनात्मवाद का सिद्धान्त आविष्कृत किया। प्रतीत्यसमुत्पाद ही एक ऐसा सिद्धान्त है, जो भगवान् बुद्ध का एकमात्र मौलिक सिद्धान्त कहा जा सकता है।

भगवान् बुद्ध के ज्ञानिकवाद और अनात्मवाद की समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि उन्होंने अपने दर्शन के प्रतिपादन में स्कन्ध, आवृत्त और धातु—इन तीन भागों में तत्त्वों का विभाजन किया है। सांख्यकार कपिल ने जिस तरह २५ तत्त्वों की गणना है, उसी तरह बुद्ध ने ३६ तत्त्व गिनाये हैं, जो 'निर्वाण' की छोड़कर ३५ होते हैं।

(क) स्कन्ध—स्कन्ध के सम्बन्ध में यह लिखा गया है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—ये पंचोपादान स्कन्ध कहलाते हैं। इनमें आकाश को छोड़कर चार महाभूत ही रूप कहलाते हैं। सुख-दुःख आदि के अनुभव का नाम वेदना है। संज्ञा अभिज्ञान को कहते हैं। मन पर जिस किसी चीज की छाप (वासना) रह जाती है, उसे संस्कार कहा जाता है। इसी तरह चेतना (संस्ख के महत्) को बुद्ध विज्ञान कहते हैं। बौद्ध-दर्शन का कहना है कि रूप (चतुर्माहाभूत) के सम्पर्क से विज्ञान की विभिन्न स्थितियाँ ही वेदना, संज्ञा और संस्कार हैं। इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए 'मज्झिम-निकाय' का 'महावेदसल्लसुत्त' कहता है कि संज्ञा, वेदना और विज्ञान—इन तीनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है—

या चावुसो, वेदना या च सज्जा सं च विज्झाणं इमे धम्मा संसहा नो विमंसहा, न च लब्ध्वा इमेसं धम्मार्त्तं विनिमुज्जिवा नाना करणं पप्पापेत्तुं ।

पुनः 'दीघनिकाय' इन पंचस्कन्धों के सम्बन्ध में कहता है कि ये सभी अनित्य, संस्कृत, प्रतीत्यसमुत्पन्न, क्षयधर्मा और विनाश (निरोध)-धर्मा हैं—

इति रूपं इति रूपस्स समुदयो इति रूपस्स अपवृत्तमो, इति वेदना इति वेदनाय समुदयो इति वेदनाय अपवृत्तमो, इति सज्जा इति सज्जाय समुदयो इति सज्जाय अपवृत्तमो, इति

१. मज्झिम-निकाय (महाद्वितीयोपमसुत्त)।

२. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महाकाः प्रकृतयः सप्त ।

सौकुण्डलसु विकारी न प्रकृतिर्न विकृतिः दुःखः ॥ —सांख्य-तत्त्वकौमुदी

सङ्गारा इति सङ्गारानं समुदयो इति सङ्गारानं अथऽमो, इति विज्जानं इति विज्जानाणस्स समुदयो इति विज्जानाणस्स अथऽमो' ति<sup>१</sup> ।

(ख) आपतन—आपतन में १२ तत्व होते हैं—छह ज्ञानेन्द्रियाँ (ओत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका और मन) और इनके छह विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और धर्म। बौद्ध-दर्शन में धर्म का अर्थ होता है—वेदना, संज्ञा और संस्कार।

भिवस्ये भिवसु धम्मेषु धम्मामुपस्सो विहरति—एषु अन्धकृतिक बाहिरसु आपतनेसु<sup>२</sup> ?

(ग) धातु—धातु के अन्दर १८ तत्व माने गये हैं, जिनमें १२ आपतन भी सम्मिलित हैं। अर्थात् छह ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके छह विषय आपतन के अतिरिक्त धातु भी हैं। इनके अतिरिक्त इन्द्रियाँ और विषयों के सम्पर्क से होनेवाले जो छह विज्ञान हैं, वे भी धातु कहलाते हैं। इन छह विज्ञानों के नाम हैं—ओत्र-विज्ञान, कोष-विज्ञान, चक्षु-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, नास-विज्ञान और मनोविज्ञान। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि बुद्ध के उपायुक्त तत्वों में पाँच कर्मेन्द्रियों का अलग से कहीं स्थान नहीं है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार ये पाँच स्कन्ध, द्वादश आपतन और अष्टादश धातुएँ—सभी कृत्य, संस्कृत और विध्वंसी हैं। ये मित्य, भ्रुव, शाश्वत और अविकारी नहीं हैं। बुद्ध ने इसपर जोर देते हुए कहा है कि यह अटल नियम है, सनातन सत्य है और इसे मैं भी कहता हूँ<sup>३</sup> ।

## २. प्रतीत्यसमुत्पाद—

भगवान् बुद्ध के विशुद्ध मौलिक सिद्धांत 'प्रतीत्यसमुत्पाद' को ही सृष्टिकवाद कहा जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को समझने के पहले इसका शाब्दिक अर्थ जान लेना आवश्यक है। आचार्य नरेन्द्रदेव ने लिखा है—“प्रति + इ का अर्थ 'प्राप्ति' है और प्रतीत्य का अर्थ 'प्राप्तकर' है। पद धातु सत्कार्यक है। सम् + उत् उपसर्ग पूर्वक इसका अर्थ 'प्रादुर्भाव' है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद = प्राप्ति होकर प्रादुर्भाव—अर्थात् वह उत्पन्नमान है<sup>४</sup> ।” किन्तु, मेरी समझ में आचार्यजी ने 'समुत्पाद' का अर्थ तो ठीक लिखा है; पर 'प्रतीत्य' का अर्थ अस्पष्ट ही रह गया है। यहाँ प्रतीत्य का अर्थ है—प्रति + इत्य = अर्थात् (एक के) इति (चले जाने) के बाद (दूसरे का) समुत्पाद। इसी तरह विलोम में एक के निरोध के बाद दूसरे के समुत्पाद का भी निरोध। अतः, यह हेतु-प्रत्ययता का वाद कहलाता है। हेतु-प्रत्ययता का तात्पर्य है—इसके उत्पाद से, उसका उत्पाद, इसके उत्पन्न न होने से, उसकी भी उत्पत्ति नहीं और इसके निरोध से उसका भी निरोध। अतः, इसी को हेतु-फल-प्रत्ययवाद भी कहते हैं।

यह पहले कहा गया है कि वेदना, संज्ञा और संस्कार धर्म कहलाते हैं, अतः ये भी प्रतीत्यसमुत्पाद हैं। इसीलिए भगवान् बुद्ध कहते हैं कि जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह

१. दीपनिकाय ( महासत्तिपट्ठान सूत्र )

२. तत्रैव

३. देखिए—अंगुत्तर निकाय—३, १, ३४

४. बौद्धधर्म-दर्शन—१० २३०

धर्म को देखता है और जो धर्म को देखता है, वही प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है। अर्थात्—प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त को समझनेवाला ही पंचस्कन्धों और धर्मों को समझ सकता है—

यो पटिच्चसमुत्पादं पस्सति सो धम्मं पस्सति, यो धम्मं पस्सति सो पटिच्चसमुत्पादं पस्सति ति, पटिच्चसमुत्पन्ना यो पनि मे यदिदं पच्चुपादानक्खन्धा' ।

बुद्ध पंचोपादानस्कन्ध के सम्बन्ध में कहते हैं कि ये स्कन्ध अपने आहार से उत्पन्न होनेवाले हैं, अतः आहार के निरोध से ये सभी निवृद्धधर्मा हैं—

तदाहारसम्भवं ति भिक्खवे, पस्सथानि तदाहारनिरोधा यं भूतं तं निरोधधम्मंति भिक्खवे पस्सथा' ति<sup>१</sup> ।

'मग्गिमनिकाय' के उपर्युक्त सूत्र में ही प्रतीत्यसमुत्पाद को द्वादशांग कहा गया है। वे बारहो अंग हेतु-फल-परम्परा के अनुसार इस प्रकार हैं— ( १ ) जरा-मरण, जरामरण का हेतु ( २ ) जाति ( जन्म, उत्पत्ति ), जाति का हेतु ( ३ ) भव, भव का हेतु ( ४ ) उपादान ( विषयों का संग्रह ), उपादान का हेतु ( ५ ) तृष्णा, तृष्णा का हेतु ( ६ ) वेदना, वेदना का हेतु ( ७ ) स्पर्श, स्पर्श का हेतु ( ८ ) छह आयतन ( मन के साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ), आयतन का हेतु ( ९ ) नामरूप, नामरूप का हेतु ( १० ) विज्ञान, विज्ञान का हेतु ( ११ ) संस्कार और संस्कार का हेतु ( १२ ) अविद्या। पुनः यह द्वादशांग चक्र उलटी गति से अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान आदि होते हुए जरामरण तक पहुँचता है। ये सभी चण-क्षण उत्पन्नधर्मा और विनाशी हैं। इसी चक्र-क्रम का अनुलोम-विलोम करके बुद्ध ने दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध के अष्टांगिक मार्ग को देखा और समझा था। ये सभी हेतु-फल-प्रत्यय न तो सत्य हैं, न नित्य हैं। इन सभी कार्य-कारणों का निरोध किया जा सकता है। बौद्ध-दर्शन में इसी सिद्धान्त को प्रतीत्यसमुत्पाद या क्षणिकवाद कहते हैं।

यहाँ हमने देखा कि प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त सभी विषयों और धर्मों को विच्छिन्न प्रवाह की तरह उत्पन्न और विलीन हेतु-फलवाला मानता है। इसके कार्य-कारण-भाव में अविच्छिन्न परम्परा का न तो सम्बन्ध है और न इसमें नित्य, सत्य और अविनाशी आत्मा का कहीं स्थान है। इस सिद्धान्त में यदि कहीं किसी धर्म को नित्य-सत्य माना जायगा अथवा अविनाशी आत्मा को स्थान दिया जायगा, तो बुद्ध के 'निर्वाण' का सारा पराक्रम व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि, सकल धर्म-विषयों का उच्छेद ही 'निर्वाण' है और नित्य-सत्य विषयों का उच्छेद संभव नहीं है। इसी प्रकार हेतु-फलों में यदि अविच्छिन्न परम्परा का सम्बन्ध माना जायगा तो अविद्या-जनित सारे धर्मों का कभी शुद्धीकरण हो ही नहीं सकेगा, तथा अष्टांगिक मार्गों के आचरण का उपयोग भी व्यर्थ हो जायगा। और तब, ऐसी अवस्था में 'निर्वाण' भी असंभव होगा। इसीलिए बुद्ध का यह निश्चित सिद्धान्त है कि 'दूसरा ही जन्मता है, दूसरे का ही निरोध होता है।'

१. मग्गिमनिकाय ( महापरिपदेशपमसुत्त )

२. मग्गिमनिकाय ( महातयहासज्जयसुत्त )



यद्यपि भगवान् बुद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु-फल में अविच्छिन्न प्रवाह नहीं मानता, तथापि वह यह मानता है कि एक ( कारण ) के उत्पन्न होने और उसके मिटने पर ही दूसरे ( कार्य ) की उत्पत्ति संभव है—अर्थात् हेतु का विलकुल नाश हो जाने पर ही कार्य का नया उत्पाद होता है। बुद्ध के इस क्षणिकवाद की गति में न तो धाराप्रवाह की गति है या न सरिसृण-सिद्धांत की; बल्कि इसमें बीजांकुर-न्याय का सिद्धान्त निहित है।

### ३. अनात्मवाद—

यह पहले कहा गया है कि अविनाशी और नित्य आत्मा को मानने पर बुद्ध का निर्वाणवाला उद्देश्य विफल हो जायेगा; क्योंकि आत्मा को नित्य और एकरस कहा गया है। ऐसी अवस्था में न तो आत्मा का परिशोधन हो सकता है या न उसका उच्छेद ही संभव है। भगवान् बुद्ध का कहना है कि यदि आत्मा नित्य और कूटस्थ है, तब न तो किसी तरह के संस्कार का उसपर कोई असर हो सकता है और न वह पाप-पुण्य का भागी बन सकता है। वह न तो पाप के कारण दुःख पायेगा और न पुण्य करने के कारण किसी तरह का सुख पायेगा। इसी प्रकार यदि नित्य है, तो वह अजर-अमर तो होगा ही, साथ ही अजन्मा भी होगा। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि ऐसी आत्मा को न तो किसी प्रकार के उद्योग की आवश्यकता है या न निर्वाण की। इसी तरह यदि वह एक और नित्य है तो संसार में हजारों-लाखों आत्माएँ कहाँ से दिखाई दे रही हैं; क्योंकि नित्य और अविनाशी का न तो खण्ड हो सकता है या न उस कूटस्थ में ऐसी शक्ति हो सकती है, जो स्वयं भी अपने को खण्डित कर सके। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन ऐसी आत्मा को नहीं मानता, जो कूटस्थ, अजन्मा और नित्य है। उसके अनुसार क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन होनेवाले चित्तप्रवाह को ही अन्य लोग 'आत्मा' कहते हैं।

तत्कालीन अवस्था में दार्शनिकों के दो वर्ग थे। एक वर्ग आत्मवादी था; पर दूसरा वर्ग ऐसा था—जो आत्मा का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार करता था। ऐसे दार्शनिकों में 'अजितकेशकम्बल'<sup>१</sup> और चावाक्<sup>२</sup> परम प्रसिद्ध थे। इन अनात्मवादियों का कहना था कि जिस तरह शरीर के विकास से इन्द्रियाँ विकसित हो जाती हैं, उसी तरह सभी विकसित इन्द्रियों के मशिकर्य से चेतना का विकास होता है और उसी चेतना को लोग आत्मा कहते हैं। जब इन्द्रियाँ और शरीर नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा का भी नाश हो जाता है। आत्मा का अपना अलग अस्तित्व कहीं नहीं है।

फिर आत्मवादियों के भी दो दल थे। एक दल आत्मा को 'अरूपी' ( अव्यक्त ) और दूसरा रूपी' ( व्यक्त ) मानता था। इन दोनों सिद्धान्तों में सान्त आत्मा और अनन्त आत्मा करके दो-दो भेद थे।

भगवान् बुद्ध ने उपर्युक्त अनात्मवादियों और आत्मवादियों—दोनों से भिन्न एक तीसरे ही ( मध्यम ) मार्ग का अवलम्बन किया है। उनका कहना था कि जिस तरह कूटस्थ

१. इसका विवरण मूल पुस्तक के पृ० १६ पर देखिए।

२. चाकण्डीवेय सुत्तं जीकेट, कण्ठे कृत्वा घृतं पिबेत्। मरमीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

और नित्य आत्मा को मानने से सकल धर्मों का उन्नीह असंभव है, उसी तरह यदि शरीर के नाश के साथ-साथ आत्मा का नाशवाला सिद्धान्त भी माना जाय, तो आत्मा का परिशोधन करना और पुण्य कर्म करना—दोनों व्यर्थ होंगे। ऐसी अवस्था में आत्मा के निर्वाण या मोक्ष की गुंजाइश ही कहाँ रहती है। इसलिए बौद्धदर्शन क्षण-क्षण उत्पन्न होनेवाले चित्त-प्रवाह को, क्षण-क्षण बदलनेवाले सचित्त-प्रवाह की तरह, विच्छिन्न और अविच्छिन्न—दोनों मानता है। अर्थात्—जिस तरह प्रवाह का कोई जल-खण्ड एक नहीं है और एक दूसरे से अलग भी नहीं है, उसी तरह चित्त-प्रवाह भी विच्छिन्न और अविच्छिन्न—दोनों तरह का है। ऐसा मानने से आत्मा के परिशोधन और निर्वाण—दोनों की समस्या सुलभ आती है।

व्यक्त और अव्यक्त आत्मा को माननेवाले आत्मवादियों के मतों का खण्डन भगवान् बुद्ध ने 'दीघ निकाय' के 'महानिदानसुत्त' में किया है। इसमें उन्होंने 'आनन्द' को विशद रूप से अनात्मवाद का ज्ञान समझाया है। फिर भगवान् बुद्ध 'मज्झिम-निकाय' के 'सन्वासव सुत्त' में मर्त्तनापूर्व शब्दों में कहते हैं—

यो ये अयं अत्ता वदो वेदेय्यो तन्न-तन्न कल्याणपापकानं कम्ममं विपाकं पटिसंवेदेति सो खो पन मे अयं अत्ता निबो धुवो सस्सतो अविपरिणामधम्मो सस्सतिसमं तथेव ठस्सती' ति । इदं पुञ्चति, भिक्खवे, दिट्ठिगतं दिट्ठिगहनं दिट्ठिकन्तारं दिट्ठिविसूकं दिट्ठिविक्कन्दितं दिट्ठिसंयोजनं । दिट्ठिसंयोजनसंयुतो भिक्खवे, अस्सुतवा पुपुञ्जनो न परिमुञ्चति जातिमा जराय मरणेन सोकेहि परिदेवेहि दुक्खेहि दोमगस्सेहि उपायासेहि, न परिमुञ्चति दुक्खस्मा' ति ।

अर्थात्—“जो आत्मा को अनुभवकर्त्ता, अनुभव का विषय, यत्र-तत्र शुभ-अशुभ-कार्यों के परिणाम का मोक्षा, नित्य, शुभ, सत्य, अविपरिणामधर्मा तथा सर्वदा और सर्वकाल में एकरस रहनेवाला मानता है, उसके लिए मैं कहता हूँ, भिक्षुओं कि वह दृष्टि के बीढ़ वन में, दृष्टि की मरुभूमि में, दृष्टि के काँटों में और दृष्टि के जाल में फँस जाता है। भिक्षुओं, वह दृष्टि के फँदे में फँसा अज्ञ तथा अनाड़ी पुरुष जन्म, जरा, मरण, शोक, रोदन, दुःख, वीर्यमत्त्य आदि से नहीं छूटता—दुःख से कभी परिमुक्त नहीं होता।”

उक्त स्थल में ही भगवान् बुद्ध ने मानवों के लिए तीन वन्धन कहे हैं, जिनमें से एक सत्काय-सिद्धान्त ( आत्मवाद ) ही है। इसके अतिरिक्त 'मज्झिम-निकाय' के 'जूल-वेदल्ल सुत्त' में तथागत की शिष्या 'धम्मदिन्ना' ने सत्काय ( आत्मवाद ) के जाल का मुख्य कारण कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा बतलाया है—

यायं आलुसो विसान्न, तण्हा पोवोब्भविका नन्दीराय सहगता तन्नतन्नाभिन्निन्दी, सेय्य धीर्द—कामतण्हा, भवतण्हा विभवतण्हा; अयं खो आलुसो विसान्न, सत्कायसमुदयो जुत्तो ।

इस प्रकार बुद्ध के दर्शन में कूटस्थ और अविनाशी आत्मा की कहीं गुंजाइश नहीं है।

जिस तरह बौद्धदर्शन अनात्मवादी है, उसी तरह वह अनीश्वरवादी भी है। यदि भगवान् बुद्ध ईश्वर की सत्ता मानते, तो उसे जगत्कर्त्ता भी मानते और तब उन्हें मनुष्य को ईश्वर के अधीन मानना पड़ता। ऐसी अवस्था में बुद्ध का यह दावा कि मनुष्य स्वयं अपना



स्वामी है, यह जैसा चाहे जानेको बना सकता है; बदतोलानात हो जाता। इतना ही नहीं, ईश्वर के मानने पर तृष्णा से छुटकारा पाने के लिए किया जानेवाला पराक्रम भी ईश्वराधीन हो जायगा और अपनी निर्मित में मनुष्य स्वतः स्वामी नहीं रह जायगा। इस बात का हमेशा खयाल रखना चाहिए कि नियतिवादिता से बुद्ध को बहुत बड़ा विरोध था। यद्यपि भगवान् बुद्ध ने ईश्वर के विरोध में बहुत कम कहा है, तथापि 'दीघ निकाय' के 'पथिकसुत्त' और 'केवट्सुत्त' में ईश्वरवादियों का मजाक उड़ाया गया है। बौद्धदर्शन में जब नित्य आत्मा की ही गुंजाइश नहीं है, तब ईश्वर-जैसी वस्तु को कल्पना तो और भी असंभव थी। अत्यन्त संक्षेप में बौद्धदर्शन का इतना ही सार है।

X

X

X

बौद्धों के सबसे प्राचीन सम्प्रदाय का नाम 'थेरवाद' (स्थविरवाद) है। बुद्ध-परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष बाद 'महासंघिक' और 'स्थविरवाद' नाम से बौद्धसंघ में दो दल हो गये। मौर्य सम्राट् अशोक के जीवन का अन्तिम भाग आते-आते तो बौद्धधर्म १८ सम्प्रदायों में बँट गया। इसकी सन् का आरंभ होते-होते 'वैपुल्यवाद' ने जोर पकड़ लिया, जिसके आधार पर मागाज्जैन (प्रथम) ने शून्यवाद का विस्तार किया। इसी वैपुल्यवाद से मंत्रवान, तंत्रवान और वज्रयान-सम्प्रदाय कालक्रम से प्रादुर्भूत होकर विकसित हुए।

बौद्धों के मुख्य दर्शन चार हैं—(१) सर्वास्तिवाद (वैभाषिक), (२) सौत्रान्तिक, (३) विज्ञानवाद (योगाचार) और (४) माध्यमिक (शून्यवाद)।

उत्पत्तिसभी सम्प्रदायों और दर्शनों का विकास बिहार-प्रदेश में भरपूर हुआ है। इन सभी विषयों में बिहार-प्रान्त की देन क्या है, इसकी तथा बौद्धधर्म-सहायक व्यक्तियों और पटनाओं की चर्चा ऐतिहासिक कालक्रमानुसार इस पुस्तक में की गई है।

### बौद्धधर्म के मूल स्रोत

सर्वप्रथम हमें यह देखना है कि भगवान् बुद्ध के चार आर्यसत्त्यों का मूल स्रोत क्या है? भगवान् बुद्ध के समय में चिकित्सा-शास्त्र का चरमोत्कर्ष हम पाते हैं। इसका प्रमाण हमें बुद्ध के समकालीन वैद्य 'जीवक कौमारभृल' के जीवन-चरित में मिलता है। जीवक की शिक्षा 'वज्रशिता' में हुई थी, जहाँ अतिप्राचीन काल से आयुर्वेद के उद्भट विद्वान् आयुर्वेद-विज्ञान के सम्बन्ध में अनुसन्धान करते थे। चिकित्सा-शास्त्र उस समय चार सिद्धांतों पर आधुत था—कर्त्ता, करण, कारण और कार्य।

भिषक् कर्त्ताऽप्य करणं रसा दोषास्तु कारणम् । कार्यमारोग्यसेवकं अनारोग्यमतोज्ज्वला ॥

यहाँ भिषक् कर्त्ता, रस करण, दोष कारण और आरोग्य कार्य है। इसी वस्तु को सुभूत के टीकाकार ने लिखा है—पूर्वमेतत् पुरुषो व्याधिरीधं कियोकाल इति चतुष्टयं समासेन व्याख्यातम् ।

१. इस पुस्तक के पृ० १०६ से ११० दृष्टव्य।

२. सुभूत-संहिता, उत्तरतर्क—३६, १४

इसी चिकित्सा-शास्त्र के चतुर्व्यूह का उदाहरण देते हुए 'योग-भाष्य' ( २, १५ ) लिखता है—यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं—रोगो, रोगहेतुः, आरोग्यं, भैषज्यमिति एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद् यथा— संसारः संसारहेतुर्मोहो मोहोपाय इति ।

अर्थात्—“जिस तरह चिकित्सा-शास्त्र में रोग, रोग का हेतु, रोग-निरोध (आरोग्य) और रोग की दवा है, उसी तरह योग-शास्त्र में भी संसार, संसार-हेतु, मोक्ष और मोक्ष के उपाय—ये चतुर्व्यूह होते हैं ।” मेरी धारणा है कि भगवान् बुद्ध ने रोग से छुटकारा दिलाने-वाले चिकित्सा-शास्त्र के चतुर्व्यूह-सिद्धान्त को ही दुःख से छुटकारा दिलानेवाले चार आर्यसत्त्वों में ढाल दिया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं ।

इसके अतिरिक्त हम भगवान् बुद्ध को पर-पक्ष के सिद्धान्तों के खण्डन में और स्व-पक्ष के सिद्धान्तों के स्थापन में सर्वत्र तर्क-शक्ति का साहाय्य लेते देखते हैं। अतः, जिस प्रकार तर्कशास्त्र पक्ष, साध्य, हेतु और इष्टांत—इन चार विषयों पर अवलम्बित है, उसी प्रकार बुद्ध ने तृष्णा-उच्छेदवाले चार आर्यसत्त्वों का सूत्र इसी तर्क-शास्त्र से पाया हो, तो कोई असंभव नहीं । पुनः हम बुद्ध के ‘प्रतीत्यसमुत्पाद’ सिद्धान्त को भी निर्वाण और आर्य-सत्त्वों के साथ ‘पंचावयव’ के रूप में पाते हैं। यहाँ भी ज्ञात होता है कि न्याय-शास्त्र के पंचावयव (प्रतिष्ठा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ) ने उन्हें बहुत-कुछ प्रेरित किया होगा, ऐसा मेरा अनुमान है। इतना ही नहीं, न्याय-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का भी व्यवहार हम बुद्ध-वचनों में पाते हैं। जैसे—व्याप्ति को ‘अन्वय-व्यतिरेक’ के द्वारा शुद्ध किया जाता है, उसी तरह बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद को ‘अनुलोम-प्रतिलोम’ के द्वारा ही परिशोधित किया है—

अथ खो भगवा रत्तिवा पठमं वारं पटिच्चसमुत्पादं अनुलोमपटिलोमं मतसा कासि ।

‘अन्वय-व्यतिरेक’ का ही प्रतिशब्द यहाँ ‘अनुलोम-प्रतिलोम’ है। अन्वय का अर्थ है—कार्य के अस्तित्व से कारण का भी अस्तित्व और व्यतिरेक का अर्थ है—कारण के अभाव से कार्य का भी अभाव। इस प्रकार दोनों ओर से सिद्ध होने पर व्याप्ति-धर्म का ज्ञान होता है। अनुलोम-प्रतिलोम का भी यही अर्थ होता है। बुद्ध ने अनुलोम करके देखा कि अविद्या से संस्कार होता है, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम-रूप आदि। फिर उन्होंने इस बात को प्रतिलोम करके भी देखा कि अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध होता है, संस्कार-निरोध से विज्ञान-निरोध और विज्ञान-निरोध से नाम-रूप का निरोध आदि।

अतः, इन सारी प्रस्तुतियों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि बुद्ध के चिन्तन-मनन भारतीय तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों से अवश्य प्रभावित थे ।

बुद्ध के आष्टांगिक मार्ग<sup>१</sup> और सप्त अपरिहाणीय धर्मों<sup>२</sup> का उद्गम-स्रोत भारतीय उपनिषद् हैं। सैत्तिरोपनिषद् की प्रस्तुत श्रुत्वा विचारणीय है—

१. देखिए प्राक्खन-भाग, पृ०—२

२. ( १ ) एक साथ मिलकर बैठना, ( २ ) एक साथ बैठकर करणीय वस्तु पर विचार करना, ( ३ ) अप्रवृत्त को प्रवृत्त और प्रवृत्त को अप्रवृत्त नहीं करना, ( ४ ) मुक्त्वन्ती की पूजा और

अतश्च स्वाध्यायप्रवचने च, सत्यञ्च\* तपश्च\* दमश्च\* समश्च\* अग्निहरश्च\* अग्नि-  
होत्रञ्च\* अतिथयश्च\* मनुष्यञ्च\* प्रजा च\* प्रजनश्च\* प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । —१, ६

उपर्युक्त श्रुचा के अग्नि, अग्निहोत्र, प्रजा, प्रजन और प्रजाति को छोड़कर शेष सात बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग के दिशा-निर्देशक हैं। इसी प्रकार बुद्ध के 'सप्त अपरिहाणीय धर्म' की ओर उक्त उपनिषद् की २, २१ वाली श्रुचा इंगित करती है—

सत्याञ्च प्रमदितव्यम्, धर्माञ्च\* कुशलान्च\* भूयै न\* स्वाध्यायप्रवचनान्यां न\* देवपितृ-  
कर्माभ्यां\* । मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, गान्धन्यवश्यानि  
कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि ।

इसी प्रकार जल्लिखों के सन्निपात-बहुल होकर करणीय पर विचार-विनिमय करने की भावना का उत्त 'कठोपनिषद्' के प्रथम मंत्र में ही प्राप्त होता है—

सहनाववतु सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहे ।

तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहे ॥

पुनः भगवान् बुद्ध के पंचशील ( अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सत्य-भाषण और मद्य-  
सेवन का त्याग ) का रूप निम्नलिखित श्रुचा में विद्यमान दिखाई पड़ता है—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबेश्च गुरोस्तण्णमावसन् ।

ब्रह्महा चैते पतन्ति अवारः पञ्चमश्चाचरेस्तेरिति ॥

—छान्दोग्य : ५, १०, ६

अर्थात्—सुकर्णचोर, मद्य, गुल्मलीगामी, ब्रह्मघाती—ये चारों पतित हैं और इनसे संसर्ग रखनेवाला पाँचवाँ भी पतित है। इससे संसर्ग रखनेवाला पाँचवाँ बुद्ध का भूषावादी ही होगा।

अथपि बौद्धदर्शन मिल, एकरस, शाश्वतधर्मा और अविनाशी आत्मा को नहीं मानता, तथापि वह ऐसी आत्मा का विरोध नहीं करता है, जो क्षण-क्षणविध्वंसी और नव-  
नवोन्मेषशील है। बौद्ध ऐसी आत्मा के विरोधी नहीं थे, चाहे इसे वे 'चित्त-प्रवाह' ही क्यों न कहें। अन्यथा 'धम्मपद' की इस गाथा की कोई सार्थकता नहीं देखती—

गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहासि ।

सत्त्वा ते कामुगाभागा गहकूटं विसंखतं ।

विसङ्खारगतं चित्तं सन्धानं खयमजगा ॥—११, ६

अर्थात्—“हे गहकारक, तुम्हें मैंने देख लिया। फिर तुम इस गृह (शरीर) का कभी निर्माण करनेवाला नहीं हो सकता। तुम्हारे सभी पार्श्वभाग आज भग्न हो गये, जिससे मेरी आत्मा ( गहकारक ) भी समस्त संस्कारों से छिड़ हो गई। मेरा चित्त भी संस्कार-रहित हो गया और सकल तृष्णाओं का आज क्षय हो गया।”

सेवा करना ( ५ ) कुलस्त्रियों के साथ बलात्कार न करना, ( ६ ) चैत्यों की पूजा और पूर्व में दिये गये अग्रहार की नहीं खीनना और ( ७ ) अर्द्धतृणानियों की रक्षा करना। इन सातों की बौद्धधर्म में अपरिहाणीय धर्म कहा गया है।—ले०



मेरा अभिमत है कि भगवान् बुद्ध ने इस तरह के ज्ञान-वाक्य अपने सत्संग की कई मीछियों में सुने थे, जिनका रहस्य उन्होंने ज्ञान-प्राप्ति के समय समझा। आरादकलाम तथा उद्धकरामपुत्र के आश्रमों में तथा राजगृह के तपस्वियों के सत्संग में सिद्धार्थ की ऐसे अनेक अवसर प्राप्त हुए होंगे, जब उन्हें उपनिषद् के ज्ञान-विज्ञान सुनने को मिले होंगे। बुद्ध के उपर्युक्त विचार उपनिषदों के ही थे, जिनकी ज्ञान-गंगा उनके समय में जोरों से प्रवाहमाणा थी। तैत्तिरीयोपनिषद् की निम्नांकित सूचा विचारणीय है—

ब्रह्मविदानोति परम् । तदेवाभ्युक्ता—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपरिच्यतेति<sup>१</sup> ।

अर्थात्—“ब्रह्मविद् परम (ब्रह्म) को प्राप्त करता है, इसीलिए यह ठीक कही गई है कि जो सत्य-रूप, ज्ञान-रूप और अनन्त-रूप ब्रह्म को परम गुहा में सूक्ष्म रूप से स्थित जान लेता है, वह विश्व सभी सुखों का भोग करता हुआ ब्रह्म-रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।”

श्वेताश्वतरोपनिषद् (६, २५) भी ऐसी ही बात कहती है—

तमेव विदिवाऽसिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽपराय ।

अर्थात्—“उसी ब्रह्म को जानकर मृत्यु को जीता जा सकता है, दूसरा कोई रास्ता नहीं है।” भगवान् बुद्ध के गृहकारक को ठीक से देख लेना ही निर्वाण का रास्ता था, जिसे तपागत ने ठीक से देख लिया था। औपनिषदिक ज्ञान में भी ब्रह्म को जान लेना ही मोक्षोपाय है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

फिर यही बात हम बृहदारण्यकोपनिषद् में भी याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद में पाते हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं—

आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्याभनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्<sup>२</sup> ।

अर्थात्—यदि आत्मा को देख लिया, सुन लिया, समझ लिया और जान लिया, तो जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह गया।

इसी तरह बौद्धदर्शन के छह विज्ञानों<sup>३</sup> की रूपरेखा स्पष्ट रूप से हमें ‘ल्लान्दोग्योपनिषद्’ के दूसरे खण्ड में प्राप्त होती है। भगवान् बुद्ध ने अपने छह विज्ञानों को अनिल्य और सदोप कहा है और यही बात ल्लान्दोग्य भी पहले से प्रकार-प्रकारकर सुना रहा है। कथा-प्रसंग में आया है कि देवताओं और असुरों में जब युद्ध होने लगा, तब देवों ने असुरों के पराभव की इच्छा से उद्गीथ का अनुष्ठान किया। देवताओं ने पहले नासिका में रहने-वाले प्राण के रूप में उद्गीथ की उपासना की, किन्तु असुरों ने उसे पाप-विद्ध कर दिया—

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाज्जिरे । तं हा सुरा पाप्मना विविधुः ।

१. तैत्तिरीयोपनिषद्—२, १

२. बृहदारण्यक—४, ५, ६

३. देखिए, इस पुस्तक का प्राक्खन-भाग—पृ० ६

तब देवताओं ने वाणी के रूप में उद्गीय की उपासना की, किन्तु असुरों ने उसे भी पाप-विद्ध कर दिया—

अथ ह वाचमुद्गीयमुपासाज्जिरे । तान्हा सुराः पाप्मना विविधुः ।

इसी प्रकार देवताओं ने चक्षु, श्रोत्र और मन के उद्गीय की उपासना की और असुरों ने सबको पाप-विद्ध कर दिया । पुनः यही प्रसंग हमें बृहदारण्यक के प्रथम अध्याय के तृतीय ब्राह्मण के १ से ७ छन्दों में प्राप्त होता है ।

उपर्युक्त दोनों में भगवान् बुद्ध के पाँच ही विज्ञानों का उल्लेख देता है, काय-विज्ञान ( स्पर्श ) की चर्चा नहीं मिलती । किन्तु, 'बृहदारण्यक' के अध्याय ३, ब्राह्मण २ के ३ से ६ छन्दों में बुद्ध के अन्य विज्ञानों के साथ स्पर्श का भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादन है—

स्पर्शं वै ग्रहः स स्पर्शनातिग्राहेण गृहीतस्पर्शश्च हि स्पर्शान् वेदयन् इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावस्तिग्रहाः ।

इस प्रकार, हम बुद्ध के छह विज्ञानों की चर्चा तो देखते ही हैं, उनके 'प्रतीत्य-समुत्पाद' के १२ अंगों का भी संकेत हमें 'छान्दास्योपनिषद्' के ही सप्तम अध्याय में विस्तृत रूप से प्राप्त होता है, जहाँ सनत्कुमार ने नारद को एक की अपेक्षा दूसरे की श्रेष्ठ बतलाया है ।

भगवान् बुद्ध के निर्वाण और श्रुति-मुनियों के मोक्ष में भी एक ही प्रकार का विचार दृष्टिगोचर होता है । जिस तरह निर्वाण में काम, भव और विमल की लुप्ताओं का उत्खेद तथा पंच स्कन्धों, द्वादश आयतनों और अष्टादश धातुओं का निरोध आवश्यक है, ठीक उसी तरह के विचार का अमिष्यकोकरण 'मुण्डकोपनिषद्' मोक्ष के लिए करती है—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा

देवारश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।

कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा

परेऽव्यये सर्वं एकीभवन्ति ॥ —३, २, ७

अर्थात्—“शरीर का आरम्भ करनेवाली प्राणादि १५ कलाएँ अन्ततोगत्वा अपने आप में लीन हो जाती हैं । चक्षु आदि सर्वेन्द्रियों के अधिष्ठाता अपने प्रतिदेवता (आश्रय) में तिरोहित हो जाते हैं । इसी तरह सभी कर्म और विज्ञानमय आत्मा भी पर अव्यय में (नाशरहित ब्रह्म में) लीन होकर एक हो जाते हैं ।”

इस छन्द में भगवान् बुद्ध के 'एक के निरोध से दूसरे का निरोध' वाला सिद्धान्त कितना स्पष्ट प्रतिपादित है, जो आश्चर्यकर होते हुए विचारणीय है । निरोध का अर्थ कारण के नाश से कार्य का नाश है—अर्थात् कार्य, कारण में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं ।

इस प्रकार, संक्षेप में स्पष्ट है कि बुद्ध द्वारा प्रत्यक्षीकृत ज्ञान और दर्शन न तो आकस्मिक थे और न बिलकुल असंभावित ही; बल्कि पूर्वप्रतिपादित ज्ञान-दर्शनों से प्रभावित अथवा उनके परिसंस्कृत रूप थे । इसके अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थ अपने वाक्यों से इस बात को

स्वयं सिद्ध करते हैं कि ग्राहसूत्रों, उपनिषदों, आरण्यकों, इतिहास-पुराणों की कथाओं से बौद्ध कथार्थ अनुप्राणित है। मेरे ऐसे विचारों का समर्थन कुछ विदेशी विद्वान् भी करते हैं।

'पुद्गल' का कहना है कि बौद्धों का 'विनय' अथवा 'बौद्धागम' का नीति-शास्त्र हिन्दू-धर्मशास्त्र ग्राहसूत्र का संक्षिप्त अनुवाद है।

'एडमंड हार्डी' कहता है कि पालि-धर्मशास्त्रों का उद्गम-स्थान वैदिक 'ग्राहसूत्र' है।

इतना ही नहीं, आप भी यदि 'दीघ निकाय' के 'पौट्ठपादसुत्त' और 'मुण्डकोपनिषद्' को थोड़ा ध्यान से पढ़ेंगे, तो देखेंगे कि 'दीघ निकाय' का वह सुत्त 'मुण्डक' के विचारों से कितना अनुप्राणित है।

### आनुषङ्गिक विषय

इस पुस्तक के लिखने के विचार से जब मैं बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन-मगन करने लगा, तब देखा कि जिस तरह भारतीय पुराणों में एक ही कथा के विभिन्न रूप हैं, उन्हीं तरह बौद्ध ग्रन्थों में आपने-अपने ढंग से कथार्थ लिखी गई हैं और उनमें कहीं-कहीं परस्पर विभेद भी है। पर-न्तु के सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी वहाँ अस्पष्ट है। पुराणों की तरह बौद्ध ग्रन्थों में भी अन्वभक्ति और अतिशयोक्तियाँ हैं। जैसे, छह शास्ताओं के सिद्धान्तों का और आत्म-वाद का प्रतिपादन उल्लेख से भरा है। सिद्धार्थ के पिता शुद्धोदन के वैभवों का वर्णन, बुद्ध की धातुओं पर अजातशत्रु द्वारा चैत्य का निर्माण, शुंगवंश का बौद्ध धर्म-विध्वंसक के रूप में चित्रण, काश्यप-बन्धुओं के साथ तथागत के बंष्टिबन में आने पर राजशह में कोलाहल एवं विभिन्नसार का मिलन आदि अतिशयोक्ति और अंधभक्ति के ही प्रमाण हैं। इसी प्रकार, बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त में इतनी अतिशयोक्तियाँ भरी हैं कि ऐतिहासिक सत्य को ढूँढ़ निकालना अत्यन्त दुर्लभ हो गया है। पुस्तक में बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त तथा अन्य जिन घटनाओं का जैसा मैंने उल्लेख किया है, बौद्ध ग्रन्थों पर ही आधारित है। विद्वानों से अनुरोध है कि वे ऐसे स्थलों से सत्यांश को छान लेने का प्रयत्न करेंगे।

इस पुस्तक में आपको कई स्थल ऐसे मिलेंगे, जिनके सत्यांश के उद्घाटन का प्रयास मैंने किया है। कई जगह मैंने पूर्व-प्रतिपादित विचारों से, प्रमाण और युक्ति के बल पर, अपना मतभेद प्रकट किया है। उदाहरण के तौर पर जैसे—'बुद्धघोष' ने 'जातक-कथा' में लिखा है कि धर्मचक्र-प्रवर्तन करने के लिए जब बुद्ध 'उरुवेला' से 'श्रुतिपत्तन मृगदाव' जाने लगे, तब वे दो दिनों में वहाँ पहुँच गये। किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि भगवान् बुद्ध चारिका करते हुए १० दिनों में 'श्रुतिपत्तन मृगदाव' पहुँचे थे। इसका विवेचन पृ० ५७ पर मैंने किया है। इसी तरह 'बंकहार' प्रदेश को 'महाब्रम्ह' गया और बोधगया के बीच में बतलाता है, पर 'बुद्धघोष' के कथन के आधार पर ही मैंने उसे स्वर्णमद्र नद के आस-पास बतलाया है।



बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त को काष्ठात्मक शैली में कहनेवाला प्रथम ग्रन्थ 'ललित-विस्तर' है। अश्वघोष ने 'बुद्ध-चरित' इसी ग्रन्थ के आधार पर लिखा था, ऐसा मेरा दृढ़ विचार है। इस ग्रन्थ के नाम में ही लालित्य और विस्तर—दोनों हैं, जिनमें अलंकारपूर्ण वर्णना की लक्षणा अभिव्यजित है। ऐसी अवस्था में बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त में अतिशयोक्ति स्वाभाविक है; क्योंकि बुद्ध के सारे विलुप्त जीवन-चरितों का मूल आधार 'ललित-विस्तर' ही है।

बौद्ध ग्रन्थों में कुछ विषय ऐसे हैं, जो समझ में नहीं आते। जैसे—बिहार-प्रदेश की छोटी-छोटी नदियाँ, पुष्करिणियाँ तथा प्रदेशों (बागमती, महो, सरयू, अजिरेवती, अतोमा, निरंजना, सिलवती, कुमिकाला, सुमागधा, गर्गारा तथा प्रदेशों में मिथिला, अंग, अंगुत्तराप, कंजंगल, सेतकणिका, मगध, काशी, मग, वज्जि, अल्लकण, मल्ल आदि) की चर्चा मिलती है। किन्तु, समस्त बौद्ध ग्रन्थों में कहीं भी हिरण्यवाहु (शोण नद) और 'कण्य' प्रदेश के नाम नहीं मिलते। इस बात का भी पता नहीं चलता कि आपुनिक 'शाहाबाद' जिला उस समय काशी, कोसल, मगध, अवन्ती, मल्ल आदि में से किसमें था। महापद्मि राहुल सांकृत्यायन ने भी शाहाबाद को उस समय के उपर्युक्त राज्यों में से किसी में होने की चर्चा नहीं की है। किन्तु, यथाप्रयास मैंने इसपर विचार किया है। मैंने कापासियवन, आलवी, अंगुत्तराप, अल्लकण, केसपुत्तनिगम, आपणनिगम और अगलाव जैल के सम्बन्ध में भी अपना दृष्टिकोण उपरिष्ठ किया है। पालि-भाषा के नामकरण के सम्बन्ध में भी मैंने अपना अभिमत अन्य लोगों से मिल प्रकट किया है। फिर भी, ये सारे विषय आपके विचारों की अपेक्षा रखते हैं।

बौद्ध ग्रन्थों में आये बिहार के कुछ ऐसे भी स्थान हैं, जो पुरातत्त्वज्ञों की वाट जोड़ रहे हैं। जैसे मगध के—चातुगा, अम्बावण्ड, चोदनावस्तु, मोरनिवाप, खाणुमत, एकनाला, सुमागधा; वज्जि के—नादिका, अश्वपुर, लकाचेल, गिजकावसथ; उल्लेख से सारनाथ के यात्रा-क्रम में—नाहाल, बुन्दधिरम्, लोहितवस्तु, गन्धपुर, सारथिपुर; अंग के—अश्वपुर, गर्गारा-पुष्करिणी, भद्रिया, चालिय पर्वत आदि। इसी प्रकार सुजाता का 'सेनानिग्राम' निरंजना के पूर्वी तट पर था या पश्चिमी तट पर, इसका भी अन्वेषण-अनुसंधान आवश्यक है। आज जो मत प्रचलित है, उसके अनुसार निरंजना के पूर्वतटीय 'बकरीर' स्थान सेनानिग्राम माना जाता है। पर मेरे विचार से सेनानिग्राम बोधगया के समीप ही उत्तर और निरंजना के पश्चिमी तट-प्रदेश में होना चाहिए; क्योंकि 'जातक-कथा' में उल्लेख है कि तथागत सुजाता का पायस-पात्र ग्रहण कर निरंजना के तट पर गये और वहाँ उन्होंने पूर्वोन्मुख होकर ४६ भास पायस खाया और याल की नदी की धारा में फेंक दिया। यदि वह घटना पूर्वी तट की होती, तो बुद्धघोष सिद्धार्थ के नदी की धारा की ओर पश्चिमा-मिमुख होकर पायस-ग्रहण करने का उल्लेख करते। बुद्धघोष का जन्म बोधगया के पास के ही किसी गाँव में हुआ था, अतः इस सम्बन्ध में उनका मत अधिक प्रामाणिक होगा। मैं पुरातत्त्वज्ञों और अनुसन्धान-प्रेमियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करता हूँ।

## कृतज्ञता-ज्ञापन

मैं अन्त में उन सभी बौद्ध ग्रन्थकारों और इतिहासकारों का हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनके ग्रन्थों से इस पुस्तक के लिखने में सहायता मिली है। मुझे यह कहने में जरा भी संकोच नहीं कि यदि उन्होंने पूर्व में वह तीर्थ रचा नहीं होता, तो मुझ-जैसे अल्पज्ञ के लिए बौद्धसाहित्य-सागर में अवगाहन करना दुर्लभ था। पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार हो जाने पर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के आद्य संचालक और मेरे आचार्यदेव श्रीशिवपूजनसहायजी ने जिस अपमत्त्व से सारी पाण्डुलिपि सुनकर भाषा को पूत-पवित्र कर दिया, उसके लिए मेरे पास वे शब्द नहीं हैं, जिनको व्यक्त करके कृतज्ञता-ज्ञापन करूँ। इसी प्रकार पण्डित छविनाथ पाण्डेयजी, बेनीपुरीजी और सुधांशुजी जैसे सुखजनों के कृपा-साहाय्य से ही इस पुस्तक का प्रकाशन संभव हुआ है, अतः मैं उनका सदा हृदय से कृतज्ञ हूँ। भ्रातृवर और मेरे अभिन्न भारत-प्रसिद्ध कलाकार श्रीउपेन्द्र महारथी के प्रोत्साहन और सहायता के बिना तो मेरा कोई यज्ञ-अधूरा ही रहता है। आप ही जैसे सब मित्र का वह काम था कि पुस्तक में लगनेवाले अनेक चित्रों के फोटो मुझे सुलभ करा दिये, जिससे पुस्तक की महार्पणा बढ़ गई। यों तो सदैव ही मैं आपका आभारी हूँ, पर इस सहयोग के लिए विशेष रूप से। बन्धुवर श्रीउमानाथजी के प्रोत्साहन और सहयोग को तो कभी भुलाया ही नहीं जा सकता, जिनकी सदाशयता मेरे हर अच्छे काम में प्रकृता बनी रहती है। मेरे मित्र श्रीश्रीरञ्जन सूरिदेव ने अपने सहायक श्रीकामेश्वरप्रसाद के साथ पुस्तक के प्रूफ-संशोधन में जैसा अथक परिश्रम किया है, वह मुझसे भी असंभव था; तदर्थ मैं दोनों के प्रति आभार-प्रदर्शन करता हूँ। ज्ञानपीठ प्रा० लि०, पटना ने इसके मुद्रण में जिस धैर्य का परिचय दिया है, उसके लिए उसको भी अन्ववाद-ज्ञापन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। इत्यलम्।

पटना

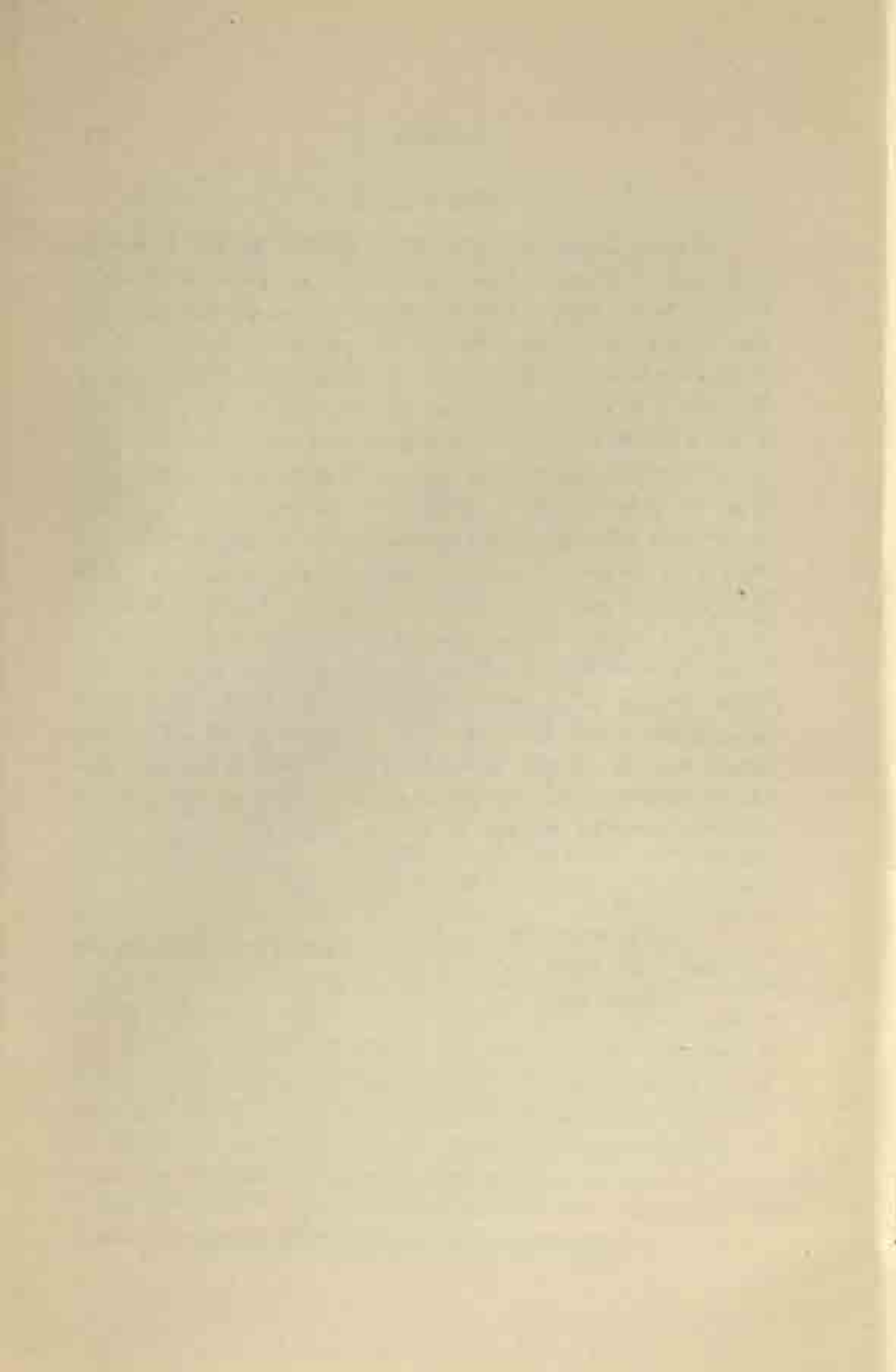
फाल्गुन, महाशिवरात्रि

संवत् २०१६; शकाब्द १८८१

लिष्टाब्द १९६०

हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'





## विषय-तालिका

### पहला परिच्छेद

#### बुद्ध-पूर्व तथा बुद्धकाल का बिहार

बिहार-प्रदेश की महिमा	...	....	१-२
विचारणीय प्रश्न	...	...	३
भौगोलिक स्थिति	...	...	४
सांस्कृतिक स्थिति	...	...	६

( क्षत्रियों की उत्कर्ष-भूमि बिहार; बिहारवासियों की धार्मिक प्रवृत्ति; ज्ञान, होम तथा तप की प्रधानता; सिद्धार्थ की तपस्या-पद्धति और सिद्धान्त का मूलकूल; छह शास्ता—उनका सिद्धान्त और प्रभाव ( अजितकेशकम्पल, संजय वेलाट्ठिपुत्त, पकुधकाच्चायन, पुराणकस्तप, मक्खालिगोत्तल, निर्माठनाथपुत्त )

राजनीतिक स्थिति	...	....	२१
वज्रिसंघ : मगध	....	...	२२
समाज की धार्मिक प्रवृत्ति	...	...	३०
प्राकृतिक दृश्य और तपोयुक्त भूमि	...	...	३५
अन्तिम निष्कर्ष	...	...	३६

### दूसरा परिच्छेद

#### बुद्धत्व की प्राप्ति में योगदान

बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त के आधार-ग्रन्थ	....	...	३८
--	------	-----	----

( महावत्सु ; ललितविस्तर ; अभिनिष्क्रमण-सूत्र ; जातकट्ठकथा ; बुद्ध-चरित )

जन्म-यौवन-प्रव्रज्या	...	...	४०
आराद कालाम और उद्दकरामपुत्र के आश्रम में	....	...	४३
राजगृह में	...	....	४३
गया-क्षेत्र में ही क्यों ?	...	...	४५
चरुवेला में	....	...	४७
मारयुद्ध	...	...	५२

बुद्धत्व की प्राप्ति	...	...	५३
सात सप्ताह तक विमुक्ति का आनन्द	...	...	५४
अधिपत्तन की ओर	...	...	५६

### बुद्ध के जीवन-काल में धर्म के सहायक

भद्रचर्मियों की दीक्षा और उनका स्थान	...	...	५६
अग्निहोत्री काश्यप-वन्धु	...	...	६०
विम्बिसार की दीक्षा	...	...	६२
सारिपुत्र और मौद्गल्यायन	...	...	६३
महाकाश्यप	...	...	७२

### बुद्ध की पर्यटन-भूमि और विभिन्न घटनाएँ

राजग्रह	कालउदापी और महाकाल्यायन	...	७८
"	राध की दीक्षा	...	७८
" (शीतवन)	अनाथपिरहक की दीक्षा	...	७९
"	पिएडोल भारद्वाज	...	७९
वैशाली (कूटामारशाला)	तन्तुबाय का भवन-निर्माण	...	७९
" "	नारियों का संघ-प्रवेश	...	७९
राजग्रह	मेले में गीत गाने के कारण गाना निषिद्ध	...	७९
नालन्दा (प्राचारिक आश्रम)	अतिवन्धकपुत्र का शास्त्रार्थ	...	८०
" "	ग्रहपतिपुत्र केवट्ट	...	८०
पंचशाला ग्राम (मगध)	बुद्ध को भिक्षा भी नहीं मिली	...	८१
एकनाला ग्राम (मगध)	कृषिभारद्वाज	...	८१
वैशाली (कूटामारशाला)	सुदित्र को लेकर मैथुन-पाराजिका	...	८२
" "	सिंह सेनापति	...	८४
" "	महालि	...	८५
" "	पुल्लदीक परित्राजक	...	८५
" "	सुनच्च	...	८६
" "	कौरमट्टक	...	८६
" "	पाथिकपुत्र और तिन्दुलाण्डु आश्रम	...	८७
" "	दाक्षपत्तिक और उसका शिष्य जालिय	...	८७
अश्वपुर वनग्रह (वैशाली)	सुनच्च का विद्रोह	...	८७
वैशाली (कूटामारशाला)	सच्चक का शास्त्रार्थ	...	८८

महिषा ( चम्पा के पास )	मेरठक रहपति और उसका परिवार	...	८६
आपरा ( अंगुत्तराप )	जातिवन और पोत्तलिय रहपति	...	८७
" "	केशिय जटिल	...	८१
" "	सेल ब्राह्मण	...	८१
" "	उदायी की मनोरंजक घटना	...	८२
चालिय पर्वत	तेरहवाँ वर्षावास	...	८३
खागुमत ग्राम ( मगध )	कूटदन्त ब्राह्मण की कथा	...	८३
गर्गरा पुष्करिणी ( चम्पा )	सोणदरह और उसका मौजा अंगक	...	८४-८५
" "	महित	...	८५
" "	पीलवान का लड़का पैस और कन्दरक	...	८६
" "	परिव्राजक	...	८६
" "	वासमग्राम से आकर काश्यपगोत्र भिक्षु की भेंट	...	८६
अलवी (आरा और शरवल)	अलवक गढ़ और अलवी स्थान का निरूपण	...	८७
" "	हृत्पक अलवक	...	८८
वेणुवनकलंदक-निवाप	राजगृह का दुर्मिच्छ	...	१००
मीरनिवाप आश्रम	अनुगार वरचर और महासुकुलुदायि	...	१००
वेणुवन ( राजगृह )	ग्रहपतिपुत्र सिंगाल	...	१००
" "	विशाख और धर्मदिना	...	१०१
" "	वत्सगोत्र पुण्डरीक परिव्राजक	...	१०२
" "	गुलिरसानि भिक्षु	...	१०२
" "	अचिरावत और जयसेन की वात्ता	...	१०३
" "	भूमिज और जयसेन की वात्ता	...	१०३
चालिय पर्वत ( अंग )	अठारहवाँ और उन्नीसवाँ वर्षावास	...	१०३
अश्वपुर ( अंग )	चीवर, पिण्डपात आदि की महिमा	...	१०४
कजंगला ( संथाल परगना )	कजंगला भिक्षुणी	...	१०४
" "	पारसिविय और उसका शिष्य उत्तर	...	१०४
सुझ प्रदेश	मिलावती नदी-तट, मार को मुँह तोड़ उत्तर	...	१०४
सेतकसिणक प्रदेश	उदायी से बुद्ध की वात्ता	...	१०५
कृमिकाला ( किऊल ) नदी	मेघिय का अमिमान-भंग	...	१०५
के तट पर जम्बुग्राम	वीसवाँ वर्षावास	...	१०६
राजगृह			

राजगृह	महामिषक जीवक	...	११६
दक्षिणागिरि के रास्ते में	मगध के खेतों को देखकर जीवर-विधान	...	११७
श्वकूट पर्वत ( राजगिरि )	धनिय भिक्षु	...	११८
" "	इन्द्रशाल सुका में पंचशिख से भेंट	...	११९
" "	हारीति राज्ञसी	...	१२०
श्वकूट पर्वत ( राजगृह )	उदुम्बरिका आश्रम और न्यग्रोधभिक्षु	...	१२१
सुमागधा पुष्करिणी के तट पर			
मोरनिवाप	न्यग्रोध का शास्त्रार्थ	...	१२२
" "	संधान भिक्षु	...	१२३
श्वकूट पर्वत	आटानाटीय का उपदेश	...	१२४
सुकरलात (श्वकूट के पास)	दीर्घनेत्र परित्राजक	...	१२५
श्वकूट पर्वत	सौगक्रोडिविश	...	१२६
"	माघ	...	१२७
तपोदाराम ( वैभारगिरि के			
पादमूल में )	समिद्धि को भड़काने का उपदेश	...	१२८
समिद्धि की कुटी ( कलन्दक-			
निवाप के पास )	पोतलिपुत्र और समिद्धि-वाता	...	१२९
वैशाली के रास्ते में	विजीवर-विधान	...	१३०
कूटागारशाला ( वैशाली )	बुद्ध की १५ दिनों की सज्ज्या	...	१३१
बमगुदा नदी का तट	मिगलंडिक कुत्तक के द्वारा भिक्षुओं की हत्या	...	१३२
"	वैशाली का दुर्मिच्छ और सेवकाई करके		
	भिक्षुओं का शरीर-पालन	...	१३३
मल्लादेव आश्रम ( मिथिला )	राजा निमि की कथा बुद्ध ने कही	...	१३४
" "	अज्ञाय और उसके शिष्य उत्तर की दीक्षा	...	१३५
कैसपुत्र निगम	कालाम क्षत्रियों को उपदेश	...	१३६
वेणुवनकलन्दक-निवाप	देवदत्त और अजातशत्रु की साजिश	...	१३७
श्वकूट पर्वत	बुद्ध की हत्या की चेष्टा	...	१३८
मद्रकुक्षिमृगवाव ( राजगृह )	बुद्ध की बीमारी	...	१३९
गवाशीर्ष	पाँच सौ भिक्षुओं को फोड़कर देवदत्त		
	का उन्हें ले जाना	...	१४०
"	सारिपुत्र और मोद्गलघायन का उन भिक्षुओं		
	को समझा-झुकाकर फिर वापस ले जाना	...	१४१
वेणुवनकलन्दक-निवाप	देवदत्त की मृत्यु	...	१४२

वेणुवनकलन्दक-निवाप	ममिय और बुद्ध की मुलाकात	...	१२२
भार्गव कुम्भकार का घर			
( राजग्रह )	पक्कुसाति और बुद्ध की भेंट	...	१२३
वेणुवनकलन्दक-निवाप	अभय राजकुमार	...	१२३
प्रावारिक आश्रम ( नालन्दा )	दीर्घतपस्वी का शास्त्रार्थ	...	१२४
" "	उपाली रहस्य	...	१२४
जीवकाराम वन ( राजग्रह )	महापन्थक और खुल्लपन्थक	...	१२४
" "	भगवान् बुद्ध से अज्ञातशत्रु की प्रथम भेंट	...	१२५
उक्काचेल ( वज्रि )	महामौद्गल्यायन का निधन-समाचार-श्रवण	...	१२८
ग्रन्धकूट पर्वत ( राजग्रह )	वज्रियों को परास्त करने के लिए वर्षाकार ने बुद्ध से भेंट की	...	१२८
मातुला ग्राम ( मगध )	स्वावलम्बन के पाठ का उपदेश	...	१२६
अम्बलट्टिका ( सिलाव )	बुद्ध का आना	...	१२६
नालन्दा के रास्ते में	सुप्रिय और उनके शिष्य ब्रह्मदत्त की बातचीत	...	१२६
नालन्दा	महाजाल सुत्त का उपदेश	...	१२६
पाटलिपुत्र	सुनीय और वर्षाकार के द्वारा स्वागत	...	१३०
उक्काचेल ( वज्रि )	मगध के स्वामी की कथा	...	१३०
गिजकावसथ "	नादिका का महिमा-वर्णन	...	१३०
वैशाली "	अम्बपाली का निमंत्रण-स्वीकार	...	१३१
वेणुवग्राम ( वैशाली )	बुद्ध की बीमारी	...	१३१
चापाल बैल्य "	राजग्रह और वैशाली का महिमा-वर्णन	...	१३२
महावन कूटागारशाला	निर्वाण का समय-कथन	...	१३२
भण्डग्राम, आश्रम			
और जम्बुग्राम	...	...	१३२
मोगनगर	चतुःप्रमाण का उपदेश	...	१३२
महापरिनिर्वाण	...	...	१३२
वातुओ का बँटवारा	...	...	१३३

### तीसरा परिच्छेद

### बिहार की नारियाँ और बौद्धधर्म

नारी की सामाजिक स्थिति	...	१३४
बौद्ध भिक्षुणी—	...	१३७



( वल्गा... वमदिशा... विरासा... वयन्ती... विवा...  
 मैत्रिका... अभयमाता... दन्तिका... शुक्ला... सोमा...  
 मद्राकापिलायनी... विमला... सिंहा... भद्राकुण्डलकेशा...  
 वातिष्ठी... क्षेमा... विजया... चाला-उपचाला और शिरपुचाला  
 ... रोहिणी... चापा... कञ्जंगला... शुभा... शुभा ( द्वितीय )  
 ... सबा-लोला-अववादका और पाटाचारा... अम्बाली... )

### चौथा परिच्छेद

#### बुद्ध के पश्चात् और मौर्यों के पूर्व

चैत्य-निर्माण	...	...	१५३
प्रथम संगीति	...	...	१५४
कुछ अन्य घटनाएँ—	...	...	१५७
( गोपक मौद्गल्यायन... वकुल और अचेलकाश्यप... अशक का श्रेष्ठी... घोटमुख ब्राह्मण )			
द्वितीय संगीति	...	...	१६०

### पाँचवाँ परिच्छेद

#### मौर्यकाल में बौद्धधर्म का विकास

सम्राट् अशोक	...	...	१६६
अशोक का धर्म-प्रवेश	...	...	१६७
मौगलिपुत्र तिष्य	...	...	१६८
अशोक की धर्मनिष्ठा	...	...	१७०
तृतीय संगीति	...	...	१७०
अशोक के अन्य धर्मयोग	...	...	१७२
अशोक के बौद्धधर्मानुयायी होने का प्रमाण	...	...	१७७
अशोक का व्यक्तित्व	...	...	१७६
महेन्द्र और संप्रमित्र	...	...	१८०
अशोक के अन्य उत्तराधिकारी	...	...	१८२

### छठा परिच्छेद

#### मौर्यकाल और गुप्तकाल के बीच

बौद्धधर्म और पुष्पमित्र	...	...	१८४
गुप्तकाल में बौद्धधर्म के कार्य	...	...	१८७

अश्वघोष	...	१८८
अश्वघोष की बौद्ध रचनाएँ	...	१८९
अश्वघोष का दर्शन	...	१९०

### सातवाँ परिच्छेद

#### बौद्धधर्म के विकास का स्वर्णिम काल

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	...	१९२
नालन्दा-विश्वविद्यालय की स्थापना	...	१९३
नालन्दा की प्राचीनता	...	१९५
ह्वेनसांग	...	१९५
ह्वेनसांग का प्रथम गुरु—सुरथ जयसेन	...	१९६
नालन्दा-विश्वविद्यालय का परिचय	...	१९७
नालन्दा में शिक्षा देनेवाले विदेशियों की नामावली	...	१९८
नालन्दा का शिलालेख	...	२००

#### गुप्तकाल में प्रचार-कार्य

चीन में—	...	२०२
( गुणवर्मन्.....गुणभद्र..... धर्मजातपथ.....परमार्थ..... धर्मगुप्त..... प्रज्ञाकवि..... शुभाकरसिंह..... अमीधवज्र आदि । )		
लंका में—	...	२०५
( बौद्ध साहित्य का व्यास—बुद्धघोष—धर्मपाल )		
स्कन्दगुप्त का दान	...	२०६
तिब्बत में बौद्धधर्म	...	२११-२१३
( शान्तिरक्षित.....पद्मसंभव..... कमलशील )		

### आठवाँ परिच्छेद

#### पालकाल में बौद्धधर्म

पालवंश	...	२१४
विक्रमशिला-विश्वविद्यालय	...	२१६
देवपाल	...	२१८
अमृतपाल	...	२१८
राज्यपाल और भिक्षु धर्मदेव	...	२१८



विग्रहपाल और धर्मरत्न	...	२१६
महीपाल	...	२१६
स्मृतिज्ञान	...	२२०
श्रीमानदीपंकर अतिश	...	२२२
गवाधर	...	२२५
बुद्धकीर्ति और अभयकरगुप्त	...	२२५
कुमारश्री	...	२२५
सूर्यध्वज और विशुद्धसिंह	...	२२६
मित्रयोगी	...	२२६
शाम्भ-भीमद्व	...	२२६
उदन्तपुर का विहार	...	२२७

### पालकाल में वज्रयान-सम्प्रदाय और बिहार के सिद्ध

वज्रयान का उद्गम और विकास	...	२२६
बिहार के सिद्ध—	...	२३४
( सरहपाद...शबरपा...कर्णारीपा...लूहिपा...भुसुक...विरुपा...डोम्बिपा ...महीपा...कङ्कलपा...जयानन्दपा...तिलोपा...नरोपन्त...शान्तिपा ...कंकालिपा...लीलापा...तन्त्रिपा...चमरिपा...खड्गपा...शीलपा ...धर्मपा...भेकोपा...जोगीपा...चेलुकपा...लुचिकपा ... चपटीपा ...सम्पकपा...चवरीपा ... घंटापा... पुतलीपा ... कोकालीपा...) २३४-२४०		

### नवाँ परिच्छेद

#### बौद्धधर्म का अन्धकार-युग मुस्लिमकाल

बौद्धधर्म का अन्धकार-युग—	...	२४१
---------------------------	-----	-----

### दसवाँ परिच्छेद

#### अंगरेजी शासन-काल के कार्य

अंगरेजों का पुरातत्त्व-प्रेम	...	२४३
एथिप्राटिक सोसाइटी	...	२४४
भारतीय पुरातत्त्व-सर्वेक्षण-विभाग	...	२४५
बोधगया का उत्खनन-इतिहास	...	२४५

इस्लामन में प्राप्त सामग्री —	...	२४७
प्रधान मंदिर	...	२४७
मूर्तियाँ	...	२४७
पंचपाण्डव मन्दिर	...	२४८
वेष्टन-वेविकाएँ और चैत्य	...	२४८
अन्य स्मारक	...	२४०
मन्दिर का आधुनिक इतिहास	...	२४१
बोधगया में अन्य धर्म-कार्य	...	२४३
नालन्दा की खुदाई और उसमें प्राप्त सामग्री —	...	२४४
महाविहारों के आँगन में	...	२४५
स्तूप या चैत्य	...	२४८
मूर्तियाँ	...	२४०
मृत्तिका-मुद्राएँ	...	२४३
पाटलिपुत्र की खुदाई	...	२४६
पटना का संग्रहालय	...	२४७
बिहार-अनुसंधान-समिति	...	२४७
वैशाली की खुदाई और अन्वेषण-कार्य	...	२४८
महावीर स्वामी	...	२७०
महापंडित राहुल सांकृत्यायन	...	२७२
भिन्नु जगदीश काश्यप	...	२७५

### ग्यारहवाँ परिच्छेद

#### स्वराज्य के बाद

नवनालन्दा महाविहार	...	२७७
बिहार में—२५००वीं बुद्ध-निर्वाण-जयन्ती	...	२७७
काशीप्रसाद जायसवाल-शोध-प्रतिष्ठान	...	२७८

#### परिशिष्ट—१

#### बौद्धधर्म को भाषा और साहित्य की देन

मागधी तथा पालि	...	२८१
बौद्धसाहित्य को मागधी की देन	...	२८५
बौद्धसाहित्य को बिहारी विद्वानों की देन	...	२८६

## शृ ८२

## बौद्ध स्थापत्य और शिल्पकला के क्षेत्र में—

अशोक-पूर्व	...	३६१
अशोक के काल में	...	२६२
शुंगकाल में	...	२६४
कनिष्क-काल	...	२६४
गुप्तकाल की कला-सम्बन्धी देन	...	२६५
पालकालीन देन	...	२६६

## परिशिष्ट—३

## बिहार से सम्बन्धित बौद्ध रचनाओं की तालिका

महावग्ग	...	३३६
सुल्लवग्ग	...	३०३
मज्झिम निकाय	...	३०५
दीर्घ निकाय	...	३०६
संयुक्त निकाय	...	३०७
जातक-कथाएँ	...	३१३
सुत्तनिपात	...	३१६

## परिशिष्ट—४

## अशोक के अभिलेखों का मूलपाठ और हिन्दी-रूपान्तर

लघुशिला-लेख	...	३१७
ब्राह्मशिला-लेख	...	३२०
चतुर्दश शिला-लेख	...	३२०
कलिंग-शिला-लेख—धौली और जौगड़	...	३३०
गुहामिलेख	...	३३४
तराई स्तम्भ-लेख	...	३३४
निश्लिवास्तम्भ-लेख	...	३३५
प्रधान स्तम्भ-लेख	...	३३५
सप्तम स्तम्भ-लेख	...	३३६
गौण स्तम्भ-लेख	...	३४२
अशोक की रानी का स्तम्भ-लेख	...	३४३
शब्दानुक्रमणी	...	३४५

## चित्र-सूची

१. बुद्धकालीन विहार और बौद्ध-स्थानों का मानचित्र
२. पाटलिपुत्र में प्राप्त यज्ञ-मूर्ति
३. अजातशत्रु द्वारा वनवाया पाषाण-प्राकार
४. नालन्दा के प्रधान स्तूप का एक दृश्य
५. अशोक के साम्राज्य का मानचित्र
६. मनिवार मठ, राजगृह
७. बोधगया के संन्यासी मठ का अव-लोकितेश्वर, बोधिवृक्ष की पूजा
८. इन्द्र, इन्द्राणी और भूमिकर्पण
९. शालमंजिका, बोधगया
१०. नालन्दा की अररियों के दो दृश्य
११. हाथियों द्वारा बोधिवृक्ष की पूजा और मायादेवी का स्वप्न
१२. बोधगया-रेलिंग का कमल-नाल, रथ पर आसीन सूर्य और रामपुरवा का सिंह-शीर्ष
१३. अजातशत्रु की बुद्ध से भेंट और बुद्ध के दुषितलोक से उतरने का दृश्य
१४. बुलन्दीबाग
१५. बोधगया का एक चैत्य और बिसुनपुर की बुद्धमूर्ति
१६. नालन्दा के तेलिया मांढार की बुद्ध-मूर्ति और एक और बुद्धमूर्ति
१७. नालन्दा का प्रधान स्तूप
१८. बोधगया का स्तूप और नालन्दा के चैत्य का दृश्य
१९. नालन्दा का एक दृश्य और नालन्दा में प्राप्त बुद्धमूर्ति
२०. नालन्दा की अररियों का एक और दूसरा दृश्य
२१. नालन्दा में प्राप्त दो बुद्धमूर्तियाँ
२२. नालन्दा के खंडहर
२३. गजलक्ष्मी और भीमा तथा सरस्वती की कांस्यमूर्ति
२४. अवलोकितेश्वर ( बिसुनपुर, गया ) तथा गंगा की मूर्ति ( नालन्दा )
२५. नालन्दा विश्वविद्यालय की मुद्राएँ तथा देवपाल का साम्राज्य
२६. नालन्दा विश्वविद्यालय की दो और मुद्राएँ और शर्वचर्म की मुद्रा
२७. लौरियानन्दनगढ़ का स्तम्भ
२८. नालन्दा स्तूप का दृश्य
२९. ललितासन में बैठी तारा की मूर्ति और भूषण-भूषित बुद्ध
३०. विक्रमशिला की मूर्ति और नालन्दा में प्राप्त तारा
३१. पीपलमुहा ( राजगृह ) और बुद्धमूर्ति ( लक्ष्मीसराय )
३२. भद्रासन में बुद्ध ( नालन्दा, कांस्यमूर्ति ) और मैत्रेय
३३. धीरकटोरा ग्राम के नाग-नागिन और अष्टादशभुजी तारा
३४. राशिचक्र, कमल-नाल और जेतवन का कृप
३५. गया से प्राप्त शिवपार्वती-विवाह और बुद्ध के जीवन की विभिन्न मुद्राएँ
३६. नालन्दा के द्वार-स्तम्भ
३७. भिन्नु शांतिरक्षति और लौरियानन्दन गढ़ का दृश्य
३८. कांस्यमूर्ति जंमल ( नालन्दा ) और लोमश ऋषि गुफा ( बराबर पहाड़ )
३९. पशुशायरी और त्रैलोक्य-विजय
४०. अपराजिता और मारीचि ( नालन्दा )
४१. सिंह-सिरा, मसाढ़ (आरा) मिथुनरश्मती
४२. बोधगया का बोधि-मंदिर और बोधिवृक्ष
४३. सहबाजगढ़ी और हम्मिनीदेई के अशोकामिलेख



1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

1875-1876

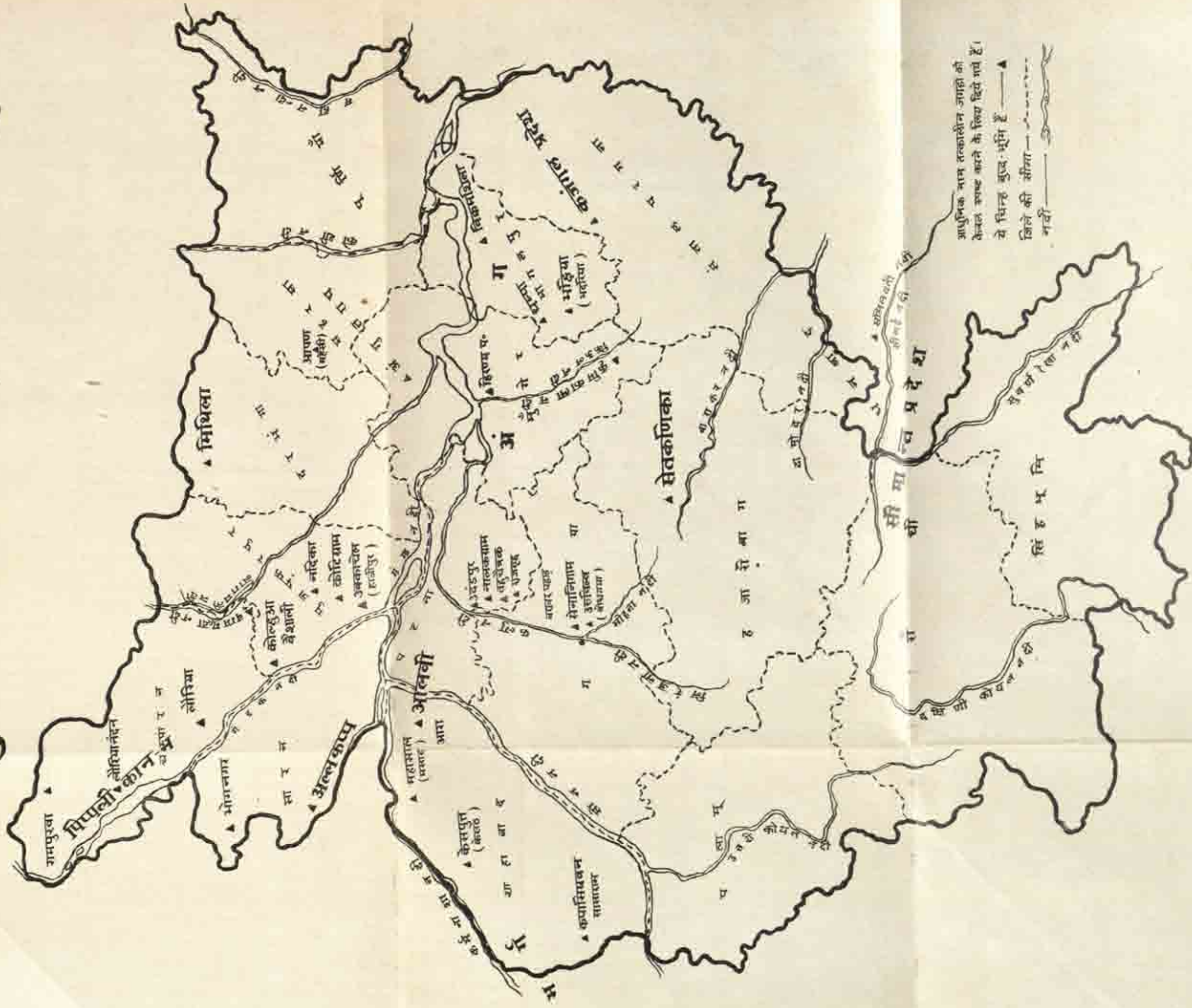
1875-1876

1875-1876

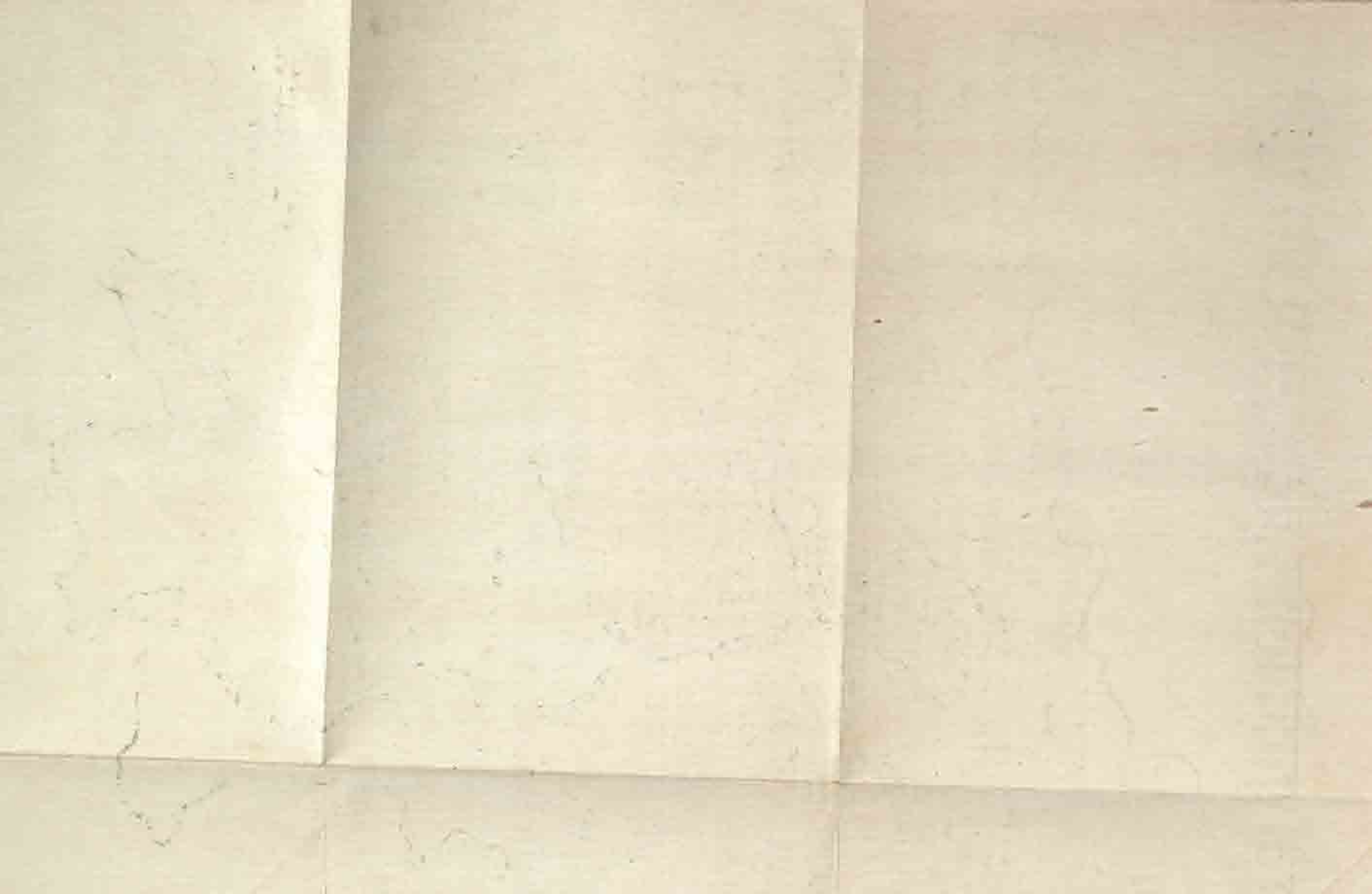
1875-1876

1875-1876

# बिहार के बुद्धकालीन प्रदेश, नगर और भूमि



आधुनिक नाम तत्कालीन जगह की  
केवल स्पष्ट करने के लिए दिये गये हैं।  
ये चिन्ह बुद्ध-भूमि हैं — A  
जिले की सीमा — — — — —  
नदी — — — — —



## बौद्धधर्म और बिहार

अथ भिक्खवे, चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय  
लोकानुकम्पाय अथाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं ।  
× × × अहं पि भिक्खवे, येन उरुवेला येन सेनानिगमो  
तेनु एसइमिस्सामि धम्मदेसनाया' ति ।

महावग्गो—१, २, ५, १



## बोधिभूमि की महिमा

पञ्चोरोह महाराज, भूमिभागो यथा समनुगीतो ।  
 इध अन्नधिवरा बुद्धा अभिसम्बुद्धा विरोचन्ति ॥  
 पदस्त्रियतो आवत्ता तिणलता अस्मिं भूमिभागस्मिं ।  
 पुण्यविषायं मण्डो, इति नो सुतं महाराज ॥  
 सागरपरियन्ताय मेदिन्या सख्यभूत भरणिषा ।  
 पुण्यविषायं मण्डो, आरोहिस्वा नमो करोहि ॥

कालिङ्गबोधि जातक—सं० ४७६

## राजगह-महिमा

रमणीयं आनन्द राजगहं, रमणीयो गिज्झकूटो पटवतो, रमणीयो गौतम-  
 निग्रोधो, रमणीयो चोरपपातो, रमणीया केम्भारपस्से सत्तपण्णिगुहा,  
 रमणीया इस्सिगिल्लिपस्से कालसिला, रमणीयो सीतवने सप्पसोसिडक-  
 पद्ममारो, रमणीयो तपोदारामो, रमणीयो वेणुवने कलन्दकनिवापो, रमणीयं  
 जीवकम्भवनं, रमणीयो मङ्कुलिस्मिं सुगदायो ।

दीघ निकाय—६, ३१, ४३

## वैशाली-महिमा

रमणीया आनन्द वैशाली । रमणीयं उद्देनं चेतियं, रमणीयं गौतमकं चेतियं,  
 रमणीयं सत्तम्बकं चेतियं, रमणीयं बहुपुत्तं चेतियं, रमणीयं सारन्ददं चेतियं,  
 रमणीयं चापालं चेतियं ।

दीघ निकाय—१६, ३, २

# पहला परिच्छेद

## बुद्धपूर्व तथा बुद्धकाल का बिहार

### विचारणीय प्रश्न

बुद्धत्व-प्राप्ति के पहले भगवान् बुद्ध का नाम 'सिद्धार्थ' था। सिद्धार्थ का पैतृक निवास 'कपिलवस्तु' था। यहाँ शाक्य-क्षत्रियों का राज्य था, जो इक्ष्वाकु-वंश के थे। सिद्धार्थ के समय में भी शाक्यों का घनिष्ठ सम्बन्ध कोसल-राज्य से था। कपिलवस्तु कोसल के उत्तर-पूर्व में और बिहार के पश्चिमोत्तर भाग में अवस्थित था। आज यह स्थान 'नैपाल-राज्य' की तराई में वर्तमान है और इसका नाम 'तिलौरा कोट' है। ऐसी अवस्था में प्रश्न उठता है कि जब कपिलवस्तु का सम्बन्ध किसी प्रकार 'मगध' से नहीं था और जब इसके पार्श्व-भाग में ही हिमालय के सुरम्भ एवं विस्तृत उपत्यकांचल तथा रमणीय घनी बनानी पैली थी, तब सिद्धार्थ ने अपने तप, शान और सिद्धान्त-प्रचार के लिए बिहार-प्रदेश को क्यों चुना? वस्तुतः जो नगाधिराज स्वयं देवतात्मा है, जिसके ऊँचे-ऊँचे शृंगों पर यक्ष, किन्नर और गन्धर्व निवास करते हैं, जो धनपति कुवेर तथा भगवान् शंकर का वास-स्थान है, जहाँ अलकापुरी-जैसी नगरी है, मुक्ता-मराल-भण्डित मानसरोवर है, जिसके स्वच्छ अन्तर से पुण्य-प्रवाह-जैसी गंगा आदि नदियाँ बहती रहती हैं; ऐसे पवित्र और तपोयुक्त स्थान को त्यागकर अपनी तपस्या तथा ज्ञानार्जन के लिए सिद्धार्थ का मगध-जैसे निन्दित भू-भाग<sup>१</sup> का चुनाव कहाँ तक उपयुक्त था, यह एक आश्चर्य-जनक विषय है।

किन्तु, इस प्रश्न के उत्तर के लिए तत्कालिक बिहार की अनेक स्थितियों पर जब हम चिन्तन और अनुशीलन करते हैं, तब प्रश्न का उत्तर सरल और स्पष्ट हो जाता है। यहाँ हमें देखना चाहिए कि उस काल में सामाजिक वातावरण में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का सम्बन्ध कैसा था? उस समय की बिहार-भूमि किस जाति के लिए उत्कर्ष-स्थान थी? ब्राह्मण-वाद की दृष्टि में बिहार-प्रदेश का क्या स्थान था और उनके विरोधियों का वह कैसा अखाड़ा था?

१. सुत्तनिपाट—१७, १८—१९

२. (क) अज्ञ-वृद्ध-कलिजेषु सौराष्ट्र मगधेषु च।

तीर्थयात्रां विना गृह्णा पुनः संस्कारमर्हति ॥

(ख) केवल ब्राह्मण-ग्रन्थों की दृष्टि में ही नहीं, परन्तु बौद्ध-ग्रन्थों की दृष्टि में भी, बुद्ध से पूर्व, मगध में दूषित चित्तवालो से उत्पादित अशुद्ध धर्म प्रचरित था—

'पातु रक्षोसि मगधेषु पुन्ये धम्मो अमुदो सगलेशि चिन्तितो'।

ब्राह्मणों की यज्ञादि क्रियाओं के समकक्ष तपस्या तथा ज्ञान का यहाँ कितना आदर था, जिस कारण इसे क्षत्रियों ने अपनाया था ? केवल ज्ञान, त्याग और तपस्या के आचरण करनेवाले ऋषियों का प्रभाव तथा सम्मान यहाँ की सर्वसाधारण जनता में कहाँ तक था ? इतना ही नहीं ; सिद्धार्थ को वचन से प्राप्त होनेवाले वातावरण, शिक्षा-दीक्षा एवं उच्चकुलोचित स्वाभिमान के लिए बिहार की भूमि उपयुक्त थी या नहीं ? इसी तरह उनकी तपस्या और ज्ञान को उर्वर बनाने में तथा उनके सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में कहाँ तक यह भूमि सहायक हो सकती थी—इन सारी बातों पर थोड़ी गहराई से विचार करने पर प्रश्न का उत्तर बहुत कुछ सरल हो जाता है। इसलिए हमें बिहार-प्रदेश के तात्कालिक भू-भागों की भौगोलिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि स्थितियों का समुचित विवेचन और विश्लेषण करना आवश्यक है। इनके विवेचन से सुदूरपूर्व अनेक स्थितियों का भी ज्ञान होगा, जिससे हमें बौद्धधर्म के उगने एवं विकसित होने की परंपरागत भाव-भूमि मिलेगी।

### भौगोलिक स्थिति

भगवान् बुद्ध के पूर्व, उनके समय में तथा उनके बाद भी, अनेक सदियों तक, बिहार-प्रदेश नाम का कोई भू-भाग नहीं था। आज जिस भू-भाग को हम बिहार-राज्य की संज्ञा देते हैं, वह उस समय कई राज्यों में बँटा हुआ था। उन राज्यों में मगध का राजतंत्र और वैशाली का गणतंत्र—दोनों राज्य सर्वशक्तिसम्पन्न थे। इनके अतिरिक्त भर्ग, अंग, अंगुत्तराप, कंजंगल, सुप्र का पश्चिमी-दक्षिणी भाग, पुण्ड्र का पश्चिमी भाग, सीमान्त, अल्लकण्ठ, पिप्पली-कानन और मिथिला नामक क्षेत्र भी प्रसिद्ध थे। भगवान् बुद्ध के समय में केवल 'भर्ग' और 'सीमान्त' के कुछ भागों को छोड़कर बाकी सभी प्रदेश प्रायः मगध और वैशाली के अधीन हो चुके थे।

आज के पटना और गया जिले का क्षेत्र उस समय 'मगध' कहा जाता था। भगवान् बुद्ध के पहले इसका नाम 'कीकट' भी मिलता है। वर्तमान शाहाबाद जिला, बुद्ध के पहले, पूर्ण स्वतंत्र था और इसका नाम 'कुरु' था, जिसका प्रायः सम्बन्ध विन्ध्याचल के दक्षिणी क्षेत्रों से था। बाद में काशी-राज के अधीन हो गया<sup>१</sup>। किन्तु, जब कोसल-राज्य ने काशी पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लिया, तब शाहाबाद भी कोसल में आ गया था। शाहाबाद के भुसुआ और सहसराम-ग्रामण्डलों का दक्षिणी-पश्चिमी पहाड़ी भाग, बुद्ध के समय में, भर्ग देश कहा जाता था<sup>२</sup>। बुद्ध के कुछ दिन पहले मगध के राजा 'बिम्बिसार' का विवाह कोसल-देश के राजा 'महाकोसल' की कन्या से हुआ। उस अवसर पर अपनी कन्या के स्नान-चूर्ण के व्यय के लिए महाकोसल ने काशी और उसके पास के भागों को दहेज में दे दिया<sup>३</sup>, जिससे शाहाबाद का भू-भाग मगध-राज्य में आ गया।

१. पत जातक—३३५

२. मज्झिम निकाय—२।४।५

३. संयुक्त निकाय, ऋट्ठकथा।



आधुनिक मुँगेर और भागलपुर के जिले 'अंग' कहलाते थे और भागलपुर का नाम 'चम्पा' था। बुद्ध के समय में बिम्बिसार ने अंग को जीतकर अधीनस्थ कर लिया था। 'अंगुत्तराप' गंगा के उत्तरी किनारे का भाग (मुँगेर जिले से सहरसा तक का भू-भाग) था। आज का सन्तालपरगना उस समय 'कजंगल' कहा जाता था। सुभा-प्रदेश के अन्तर्गत बाँकुड़ा, मेदिनीपुर और मानभूमि का कुछ हिस्सा तथा हजारीबाग का भी पूर्वी भाग आदि थे। आज के पूर्णिया और दिनाजपुर उस समय पुण्ड्र-देश के नाम से अभिहित होते थे। महावग्गो (६।५।१।२१) से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध जब अंगुत्तराप के 'आपण' निगम<sup>१</sup> में गये, तब 'महिषा' के मेण्डक ग्रहपति ने, जो बिम्बिसार के राज्य में था, बुद्ध के भिक्षुसंघ के लिए अपने नौकरो के साथ रसद भिजवाई थी। इतना ही नहीं, 'सुत्तनिपात'-३३ में कहा गया है कि बुद्ध की अगवान्नी में 'केणिय' ने जब भोज की तैयारी की, तब 'सेल' नामक ब्राह्मण ने कहा—'यह धूमधाम किसी विवाह के उपलक्ष्य में है या राजा बिम्बिसार की अगवान्नी में?' इससे ज्ञात होता है कि तब अंगुत्तराप भी मगध के ही अधीन था, जिससे बिम्बिसार के राजा होने और जाने की बात उठती थी। हाँ, छोटानागपुर के जंगली और दक्षिणी प्रदेश स्वतंत्र थे<sup>२</sup>, जो सीमान्त देश कहलाते थे। मगध-राजतंत्र की राजधानी राजग्रह में थी, जो गंगा के दक्षिण भाग में पड़ती थी।

गंगा के उत्तर भाग में वैशाली गणतंत्र था। यह वज्रिसंघ के नाम से प्रसिद्ध था। वज्रिसंघ वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले और सारन जिले में फैला था। 'अल्लकप्प' सारन जिले के दक्षिणी भाग में, गंगा के उत्तरी किनारे और मही नदी के पश्चिमी तथा सरयू नदी के पूर्वी भाग का नाम था<sup>३</sup>। आज इसी का नाम 'अनवल' और 'कोपा' गाँव है, जो आस-पास में ही हैं। रिविलांग से चार मील उत्तर तथा छपरा-सिवान रेलवे-लाइन में छपरा स्टेशन के बाद ही दूसरा स्टेशन 'कोपा' है। कोपा में जो टीला है, वह शायद बुद्ध के अवशेष पर बुलियों द्वारा बनवाया चैत्य है। इस टीले की ओर पुरातत्त्वशी का प्पान जाना चाहिए।

वर्तमान चम्पारन जिले का एक भाग 'पिप्पली-कानन' कहलाता था। उस समय दरभंगा जिले का उत्तरी भाग और नेपाल के तराई भाग का नाम 'मिथिला' था। भगवान् बुद्ध के काल में अल्लकप्प, पिप्पली-कानन और मिथिला, वैशाली गणतंत्र के अधीन ही थे। 'ललितविस्तर' ग्रन्थ से स्पष्ट पता चलता है कि 'मिथिला' के अन्तिम राजा का नाम 'सुमित्र' था, जिसने जीतकर वज्रिसंघ ने मिथिला को अपने अधीन कर लिया था।

उपयुक्त सम्पूर्ण भू-प्रदेश का नाम आज 'बिहार' है। बौद्ध धर्म के विकास में उपयुक्त क्षेत्रों की देन क्या है, इसका मूल्यांकन करना ही—बिहार-प्रदेश की इस भौगोलिक सीमा के अनुसार ही—इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है। श्रीजयचन्द्र त्रिवालंकार और पृथ्वीसिंह

१. आज का कर्वा उस समय 'निगम' कहा जाता था।

२. महावग्गो—१।८।१।१—४

३. प्राचीन भारत का इतिहास (भगवतशरण उपाध्याय)—पृ० ६८



मेहता के संयुक्त विचार के अनुसार तो—“ठेठ बिहार, गंगा कटि का मध्य भाग था, जहाँ (काशी से आगे) गंगा ठोक पूर्ववाहिनी है। इस हिसाब से वर्तमान युक्त-ग्रान्त के मिर्जापुर और बनारस जिले बिहार के अंश हैं।”

वस्तुतः सांस्कृतिक, सामाजिक, भाषा-सम्बन्धी तथा भौगोलिक एकता की ध्यान में रखकर, काशी से आगे जहाँ गंगा पूर्व की ओर मुहती है, यदि एक सीधी रेखा खींची जाय, तो वह दक्षिण में जुनार से लेकर उत्तर में भगवान् बुद्ध के निवास-स्थान ‘कपिलवस्तु’ तक जायगी और उस रेखा के पूर्वी भू-भाग बिहार-प्रदेश में पहुँचे और तब काशी का पूर्वी भाग, गाजीपुर, बलिया और गोरखपुर के हिस्से बिहार के अन्तर्गत होंगे। अपने प्राचीन ग्रन्थों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब हमें इन भू-भागों में बसनेवाले प्राचीन मल्लों का पनिष्ठ सम्बन्ध भी शाहाबाद के करुणों के साथ दिखाई पड़ता है<sup>१</sup> और आज भी सांस्कृतिक तथा भाषागत दृष्टि से इनकी एकलपता साक्षित होती है। किन्तु इस पुस्तक का सम्बन्ध वर्तमान बिहार-प्रदेश की सीमा से ही है, अतः ऐसे विषय की चर्चा यहाँ अनावश्यक होगी।

बौद्धधर्म के साथ जिस बिहार-प्रदेश के सम्बन्ध की चर्चा यहाँ अभीष्ट है, वह बिहार नाम ‘बिहारशरीफ’ नगर के नाम पर मुस्लिम शासकों का दिया हुआ है। किन्तु मुसलमानों के पूर्व स्वयं ‘बिहार-शरीफ’ नगर का नाम ‘उदन्तपुरी’ या ‘ओदन्तपुरी’ था, जहाँ बौद्धों के अनेक मठ और चैत्य थे। उन मठों का नाम ‘बिहार’ था, जिनके आधिक्य के कारण मुसलमानों ने ‘उदन्तपुरी’ का नाम ‘बिहारशरीफ’ रख दिया। इसी बिहारशरीफ के नाम पर उन्होंने सम्पूर्ण मगध का नाम बिहार-प्रदेश रखा। इसलिए अफगान-शासकों के समय में गंगा के दक्षिणी क्षेत्र का ही नाम ‘बिहार-प्रदेश’ था। आधुनिक बिहार-प्रदेश की सीमा का बिहार नाम तो ‘शेरशाह’ के शासन-काल में हुआ, जब उसने पटना को पुनः राजधानी बनाया। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध ऐतिहासिक जयचन्द्र विद्यालंकार का एक उद्धरण पचास वोगा। वे लिखते हैं—“मुँगेर और भागलपुर का प्रदेश बहुत दिनों से बंगाल में सम्मिलित चला आता था। इस प्रसंग में वह बंगाल से अलग किया गया। सन् १५४२ ई० के अन्त में अंग और तिरहुत भी बिहार में मिला दिये गये और तब से ‘बिहार’ शब्द का वह अर्थ हुआ, जिस अर्थ में आज हम उसे बरतते हैं<sup>२</sup>।”

### सांस्कृतिक स्थिति

आर्यों की निवास-भूमि भारतवर्ष में वैदिक काल से ही, वर्ण-व्यवस्था के प्रमाण प्राप्त

१. बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १

२. मलदायक करुणारव ममाहमलधारिणी।

साधुसाधिविजितं देवाः पाकरोऽसनममृन् ॥

—बालमीकीय रामायण, बाल०, अण्वा० ५, श्लो० २३

३. बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० २३३

होते हैं। उन प्रमाणों में चारों वर्गों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) में ब्राह्मण ही श्रेष्ठ बताया गया है। महाभारत में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—“वाक्य की उत्पत्ति होती ही उस देव-देव से पहले ब्राह्मण प्रादुर्भूत हुए और तब उन ब्राह्मणों से शेष (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) वर्गों की उत्पत्ति हुई।”

क्षत्रियों की उत्पत्ति-  
भूमि बिहार

वाक्यसंयमकाले हि तस्य देवदेवस्य ब्राह्मणाः प्रथमं प्रादुर्भूताः ।

ब्राह्मणेष्वः शेषा वर्णाः प्रादुर्भूताः ॥—शान्ति०, अष्टा० ३४२, पद २१

‘हरिवंशपुराण’ में भी बहुत-कुछ ऐसा ही उल्लेख मिलता है। उसमें कहा गया है—‘अक्षर से ब्राह्मण, क्षर से क्षत्रिय, विकार से वैश्य और धूम-विकार से शूद्र की उत्पत्ति हुई।’ इन दोनों से अतिप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद के ‘पुरुषसूक्त’ में ‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहुराचम्यः ऊतः’ आदि श्रुचाएँ मिलती हैं, जिन सबके अनुसार ब्राह्मण को अन्य वर्गों से श्रेष्ठ कहा गया है। ऋग्वेद में चारों वर्गों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है और जिनमें ब्राह्मण का नाम पहले लिखा गया है। इस तरह के अन्य प्राचीन ग्रन्थों के विभिन्न प्रमाण, अनेक स्थलों में तथा अनेक बार, मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि वर्गों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। भगवान् बुद्ध से बहुत पहले इस ब्राह्मण-वर्ग का, अपने ज्ञान-विज्ञान के कारण, भारतीय समाज पर प्रभुत्व स्थापित था और जिसके हाथ में समाज की सांस्कृतिक बागडोर थी।

देश के सांस्कृतिक क्षेत्र में जहाँ समाज का सूत्र ब्राह्मणों के हाथ में था, वहीं समाज का राजनीतिक सूत्र क्षत्रियों के हाथ में। ये क्षत्रिय भी अपने उच्चकुल का स्वाभिमान रखते थे और अपने उदात्त चरित्र तथा समाज के रक्षात्मक भारवाही होने के कारण समाज में शक्ति-सम्पन्न थे। इस तरह हम देखते हैं कि समाज में एक ओर जहाँ ब्राह्मण-वर्ग सत्वरक्ति-सम्पन्न था, वहीं दूसरी ओर क्षत्रिय-वर्ग भी पूर्ण रजःशक्ति-सम्पन्न था। चूंकि, रजःशक्ति का विकास सत्त्व और तमस्—दोनों की ओर हो सकता था, अतः ज्ञान का प्रसार होने पर क्षत्रियों ने अपने को सत्त्व की ओर मोड़ने का प्रयास किया और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अपनी धाक जमानी चाही। बस इसी बात को लेकर ब्राह्मणों और क्षत्रियों में परस्पर श्रेष्ठता की लड़ाई छिड़ गई तथा कालक्रम से इसी लड़ाई ने दोनों वर्गों में संघर्ष का रूप धारण कर लिया। बात यहाँ तक पहुँच गई कि जब रक्षा-भारवाही तथा शक्ति-साधक क्षत्रियों ने अपनी सात्विक वृत्ति का विकास कर सांस्कृतिक क्षेत्र में अपनी महत्ता स्थापित करनी चाही, तब संस्कृति-सम्पन्न ब्राह्मणों ने भी शक्ति के क्षेत्र में अपने ब्रह्मबल तथा बाहुबल की आज-माइश करने की ठानी। परिणाम यह हुआ कि लड़ाई और ईर्ष्या ने श्रद्धा एवं शान्ति का आसन छीन लिया और ब्राह्मण-क्षत्रिय—दोनों को कलह की जलती मट्टी में डाल दिया।

मेरे उपर्युक्त विश्लेषण के कई प्रमाण, प्राचीन काल की कई ऐतिहासिक घटनाओं में, उपलब्ध होते हैं—पुराणों में वसिष्ठ और विश्वामित्र की जिस लड़ाई की चर्चा मिलती है,

१. अक्षराद् ब्राह्मणाः सौम्याः क्षराश्च क्षत्रियवाचकाः ।

वैश्याः विकारतश्चैव शूद्राः धूमविकारतः ॥—हरिवंश, भवि० २१०। ११८। १६

वह इसी ब्राह्मण-क्षत्रिय की श्रेष्ठतावासी प्रतिस्पर्धा का प्रतीक है। इस युद्ध का विस्तृत वर्णन हमें 'ब्राह्मपुराण' में मिलता है। हम देखते हैं कि इसी श्रेष्ठता की स्पर्धा के कारण जामदग्नेय ( परशुराम ) और क्षत्रियों का घोर संग्राम<sup>१</sup> हुआ, जिसकी कथा भी हमारे प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त है। 'शिव पुराण'<sup>२</sup> में 'दधीचि' और 'क्षत्रिय' नामक राजा के युद्ध का भी वर्णन हमें मिलता है जिसमें क्षत्रिय राजा की मदद करनेवाले विश्णु भी पराजित हुए थे। ये सारे कलह ब्राह्मण-क्षत्रिय-स्पर्धा-जनित ही थे।

यद्यपि इस श्रेष्ठता की स्पर्धा का संघर्ष लम्बी अवधि तक तथा बहुत बड़े पैमाने पर हुआ, तथापि समाज में श्रेष्ठता की बागडोर ब्राह्मणों के हाथ से क्षत्रिय छीन नहीं सके; ऐसा स्पष्ट प्रमाणित है। क्षत्रियों ने इसे अचञ्छी तरह समझ लिया कि जिस क्षेत्र और जहाँ के समाज में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का आधिपत्य कायम है, वहाँ और उस समाज में हमारी श्रेष्ठता का दावा कायम नहीं हो सकता। इसलिए क्षत्रिय ऐसे प्रदेश और ऐसे समाज की खोज में लगे, जहाँ ब्राह्मणों का प्रभुत्व कायम नहीं हो सका था। उस समय ऐसा प्रदेश और समाज देश का पूर्वीय भाग ही था, जहाँ ब्राह्मण, धार्मिक प्रवृत्ति के अभाव के कारण, जाना और रहना पसन्द नहीं करते थे। बल्कि इन भू-भागों को देव-वतला कर दूसरे लोगों को भी वहाँ जाने से रोकते थे<sup>३</sup>। देश का पूर्वी भाग कुछ तो दलदल था और कुछ जंगली भू-भाग था। स्वभावतः वह भाग सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ा था और गरीबी के गर्त में गिरा हुआ था। ऐसा पूर्वी भाग आज का बिहार, बंगाल, आसाम एवं उड़ीसा था, जहाँ क्षत्रियों ने अपनी श्रेष्ठता के लिए अड़्डा कायम किया।

हम देखते हैं कि इसी पूर्वीय भाग में राजर्षि जनक हुए, जो क्षत्रिय थे और जिनकी समा में सभासद के रूप में 'यज्ञबल्क्य'-जैसे तत्त्ववेत्ता ब्राह्मण रहते थे। राजर्षि ( पीछे चलकर ब्रह्मर्षि भी ) विश्वामित्र ने भी अपनी श्रेष्ठता के लिए इसी पूर्वी भाग को चुना था और वहाँ यज्ञ-यागादि की क्रिया भी प्रतिष्ठित की थी। किन्तु ऐसे भू-भागों में तत्त्ववेत्ता क्षत्रियों ने ब्राह्मणों द्वारा चलाई बहुव्ययी विधि-क्रियाओं को त्यागना ही उचित समझा और उन्होंने मोक्ष-मार्ग को प्रशस्त करने में एक नया कदम उठाया—केवल तपस्या, त्याग और ज्ञान के बल से ही मोक्ष तथा आत्म-ज्ञान-लाभ करने का अधिकार प्रतिष्ठित किया। इस भाग की पिछड़ी और गरीब जनता के लिए वह नवीन और क्रान्तिकारी मार्ग-पद्धति अनुकूल साबित हुई। इसलिए हम देखते हैं कि ब्राह्मणों के द्वारा जिन यज्ञ-यागादि क्रियाओं का उदय संसिन्धु की घाटी में हुआ, बहुत जोर मारने पर भी—वह विधि-क्रिया भारतीय पूर्वी सीमा में जड़ नहीं जमा सकी और न ब्राह्मणवाद ही इस भाग में अपनी सत्ता कायम कर सका।

१. भागवतपुराण, मण्डपति खण्ड, अध्याय ४०

२. शिवमहापुराण, अध्याय २०-२६

३. बात होता है कि इसी कारण आज तक पश्चिम के ब्राह्मण पूर्वीय भाग के ब्राह्मणों को पंक्ति में छोड़ा बताते हैं और अपना सम्बन्ध पूर्वीय भाग के ब्राह्मणों के साथ नहीं करना चाहते हैं।—ले०



इसके विपरीत देश के ब्राह्मण मगध, अंग आदि प्रदेशों को हेय समझकर तिरस्कृत करते रहे। स्वभावतः क्षत्रियों को अपने नये मार्ग के संवर्द्धन और उसकी स्थिति दृढ़ करने के लिए उपयुक्त भूमि प्राप्त हो गई। क्रमशः क्षत्रियों का उत्कर्ष ऐसे भू-भाग में बढ़ता गया तथा वहादि के विपरीत, तब और ज्ञान-मार्ग का विकास, बिहार-जैसे पूर्वी भाग में दृढ़ होता गया।

उपर्युक्त तथ्यों का स्पष्ट चित्र हमें उपनिषद्-काल में प्राप्त होता है। इस काल में अनेक ऐसे क्षत्रिय राजा हुए, जिन्होंने कठिन साधना से ज्ञानबल को प्रसूद करके ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लिया। ऐसे क्षत्रियों में काशिराज अजातशत्रु, जनक वैदेह, अश्वपति कैकेय, प्रवाहण जैबलि आदि प्रमुख थे<sup>१</sup>। इनके बाव ही हमें वह कथा मिलती है, जिसमें लिखा है कि श्रीमन्मन्थ, सत्ययज्ञ, वीलुषि-इन्द्रद्युम्न, भाल्लपेय, जन-शार्ङ्गराक्ष और बुडिल आश्व-तराश्व-जैसे महाशक्तिव ब्राह्मण गृहस्थों ने भी 'अश्वपति कैकेय' से ब्रह्म-विद्या प्राप्तकर श्रुष्टि-लाम किया था<sup>२</sup>। किन्तु ऐसे ब्रह्मविद् अश्वपति कैकेय भी ब्राह्मण श्रुष्टियों को अपने यहाँ निमंत्रण देकर खिलाने के लिए या दान देने के लिए तरसते रहते थे। एक बार जब उन्होंने उपर्युक्त ब्राह्मण-श्रुष्टियों को बहुत-सा धन देना चाहा, तब श्रुष्टियों ने अस्वीकार कर दिया। इस पर इन्होंने शपथ खाते हुए कहा—'मेरे संपूर्ण राज्य में एक भी चोर, एक भी स्वैरिणी, एक भी अपमिचारी, एक भी मिथ्याभाषी और एक भी अशिक्षित जन नहीं है; तब फिर क्यों आपलोग मेरा धन अस्वीकार करते हैं?' हमने देखा कि इस पश्चिमी भाग में ब्राह्मणों का इतना प्राबल्य था कि ऐसे ब्रह्मविद् राजा को उन्हें निमंत्रण पर सुलाने के लिए शपथ खानी पड़ती थी और वे इतने पर भी अस्वीकार कर देते थे। यही कारण था कि क्षत्रियों का उत्कर्ष पूर्व-प्रदेश में ही बढ़ा, पश्चिम के भू-भाग में नहीं। इस काल में ब्राह्मणत्व और ब्रह्म-विद्या प्राप्त करने के लिए क्षत्रियों में झोड़-सी लग गई थी। किन्तु ये बातें सिद्ध करती हैं कि क्षत्रिय से ब्राह्मण-वर्ण श्रेष्ठ था, जिसे प्राप्त करने के लिए क्षत्रिय-वर्ग लालावित रहता था।

यह पौराणिक कथा भी प्रसिद्ध है कि विश्वामित्र की प्रच्छाद तपस्या से जब संसार संतप्त और कम्पित होने लगा, तब ब्रह्मा ने आकर उनसे तपस्या छोड़ देने और घर माँगने का अनुरोध किया, जिसपर उन्होंने कहा कि मैं ब्रह्मर्षि होना चाहता हूँ; पर केवल आपके ब्रह्मर्षि कह देने से मुझे सन्तोष नहीं होगा, जबतक स्वयं बसिष्ठ आकर मुझे ब्रह्मर्षि नहीं मान लेंगे। इसलिए भी प्रमाणित होता है कि क्षत्रिय से ब्राह्मण श्रेष्ठ थे।

देश के ऐसे ही पूर्वोक्त और उत्तरी भाग में तथा श्रेष्ठता का दावा करनेवाले ऐसे ही क्षत्रिय-कुल में सिद्धार्थ का जन्म हुआ था। उनकी रहन-सहन तथा शिक्षा-दीक्षा श्रेष्ठता-भिन्नानी वालुमंडल में ही हुई थी। शास्त्रवर्दीय क्षत्रिय अपने जात्यभिमान के लिए देश

१. आन्द्रोम, बुद्धसारथक और कीर्तिका-उपनिषद् द्रष्टव्य।

२. आन्द्रोम-उपनिषद्—५, ११

३. तत्रैव—५, ११, ५



में प्रसिद्ध थे और ऐसे प्रसिद्ध थे कि सिद्धार्थ जब बुद्ध और सकल अभिमान से रहित हो गये, तब भी समय-समय पर उनका वंश-परम्परागत वह अभिमान नहीं छूट सका था<sup>१</sup>। यह श्रेष्ठतावाली बात भगवान् बुद्ध के काल तक पहुँचते-पहुँचते ऐसी उग्र और विकृत हो गई कि इस काल में क्षत्रिय कर्म से ही नहीं, जन्म से ही अपनेको श्रेष्ठ मानने लगे और जिसे स्वयं बुद्ध भी मानते थे। ऐसे अनेक प्रमाण हमें बुद्ध-वचन के रूप में कई जगहों में मिलते हैं<sup>२</sup>। 'दीप निकाय' के अम्बट्टसुत्त से पता चलता है कि सम्पूर्ण शाक्यकुल अपने श्रेष्ठताभिमान के कारण ब्राह्मणों का सम्मान नहीं करता था। अम्बष्ठ ब्राह्मण ने भगवान् बुद्ध से भेंट होने पर वही आलोचन किया है। उसने कहा है—

'चण्डा गो गोतम शक्य जाति'... 'इत्था सन्ता इत्था समाना न ब्राह्मणे संगं करोन्ति न ब्राह्मणे मानन्ति' आदि।

भगवान् बुद्ध ने जहाँ-जहाँ वर्षों के नाम गिनाये हैं, वे सर्वत्र ब्राह्मण से पहले क्षत्रिय का ही नाम लेते हैं। इतना ही नहीं, तीर्थंकर महावीर और भगवान् बुद्ध ने क्षत्रियोत्कर्ष के लिए जितना बड़ा काम किया, उतना उपनिषद्-काल के सभी ब्रह्मविद् क्षत्रिय-राजाओं ने मिलकर भी नहीं किया। इस क्षत्रियोत्कर्ष का विकसित रूप ही, इस पूर्वीय भाग में, जैनधर्म और बौद्धधर्म के माध्यम से दिखाई पड़ा। सच पूछा जाय, तो ये दोनों धर्म ब्राह्मण-क्षत्रिय-संघर्ष में क्षत्रियो की उस विजय-वैजयन्ती के प्रतीक हैं—जो विहार-प्रदेश में उड़ी थी। इन सभी कारणों के चलते ही हम देखते हैं कि वर्णाश्रम-व्यवस्था और ब्राह्मण-धर्म का प्रसार जिस अनुपात में, काशी से पश्चिम के भागों में दिखाई पड़ता है, उस अनुपात में काशी से पूर्व के भागों में, ऐतिहासिक शुंगकाल के पहले, नहीं दिखाई पड़ता। अब आप अच्छी तरह समझ गये होंगे कि बुद्धदेव की क्षत्रियोचित प्रकृति तथा उनके तात्कालिक शिक्षा-दीक्षानुप्राणित विचारों का जैसा सम्मान विहार की भूमि में हो सकता था, वैसा न तो हिमालय की देवभूमि में या न सप्तसिंधु एवं गंगा की घाटी में ही।

देश के इस पूर्वी भाग के धार्मिक निवासी और राजवंश ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'जात्य' नाम से अभिहित हुए हैं। जात्य का शाब्दिक अर्थ तो होता है—व्रत को माननेवाला अथवा व्रत को धारण करनेवाला। परन्तु वैदिक और ब्राह्मण-ग्रन्थों में विहारवासियों की जात्य शब्द अत्यन्त गहिर्त अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ इसका तात्पर्य धार्मिक प्रवृत्ति अर्थात्, वैदिक-कर्मकांड-विरोधी एवं वर्णसंकर है। 'मनुस्मृति' कहती है कि याज्ञिकी और उपनयन से अष्ट द्विजाति जात्य कहलाते हैं<sup>३</sup>। इस तरह भल्ल, मल्ल,

१. दीप निकाय ( भगवज्जसुत्त )—३।४

२. दीप निकाय ( अम्बट्टसुत्त )—१।३

३. द्विजातयः सक्कास्त जननन्तवृत्ति बान्।

कान् काविधोपरभट्टान् पाल्वाणित्ति विनिदिशेत् ॥—मनु० १०।२०

लिच्छवि आदि सभी जात्य हैं।<sup>१</sup> इस स्मृति के अनुसार क्षत्रिय से ब्राह्मण-कन्या में उत्पन्न सन्तान 'सुत' कहलाती थी और वैश्य से क्षत्रिय कन्या में उत्पन्न सन्तान 'मागध' होती थी। इसी तरह वैश्य से ब्राह्मण-कन्या में उत्पन्न सन्तान 'वैदेह' कही जाती थी।<sup>२</sup> इस प्रकार, आधुनिक बिहार के सभी प्राचीन भागों के निवासी जात्य ये और युक्तप्रान्त के गाजीपुर और बलिया तथा गोरखपुर के निवासी भी जात्य थे। क्योंकि, बिहार-प्रदेश के अंग-क्षेत्र के निवासी 'अधिरथ' को 'सुत' तथा उनके पुत्र 'कण' को सुत-पुत्र कहा गया है। इसी तरह वैशाली के लिच्छवि, मिथिला के वैदेह और मगध के निवासी मागध कहे जाते थे। पुनः युक्त-प्रान्त के उपर्युक्त जिलों के निवासी भी मूलतः ये, जिसकी राजधानी कुशीनारा और पावा थी।

महामारत के उद्योग-पर्व में जात्यों को पातकी कहा गया है। इसके अनुसार आग लगानेवाले, विष देनेवाले, मदिरा बेचनेवाले, कुसीद भक्षण करनेवाले (सूखोर), मित्रद्रोही, भ्रूण-हत्यारे, व्यभिचारी, जात्य आदि ब्रह्मघाती कहे जाते हैं।<sup>३</sup> वेदों के प्रसिद्ध माध्य-कार 'सायणाचार्य' ने जात्य का अर्थ पतित बतलाया है।<sup>४</sup> 'पञ्चविंशब्राह्मण' जात्य-सम्भत्ता के सम्बन्ध में लिखता है<sup>५</sup> कि ये सिर पर उष्णीष (पगड़ी) धारण करते थे। डंडा या चाबुक लेकर चलते थे। बिना बाण के 'ज्याहोड़' (गुलेल) पास में रखते थे। 'बौधायन श्रौतसूत्र' के अनुसार जात्यों के पास बाण होते थे। इन बाणों को रखने के लिए ये चमड़े के बने तरकस रखते थे। इनके पास बांस की फटी की बनी गाड़ी होती थी, जिसे खच्चर या घोड़े खींचते थे। इनके शरीर पर के दुपट्टे में काली धारियाँ होती थीं। इनके नेता श्वेत वस्त्र की पगड़ी सर पर बाँधते थे। जात्य लोग भूत, डापन, जादू-टोना और ब्रह्मराक्षस में विश्वास करते थे। इनका पुरोहित मंत्र-तंत्र तथा जादू-टोने के पेशे से जीविका चलाता था। अनादि-जात्य २१ प्रकार से श्वासोपश्वास लेते थे। ये तपस्या में रत होकर वर्षों खड़े ही रह जाते थे। ये बड़े भारी हठयोगी होते थे।<sup>६</sup>

१. भक्तो भक्तान् राजन्वाद् ब्राह्मणक्षत्रियैरेव च।

नदरम करणस्त्रैव सर्वो द्रविड प्रव च॥—मनु० १०, २२

२. क्षत्रियादिव्रधकन्यायां सुतो भवति जातिरः।

वैश्यान्मागधवैदेहो राजविभ्राह्मणान् तो॥—मनु० १०, ११

३. अगारदात्री गरदः कुम्भारी सोमविक्रयी।

पर्वकारश्च सूची च, मिच्छन्तु पारिवारिकः॥

भूगुहा मुक्तानी च, घरं स्वास्थानयो द्विजः।

सुवपद्रवयो ब्राह्मणः कीनारात्वात्मवानपि॥—महामारत, उद्यो० ३५, ४६-४८

४. प्राह्मण्यं बिहार—३, १५

५. पञ्चविंशब्राह्मण—१७, १, १४

६. प्राह्मण्यं बिहार—५० १६-१७

जब हम विचार करते हैं कि उपर्युक्त सभ्यता का प्रदेश कौन हो सकता है, तब हमारे सामने स्पष्ट रूप से बिहार-प्रदेश प्रत्यक्ष हो जाता है। आज भी उक्त सभ्यता का रूप हमें बहुत-कुछ बिहार-प्रदेश में मिल जाता है। इन सारी बातों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ इस पूर्वी प्रदेश को किस दृष्टि से देखते थे और इसे कितना हेय बतलाते थे। किन्तु इससे यह भी स्पष्ट है कि यहाँ स्वतंत्र विचारक, ज्ञानी और बड़े-बड़े तपस्वी वर्तमान थे। अशोक-कालीन स्मारकों में उष्णीष, पाश आदि के जो चिह्न मिलते हैं, ज्ञात होता है कि इसी वात्य-सभ्यता के वे प्रतीक थे। पाटलिपुत्र में मिली राजा 'उदयी' या यक्ष की मूर्ति के कंधे पर से पीछे की ओर लटकता दुपट्टा हम देखते हैं, जिस पर धारियाँ स्पष्ट हैं। बुद्ध-कालीन तपस्या की प्रणाली का जो उल्लेख हमें बौद्ध-ग्रन्थों में मिलता है, उसमें ब्राह्मणों की ही तपस्या-प्रणाली दिखाई पड़ती है। संघ-मंत्र की प्रक्रिया तो बहुत पुरानी है ही, जिससे बौद्ध भी नहीं बच सके—बुद्ध-कालीन 'आटानाटीय मुत्त' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। एक बार महामौद्गल्यायन के घेठ में बर्द उठा था, तो उन्होंने उसे मार (भूत) ही समझकर मंत्रों से भगाया था, जो इसी वात्य-सभ्यता का पूर्ण प्रतीक था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित वात्य-सभ्यता के अनेक चिह्न आज भी बिहार-प्रदेश के छोटानागपुर-भाग में विद्यमान हैं।

मगवान् बुद्ध के जीवन-चरित-विषयक प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रन्थ 'ललित-विस्तर' में भी जो आठ राजकुलों का उल्लेख है, उन राजकुलों में मगध-कुल के सम्बन्ध में लिखा है—“यह कुल मातृशुद्ध और पित्रशुद्ध नहीं है। यह चंचल है तथा विपुल पुण्य से अभिषिक्त नहीं है। इसकी राजधानी जंगली लोंगों के बसने के योग्य है।” इस वाक्य से भी ब्राह्मण-ग्रन्थों की बात प्रमाणित होती है। ‘अथर्ववेद’ में एक श्रुति इस प्रकार है—

गन्धारिभ्यो मूजवदभ्योऽङ्गभ्यो मगधेभ्यः ।

प्रेषण् जनमिव शेवधि तवमानं परिदशसि ॥<sup>१</sup>

अथर्ववेद के श्रुति कहते हैं—“जैसे मनुष्य और उपमोग के सामान एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजे जाते हैं, उसी तरह हम ज्वर को गन्धार, मूजवान्, अंग और मगध-देश में भेज देते हैं।” इससे ज्ञात होता है कि आर्य अंग और मगध को अनाचों को भूमि मानते थे और इन्हें अप्रिय हेय बतलाते थे। वेद की एक दूसरी श्रुति में इसी प्रकार की बात कही गई है। उसमें एक श्रुति इन्द्र से प्रार्थना करता है—“कीकट ( मगध ) की गाँवें किस काम की हैं, जिनका दूध पशु में तुम्हारे काम नहीं आता और न सोमरस के साथ मिलकर यज्ञ-पात्रों को ही गर्म करता है। अतः, हे इन्द्र ! उन नैचाशाख ‘प्रमगन्दों’ का वह धन मुझे दिला दो।” इस वाक्य से पता चलता है कि मगध के निवासी नीच शाखा के (नैचाशाख) थे,

१. ललितविस्तर—अध्याय १

२. अथर्ववेद—काण्ड ५, सू. २२, श्रु. १४

३. किले कृष्णवर्ति कीकटेषु तावो नाशिरं दुर्गे न तपन्ति धर्मम् ।

आ नी भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाख मगधन् रणवा नः ॥—अथर्ववेदः ३, ५३, १४





पाटलिपुत्र में प्राप्त यक्ष-मूर्ति, जिसके दुपट्टे की धारियाँ बाल-सभ्यता की सूचना देती हैं  
( पृ० १२ )





जो पशु-विरोधी थे। प्रमगन्ध शब्द से ही वंग, अंग और मगध का वनना कहा जाता है। स्पष्ट है कि ऐसा स्थान ब्राह्मण-विरोधी धर्मों के प्रचार के लिए अत्यन्त ही उर्वर नजर आता था।

बिहार-प्रदेश के श्रृषि, ज्ञानी तथा तपस्वी यज्ञकर्म में दी जानेवाली पशु-बलि के तीव्र विरोधी थे। ये सभी ज्ञान, व्रत, तपश्चर्या तथा उच्छेद को श्रेष्ठ मानते थे। ये यज्ञादि कर्मों के बदले सदाचार, उपास तथा आत्मशुद्धि पर ही विशेष जोर देते थे। घोर तपस्या द्वारा इस शरीर को जितना ही अधिक तपाया जायगा, उतनी ही बड़ी ज्ञान, होम तथा तप की प्रधानता और ऊँची आत्मशुद्धि होगी। ऐसा ही विश्वास बिहार के तपस्वियों का था। इस तरह की तपस्या बुद्ध के समय तथा उनके कुछ काल बाद तक भी बनी रही। किन्तु भगवान् बुद्ध ने शरीर को यातना देनेवाली तपस्या का स्वयं विरोध किया और इसे अत्याचार बतलाया। बुद्ध के समय में जिन छह शास्ताओं का उल्लेख मिलता है, सभी उपर्युक्त ढंग के तपस्यावाले सिद्धान्त के ही पोषक थे। ईसा से पूर्व १०वीं सदी में होनेवाले काशी-निवासी 'पार्श्व' इसी मार्ग के दर्शक थे। पार्श्व (नाथ) का जन्म काशी के राजा 'विश्वसेन' अथवा 'अश्वसेन' की पत्नी 'बामा' के गर्भ से हुआ था। ये जैनधर्म में २३वें तीर्थंकर के नाम से प्रसिद्ध है। ये अपनी ६० वर्ष की आयु में संन्यासी हुए और केवल ८४ दिनों की तपस्या से ही अर्हन्व प्राप्त कर गये थे<sup>१</sup>। वैशाली का राज-परिवार इसी पार्श्व-मत का अनुयायी था। वही कारण हुआ कि वैशाली के समीपस्थ कुण्डग्राम के राजा 'सिद्धार्थ' के पुत्र 'वर्द्धमान' जैनधर्म के २४वें तीर्थंकर हुए और जो 'महावीर' के नाम से प्रसिद्ध थे। ये ही महावीर तीर्थंकर बुद्धदेव के समसामयिक थे। बौद्ध-ग्रन्थों में इनका नाम 'निमगंठनाथपुत्त' कहा गया है। निमगंठ 'निर्ग्रन्थ' का पालि-रूप है, जिसका अर्थ है—ग्रन्थि (बन्धन)-रहित। जिस समय सिद्धार्थ (गौतम) ने महाभिनिष्क्रमण का विचार किया, उस समय इस निमगंठनाथपुत्त (महावीर तीर्थंकर) का तपस्या तथा कर्मस्थान मगध की राजधानी के आस-पास ही था।

सिद्धार्थ गौतम को संन्यास लेकर ज्ञान के क्षेत्र में यश अर्जित करने की बहुत-कुछ प्रेरणा बिहार-प्रदेशवासी इसी महावीर तीर्थंकर से मिली, इसकी संभावना बहुत कुछ है। महावीर का जन्म वैशाली के क्षत्रिय-कुल में हुआ था, जिस कुल से शाक्य-क्षत्रियों का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। उनके सम्पूर्ण आचार-विचारों का आदान-प्रदान परस्पर हुआ करता था। उसी कुल के वर्द्धमान ने संसार का त्याग कर ज्ञान-मार्ग का आश्रय ले लिया था। उन्होंने राजाओं से अधिक सम्मान लोक में प्राप्त कर वैशाली-कुल का गौरव बढ़ाया था और वे मगध में अपनी सिद्धि तथा सिद्धान्त की कीर्त्ति फैला रहे थे। वे अपने ज्ञान और तपोबल से वैशाली और मगध के राजाओं से पूजित भी हो चुके थे। महावीर ने सिद्ध कर दिया था कि ज्ञान और उच्छेद (त्याग) का बल राजबल से कहीं उत्तम और श्रेष्ठ है।

१. महावग्ग—पृ० १ और चुल्लवग्ग—पृ० ६ देखिए।

२. बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० ५६

इस तरह जब वैशाली के एक राजकुमार ने इतना बड़ा सम्मान प्राप्त कर लिच्छवि-कुल का गौरव बढ़ा दिया, तब स्वभावतः शाक्य-कुल का सिद्धार्थ गौतम—जो कुल में लिच्छवियों से श्रेष्ठ था—अपने ज्ञानबल तथा त्याग के द्वारा भी शाक्य-कुल को श्रेष्ठ प्रमाणित कर देने के लिए कटिबद्ध हुआ हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं<sup>१</sup>।

बुद्धपूर्व तथा बुद्ध के काल में बिहार-प्रदेश धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्र में क्रान्तिकारी सिद्धान्त का बीजारोपक हो चुका था। इसने हिंसा को प्रथम देनेवाले वैदिक कर्मकाण्ड की उपेक्षा कर ज्ञान-मार्ग में उपासना, उपवास तथा आत्मशुद्धि का अवलम्बन कर लिया था। बिहार के निवासियों ने भी आत्मशुद्धि के इन सिद्धान्तों के प्रति अपना हार्दिक सम्मान प्रकट किया था। सिद्धार्थ गौतम को वचन से ऐसी ही शिक्षा-दीक्षा का वातावरण प्राप्त हुआ था और उन्हें ऐसी भावना रुचिकर थी।

‘आराद कालाम’ और ‘उहक रामपुत्त’ के सांख्य-दर्शन का सिद्धान्त<sup>२</sup> इसी बिहार-प्रदेश में प्रचलित था। सिद्धार्थ गौतम ने जब संन्यास ग्रहण किया, तब प्रथम-प्रथम इन्हीं सिद्धान्तों के सम्प्रदाय में उन्होंने सांख्य-दर्शन तथा समाधि की शिक्षा ली थी<sup>३</sup>। ‘आराद कालाम’

के मत का ही एक अनुयायी, जिसका नाम ‘भरगु कालाम’ था, सिद्धार्थ की तपस्या पद्धति और सिद्धान्त का गुरु-कुल के मत का ही एक अनुयायी, जिसका नाम ‘भरगु कालाम’ था, कपिलवस्तु में रहता था<sup>४</sup>। अपने गृहस्थ-जीवन में, सिद्धार्थ गौतम ने अपने ग्राम के इसी भरगु-आश्रम में उससे संन्यास-धर्म की महिमा जानी और समाधि की दीक्षा ली थी। संन्यास ग्रहण करने की प्रेरणा भी इन्हीं यहीं से मिली। सिद्धार्थ जब अपने स्वेतो की देख-रेख करने घर से निकलते थे, तब घंटों इस आश्रम में बैठ जाते थे और ‘भरगु’ से ज्ञान तथा समाधि की शिक्षा लेते थे। ‘आराद कालाम’ के दर्शन का ज्ञान भी इन्हींने थोड़ा-बहुत यहीं प्राप्त कर लिया था<sup>५</sup>। उस ‘आराद कालाम’ का मूल आश्रम बिहार-प्रदेश में ही था।

भगवान् बुद्ध के जीवन-चरित के प्रसिद्ध ग्रंथ ‘ललित-विस्तर’ के अनुसार ‘आराद

१. टिप्पणी—उपर्युक्त बातें मैने बौद्धधर्म-सम्बन्धी पालि-ग्रन्थ ‘दीघ-निकाय’ और ‘मज्झिम-निकाय’ के आधार पर लिखी हैं, जिनके उल्लेखों से सिद्ध होता है कि तीर्थंकर महावीर बुद्ध से बड़े थे और वे उनसे पहले निर्वाण को प्राप्त हुए। पर जैन-ग्रन्थ तथा उसके विद्वान् इस बात को नहीं मानते हैं। उनके कथनानुसार तीर्थंकर महावीर बुद्ध के परिनिर्वाण के १४ वर्ष ५ महीना १५ दिन बाद निर्वाण को प्राप्त हुए और महावीर भगवान् बुद्ध से २२ वर्ष छोटे भी थे। इस पर विस्तृत और शोधपूर्ण विवेचन ‘मुनि कल्याणविजय’ ने ‘नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका’ (काशी) के भाग २०, अंक ४ (सं. ११८६) में किया है।

२. बौद्धधर्म-दर्शन—पृ० ४

३. मज्झिम-निकाय—२, ४, ५

४. अंगुत्तर-निकाय—३, ३, ३, ४

५. भगवान् बुद्ध (भगवान्द कोसम्बी)—पृ० ३३

कालाम' और 'उद्दक रामपुत्त' का आश्रम वैशाली के आस-पास विद्यमान था। बौद्ध-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् महाप्रसिद्ध 'राहुल सांकृत्यायन' ने अपनी 'बुद्धचर्या' नामक पुस्तक में इनका आश्रम बुद्धगया और राजगीर के मध्य में बतलाया है। किन्तु 'धर्मानन्द कोसम्बी' ने इनका आश्रम कोसल-प्रदेश में माना है<sup>१</sup>। 'अंगुत्तर निकाय' में कालाम नामक क्षत्रियों के नगर का नाम 'केसपुत्त' निगम लिखा है<sup>२</sup>। धर्मानन्द कोसम्बी आराद का आश्रम 'केसपुत्त' में ही बतलाते हैं, जिसे वे कोसल प्रदेश में मानते हैं। यदि 'आराद कालाम' का आश्रम 'केसपुत्त' में था (जिसकी संभावना अधिक है), तो वह 'केसपुत्त' कोसल में नहीं था, बल्कि बिहार-प्रदेश के शाहाबाद जिले में था, जिसका नाम आज 'केसठ' है। वस्तुतः 'केसठ' ग्राम 'केसपुत्त' है; क्योंकि आज भी यहाँ प्राचीन क्षत्रियों की विशिष्ट शाखा का निवास है। यहाँ के अतिप्राचीन और सुविस्तृत डीहों, नदी-किनारे के अतिप्राचीन बरगद का वृक्ष और उसके पास एक मंदिर को देखने से इसकी प्राचीनता तथा गौरव अनुपम दिखाई पड़ते हैं। वह हमराँव नगर के दक्षिण में अवस्थित है। ज्ञात होता है कि धर्मानन्द कोसम्बी ने जिन प्राचीन ग्रन्थों को देखकर 'केसपुत्त' को कोसल में कहा है, उसका कारण यही हो सकता है कि बुद्ध के पहले यह प्रदेश काशी-राज्य में था, जिसे जीतकर 'कोसल' राजा ने कोसल में मिला लिया था। यही कारण है कि प्रसिद्ध विद्वान् 'होई' ने आरा नगर का प्राचीन नाम 'आराद' कहा है और 'आराद कालाम' का आश्रम 'आरा' में ही बतलाया है<sup>३</sup>। 'आर्कियो-लॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया' (भाग ३, पृ० ७०) में भी ऐसा उल्लेख है कि एक जैन अभिलेख में आरा का प्राचीन नाम 'आराम' था।

एक बात और विचारणीय है। यदि 'ललित-विस्तर' के अनुसार 'आराद कालाम' का आश्रम वैशाली के पास होता, तो सिद्धार्थ 'कपिलवस्तु' से चलकर चम्पारन होते हुए वैशाली आते। दूसरी बात यह है कि यदि आराद का आश्रम वैशाली के पास होता, तो उस समय सिद्धार्थ अवश्य वैशाली भी जाते और तब उसकी चर्चा भी रहती; क्योंकि वैशाली जैसी नगरी की उपेक्षा वे नहीं कर सकते। किन्तु, हम पढ़ते हैं कि उन्होंने छन्दक के साथ कन्धक पर चढ़कर अचिरावती नदी को पार किया और तब वे कोसल-प्रदेश में पहुँचे। वहाँ से सीधे 'आराद कालाम' और तब 'उद्दक रामपुत्त' के आश्रम में होते हुए राजगीर पहुँचे। इससे निश्चित है कि उन्होंने कोसल से शाहाबाद की भूमि में गंगा को पार किया, और आराद कालाम तथा 'उद्दक रामपुत्त' के आश्रम में होते हुए राजगीर पहुँचे। इस विषय में पं० राहुल सांकृत्यायन का भी मत ठीक नहीं जँचता है; क्योंकि सिद्धार्थ उक्त दोनों आश्रमों में होकर ही राजगीर गये थे। वैशाली तो वे बुद्धत्व प्राप्त कर लेने के तीसरे वर्ष में गये।

बिहार-प्रदेश सिद्धार्थ गौतम के दीक्षित सिद्धान्त का गुरु तो था ही, इसके अतिरिक्त

१. संगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कोसम्बी) — पृ० ११६

२. अंगुत्तर निकाय (विक्रमिषातसुत्त—६५)

३. जर्नल एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल—भाग ६३, पृ० ७७



मगध के समसीय वनों तथा पर्वतीय भू-भागों में अनेक ऋषि-तपस्वी, परित्राजक, भ्रमण, अग्निहोत्री तथा दार्शनिक निवास करते थे, जिनके सम्प्रदायवाले सम्पूर्ण यह शास्ता : उनका सिद्धान्त और प्रभाव मध्य-प्रदेश में फैले हुए थे। राजगीर नगर स्वयं पर्वत की घाटी में अवस्थित था, जिसके चतुर्विक्, मगध-राज्य की छत्रच्छाया में, भ्रमणों का संघ निर्विघ्न तपोपासना में सदा संलग्न रहता था। इनमें छह शास्ताओं का उल्लेख तो हमें बौद्ध-ग्रन्थों में मिलता है, जो छह सम्प्रदाय के थे।

'मज्झिम निकाय' के 'चूल सारोपम सुत्तन्त' में उपर्युक्त छह शास्ताओं की चर्चा देखने को मिलती है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) अजित केशकम्बल, (२) सजय वेलट्टिपुत्त, (३) पकुव कच्चायन, (४) पुरण कस्सप, (५) मक्खलि गोमाल और (६) निग्गठ नाथपुत्त। इनमें अन्तिम निग्गठनाथपुत्त ही जैनधर्म के २४वें तीर्थंकर महावीर हैं। जैनधर्म तो बौद्धधर्म की तरह ही फूला-फूला और आज भी इस देश में लाखों व्यक्ति इस धर्म के उपासक हैं। शेष पाँच सम्प्रदायों का आज कहीं पता नहीं है; पर शुंग-काल तक इन दार्शनिकों के सम्प्रदाय पूर्ण विख्यात रहे, ऐसा प्रमाण मिलता है।<sup>२</sup> बुद्ध के काल में ये सभी भ्रमण-धर्म के माननेवाले थे और समाज में इनके सिद्धान्तों की पूर्ण प्रतिष्ठा थी।

(१) अजित केशकम्बल—उच्छेदवाद तथा जड़वाद के उपासक थे। ये ब्राह्मणों में अग्रणी थे। ये तपस्या में लीन होकर वर्षों खड़े ही रह जाते थे। इनके विचार में दान, यज्ञ, तप और होम दम्भार्थियों के कर्म हैं। इन विधि-क्रियाओं के अनुष्ठाताओं में आत्म-शुद्धि का तत्त्व कतई नहीं है। इहलोक, परलोक, नरक, स्वर्ग, देवता आदि टोमियों की कल्पित वस्तुएँ हैं। इस संसार में अच्छे और बुरे कर्म भी कुछ नहीं होते हैं। कोई भी जानी, भ्रमण या ब्राह्मण ऐसा नहीं, जो इहलोक और परलोक का वास्तविक साक्षात्कार करके कुछ कहे। इसलिए दान और धर्म का वितंडावाद स्वार्थियों ने फैलाया है। मृत्यु के बाद शरीर के चार तत्व चार महाभूतों (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु) में मिल जाते हैं। शरीर की इन्द्रियाँ पाँचवें तत्व आकाश में विलीन हो जाती हैं। जो लोग आत्मा को सत् और शरीर से भिन्न मानते हैं, वे मिथ्यावादी हैं। मृत्यु के बाद कोई ऐसी चीज नहीं, जो शेष रह जाती हो। सभी तत्व नष्ट हो जाते हैं।

यह सम्प्रदाय अग्निहोत्र, वेद, जिदंड तथा तपस्या का भी विरोधी था।<sup>३</sup> यह बड़ी तत्परता से वैदिकी हिंसा का विरोध तथा कड़ाई के साथ सदाचार का पालन करता था।

१. वे में भी गौतम सम्यक् साकशा प्रपिनी गच्छिनी गथाचारिया वाता वसस्सिधुनी तिलवकरा साधु-सम्माता वसुज्जनस्त, सेव्यधीरं पुरणी कस्सपो, मक्खलि गोमाल, अज्जा केशकम्बली, पकुव कच्चायनी, सज्जवी वेलट्टपुत्तो, निग्गठो नाथपुत्तो।

२. मिलिन्द-पञ्च।

३. अग्निहोत्र वषो वेदाग्निहोत्रं भस्मगुह्यतम्।

बुद्धिपौण्डरीनामो जीविका धातुमिति। —सर्वरसनसंग्रह

—मज्झिम निकाय १।३।१०



इसलिए लोक में यह सम्प्रदाय सत्कार एवं सम्मान का पूर्णपात्र था। 'बल'-देश का तात्कालिक राजा उद्यन इसी सम्प्रदाय का उपासक था। इस सम्प्रदाय के उपासक आत्मवाद के विरोधी नहीं थे। इनका मत था कि पंचमहाभूतों के सम्मिलन के परिणामस्वरूप आत्मा की उत्पत्ति होती है और मृत्यु के बाद महाभूतों में जब सभी तत्व विलीन हो जाते हैं, तब स्वतः आत्मा का नाश हो जाता है। ज्ञात होता है, इसी सिद्धान्त के अनुसार विष्णुशर्मा ने अपनी प्रसिद्ध आख्यायिका-पुस्तक 'हितोपदेश' के दो श्लोकों में कहा है कि—यज्ञ, वेदपाठ दान, तप, सत्य, धृति, क्षमा और अलोभ—ये आठ धर्म के मार्ग हैं, जिनमें प्रथम चार का सेवन तो स्वार्थी और दम्भी भी करते हैं, पर अन्तिम चार का सेवन महात्मा ही करते हैं।<sup>१</sup> इन उच्छेदवादियों का सिद्धान्त चार्वाक का मत तो नहीं है, पर चार्वाक-सिद्धान्त के समीप अवश्य है। इन्हीं के दर्शन के सिद्धान्त पर लोकायत, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त की नींव पड़ी थी जिस पर उच्च और सुहृद् प्रासाद कौटिल्य ने आगे चलकर तैयार किया।<sup>२</sup> लोकायत शास्त्र का पठन-पाठन बुद्ध के समय में खूब प्रचलित था।

( २ ) संजय चेलट्टिपुत्त—विज्ञेपवादी थे। इनके सिद्धान्त को अनिश्चिततावाद भी कहा जा सकता है। विज्ञेपवाद के अनुसार अस्ति और नास्ति किसी का भी समर्थन नहीं होता था। परलोक कहीं दिखाई नहीं पड़ता, इसलिए वह नहीं है, ऐसा ये नहीं कहते थे। परलोक कोई वस्तु है, यह भी ये नहीं कहते थे; क्योंकि वह किसी तरह प्रत्यक्ष नहीं है। इसी तरह अच्छे-बुरे कर्मों का फल होता है या नहीं, मृत्यु के बाद आत्मा रहती है या नहीं, इन सारी बातों में इनका कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं था। इनका विज्ञेपवाद जैन-दर्शन के 'स्यादवाद' (स्यादस्ति स्यान्नास्ति) का अनुसरण करता है। ज्ञात होता है, विज्ञेपवाद पीछे चलकर जैन-दर्शन में समाहित हो गया। कई विद्वानों की राय में इसी विज्ञेपवाद की आधारभूमि पर जैनो के 'स्यादवाद' का गढ़ खड़ा हुआ होगा। इन्हीं संजय के शिष्यों में 'सारिपुत्त' और 'महामौदगल्लायन' थे, जो पीछे चलकर भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्यों में अग्रणी हुए।

( ३ ) पकुध कच्चायन—को अन्त्योन्यवादी कहा गया है। ये अन्त्योन्यवादी इसलिए कहलाते थे कि किसी एक पदार्थ में न तो शक्ति मानते थे और न उसे ये सुख-दुःख का कर्ता मानते थे। किसी एक को ये न तो दीपी मानते थे और न पुण्यात्मा ही। पृथिवी, अप, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीवन को इन्होंने सप्त पदार्थ माना है। इनका सिद्धान्त 'अकृतता-

१. संक्षिप्त-विस्तार—अध्याय १

२. इवाध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।

अलोभ इति भाषोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दग्धार्थमपि सेव्यते।

उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥—हितोपदेश, मिश्रताम, श्लो० ८-६

३. भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कोसम्बी)—पृ० १८६

वाद' कहलाता है। वैशेषिकों के सात पदार्थों से<sup>१</sup> इनके पदार्थ बिलकुल भिन्न हैं। ये अपने पदार्थों को किसी के बनाये या बनवाये नहीं मानते थे। इनका कहना था कि ये पदार्थ बन्ध, कुटरथ और नगरद्वार के स्तम्भ की तरह अचल हैं। ये परस्पर एक-दूसरे को नहीं सताते, ये एक-दूसरे में सुख-दुःख उत्पन्न करने में भी असमर्थ हैं। इन्हें मारने-मरवाने, सुनने-सुनवाने, जानने या बतलानेवाला भी कोई नहीं है। जो कोई किसी का सर काटता है, वह उसे नहीं मारता<sup>२</sup>। केवल इतना समझना चाहिए कि सात पदार्थों से अलग, उनके अवकाश के बीच, शक्ति घुस गया है। इन सातों के ऊपर तो राज्यघात हो ही नहीं सकता।

'प्रकृष कक्षायन' ( प्रकृष कारवायन ) का सिद्धान्त वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त की उलझन-भरी ग्रन्थि का कटौतीला प्रारूप ज्ञात होता है। पूर्वोक्त छह सिद्धान्तों में यह सिद्धान्त निर्बल था और भगवान् बुद्ध के समय में ही प्रायः इस सम्प्रदाय का लोप हो गया था। इस सम्प्रदाय के उपासक यद्यपि व्रत और तपस्या में रत रहते थे, तथापि अपने अत्यष्ट विचारों के चलते, जनप्रिय नहीं हो सके।

( ४ ) पुरण कस्सप—अक्रियावादी विचारक थे। ये आत्मा को निष्क्रिय और कर्म को निष्फल मानते थे। ये कहते थे कि यदि कोई गंगा नदी के दक्षिणी किनारे हत्या करे या डाका डाले, तो भी कोई पाप नहीं होगा और यदि कोई उत्तरी किनारे यज्ञ करे या दान दे, तो भी किसी तरह का पुण्य नहीं मिलेगा। इनके विचारानुसार छेदन करने, कराने, पकाने-पकवाने, शोक करने-कराने, प्राण-हरण करने-कराने, संध काटने-कटवाने, गाँव लूटने-छुटवाने, बटमारी करने-कराने आदि में पाप नहीं होता। भूठ बोलने और परस्त्री-गमन करने से भी पाप नहीं लगता। ये कहते थे कि प्राणिमियों के बध करने से यदि पृथिवी पर मांस के टुकड़ों का खलिहान भी लग जाय, तो भी कोई पाप नहीं होगा। इसी तरह, इनके विचारों में दान, दम, संपन्न और सत्य के आचरण से भी किसी तरह का पुण्य नहीं प्राप्त होता। किन्तु समाधि, व्रत और तपश्चर्या में इनकी भी अतिश्रद्धा थी। ये सांख्य-सिद्धान्त की तरह आत्मा को निष्क्रिय मानते थे, पर पुरुषार्थ का फल नहीं मानते थे। श्रवन्ती का राजा 'चण्डप्रद्योत' इसी सम्प्रदाय का माननेवाला था<sup>३</sup>।

( ५ ) मक्खल्लि गोसाल—पूर्ण निवृत्तिवादी थे। इनके सिद्धान्तानुसार जीव का अपवित्र तथा पूत होना अहेतुक अथवा निष्कारण है, यानी कोई भी क्लेश कारण-जन्य नहीं है, उसी तरह किसी भी मल की शुद्धि हेतु के द्वारा नहीं होती है। अपने या दूसरे के सामर्थ्य से कुछ नहीं होता या न तो पुरुषार्थ ही कुछ करता है। पुरुष में तो न बल है, न वीर्य है

१. 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायामावाः सप्तपदार्थाः।'—तर्कसंग्रह

२. मिलापण गीता-२, २२—

य एतं वेत्ति इन्दारं वरचैर्मन्थते हवन्।

उयौ तौ न विजानीतौ नार्थ इति न इन्धते ॥''

३. ललित-विस्तर—अध्या० १

या न कोई दूसरी शक्ति। सर्वभूत और जीव अवल है—निर्बोय है। जीव स्वभावतः सुख-दुःख का भोका है। जिस प्रकार घृत का गोला फेंकने पर जयतक सम्पूर्ण न खुल जाय, तबतक बढ़ता चला जाता है, उसी प्रकार बुद्धिमानों तथा मूर्खों का दुःख इस जीव के चौरासी लाख छियासठ सौ धानियों में चक्कर फाट लेने पर ही नष्ट होता है। इनकी धारणा है कि इस भव-सागर में कुछ ऐसी भँवरें हैं, जिन्हें बिना भेले, पार नहीं जाया जा सकता। इनमें ५०५ वर्म, ३ अधिकर्म (मानसिक), ६२ मार्ग, ६२ अन्तर-कल्प, ६ अभिजातियाँ, ८ पुरुष-भूमियाँ, १६०० आजीवक, ६०० परिव्राजक, ४६०० नाग-आवास, २००० इन्द्रियाँ, ३००० नरक, ३६ रजोधातु और सात-सात संशोगर्म, असंशोगर्म, निर्ग्रन्थ-ग्रन्थ, देव, मनुष्य, पिशाच, स्वर तथा ७०७ गाँठें, ७०७ प्रपात, ७०७ स्वप्न तथा अस्सी लाख छोटे-बड़े कल्प हैं। मूल या पण्डित इन सबको जानकर अथवा अनुगमन करके ही दुःखों का अन्त कर सकते हैं। इन सबको पार करने के लिए अथवा अन्य सभी बातों के लिए भाग्य ही सब-कुछ है। बौद्धधर्म में इसी के आधार पर नरक की कल्पना की गई और उनके नाम गिनाये गये हैं।

इनके सम्प्रदाय का नाम 'आजीवक' था। ये अक्रियावादी तथा नियतिवादी कहे जाते थे। वेदान्तियों के सर्वव्यापी 'एकदेव' की तरह इनकी नियति ही सर्वसमर्थवती है। भगवान् बुद्ध के समय में मगध-प्रदेश में आजीवकों का बहुत बड़ा अड्डा था और सर्वसाधारण में इनकी बहुत बड़ी प्रतिष्ठा थी। आजीवकों का एक भारी संघ राजगृह के जेतवन के पीछे के भाग में ही रहता था। ये अत्यन्त कठिन तपस्या करते थे। आचार्य नरेन्द्रदेव के लेखानुसार—“ये पंचाम्भि तपते थे, उत्कुकिट (उकड़ू बैठनेवाले) ये और हवा में मूलते रहते थे<sup>२</sup>।” इन आजीवकों के लिए ही अशोक के पोते 'वशरथ' ने गया के पास की 'बराबर' पहाड़ी में कई गुफाएँ बनवाई थीं और उन्हें आजीवकों को दान दे दिया था। भगवान् बुद्ध की जन्म-जन्मान्तरवासी जातक-कहानियों में भी इस सिद्धान्त की गन्ध जान पड़ती है। भगवान् बुद्ध इनकी नियतिवादिता के कारण सभी सम्प्रदायों से इस सम्प्रदाय को हीन मानते थे।

(६) निग्गंठनाय पुत्त—चातुर्याम संवर को मानते थे। २३वें तीर्थङ्कर पार्श्व (नाथ) ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह को चार याम कहा था। २४वें तीर्थङ्कर 'निग्गंठनायपुत्त' (महावीर) ने इनमें ब्रह्मचर्य को भी जोड़ दिया। इसी प्रकार पार्श्व के शिष्य नमन रहा करते थे और अचलक कहलाते थे; पर महावीर के शिष्य वस्त्र धारण करने लग गये थे। महावीर का जैनधर्म केवल नीति-नियमों का आधार-धर्म नहीं है, बल्कि अनेकान्त और स्याद्वाद पर आधारित दर्शन है। फिर भी, भगवान् बुद्ध के समय में चार यामों का ही महत्त्व था<sup>३</sup>। चार यामों

१. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्मोपचयः सर्वभूताधिवासः साक्षां जेता केवलो निगुंशश्च ॥—स्वेताश्वतरोपनिषद् ६। ११

२. बौद्धधर्म-दर्शन—पृ० ४

३. 'दीप निकाय' (१। २) के 'सामज्जकलसुत्त' में चातुर्याम की चर्चा मिलती है। उसमें लिखा है कि निग्गंठनायपुत्त (१) जल का धारण करता है, (२) सभी पापों का धारण करता है,



तथा तपश्चर्या के द्वारा पूर्वजन्म के पाप का निरसन होता है, ऐसा इनका मत है। 'इन चार धर्मों की जानकारी बौद्धग्रन्थ 'सामञ्जसलसुत्त' में अपूर्ण है'। इस विचार के अनुसार उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों की पूर्णता भी बौद्धग्रन्थों में नहीं होगी। अन्य साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का यथातथ्य प्रतिपादन निश्चित रूप से बौद्धग्रन्थ नहीं कर सके होंगे, जिनके कारण आज हमें इनमें अनेक छुटियाँ नजर आ रही हैं। फिर भी, इनके स्पष्ट सिद्धान्तों की जानने के लिए हमारे सामने कोई दूसरा मार्ग भी नहीं है, जिससे इनके वास्तविक स्रोत तक हम पहुँच सकें।

इन छह शास्त्राओं के दार्शनिक सम्प्रदाय मगध की भूमि में यज्ञ-तप-सर्वत्र प्रतिष्ठित थे। ये ब्राह्मण-धर्म की यज्ञादि विधि-क्रियाओं के विपरीत तप, अग्निहोत्र और त्याग-तपस्या की प्रवृत्ति तैयार किये हुए थे। विहार में जो ब्राह्मण-विरोधी बौद्धधर्म ने शीघ्र और मकड़ लिपा, उसका मुख्य कारण था कि उपर्युक्त दार्शनिकों ने पहले से ही वैदिक विधि-क्रियाओं के विरोध में अच्छा वातावरण तैयार कर रखा था। इनके सिद्धान्त भगवान् बुद्ध के बहुत पहले से चले आ रहे थे, और सम्पूर्ण उत्तर-भारत में फैले हुए थे। भारतीय जनता के हृदय में इनकी कितनी गहरी छाप थी, इसका पता हमें इसी बात से मिलता है कि 'साकल' (सालकोट) के राजा मिनान्दर ने भी, जो शुंग-काल (ईसा से सिक १५० वर्ष पूर्व) का था, इन सम्प्रदायवालों से मिलकर तर्क किया था। इसका उल्लेख 'मिलिन्द-प्रश्न' में है। इसलिए बौद्धग्रन्थों में जो इन दार्शनिकों के लच्छर सिद्धान्त मिलते हैं, वे कहीं तक प्रामाणिक हैं, यह कहना मुश्किल है। क्योंकि, ऐसे लच्छर सिद्धान्त भारतीयों के हृदय में इतने काल तक अपना असर नहीं छोड़ सकते थे। जो हो, इतना तो निश्चित है कि ये सभी स्वतंत्र विचारक और ब्राह्मणधर्म-विरोधी थे। उस समय मगध में बिम्बिसार की छत्रछाया में जो थोड़े-से ब्राह्मण—सोमदण्ड-कूटदन्त आदि—जहाँ-तहाँ यज्ञ-वागादि क्रियाओं में तत्पर थे, और उनका जोर बढ़ रहा था, वे केवल बिम्बिसार-जैसे राजा की उदारता और सर्वधर्मप्रियता के कारण ही। बड़े पैमाने पर प्रभाव तो उपर्युक्त सम्प्रदायवालों का ही था, जो बौद्धधर्म के विकास के लिए पहले से ही वातावरण को पूर्ण अनुकूल बनाये हुए थे, किन्तु इन सबके दार्शनिक सिद्धान्त न तो वैज्ञानिक थे और न दृढ़ ही, अतः तथ्य के पक्षों की तरह बिखरनेवाले ही थे।

निर्माणनाथपुत्र के अविरक्त सभी नास्तिक थे। वैदिक कर्मकाण्ड के तो सभी विरोधी थे। किन्तु, इनमें आजीवक सम्प्रदायवाले अग्निहोत्र-कर्म करते थे। यज्ञविरोधी और नास्तिक होते हुए भी लोक में इनका भारी प्रभाव था। इनके प्रभाव का अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि स्वयं राजगृह के पीछे आजीवकों का एक बड़ा संघ रहता था। उसी राजगृह में चित्तोपपादियों का विद्यालय भी था, जिसमें २५० विद्यार्थी शिक्षा-लाभ

(३) सभी धर्मों के कारण से पुतपाप होता है, (४) सभी धर्मों के कारण करने में तत्पर रहता है। इन चार प्रकार के संघों से संवृत निर्मातृ थे।

१. भगवान् बुद्ध (भगवान् कोसम्भी) — ५० १८४



करते थे तथा इन्हीं विचारधियों में 'सारिपुत्त' और 'महामौद्गल्यान' भी थे। गयाशीर्ष में काश्यप-चन्द्रशेखरों को जो अग्निहोत्र-कर्म चलता था, उसमें सम्पूर्ण मगध और अंग के धनी-मानी प्रचुर सामग्रियों के साथ पैदल जा-जाकर सम्मिलित होते थे<sup>१</sup>। इन सबके मूल में बात यह थी कि ये सब सुख-भोगों से विरत होकर व्रत और तपस्या में लीन रहते थे। ये ऐसी कठिन तपस्या में रत रहते थे कि हवा, पानी, धूप, अग्नि में अपने शरीर को गला-तपा देते थे। किसी तरह का व्यसन तो इन्हें छू नहीं सका था—सांसारिक आवश्यकताएँ इनके लिए नहीं के बराबर थीं। तपकरणों की आवश्यकता इनकी कैसी थी, यह भ्रान देने योग्य है। कोई सन का कपड़ा पहनता था, तो कोई कुश की चट्टाई धारण करता था। कुछ, मनुष्य के बाल के कम्बल बनाकर अपने शरीर को ढँकते थे। कोई-कोई उलूक-पक्षी के पंखों को गूँथकर कबूतर बना लेता था और उसे ही कमर में लपेटे रहता था। बहुतेरे काँटों के बिछौने पिछाकर सोते थे। शरीर सुख की सात्त्विक न करे, अतः ये अपने मांस के बाल को मौचते रहते थे। इनका ऐसा विश्वास था कि शरीर को जितना ही ज्यादा कष्ट दिया जायगा, उतना ज्यादा अपनेको विषय-वासनाओं से अलग रखा जा सकता है तथा उतना ही शीघ्र एवं बड़ी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। ये लोक के कल्याण के लिए सर्वदा नये-नये मार्ग ढूँढ़ते थे और जनवर्ग का पथ-प्रदर्शन करते थे। ये राजाओं से आर्थिक सहायता लेना तथा उनके बल पर सम्प्रदाय का विकास करना पाप मानते थे। ये राजनीति के दाय-पेच से दूर रहकर धर्म की अराधना में ही नित्य तत्पर रहते थे। इस तरह मगध के इन तपस्वियों की कीर्ति लोक में विभूत थी, जिससे सिद्धार्थ गौतम अवगत थे।

### राजनीतिक स्थिति

'अंगुत्तरनिकाय' और 'ललित-विस्तर' के तीसरे अध्याय में जिन १६ राष्ट्रों की चर्चा मिलती है<sup>२</sup>, उनमें अंग तो मगध में ही आ चुका था। काशी, कोसल और मगध में बँटकर, तिरोहित हो गया था। मल्ल-गणतंत्र की कोई बड़ी हरती नहीं रह गई थी। वत्स में उदयन और अश्वती में खण्डप्रद्योत सर्वसत्तात्मक शक्ति लेकर बैठे थे। कुरु-देश की स्थिति बिल्कुल नहीं की अवस्था में थी। बौद्धग्रन्थों से इतना ही पता चलता है कि कोई कौरव नामक शासक वहाँ था, जिसकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई थी। जेदि, बाँदा जिले में था। इसकी भी दशा कोई अच्छी नहीं थी। मूरसेन (मथुरा) अश्वती के अधीन ही हो गया था और वहाँ अश्वतीपुत्र शासक था। पांचाल्य की राजधानी कामिल्य थी; पर मत्स्य की राजधानी कहाँ थी, इसका उल्लेख तक नहीं मिलता। हाँ, गन्धार की राजधानी तक्षशिला थी, जो

१. 'उत्तरेण कस्तपस उदिलस्स महावज्जीपच्चपटितो होति, केवलकपा च कज्जमगधा पव्ठं साधनीयं मोत्तनीयं आराय भविक्कमित्तुकाणां होति।'—महावग्गो १. ३, १, ११

२. यो इमेसं सोलसधे महाजनपदानं पव्ठसत्तरतनानं इस्सरपिपक्खं रज्जं वारिय्य सेवकीरं अंगानं मगधानं कासीनं कोसलानं कम्भीनं मल्लानं वेत्थीनं वसानं कुम्भं पंचालानं मच्छदानं मूरसेनानं अस्स-कानं अक्खीनं गंधारानं कंबोजानं इति ।—ललितविस्तर, अ० ३

शक्ति-सम्पन्न थी। मगर, बिहार से गन्धार और कम्बोज बहुत दूर पश्चिम में थे। अश्मक-प्रदेश विलकुल दक्षिण-भारत में था, यानी बुद्ध के समय में मगध, वैशाली, कोसल, वत्स और अवन्ती यही राज्य ऐसे थे, जो शक्ति-सम्पन्न और कपिलवस्तु से कुछ निकट थे। किन्तु, इनमें भी गणतन्त्रात्मक दृष्टिकोण से वैशाली ही भेद्य थी और एकतन्त्रात्मक राज्यो में मगध का ही भविष्य उज्ज्वल दिखाई पड़ रहा था।

यह पहले कहा गया है कि सिद्धार्थ गौतम के समय में बिहार-प्रदेश में मुख्यतया दो ही राज्य थे। इनमें एक का नाम 'वज्जिसंघ' था, जिसकी राजधानी वैशाली थी तथा दूसरे का नाम मगध था, जिसकी राजधानी राजगृह में थी। यहाँ कुछ प्राचीन छोटे-छोटे राज्य भी थे, जिनका महत्व अधिक नहीं था। इन दो राज्यों में शासन की प्रक्रिया दो थी। वैशाली गणतन्त्रात्मक राज्य था और मगध एकतन्त्र सर्वसत्तात्मक। वैशाली के सटे पश्चिम की ओर पावा तथा कुसीनारा नाम के और भी दो गणतन्त्रात्मक राज्य थे, जो एक होते हुए भी उस समय दो खंडों में विभक्त थे। किन्तु, इनमें वैशाली ही उस समय पूर्ण सफल एवं सर्वशक्ति-सम्पन्न थी। इन गणतन्त्रों की नाजुक परिस्थिति के सम्बन्ध में इतना जानना जरूरी है कि इनके पूर्व-उत्तर में हिमालय पहाड़ खड़ा था, और पूर्व-दक्षिण में मगध तथा पश्चिम-उत्तर में कोसल-जैसे एकतन्त्रात्मक राज्य बड़े ही बलवान हो गये थे। इनके अतिरिक्त अवन्ती और वत्स के राज्य भी एकतन्त्रात्मक ही थे और बड़े ही चण्ड थे, यानी चारों ओर से विरोध का बवंडर भयानक रूप में घुमड़ रहा था। फिर भी, इन सब के बीच वैशाली वैदोष्यमान शुक्रतारे की तरह चमक रही थी—इसकी प्रतिष्ठा और शान में जरा भी धक्का नहीं लगा था।

वैशाली नगर का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। 'वाल्मीकीय रामायण' में ऐसा उल्लेख मिलता है कि जब राम अपने गुरु विश्वामित्र के साथ 'जनकपुर' जा रहे थे, तब रास्ते में उन्हें 'वैशाली' नगरी मिली थी, जिसका नाम उस समय 'विशाला' था।  
 वज्जि-संघ विशाला नगरी उस समय की सर्वनगरियों में भेद्य थी। "इसका निर्माण 'इक्ष्वाकु' के पुत्र धर्मात्मा राजा 'विशाल' ने कराया था। विशाल राजा की माता का नाम 'अलम्बुपा' था" —

इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्रः पुत्रः परमधार्मिकः ।

अलम्बुपायामुरपचो विशाल इति विश्रुतः ॥

तेन चासौदिह स्थाने विशालेति पुरी कृता ।

—वा० रा०, बाल०, अ० ४७, श्लो० ११-१२

किन्तु, इस 'विशाला' नगरी को बसानेवाले राजा 'विशाल' को 'विष्णुपुराण' ने 'इक्ष्वाकु' का पुत्र नहीं माना है। इस पुराण के अनुसार इक्ष्वाकु-वंश के ही राजा 'विष्ट' के पुत्र 'नाभाग' थे, जो वैश्य हो गये थे<sup>१</sup>। इसी 'नाभाग' की २६वीं पीढ़ी में 'तृणकिन्दु' राजा हुए,

१. 'नाभाग' के वैश्य हो जाने का वर्णन 'मार्कण्डेयपुराण' के १११—११५ अध्यायों में देखिए।

राजा विशाल इसी 'तृणबिन्दु' के पुत्र थे। इसी 'तृणबिन्दु' की पत्नी 'अलम्बुषा' थी, जो एक अप्सरा थी। इसी के गर्भ से 'विशाल' राजा की उत्पत्ति हुई थी।

ततश्चालम्बुषा नाम वराप्सरास्तृणबिन्दु मेजे तस्यामप्यस्य विशालो जज्ञे

यः पुरी विशाली निर्ममे।

—विष्णुपुराण—४, १, ४८-४९

तृणबिन्दोः प्रसादेन सर्वे वैशालिका नृपाः।

दीर्घायुषो महात्मानो वीर्यवन्तोऽतिधार्मिकाः ॥

—तत्रैव ४, १, ६१

“तृणबिन्दु” राजा के प्रसाद से ही वैशाली के सभी राजा दीर्घायु, महात्मा, पराक्रमी और परम धर्मात्मा हुए थे।” वस्तुतः वाल्मीकीय रामायण में भी ‘इक्ष्वाकीः पुत्रः’ के मानी इक्ष्वाकु-वंश की सन्तान है, इक्ष्वाकु के पुत्र नहीं। राम जब मिथिला जा रहे थे, तब वैशाली में ‘सुमति’ नामक राजा राज्य करता था।

वैशाली-क्षेत्र के ‘कुण्डग्राम’ में जन्म लेनेवाले वर्द्धमान (महावीर) का नाम ‘वैशालिक’ भी था। वर्द्धमान की माता का नाम ‘विशाला’ था। मध्यकालीन जैन टीकाकारों का कहना है कि महावीर की माता का नाम ‘विशाला’ भी था, इसीलिए ये ‘वैशालिक’ कहे जाते थे। विशाला के पिता का नाम ‘चेटक’ था। ‘चेटक’ की दूसरी कन्या यानी ‘विशाला’ की छोटी बहन मगध के सम्राट् बिम्बिसार से ब्याही गई थी, जिससे ‘अजातशत्रु’ का जन्म हुआ था, इसीलिए ‘अजातशत्रु’ वैदेही-पुत्र भी कहलाता था। इस नाते अजातशत्रु वर्द्धमान महावीर का मौसेरा भाई था। मगध में महावीर तीर्थंकर के धर्म (जैनधर्म) को प्रश्रय मिलने का, महावीर और बिम्बिसार का ऐसा सम्बन्ध होना भी एक कारण कुछ लोग बतलाते हैं। किन्तु कुछ ग्रंथों के अनुसार अजातशत्रु की माता कोसल के राजा ‘प्रसेनजित्’ की बहन थी और अजातशत्रु प्रसेनजित् का मानजा या, किन्तु ऐसी बात नहीं है। प्रसेनजित् की कोसलवाली पत्नी से जो पुत्र था, उसका नाम ‘जयसेन’ था<sup>१</sup>। श्रावस्ती का ‘भूमिज’ नामक भिक्षु जयसेन का मामा लगता था<sup>२</sup>, जो प्रसेनजित् का भाई होता होगा। बिम्बिसार की पटरानियों में एक कोसल की और दूसरी वैशाली की थी, यह तो सर्वविदित है ही।

इस वैशाली की छत्रच्छाया का बहुत-कुछ सहारा सिद्धार्थ गौतम के शाक्य-कुल को प्राप्त था। यद्यपि सिद्धार्थ गौतम के काल में ‘कपिलवस्तु’ कोसल-राज्य के अधीन जानपद राज्य था<sup>३</sup>; तथापि प्राचीन काल में उसका वैशाली से ही निकट का सम्बन्ध था, जो सिद्धार्थ के समय में भी बहुत-कुछ बना हुआ था। सिद्धार्थ गौतम के समय में वैशाली अपने वैभव-वैपुल्य, शासन-प्रणाली, एकता तथा बड़े-बड़े ज्ञानी-मानी एवं बीरों से भरी-पूरी थी। विनय-ग्रन्थ से पता

१. मज्झिम निकाय—३।३।५

२. मज्झिम निकाय ( १।७ सर्ग )—पृ० ५२० टि०

३. सुत्तनिपात ( पक्कजा सुत्त-२७ )—१८-१९



चलता है कि उस काल में वैशाली नगरी तीन भागों में बँटी थी। पहले भाग में ७००० प्रासाद ऐसे थे, जिनके गुम्बद मोने से मड़े गये थे। नगर के दूसरे भाग में १४००० ऐसे प्रासाद थे, जिनके गुम्बद चाँदी से मड़े गये थे और तीसरे भाग में तो इक्कीस हजार मकान थे, जिनके गुम्बद ताँबे से मड़े हुए थे। इन तीनों भागों में क्रमशः उच्चकुल, मध्यकुल और साधारण कुल के लोग रहते थे। इस तरह खास वैशाली नगरी में ४२००० परिवार वास करता था। यदि प्रति परिवार पाँच व्यक्ति का भी माना जाय, तो वैशाली की आबादी उस समय २१०००० ( दो लाख दस हजार ) थी। 'महत्साल जातक' से पता चलता है कि वैशाली में एक ऐसी पुष्करिणी थी, जिसका जल केवल राजतिलकोत्सव के अवसर पर अभिषेक के काम में आता था। पुष्करिणी का जल पश्चिमी तक के लिए भी दुर्लभ था। चारों ओर सौपान और घाट पत्थर के बने थे। सम्पूर्ण पुष्करिणी एक सुदीर्घ प्राचीर के मध्य में अवस्थित थी। पुष्करिणी तमाम लोहे के तारों की जाली से आवृद्धादिन थी, जिससे इसके जल में पक्षी भी चोच नहीं मार सकते थे। उसके जल की रक्षा के लिए सैनिकों का कड़ा पहरा बैठाया गया था। किन्तु कोमल-राज प्रसेनजित् के सेनापति 'बन्धुल' ने एक बार अपनी पत्नी को इसके जल में स्नान कराया था, जिसके लिए मार-काट भी हुई। 'बन्धुल' गोरखपुर या बलिषा का निवासी था। तलवार की एक बार से लोहे के स्वम्भ को काट देता था।

कैसी थी, वैशाली की दुर्लभ पुष्करिणी, जिसके जल में स्नान करने की इच्छा आवस्ती के सेनापति की पत्नी को हुई और जिसके लिए इतना बड़ा काण्ड मचा ! वैशाली के अनेक गौरवों में से यह एक पुष्करिणी भी थी।

वैशाली के सभी समासद राजा होते थे। इनका महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि भगवान् बुद्ध जब अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में वैशाली गये, तब वज्जि के समासद उनसे मिलने आये। आते हुए वज्जियों को देखकर भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा— 'भिक्खुओ, जिन्होंने तावत् त्रिशद् देवता नहीं देखे हैं, वे इन वज्जियों को देख लें'।

१. सन् १९५८ ई० की जनवरी में 'बॉ० अनन्तसदाशिव अलतेकर' की देखरेख में खुदाई हुई, जिसमें पुष्करिणी के प्राचीर मिले हैं।

२. बन्धुल की पत्नी का नाम 'मल्लिका' था। मल्लिका ने जब गर्भ धारण किया, तब उसने अपनी दोहड़-पूँछ के लिए, अपने पति के भागे, 'वैशाली' की पुष्करिणी में स्नान करने की इच्छा प्रकट की। बन्धुल बहुत बड़ा बीड़ा था। उसने तलवार चलाने की शिक्षा 'नच'शला' में पाई थी। वह अपनी पत्नी मल्लिका को लेकर 'वैशाली' आया और पुष्करिणी को रक्षा करनेवाले पहरेदारों को मारकर और पुष्करिणी में लगी लोहे की जाली को तलवार से काटकर अपनी पत्नी को स्नान कराया ! वैशाली के 'बीरो' ने जब उसका सामना किया, तब वह अनेक को मारकर ईसा-गुप्ती के साथ अपनी पत्नी को लेकर भावस्ती लौट गया।

धम्मपद, अट्ठकथा ( ४, ३ )



विहार के इस राज्य के प्रति बुद्धदेव को पूरी ममता थी। अज्ञातशत्रु ने वज्रिजसंघ पर चढ़ाई करने के निमित्त भगवान् बुद्ध की सम्मति लेने के लिए उनके पास अपने मंत्री 'वर्षकार' को भेजा था; पर लिच्छिवियों के पक्ष में बुद्ध को जानकर उसने चढ़ाई करने का विचार त्याग दिया। उस अवसर पर बुद्ध ने 'वर्षकार' से कहा था कि 'जयसक वज्रिज राज्य-संचालन के लिए एक साथ बैठकर विचार-विनिमय करते रहेंगे, चैत्यो की पूजा और ज्येष्ठों का आदर-सम्मान करते रहेंगे, तबतक उन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता।'।

उस समय वैशाली में बड़े-बड़े योद्धा, धर्माचार्य, तपस्वी, दिग्गज विद्वान् वास करते थे जिनमें महालि, महानाम, सिद्धसेनापति, गोशुंगी, भदेकर और सक्क-जैसे महान् पुरुष थे। जैनों के २४वें तीर्थंकर महावीर यहाँ के वंशज थे। गोशुंगी ने ही 'महावन' और 'शालवन' नामक आश्रम बनवाये थे। 'शालवन' में ही 'कूटागर' शाला थी, जो दोमंजिला थी और भगवान् बुद्ध वैशाली आने पर इसीमें ठहरते थे। उस समय वैशाली सभी प्रकार से गौरवशालिनी थी।

मगध-देश की चर्चा तो वेदों में भी मिलती है। मगध के साथ ही इसे कीकट भी कहते थे। इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा पहले की गई है। इतिहासकारों का तो

मगध

कहना है कि यदि प्राचीनकाल में मगध के इतिहास को सम्पूर्ण भारतवर्ष का इतिहास कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इस मगध-प्रदेश की राजधानी 'राजगृह' थी, जिसे 'गिरिव्रज' भी कहते थे। आलकल इसे 'राजगिरि' कहते हैं और यह पटना जिले के 'बिहार' सबडिवीजन में, तथा पटना से लगभग ६० मील पूर्व-दक्षिण कोण में, स्थित है।

'गिरिव्रज' का इतिहास बहुत पुराना है। 'वाल्मीकीय रामायण' में लिखा है कि इसे राजा 'वसु' ने बसाया था, इसलिए इसका नाम 'वसुमती' नगरी भी है। गिरिव्रज पाँच शैलशिखरों के बीच शोभायमान है। यहाँ सुमागधी नाम की नदी बहती है, जिससे यहाँ के वाशिन्दे मागध कहलाते हैं, जो सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। यह पाँच पर्वतों के बीच में माला की तरह मनोहर लगती है। हे राम ! यह 'वसु' महात्मा की वही मागधी है, जो हरे-भरे शत्रुओं से युक्त स्वतन्त्रावली है—

चक्रे पुरवरं राजा वसुर्नाम गिरिव्रजम् ।  
एषा वसुमती नाम वसोस्तस्य महात्मनः ।  
एते शैलवराः पञ्च प्रकाशन्ते समन्ततः ॥  
सुमागधी नदी रम्या मागधान्विश्रुता यया ।  
पञ्चानां शैलमुख्यानां मध्ये मालेव शोभते ॥  
सैषा हि मागधी राम ! वसोस्तस्य महात्मनः ।  
पूर्वाभिचारिता राम ! सुदृष्टा शस्यमालिनी ॥

वाल्मीकीय रामायण, बा० का०, अ० ३२, श्लो० ७—१५

महाभारत-काल में राजगृह का राजा 'बृहद्रथ' था, जो इसी वसु-वंश का था। 'महाभारत' के समापर्व में राजगृह का अतीव सुन्दर वर्णन मिलता है। इसके अनुसार 'जरासंध' इसी बृहद्रथ का पुत्र था<sup>१</sup>। इसी बृहद्रथ के नाम पर 'बाह्रद्रथ' वंश की स्थापना हुई थी। 'जरासंध' प्रबल पराक्रमी राजा हुआ, जिसने कृष्ण को हराकर मथुरा से द्वारका भाग जाने के लिए विवश किया था। इसके राज्य की सीमा 'मथुरा' तक फैली थी। मथुरा का राजा 'कंस' इसका जामाता था। चेदिराज 'शिशुपाल' ने जरासंध का सेनापतित्व स्वीकार कर लिया था<sup>२</sup>। कुरु के राजा 'दन्तवक्र' ने तो अधीनता ही स्वीकार कर ली थी। दक्षिण-भारत के प्रायः सभी राजा इसके मित्र बन गये थे और कौसल आदि उत्तर-भारत के राजा इसके डर से दक्षिण-भारत भाग गये थे<sup>३</sup>। इसके समय में मगध सर्वशक्ति-सम्पन्न हो गया था। मगध में एकराट् राज्य की नींव देनेवाला यह प्रथम सम्राट् था।

महाभारत में 'राजगृह' का वर्णन जो कृष्ण ने किया है, वह अत्यन्त मनोरम और पठनीय है। इसमें पंच पर्वतों, गौतम ऋषि, उनके वंश तथा प्रताप और नागों से गिरिप्रज की रक्षा किस तरह होती है आदि का वर्णन है—

एष पार्थ महान् भाति पशुमावृत्यमम्बुमान् ।  
निरामयः सुवेश्माद्वो निवेशो मागधः शुभः ॥  
वैहारो विपुलः शैलो वराहो वृषमस्तथा ।  
तथा ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः ॥  
एते पञ्च महानृत्नाः पर्वताः शीतलद्रुमाः ॥  
रक्षन्तीवामिसंहस्य संहताङ्गा गिरित्रयम् ।  
पुष्पवेष्टितशास्त्रार्थगन्धवद्भिर्मनोहरैः ।  
निगूढा इव लोघ्राणां वनैः कामिजनप्रियैः ॥  
शूद्रायां गौतमो यत्र महात्मा संशितव्रतः ।  
ओशीनर्यामजनयत् काक्षीवाधानुतान् मुनिः ॥  
गौतमस्य क्षयात्तस्माद्यथासौ तत्र सन्नधि ।  
भजते मागधं वंशं स नृपाणामनुग्रहः ॥  
अङ्गवज्रादयश्चैव राजानः सुमहाबलाः ।  
गौतमक्षयमभ्येत्य रमन्ते स्म पुराजुन ॥  
वनराजीस्तु पश्येमाः पिप्पलानां मनोरमाः ।  
लोघ्राणां च शुभाः पार्थ गौतमीकः समीपजाः ॥

१. कृतकांडुपरिचरो वसुः । बृहद्रथमत्यग्रकुरात्मकुचेलमात्यप्रमुखा वसोः पुत्राः सप्त जायन्ते ।  
बृहद्रथाव्यान्वराकलद्वयजन्मा वरया संहितो 'जरासन्ध' नामा ।—विष्णुपुराण ४।१६।८१ और ८३

२. राजन् सेनापतिर्जातः शिशुपालः प्रतापवान् ।—महा० समापर्व, अ० १४, स्तोक १३

३. महाभारत, समापर्व, अ० १४ देखिए ।

अर्बुदः शकवापी च पञ्चगो शत्रुतापनी ।  
स्वस्तिकस्यालक्ष्मिनागस्य चोत्तमः ॥  
अपरिहार्या मेघानां मागधा मनुना कृताः ।  
कौशिको मणिमौश्चैव चकाते चाप्यनुग्रहम् ॥

—महाभारत, समापर्व, अ० २३, श्लो० १-१०

अर्थात्—“हे पार्थ ! यह मगध की राजधानी ‘गिरिव्रज’ कैसा शोभ रहा है ! अनेक प्रकार के पशुओं से भरा है। यहाँ के जलाशय सर्वदा भरे रहते हैं। यह रोगरहित, बड़े-बड़े महलों से युक्त तथा शुभ है। वैहार, वराह, वृषभ’, ऋषिमिगिरि और चैत्यक नाम के प्रशस्त पाँच पर्वत, जिनके ऊपर घने वृक्ष छाया कर रहे हैं, मानो एक साथ मिल-जुलकर गिरिव्रज की रक्षा करते हैं। वृक्षों की शाखाएँ पुष्पों से लदी हैं, जो मन को हरण करनेवाली सुगन्धों से भरी हैं। प्रणपीजन वहाँ सर्वदा विहार करते हैं, ऐसे लोभ के जंगलों से ये पर्वत घिरे रहते हैं। यहाँ ‘गौतम’ नाम के महात्मा ने ‘उशीनर’ राजा की शूद्रा कन्या से काञ्चिवान् आदि पुत्रों को जन्म दिया। गौतम के वंशधर होने तथा उनके भवन में पलने के कारण, वे क्षत्रिय कहलाये और मागधवंशी नाम से विख्यात हुए। हे अर्जुन, पुराकाल में अङ्ग, वज्र आदि राजा गौतम के आश्रम में आकर सुखपूर्वक वास करते थे। हे अर्जुन, इस वनराजि को तो देखो। ये पीपल और लोभ के वन जो दिखाई पड़ते हैं, गौतम-आश्रम के पास में ही हैं। यहाँ शत्रुओं को दमन करनेवाले ‘अर्बुद’ और ‘शकवापी’ नाम के दो संपराज रहते हैं। यहीं पर स्वस्तिक और मणिनाग नामक नागों का निवास है। मनु ने इसे ऐसा बनाया है कि कभी यहाँ से मेघ हटते नहीं, बराबर जल-वर्षा करते रहते हैं। कौशिक ऋषि और मणिमान् नामक नाग ने भी इस प्रदेश पर कृपा की है।”

उपयुक्त पाँच पर्वतों का वर्णन वाल्मीकि ने भी किया है, जिसका उल्लेख हो चुका है। इन पहाड़ों की चर्चा बौद्धग्रन्थों में भी सर्वत्र मिलती है। गौतम ऋषि के वंश की चर्चा विचारणीय है। गिरिव्रज के नागों का उल्लेख भी सब जगह मिलता है। मणिनाग के नाम पर ही आज का ‘मनिआर-मठ’ वर्तमान है। यहाँ की वनपंक्तियों और शस्य-परिपूर्णा खेतों की चर्चा बौद्ध-साहित्य में भी भरी पड़ी है। भगवान् बुद्ध ने ‘मगध’ के पंचिकवद्ध स्वतों को दिखाते हुए आनन्द से चीवर बनाने को कहा था<sup>१</sup>।

पुराणों के अनुसार ईसा से लगभग ७०० वर्ष पहले राजगृह में ‘शिशुनाग’ नामक राजा हुआ, जिसके नाम पर शैशुनाग वंश की नींव पड़ी। इसी शिशुनाग की पंचवीं पीढ़ी

१. इसी पर्वत पर बृहद्रथ ने एक विराट् वैद्य अपने हाथों से मारा था, जिसके चमड़े से दो नगाहे मढ़वाये थे। वे विशेष अवसर पर ही बनाये जाते थे।—महा०, समा०, अ० २३

२. दिस्वान आयसमन्तं आनन्दं आमन्तेति—परससि नु खी त्वं आनन्द, ममपक्षेत्तं अक्षिचक्रं, पालिकं, मरियादकं, सिद्धाटकं, मन्तेति। एवं मन्ते। उरसि इति त्वं आनन्द, भिक्षुं ध्वजं च विसृज्य चोत्तराणि संकिदितुंति।—महावग्गो, चीवर खण्डको, दुत्तियं विसाखा, भाग्यभारं, ६, १



में बिम्बिसार नामक अत्यन्त प्रतापी राजा हुआ, जो भगवान् बुद्ध का समकालीन था। इसने पश्चिम में काशी तक का प्रदेश ले लिया था। पूर्व में सारा अंग और अंगुत्तराप्रदेश भी इसके अधीन हो गया था। कोसल के राजा महाकोसल और वैशाली के चेदक ने अपनी-अपनी कन्या इस से ब्याह कर मित्रता स्थापित कर ली थी। बिम्बिसार अत्यन्त उदार था और सभी तरह की धर्म-भाषना के प्रति आदर रखता था। यह एकतंत्र राजा होते हुए भी प्रजा के प्रति पूर्ण सहिष्णु था। इसके राज्य में जिस तरह यज्ञादि क्रियाओं के प्रति श्रद्धा थी<sup>१</sup>, उसी तरह श्रमणों तथा परित्राजकों के लिए भी सम्मान था। यह श्रमणों के निर्वाह तथा निवास की समुचित व्यवस्था करता था। इसकी राजधानी के आस-पास ही अनेक सम्प्रदाय के ऋषि-मुनि तथा विभिन्न प्रकार के श्रमण-संघ सुखपूर्वक निवास करते थे।<sup>२</sup> इसके अतिरिक्त यह सभी तरह के पौन्य व्यक्तियों का समुचित सम्मान करता था। सिद्धार्थ ने जब प्रथम-प्रथम राजगृह में भिक्षापात्र उठाया, बिम्बिसार उस समय सिद्धार्थ गौतम से जाकर स्वयं मिला था। सिद्धार्थ के कुल-गौरव की बात जानकर उसने अपनी सेना में उन्हें एक अच्छा पद देना चाहा था। इसके बाद सिद्धार्थ गौतम जब बुद्धत्व प्राप्त कर फिर राजगृह लौटे, तब बिम्बिसार ने उनका बड़ा भारी सत्कार किया। इसने बुद्धसंघ के निवास के लिए अपना 'वेणुवन' दान में दे दिया था। तपस्वियों और श्रमणों के प्रति बिम्बिसार की ऐसी उदारनीति की कीर्ति सर्वत्र विभूत थी।

राजगृह प्राचीन काल से ही ऋषि, ज्ञानी और तपस्वियों के निवास के कारण परम-पावित्र स्थान था। महाभारत के उल्लेख से ही हमने देखा कि यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल में ही गौतम ऋषि का आश्रम था। वाल्मीकि-रामायण और महाभारत—दोनों से पता चलता है कि ऋषि विश्वामित्र यहाँ बराबर आते-जाते थे। राजगृह के कौन-कौन स्थान ऋषियों की तपस्या से पूत हो गये थे और भगवान् बुद्ध से पहले यहाँ कितने तपस्वी निवास कर चुके थे, इसकी एक सन्धी तालिका मज्झिम निकाय ( ३, २, ६ ) के 'इसिगिलमुत्तं' में मिलती है। इसमें बुद्ध ने स्वयं अपने पूर्व के ऋषि-मुनियों के नाम गिनाये हैं। इसके अतिरिक्त बुद्धकाल में भी तपस्वी, ऋषि, श्रमण-संघ तथा अनेक सम्प्रदायों का कैसा जमघट वहाँ लगा रहता था, इसकी तस्वीरें पहले ही कुछ की गई हैं। इन सारी बातों से मगध की राजधानी राजगृह की विशेषता स्पष्ट है। स्वयं बुद्ध ने आनन्द से कहा था<sup>३</sup>—'राजगृह रमणीय है। ग्रन्थकूट पर्वत रमणीय है—आनन्द !'

हमने पहले कहा है कि मगध एकतंत्र राज्य था और वज्रिसंघ गणतंत्र था। किन्तु गणतंत्र वज्रिसंघ चारों तरफ से एकतंत्रवालाक राज्यों से घिरा था। उस समय उसकी अवस्था

१. सोणधम्मसुत्त ( दीप निकाय )—१, ४.

२. मुकुल्लुद्वयिसुत्तं ( मज्झिम निकाय )—२, ३, ६ और सामण्णफल सुत्त (दीप निकाय)

३. दीप निकाय २, ३ ( महापरिनिम्बणसुत्त )



बत्तीस दाँतों के बीच में जीम-जैसी थी। एकतन्त्रात्मक सत्ता का विकास अपनी उठान पर था। उनमें भी मगध का एकतन्त्र, शक्ति और श्रद्धा—दोनों के सम्मिलन से अपने गौरव के चूड़ान्त पर था। ऐसा गौरव कि कुछ काल बाद इसने वैशाली को तो हड़प ही लिया, साथ ही प्रसेनजित् और उसके लड़के विहङ्गम के बाद समस्त कोसल को भी अधिकृत कर लिया। किन्तु सिद्धार्थ गौतम के समय विहार के दोनों राज्य (वैशाली और मगध) क्षत्रिय-कुल के थे। वैशाली-कुल से सिद्धार्थ के कुल का सम्बन्ध तो अच्छा था ही, मगध के राजा बिम्बिसार की श्रद्धामूलक उदारनीति अपने-आप में पूर्ण प्रसिद्ध हो गई थी। एक बात और थी, जो एकतन्त्रात्मक राज्य की तरह गणतन्त्र में नहीं थी। उस गणतन्त्र राज्य के नेताओं से जनता तक की प्रवृत्ति अत्यन्त समालोचनात्मक हो गई थी। वे जहाँ भी बैठते, प्रत्येक बात के लिए तर्क करते और किसी की भी आलोचना करते थे। बुद्ध ने श्रद्धा को बिलकुल अपदस्थ कर दिया था। गणतन्त्रात्मक राज्य बड़े-बड़े तपस्वियों की खिल्ली उड़ाते थे और ब्राह्मणों का उन्होंने बिलकुल बहिष्कार कर दिया था। इसका प्रमाण तो हमें 'दीप निकाय' के 'अम्बुद सुत्त' में मिलता है, जिसमें 'अम्बुद' ने गणतन्त्रात्मक पद्धति को माननेवाले बुद्ध के शक्य-कुल पर ब्राह्मणों का निरादर करने का दोष लगाया था। अपने इसी तार्किक संस्कार तथा गणतन्त्रात्मक स्वभाव के कारण वैशालीवालों ने प्राचीन बिनयधरो का विरोध किया और बुद्ध-वचनों की अवहेलना की। फलतः, वैशाली में द्वितीय संगीति हुई और बौद्धधर्म में गहरी दरार पड़ गई।

एकतन्त्रात्मक सत्ता में ऐसी बात नहीं थी। उधर कोसल के राजा प्रसेनजित् और इधर मगध के बिम्बिसार—दोनों के यहाँ सभी धर्मों का समादर था। मगध के पूर्वोप भाग चम्पा में 'सोणदण्ड' की और खास 'मगध' में 'कूटदन्त' की हम यज्ञकिया में रत देखते हैं। खास राजगृह में हम जड़ शास्ताओं के संघ का उल्लेख पाते हैं, जिनमें तीर्थंकर महावीर भी सम्मिलित थे। इनके अतिरिक्त गया-शीर्ष में अग्निहोत्री काश्यप-बन्धुओं को भी हम पाते हैं और अनेक तरह के श्रमण तथा परित्राजक भी मिलते हैं। इसी तरह कोसल के प्रसेनजित् के राज्य में भी 'जानुश्रोणि', वासिष्ठ आदि ब्राह्मणों के साथ ही 'विशाखा' की कहानी में जैनो की पूरी धाक देखते हैं। बुद्ध के प्रति स्वयं प्रसेनजित् और अनारपियण्डक की श्रद्धा की बात तो पूछना ही बेकार है। धर्म के प्रति एकतन्त्रात्मक राज्य के सर्वसत्तासम्पन्न सम्राट् बिम्बिसार की कैसी अमिर्चि थी, इसका एक ज्वलन्त प्रमाण 'महावग्ग' में मिलता है। मगवान् बुद्ध जब बुद्धत्व प्राप्त कर दूसरी बार राजगृह आये, सब बिम्बिसार ने बुद्ध से जो कुछ कहा, उससे विहार-प्रदेश के राजा होने के नाते 'विहार' के गौरव में चार चाँद लग जाते हैं। बिम्बिसार ने कहा था—

“पुब्बे मे भन्ते, कुमारस्स सता एतद्द'हांसि—अहो वत मे एवमे अभि-  
सिन्धेयु'ति। अयं खो मे भन्ते, पउमो अस्सासको अहांसि, सो मे एतरहि समिद्धो।  
तस्स च मे विजितं अरहं सम्मासम्बुद्धो ओक्कमेय्या' ति। अयं खो मे भन्ते, दुत्तियो

अस्सासको अहोसि, सो मे एतरहि सम्मिद्धो ! तच्चाहं भगवन्ते पयिरुपासेय्ये'ति । अयं खो मे भन्ते, ततियो अस्सासको अहोसि, सो मे एतरहि सम्मिद्धो । सो च मे भगवा धम्मं देसेय्या'ति । अयं खो मे भन्ते, चतुरथो अस्सासको अहोसि, सो मे एतरहि सम्मिद्धो । तस्स चा'हं भगवतो धम्मं आजानेय्ये'ति । अयं खो मे भन्ते, पञ्चमो अस्सासको अहोसि, सो मे एतरहि सम्मिद्धो । पुब्बे मे भन्ते, कुमारस्स सतो इमे पञ्च अस्सासको अहेसुं, ते मे एतरहि सम्मिद्धा ।”

—महाजम्भो १, ४, १, ८

अर्थात् 'हे भगवन् ! कुमार अवस्था में मेरी पाँच अभिलाषाएँ थीं, जो अब सब पूरी हो गईं । कुमार अवस्था में सोचता था, यदि मेरा अभिषेक हो जाता, तो कितना अच्छा होता, वह अभिलाषा पूरी हो गई । मेरे मन में दूसरी अभिलाषा थी कि मेरे राज्य में यथार्थ बुद्ध आते, सो भी पूरी हो गई । तीसरी अभिलाषा थी कि बुद्ध के आने पर मैं उनकी सेवा करता, आपकी कृपा से वह अभिलाषा भी पूरी हुई । चौथी अभिलाषा थी कि भगवान् मुझे धर्म का उपदेश करते, वह भी पूरी हुई । पाँचवीं मेरी अभिलाषा थी कि मैं भगवान् बुद्ध को जान पाता, सो अब वह भी पूरी हो गई । आश्चर्य है, हे भगवन् ! कि मेरी पाँचों अभिलाषाएँ पूरी हो गई । अब मेरी कोई अभिलाषा शेष नहीं रही ।”

एक सम्राट की अभिलाषाओं को देखिए और सोचिए कि विहार का वह कैसा सम्राट था, जिसके मन में ऐसी अभिलाषाएँ उठी थीं । इनमें एक पहली ही अभिलाषा ऐसी है, जो स्वार्थ से भरी है, किन्तु चार अभिलाषाएँ विशुद्ध धर्म-भावना की हैं, जो संसार के अन्य सम्राटों में से बहुत कम को हुई होगी । इस तरह एकतन्त्रात्मक राजा श्रद्धामूलक धर्म-भावना से पूर्ण ओत-प्रोत दिखाई देते थे । इन दो सबल शक्तियों (मगध और कोसल) के सहारे भगवान् बुद्ध ने अपने धर्म का सुव्यवस्थित विस्तार किया । इस एकतन्त्र राज्य की महत्ता को सिद्धार्थ ने, प्रव्रज्या ग्रहण करने के पहले ही, आँक लिया था, जिससे प्रथम-प्रथम मगध का पल्ला पकड़ा ।

### समाज की धार्मिक प्रवृत्ति

यह पहले कहा गया है कि वैदिक काल में तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल में और उसके बाद रामायण तथा महाभारत के समय में भी इस पूर्वीय भाग पर ब्राह्मणवाद का प्रभुत्व कायम नहीं हो सका था । इसका प्रधान कारण यह था कि सर्वदा स्वयं ब्राह्मण इस भाग को हीन बतलाकर इधर आता भी पाप मानते थे । इस भाग में धर्म, ज्ञान और आचार का जितना भी प्रचार हुआ था, उसका अधिकांश श्रेय क्षत्रिय ऋषियों और ज्ञानियों को था । गिरिव्रज के गौतम, सिद्धार्थ के विश्वामित्र, मिथिला के जनक, अंग के अधिरथ, गया के 'अमूर्च्छय गय'—सभी-के-सभी क्षत्रिय राजा और ज्ञानी थे । जो ब्राह्मण ऋषि भी आये, क्षत्रियों के प्रभाव से बच नहीं सके । वे किसी-न-किसी तरह क्षत्रियों के सामर्थ्य

में उलभ गये। कल्प में 'दीर्घतमा' नामक ऋषि ने 'बलि' राजा की स्त्री 'सुदेष्णा' में श्रंग, बंग, कलिंग, पुण्ड्र और सुद्र नामक पाँच क्षत्रिय पुत्रों को उलभ किया<sup>१</sup>। 'विमालङ्क' ऋषि का लड़का ऋष्यशृङ्ग था, जिसने कमी नारी-जाति को देखा तक नहीं था, और तपस्या में रत होकर 'वनचर'<sup>२</sup> का जीवन व्यतीत करता था। श्रंग के राजा 'रोमपाद' ने इसकी तपस्विता से प्रभावित होकर अपनी पौष्यपुत्री 'शान्ता' को देना चाहा। उसने अनेक रूपवती नृत्य-गीतप्रवीण गणिकाओं को भेजकर, जिस तरह भी हो सके, ऋष्यशृङ्ग को मोह-जाल में फँसाकर लाने के लिए कहा<sup>३</sup>। अन्त में 'रोमपाद' को सफलता मिली और ऋष्यशृङ्ग ने उस क्षत्रिय-कन्या से विवाह कर लिया। किन्तु महाभारत-युद्ध के बाद देश में ऐसी कान्ति मची कि इस प्रबल आँधी के भीके से मानव-वर्ग भुत्से की तरह कहीं-का-कहीं उड़ गया। इस विपत्ति-काल में सभी विहित-अविहित ध्यान सबके लिए बराबर हो गये और जिसे जहाँ पनाह मिली, वहाँ बस गया। यही कारण था कि ईसा-पूर्व छठी सदी में मगध में भी ब्राह्मणों का बसेरा जमने लगा और इस पूर्वीय भाग में भी ब्राह्मण-धर्म अपना पंजा फैलाने लगा। इधर भी यज्ञ-यागादि विधि-क्रियाओं का उदय हुआ। इस भाग में भी ब्राह्मण धीरे-धीरे विद्या और धन—दोनों पर कब्जा करने लग गये थे। किन्तु, 'महाभारत' के युद्ध ने मानव-मात्र के नैतिक स्तर को गिरा दिया था। धन और जीविका के लिए कोई भी वर्ण किसी पेशे के करने में हिचकता नहीं था। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार पेशा अपनाने को लोगों ने पैरो से टुकरा दिया था। यहाँ तक कि चोरी, डाका, रहजनी, जुआ आदि से भी धन-संग्रह होने लगा था। भूत-प्रेत और जादू-टोने में लोगों की आस्था जम गई थी। स्त्रियों की इज्जत और भी खराब हो गई थी। व्यभिचार बढ़ गया था। स्त्रियाँ बेची और खरीदी जाती थीं। बौद्धग्रन्थों में इन सारी बातों का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। खासकर जातक-कहानियों में तो इसकी भरपूर सच्चाई है।

यही बात यज्ञ-यागादि की क्रियाओं में भी हुई। अब यज्ञ-यागादि क्रियाओं में गाय, भेंड़, बाछा-बाछी अनेक तरह के पशु बलि में दिये जाने लगे<sup>४</sup>। इस पूर्वभाग में ब्राह्मणों ने जब यज्ञ-यागादि की क्रिया आरम्भ की, तब हिंसा का जोर बहुत बढ़ गया, जो महाभारत-युद्ध के परिणाम-स्वरूप स्वामाविक था। ब्राह्मण-धर्म के प्रभाव के विस्तार में एक यह बहुत बड़ा रहस्य था कि ब्राह्मण केवल ज्ञान और तपस्या अर्जित करके वे स्वर्ग मोक्ष के भागी नहीं बनते थे;

१. वायुपुराण (उत्तरार्द्ध) — अ०, ४, श्लो० २८

२. ऋष्यशृङ्गो वनचरस्तपःस्वाध्यायसंयुतः । — वाल्मीकीय रामायण, बाल०, सर्ग १०, श्लो० ३

३. गणिकास्तत्र गच्छन्तु रूपवत्यः स्तलङ्कृताः ।

प्रतीम्य विविधोपायैरानेधन्तीह सत्कृताः ॥ — वाल्मीकीय रामा०, बाल०, सर्ग १०, श्लो० ४  
महाभारत, वनपर्व, अध्याय ११० भी द्रष्टव्य ।

४. दीप निकाय—१, ५ (कुट्टना संत)



बल्कि अपनी विधिक्रियाओं के द्वारा जनता को भी मोक्ष के भागी बनाते थे, जिसका अन्तर सम्पूर्ण समाज पर शीघ्र पड़ता था। वे धन पैदा करके स्वयं दान देते थे और दान करने की प्रवृत्ति बसाते थे। इस तरह विद्या और वैभव का दान लेकर और देकर—दोनों तरह से ब्राह्मणवाद का विस्तार करते थे और तुरन्त समाज पर जादू की तरह छा जाते थे। ये सारी प्रवृत्तियाँ देश के पूर्व-भाग में बढ़ रही थीं, जिनसे क्षत्रियों के उत्कर्ष पर बहुत बढ़ा चक्का लगनेवाला था, जिसे वैशाली-कुल के वर्द्धमान और शाक्य-कुल के सिद्धार्थ गौतम ने भापि लिया था।

सिद्धार्थ गौतम के समय में, इस पूर्वीय भाग में, ब्राह्मणों का जोर बढ़ रहा था, इस का प्रमाण हमें बौद्धग्रन्थों से ही मिलता है। ये ब्राह्मण अब बड़े-बड़े धनवान् तथा विद्वान् हो गये थे। उस काल में इनकी विद्वत्ता और प्रतिष्ठा की धाक इसी से समझी जा सकती है कि स्वयं बुद्धदेव को अपने धर्म-प्रचार के लिए इनका सहारा लेना पड़ा। यद्यपि बुद्ध ब्राह्मणों और ब्राह्मणधर्म के विरोधी थे, तथापि बौद्धधर्म के उत्थान में ये ब्राह्मण ही अग्रणी हुए, जिनमें सारिपुत्र, महामौद्गल्यायन, महाकाश्यप, रेवत, मोग्गलिपुत्र तिप्प, नागसेन, नागार्जुन, अश्वघोष, असंग, वसुक्थु, सुद्धोष आदि प्रमुख थे। देश के इस पूर्वीय भाग में महाशाल और विद्वान् ब्राह्मण किस तरह बढ़ रहे थे, इसके सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थों पर हमें थोड़ा दृष्टिपात करना चाहिए। मज्झिम निकाय (२। ५। ३) के 'आस्सलायनसुत्त' से ज्ञात होता है कि एक समय जब भगवान् बुद्ध आश्वती के जेतवन में थे, तब वहाँ देश के अनेक भागों से पाँच सौ जुने हुए ब्राह्मणों का जत्था आया था। उसमें 'आस्सलायन' नामक एक ऐसा ब्राह्मण था, जो तीनो वेद, निषद, कल्प, इतिहास, काव्य, व्याकरण, लोकायत-शास्त्र, सामुद्रिक आदि अनेक विद्याओं का ज्ञाता था; यद्यपि अभी वह विद्यार्थी था<sup>१</sup>। उतने भगवान् बुद्ध के पास जाकर धीरे-वाद-विवाद किया। उसी आश्वस्ती में 'जानुओग्गि' ब्राह्मण था, जो नित्य शाम को श्वेत घोड़ों से जुते रथ पर चढ़कर, राजा की तरह, शान से, हवाखोरी में निकलता था। वह राजा प्रसेनजित् का पुरोहित भी था। इसके अतिरिक्त प्रसेनजित् की पत्नी 'मल्लिका' ने 'प्रोष्ठपाद' नामक ब्राह्मण को अपना निजी वगीचा दान कर दिया था, जिसमें वह नित्यप्रति एक भारी परिषद् के बीच बैठकर अनेक प्रकार की कथाएँ सुनाता था<sup>२</sup>। इस 'प्रोष्ठपाद सुत्त' में जिन कथाओं की तालिका है, उससे प्राचीन कथा-साहित्य पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। फिर 'अम्बडसुत्त'<sup>३</sup> से ब्राह्मणों के वेद-विद्या-ज्ञान का पता हमें अच्छी तरह चलता है। मगध में भी भगवान् बुद्ध जब धर्मचक्र-प्रवर्त्तन करके आये, तब हम देखते हैं कि विम्बिसार अपने साथ ब्राह्मणों का एक मुखंड लेकर ही बुद्ध से मिला था<sup>४</sup>। काश्यप-बन्धुओं को जो अग्निहोत्र-कर्म गथा में चलता था, वह एक प्रकार की यज्ञक्रिया ही था, जिसमें अंग-मगध के

१. इसी ने 'आस्सलायन गृह्यसूत्र' की रचना की।

२. दीप निकाय—१, ६ (पीट्टपाद सुत्त)।

३. दीप निकाय—१, ३।

४. महावग्गो—१, ३, २, १३।



घनी लोग बहगी पर हवन और भोजन की सामग्री लेकर पहुँचते थे<sup>१</sup>। मगध में 'खाणुमत' नाम का ब्राह्मणों का एक प्रसिद्ध ग्राम था, जहाँ 'कूटवन्त' नामक ब्राह्मण वस करता था। वह बिम्बिसार से बराबर सहायता पाता था और वह उससे आज्ञा प्राप्तकर उस इलाके का मालिक हो गया था। जिस समय बुद्ध 'खाणुमत' ग्राम में गये थे, कूटवन्त की वस-क्रिया में बलि-कर्म के लिए १०० बैल, ७०० बछड़े, ७०० बाछियाँ, ७०० बकरियाँ, और ७०० भेड़ें स्थूण-स्तम्भ से बँधी हुई थीं<sup>२</sup>। 'सुत्तनिपात' के 'कसिमारद्वाजसुत्त' में लिखा है कि भगवान् चारिका करते हुए जब दक्षिण-मगध के 'एकनाला' नामक ग्राम में गये, तब वहाँ कृषिभारद्वाज नामक ब्राह्मण कुमारिकाओं का एक बहुत बड़ा उत्सव मना रहा था। वह स्वयं ५०० हलों से खेत करता था<sup>३</sup>। मगध के ही 'महातीर्थ' ग्राम में 'पिण्णली' नाम का ब्राह्मण था, जिसके खाने में मुहरो के ६० चढ़क्चे थे। यह १४ बड़े-बड़े ग्रामों का मालिक था। इसकी गृहस्थी के खेत १२ योजन में फैले थे। इसके शरीर में जो स्नान-चूर्ण लगाये जाते थे, उससे बाहर की नालियाँ भर जाती थीं<sup>४</sup>। यह स्वयं ब्रह्मविद्या और ब्राह्मण-ग्रन्थों का धुरन्धर विद्वान् था। यही 'पिण्णली' पीछे चलकर बुद्ध के प्रधान शिष्यों में 'महाकाश्यप' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बिम्बिसार के राज्य में ही अंगदेश के 'आपण' नामक निगम में हमें 'केशिय' जटिल की कथा मिलती है<sup>५</sup>, जो अत्यन्त ब्राह्मण-भक्त था। उसके यहाँ 'सिल' नामक ब्राह्मण था, जो ३०० विद्यार्थियों को लेकर वेद, निषण्ड, कल्प, निरुक्त, इतिहास, काव्य, त्वाकरण, लोकायत-शास्त्र आदि की शिक्षा देता था। केशिय ने जब भगवान् बुद्ध को भोजन के लिए आमंत्रित किया, तब बुद्ध ने व्यङ्ग्य किया कि तुम तो ब्राह्मणों के भक्त हो, मेरे पास १२५० भिक्षु हैं, कैसे आमंत्रित करते हो<sup>६</sup>। इसके अतिरिक्त 'महासुकुलदायि' की कथा में भी हम पाते हैं, कि वह परिव्राजक एक बहुत बड़ी परिपद् के साथ राजगृह से कुछ ही दूर पर 'मोर निवाप' में रहता था। वह पाँच सौ विद्यार्थियों को विविध विद्याओं का दान करता था, जिसे भगवान् बुद्ध अपने धर्म में लाना चाहते थे। अन्त में उसकी परिपद् ने उसे बुद्धमत मानने से रोक दी दिया<sup>७</sup>। ब्राह्मणों के प्रभुत्व का इससे भी बड़ा प्रमाण हमें मिलता है कि चम्पा को जीतकर

१. महावग्गो—१, ३, १, १५

२. दीप निकाय—१, ५

३. एक समय भगवा मगधेषु विहरति दक्षिणागिरिस्मिं एकनालायं ब्राह्मणग्रामे। तेन खो पन समयेन कसिमारद्वाजस्त ब्राह्मणस्त पञ्चमत्तानि नहलसत्तानि पवुत्तानि होन्ति कपकाले।

—सुत्तनिपात ( कसिमारद्वाजसुत्त—४ )

४. अंगुत्तर निकाय, अट्ठकथा—१, १, ४

५. सुत्तनिपात ( सिलसुत्त )—३३

६. महा खो केशिय भिक्षुसङ्घो अद्दत्तेलसानि भिक्षुसत्तानि, त्व च खो ब्राह्मणेषु अभिप्सुपन्नोति।

—सुत्तनिपात, ३३

७. मज्झिम निकाय—२, ३, ६

वहाँ अपनी ओर से अधिकार देकर 'सोणुदण्ड' नामक ब्राह्मण को विभित्तार ने शासन-व्यवस्था के लिए बैठा दिया था। वह यज्ञ-क्रिया और अर्घ्यापन-कार्य के द्वारा ब्राह्मणवाद का जोरों से प्रचार कर रहा था। ब्राह्मण-धर्म इस पूर्वी भाग में बढ़ रहा था, इन सारी बातों से इसकी एक झलक तो हमें मिल ही जाती है।

दान देने की परम्परा जो वैदिक काल से ही चली आ रही थी, वह भगवान् बुद्ध के समय में भी खूब प्रचलित थी। अंग-देश के राजा कर्ण ने दान की महत्ता को आसमान पर चढ़ा दिया था और त्याग को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया था, जिसकी महिमा अंग और मगध में बनी हुई थी। मगध का विभित्तार स्वयं दानी था, और ब्राह्मणों, जटिलों, परिव्राजकों को खूब दान तथा सम्मान देकर आदर का पात्र बना हुआ था। यह कहा गया है कि विभित्तार की इस उदारता के चलते ही राजगृह के आसपास अनेक सम्प्रदाय के ऋषि-मुनियों की भीड़ लगी रहती थी, जिनके संत मगध के अन्य धनी-मानियों के दिये दान से संघ का संचालन करते थे। उस समय देश के नगरों में बड़े-बड़े धनकुँवर सेठ भी थे, जो दान देने में राजाओं से होड़ लगाते थे। राजा को सदा चिन्ता बनी रहती थी कि कोई श्रेष्ठी हमसे ज्यादा दान देकर यश न अर्जित कर ले। ऐसे ही दानियों में मगध के सुमन, चित्र, विशाख, सिगाल; वैशाली के उग्रहपति तथा अंग के 'सोणकोटबिंश' एवं भद्रिया (भागलपुर जिला) के 'मैडक' श्रेष्ठी थे। बौद्धधर्म के विकास में इन श्रेष्ठियों के दान की महत्ता का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। भगवान् बुद्ध के समय में सबसे बड़ा दायक आवस्ती का 'अनाथपिण्डक' सेठ था, वह मगध के राजगृह नगर के सेठ का ही बहनोई था<sup>१</sup>। मगध के इन धनी-मानियों के दान से ही अब ब्राह्मणधर्म ब्राह्मणधर्म को हट करने पर लगा था, जिसके फलस्वरूप यज्ञादि क्रियाओं का प्रचलन इस भाग में भी हो गया था। भगवान् बुद्ध ने यद्यपि रुपये-पैसे को लेना वर्जित कर दिया था, तथापि बौद्धसंघ के लिए दान देने का विधान तो किया ही था। भगवान् बुद्ध ने संघ की महिमा स्थापित कर ब्राह्मणों को दिये जानेवाले दान को अपनी ओर मोड़ा तथा उपासकों के लिए कहा कि उपासक भिक्षु के लिए विहार, अट्टद्वययोग, पासाद, इभिय, गुहा, परिवेणु, कोठक, उवट्टानसाला, अग्गिसाला, कप्पियकुटि, वच्चकुटि, चंकम, चंकमसाला, उदयान, उदयानसाला, जन्ताघर, जन्ताघरसाला, पोक्खरिणी, मण्डप, आराम और आरामकथु का निर्माण कराये<sup>२</sup>। इस तरह छोटे छोटे धनी-मानी भी मगध में दान की विधि और अंदा से पूरित थे, जिन्हें सिद्धार्थ गौतम अच्छी तरह जानते थे।

सिद्धार्थ गौतम एक तरफ जहाँ मगध के ब्राह्मण-मुनियों के ज्ञान, विद्या और दान की महत्ता से अवगत थे, वहीं दूसरी ओर वे मगध की अशिक्षित और गरीब जनता की भावना को भी समझते थे। अपनी अविद्या और उच्छ्वर्ग के सत्संग के अभाव के कारण मगध की गरीब

१. चुल्लवग्गो—६, ३, १

२. महावग्गो ( वस्सुपनाविकलसङ्गहो )—१, २, ३, ३

जनता अपनी सांस्कृतिक भूख को, भूत-प्रेतों की पूजा तथा उत्सवों में, उनके प्रति भद्रा के फूल चढ़ाकर, मिटाती थी। ये गरीब लोग इन्हीं विधि-क्रियाओं के द्वारा अपने उद्धार के लिए मार्ग प्रशस्त करते थे, जिसे अपनाकर बुद्ध ने गरीबों के मन में भी अपनापन की भावना को जगाया और बौद्धधर्म को सर्वसाधारण के लिए भी सुलभ बना दिया। ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करनेवाले बुद्ध ने भूत-प्रेत-यक्षादि का जो अस्तित्व स्वीकार किया, वह लोक-भावना की अपेक्षा को स्थान में रखकर ही किया होगा, यह निश्चित है।

उपर्युक्त सारी बातों के अतिरिक्त विहार-प्रदेश की प्राकृतिक दृश्यावलिषाँ भी कम आह्लादक नहीं थी और यहाँ की तपोयुक्त भूमि भी पूर्ण हृदयग्राहिणी थी। प्राचीनकाल में विश्वामित्र की तपस्या की भूमि यहीं पाते हैं। महाभारत के अनुसार गौतम ऋषि की तपस्या-भूमि गिरिव्रज ही थी, जिसकी चर्चा पहले ही की तपोयुक्त भूमि गई है। ऋष्यशृंग की तपस्या श्रंग-प्रदेश के जंगलों में देखते ही हैं। मिथिला में जनक और याज्ञवल्क्य की ज्ञानभूमि की बात हम सभी जानते हैं। वाणमट्ट के 'हर्यचरित' में 'वपवनाश्रम' की चर्चा शोणभद्र के पूर्वी किनारे पाते हैं। गया में 'अगस्त्यरथ गय' की यज्ञ-प्रशंसा हम सुनते ही हैं, जहाँ युधिष्ठिर ने आकर चातुर्मास यज्ञ किया था। गंगा के उत्तरी भाग में अहल्योदार का स्थान और गज-ग्राह के बुद्ध का स्थल भी हमें मिलते हैं। नागों की सिद्धि के पवित्र स्थल भी विहार-प्रदेश के दक्षिणी जंगलों में दर्शनीय हैं। इन सम्पूर्ण विषयों के अतिरिक्त मगध के रमणीय पर्वतीय भू-भाग, निर्मल जलवाहिनी नदियाँ, सघन कमलदलों से आच्छादित सरोवर, चित्ताह्लादक उपवन, सुविस्तृत बालुकाराशिमय सरित्-तट, विभिन्न मनःप्रसादक दृश्यावलिषाँ आदि सिद्धार्थ गौतम के लिए कम आकर्षक नहीं थे। निरंजना नदी के सम्बन्ध में बुद्ध ने खुद सोचा है—

अनेकसं बोधिसत्त-सतसहस्रानं अभिसम्बुञ्जन-दिवसे ओतरित्वा नहानट्टानं सुप्पतिट्ठित तिरथं नाम अस्थि<sup>१</sup>।

अर्थात्, "सैकड़ों हजार बुद्धों के बुद्धत्व-प्राप्ति के दिन उतरकर नहाने योग्य यह सुप्रतिष्ठित नदी-तीर्थ है।" इसी तरह बुद्धगया की वज्रासन-भूमि के सम्बन्ध में भी उन्होंने कहा है—

पुरत्थिमं दिसाभागेपन सन्व बुद्धानं पञ्चङ्कट्टानं ते नेवच्छम्भति न कम्पति। महा-सत्ता इदं सन्व बुद्धानं अविजहित अचलट्टानं किलेस पजरिद्धं सनट्टानन्ति<sup>२</sup>।

अर्थात्, "यह पूर्व दिशा की भूमि सभी बुद्धों के बैठने योग्य स्थान है, इसीलिए यह न हिलती है, न काँपती है। यह सभी बुद्धों से अपरित्यक्त स्थान है। यही सर्व-क्लेशों के विष्वसन का असली स्थान है।" भगवान् बुद्ध ने 'सुसुमार गिरि' पर विहार करते समय अवन्ति के राजा चण्डप्रथोत के पुत्र 'बोधिराजकुमार' से उरुवेला-प्रदेश के तपोयुक्त

१. जातकट्ट-कथा (अविज्जे निदानं) — ५५, ५० ५१

२. तत्रैव — ५६, ५० ५१



रमणीय भू-भाग की प्रशंसा करते हुए कहा था— 'हे राजकुमार ! 'बसा अच्छा है' की खोज करते-करते मैं उरवेला के सेनानिग्राम में पहुँचा । वहाँ मैंने रमणीय भूमि-भाग, सुन्दर वन-सराइ, स्वच्छ बहती नदी, श्वेत...सुप्रतिष्ठित, चारों ओर रमणीय गोचर ग्राम देखा । हे राजकुमार, तब मुझे ऐसा हुआ—रमणीय है वह भूमि-भाग । प्रधान इच्छुक कुलपुत्र के लिए यही स्थान उपयुक्त है ।" इसलिए हिमालय की उपत्यका की रमणीयता से कम आकर्षक मगध की भूमि नहीं थी, जिससे कहा जाय कि यहाँ सिद्धार्थ नहीं आते ।

### अन्तिम निष्कर्ष

यहाँ हमने अच्छी तरह देखा कि

(१) बुद्धपूर्व बिहार की सांस्कृतिक आदि स्थितियों में क्षत्रियों की प्रधानता थी, जो शाक्य-कुलपुत्र सिद्धार्थ के लिए अत्यन्त ही अनुकूल जैसी ।

(२) ब्राह्मणों के द्वारा मगध ( कीकट ) उपेक्षित और हीन स्थान था तथा किस तरह वहाँ अशुद्ध चिन्तवालों से विचारित धर्म फैला था, इसे हमने पहले मली भाँति देखा है । इसलिए, बुद्ध का धर्म यहाँ आसानी से फूल-फल सकता था ।

(३) तात्कालिक सांस्कृतिक वातावरण में भी अनेक श्रृंगार-शानी, श्रमण-परिव्राजक, गणी, गणाचार्य और संघ विद्यमान थे, जो राजाओं और दानियों के दान से युक्त होकर अपने-अपने धर्म में विचरण कर रहे थे । इनके द्वारा विभिन्न नये-नये क्रान्तिकारी सिद्धान्त यद्यपि ब्राह्मण-धर्म के ऊपर प्रहार कर रहे थे, तथापि ब्राह्मण-धर्म जोर पकड़ता ही जा रहा था । फिर भी, इनके नवीन विचारों ने मगध में ज्ञान, व्रत-तपस्या और उच्छेद-धर्म का मार्ग प्रशस्त कर दिया था । बिहार-प्रान्त के ऐसे दार्शनिक विचार अनेक सम्प्रदायों में बैठकर दूर-दूर तक फैल गये थे तथा देश के बड़े-बड़े राजकुल इनके अनुयायी बन गये थे । फलस्वरूप, हमने पहले ही देखा है कि 'अजितकेशकम्बल' के उच्छेदवादी सिद्धान्त का पोषक वत्स-देश का तात्कालिक राजा 'उदयन' हो गया था । 'पुरणकस्तप' के अक्रियावाद का समर्थक 'अवन्ती' का राजा प्रद्योतकुल भी था । इसके साथ ही जैनधर्म, जो नित्य वर्द्धनशील था, उसका मुख्य केन्द्र राजगृह और वैशाली—दोनों राजधानियों में था । जैनधर्म का स्रोत यद्यपि मगध में प्रवाहित हुआ था, तथापि उसका प्रवाह सम्पूर्ण मध्यदेश में प्रसार प्रतीत हो रहा था ।

(४) इसके अतिरिक्त गणतन्त्रात्मक और राजतन्त्रात्मक—दोनों तरह के राज्य बिहार में थे । मगध का विभिन्नतर अत्यन्त शक्तिशाली राजा होता जा रहा था, जिसका पल्ला पकड़ना धर्म-विस्तार के लिए लाभदायक सिद्ध होता ।

(५) समाज में धर्म के प्रति अभिरुचि खूब थी और दान देने की प्रवृत्ति भी मगध में अंगराज 'कर्ण' के समय से ही प्रतिष्ठित थी । इसके सहारे उस समय ब्राह्मण-धर्म



क्षत्रियों की उत्कर्ष-भूमि में भी अपनी श्रृंखला के पैर फैला रहा था, जिसे उखाड़ फेंकना बुद्ध के लिए आवश्यक था। धर्म-क्रिया में भी ब्राह्मणों की वैदिकी हिंसा ने अति का रूप ले लिया था और विधि-क्रियाओं की अत्यन्त खर्चीली बनाकर एकमात्र राजाओं और श्रेष्ठियों के लिए ही छोड़ रखा था। इस प्रकार, गरीब जनता के लिए मोक्ष का द्वार बन्द-सा हो गया था। इसी हेतु नये-नये क्रान्तिकारी ज्ञान के मार्ग उग आये थे।

इन सभी बातों के लिए उस समय एक ऐसे महापुरुष की तथा एक ऐसे धर्म-सिद्धान्त की आवश्यकता हो गई थी, जो बिहार की गरीब जनता की प्रकृति के अनुकूल प्रमाणित हो। इन सभी तथ्यों ने अपने मनोहर वातावरण में सिद्धार्थ गौतम को अपनी ओर आकृष्ट किया और सिद्धार्थ सम्पूर्ण बन्धन-विच्छेद कर सम्यक्-सम्बोधि के लिए बिहार-प्रदेश की ओर उन्मुख हो पड़े।

## दूसरा परिच्छेद

### बुद्धत्व की प्राप्ति में योगदान

#### बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त के आधार-ग्रन्थ

ईसा से ६२३ साल पूर्व जन्म लेनेवाले भगवान् बुद्ध के जीवन-वृत्तान्तों की थोड़ी चर्चा यहाँ करना आवश्यक है, जिससे घटनाओं के तारतम्य का ज्ञान होगा और हमारे प्रतिपाद्य विषय को समझने में सहारा मिलेगा।

बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त के लिए जो हमें पाँच आधार-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे हैं—  
(१) महावस्तु, (२) ललित-विस्तर, (३) अभिनिष्कमणुसूत्र, (४) जातक-कथा और (५) बुद्धचरित। इनके अतिरिक्त भी कुछ छिट-पुट साहित्य प्राप्त होते हैं, जिनसे बुद्ध के जीवन पर विशेष रूप से महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

(१) महावस्तु—महासंघिकों<sup>१</sup> की लौकोत्तरवादी शाखा का 'विनय-पिटक' है। महासंघिक-सम्प्रदाय 'नन्दिवर्द्धन' के समय में वैशाली में होनेवाली द्वितीय संगीति के अवसर पर, घेरवादियों के विरोध में, कायम हुआ था। 'महावस्तु' मिश्रित संस्कृत-भाषा का ग्रन्थ है। इसमें भगवान् बुद्ध का जीवन-चरित, उनके पूर्वजीवन की कहानियों के आधार पर लिखा गया है। जीवन-चरित की जो घटनाएँ इसमें वर्णित हैं, उनमें पारस्परिक तारतम्य का विलकुल अभाव है। वर्णन अत्यन्त प्राचीन शैली में किया गया है। विद्वानों की राय में इसमें वर्णित ऐतिहासिक तथ्यों में काल्पनिक कथाओं की भरपूर संकरता है।

महावस्तु में वर्णित जीवन-चरित के तीन खण्ड हैं। पहले खण्ड में चार चर्चाएँ हैं, जिनमें बुद्ध भगवान् के उपयुक्त जीवन धारण करने के लिए पूर्वजन्मों के संघर्ष का वर्णन है। दूसरे खण्ड में बुद्ध के वास्तविक जीवन-चरित का वर्णन है। बाद के तीसरे खण्ड में महाकाश्यप, सारिपुत्र, महामौद्गल्यायन, शुद्धोदन, महाप्रजापति गौतमी, यशोधरा, राहुल तथा उपालि-सहित शाक्य-बुद्धों की शिक्षा-कथा कही गई है। अन्त में बिम्बिसार राजा की दीक्षा की कहानी भी दी गई है। आद्योपान्त ग्रन्थ पढ़ जाने पर स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थ में समय-समय पर घटनाएँ और कथाएँ जैसे-तैसे ही जोड़कर ग्रन्थ को विस्तृत किया गया है<sup>२</sup>। किन्तु इस ग्रन्थ की प्राचीनता का दावा अवश्य ही मान्य है।

१. बौद्ध सम्प्रदायों के विभेद की तालिका के लिए तीसरा परिच्छेद द्रष्टव्य।

२. बौद्ध-अभ्यन्तराज (आचार्य नरेन्द्रदेव)—पृष्ठ १३१

(२) ललित-विस्तर—पूर्ण व्यवस्थित और ललित शैली में लिखा गया जीवन-चरित-विषयक हृदय-ग्राह्य ग्रन्थ है। इसमें गद्य-पद्य की गंगा-समुद्री बहाई गई है और यह भी संस्कृत-भाषा में। ग्रन्थ की सुवोष शैली भगवान् बुद्ध के जीवन-चरित के वर्णन की ओर पाठकों को बरबस आकृष्ट करती है। सम्पूर्ण ग्रन्थ कई अध्यायों में विभक्त है, जिस पर संस्कृत-काव्यों की स्पष्ट छाप है।

(३) अभिनिष्क्रमणसूत्र—के लेखक 'धर्मगुप्त' हैं। मूल ग्रन्थ तो प्राप्त नहीं है, अतः उसके सम्बन्ध में विशेष कुछ टिप्पणी लिखना उचित नहीं। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में—“डॉ० नील ने जो उसका संक्षिप्त अंगरेजी-अनुवाद प्रस्तुत किया है, उससे पता चलता है कि यह ग्रन्थ 'ललित-विस्तर' की कथा पर आधारित है। किन्तु इसका प्रारम्भ 'महावस्तु' के आधार पर होकर अन्त 'ललित-विस्तर' के आधार पर होता है।” इससे पता चलता है कि 'महावस्तु' और 'ललित-विस्तर'—इन दोनों के बाद की रचना 'अभिनिष्क्रमणसूत्र' है और इसकी रचना में उपर्युक्त दोनों पुस्तकों से साहाय्य लिया गया है।

(४) जातकट्ट-कथा—का अपना एक अलग ही ढंग है। इसमें चार बुद्धों की विस्तृत घटनाओं का चित्रण है, जिनके जीवन-काल में ही बोधिसत्त्व ने विभिन्न रूप धारण करके बुद्धत्व के लिए योग्यता अर्जित कर ली थी। यह पुस्तक जातक-कथाओं की भूमिका है और पालि-भाषा में लिपिबद्ध है। यह बुद्धघोष-रचित मानी गई है। किन्तु कोई-कोई इसे सिंहली विद्वान् की कृति मानते हैं। इसमें वर्णित जीवन-चरित में भी अतिरंजना श्रव है। कल्पना का रंग काफी गाढ़ा है—देवत्व की कल्पना से कथा भरी-पूरी है।

(५) बुद्धचरित—जीवन-चरित-विषयक संस्कृत-भाषा का काव्य-ग्रन्थ है। यह 'अश्वघोष' की रचना है। यह उपर्युक्त सभी ग्रन्थों से व्यवस्थित और आकर्षक शैली में लिखित है। इसमें भगवान् बुद्ध के जीवन-चरित के अतिरिक्त किसी भी बाहरी कथा का समावेश नहीं है। इसके व्यवस्थित वर्णनों में बुद्ध एक साधारण मानव से ऊपर उठकर देवत्व का स्थान ग्रहण कर लेते हैं, जो पाठकों को यथार्थता की ओर बड़ी ही आकर्षक शैली में आकृष्ट कर लेता है, अतः बुद्धि-गम्य और हृदय-ग्राह्य है। इसकी शैली में रामायण, महाभारत तथा कालिदास की कृतियों की छाप स्पष्ट है।

उपर्युक्त पाँच आधार-ग्रन्थों के अतिरिक्त भगवान् बुद्ध की जीवन-विषयक घटनाओं की बहुत-कुछ सामग्री हमें पालिग्रन्थों के 'विनय' और 'निकायों' से भी प्राप्त होती है। ऐसी सामग्री में 'महावदान सुत्त', 'अरियपरियेसन सुत्त' और 'महापरिनिब्बाण सुत्त' मुख्य हैं। 'बोधिराजकुमार सुत्तन्त' में भी कुछ सामग्री मिलती है। उसके बाद बुद्ध की जीवन-विषयक कुछ घटनाएँ 'सुत्त निपात', तथा 'महावंस' से भी उपलब्ध हो जाती हैं। यहाँ में उन्हीं घटनाओं का उल्लेख करूँगा, जिनका सम्बन्ध मेरे प्रतिपाद्य विषय से है।



## जन्म-वैयन-प्रव्रज्या

बिहार-प्रदेश की उत्तर-पश्चिम दिशा में, नेपाल की तराई में, शाक्य-क्षत्रियों का 'कपिलवस्तु' नामक नगर था। आजकल इस स्थान को 'सिलौरा कोट' कहते हैं। यह शाक्य-गणतंत्र पहले तो वज्रिसंघ के अधीन था, पर बाद में कोसल-राज्य के अधीन अर्द्धस्वतंत्र राज्य था। सिद्धार्थ गौतम ने जब प्रव्रज्या ली, तब यह कोसल-राज्य में ही था। कपिल-वस्तु में 'शुद्धोदन' नाम के एक समृद्ध कृषकपति रहते थे। उनकी प्रजापति और मायादेवी नाम की दो पत्नियाँ थीं। मायादेवी से एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सिद्धार्थ रखा गया। बाद में चलकर सिद्धार्थ ही बुद्धत्व प्राप्त करके भगवान् बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार सिद्धार्थ का जन्म ईसा से ५६३ वर्ष पूर्व हुआ था। किन्तु नवीन अन्वेषणों के अनुसार सिद्धार्थ का जन्म ईसा से ६२३ वर्ष पूर्व और परिनिर्वाण ५४३ वर्ष ईसा-पूर्व हुआ। किन्तु 'ललित-विस्तर' के १४वें अध्याय में सिद्धार्थ के जन्म-वर्ष के सम्बन्ध में लिखा है—

बुद्ध : कपिलवस्तुनगरे कलेश्चतुःशतपडशीत्यधिकद्विसहस्रमितेषु शुक्रवासरे सुरद्विषा सम्मोहनाय साक्षात् विवेकमूर्तिः स्वेच्छाविप्रहेण प्रादुर्बभूव।

अर्थात्, बुद्ध २४८६ कलि-संवत् व्यतीत होने पर, शुक्रवार को, देवशम्भुओं को मोहने के लिए, साक्षात् विवेक-मूर्ति के रूप में स्वेच्छा-शरीर धारण करके कपिलवस्तु नगर में उत्पन्न हुए। कलि-संवत् के सम्बन्ध में 'शब्द-कल्पद्रुम' (काल २, पृ० ६०-६१) में लिखा है कि कलि-संवत् ६५३ में युधिष्ठिरादि का जन्म हुआ, कलि-संवत् ३०४४ में विक्रमाब्द आरंभ हुआ, कलि-संवत् ३१७६ में शकाब्द आरंभ हुआ और कलि-संवत् ३१०१ में ख्रिष्टाब्द का प्रादुर्भाव हुआ। तब यदि हम 'ललित-विस्तर' की उक्ति को मानें, तो सिद्धार्थ का जन्म ईसा से ६१५ वर्ष पूर्व हुआ होगा; किन्तु आधुनिक अन्वेषणों से विद्वानों ने ६२३ वर्ष पूर्व माना है, जिसमें ८ वर्ष का अन्तर पड़ जाता है और इस हिसाब से कलि-संवत् २४७८ होना चाहिए। सच पूछिए, तो इतनी प्राचीन तिथि को निश्चित करने में ८ वर्षों का अन्तर नगण्य-सा है, फिर भी विचारणीय तो है ही।

१. हिमालय की तराई में स्थित कोसलदेश में एक ज्ञानपद राजा है। वह राजा धन और वीर्य से युक्त कज्जु है, जो सर्ववशी है और जिसकी जाति शाक्य है। मैं उसी कुल से प्रवर्जित हुआ हूँ।

—सुत्तनिपात (धम्मज्झिमसुत्त) — १८-२६

२. सिद्धार्थ के समय में कपिलवस्तु के राजा का नाम 'महानाम' था, जिसकी रत्नेली में एक कन्या उत्पन्न हुई थी, जिसे शाक्यों ने छत्र करके कोसलराज प्रसेनजित से ब्याह दिया था। उसीसे उत्पन्न 'विजुवम' था, जिसने इस अपमान का बदला शाक्यों को समूल नष्ट करके लिया।

—बुद्धचर्या—पृ० ४७६

इससे बात होता है कि उस समय कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन नहीं थे; बल्कि उस वंश के एक सम्पन्न गृहस्थ थे। —ले०

३. अर्थात् हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया ( वी० ए० स्मिथ, ऑक्सफोर्ड, १९२४ ई० ) —पृ० ४६-५०



माया देवी पुत्र-प्रसव के लिए अपने मायके जा रही थी कि रास्ते में ही लुम्बिनी-वन में सिद्धार्थ का जन्म हो गया।<sup>१</sup> इसीलिए, लुम्बिनी बौद्धों का तीर्थस्थान है। सिद्धार्थ के जन्म लेने के सात दिन के बाद ही उनकी माता की मृत्यु हो गई। ज्योतिषियों ने उस काल की ग्रहस्थिति देखकर बतलाया—

इमेहि लक्खणेहि समवागतो अगारं अम्भावसमानो राजा होति चक्रवर्त्ती,  
पच्चजमानो बुद्धो<sup>२</sup>।

अर्थात्, 'ऐसे लक्षणोंवाला यदि यही हो, तो चक्रवर्त्ती राजा होगा और यदि प्रव्रजित हुआ, तो बुद्ध होगा।' ज्योतिषियों की भविष्यवाणी सुनकर चिन्ताशील शुद्धोदन ने पुत्र की सुख-सुविधा, भोग-विलास और राग-रंग के लिए समुचित प्रयत्न कर दिया। शुद्धोदन ने अपने श्वशुर-कुल की ही कन्या, परमसुन्दरी यशोधरा से, सिद्धार्थ का विवाह कराया। इतने पर भी सिद्धार्थ का मन वैभव-विलास में नहीं रमा। वे निरन्तर मनुष्यमात्र के क्लेशों के सम्बन्ध में ही सोचते रहते थे। एक दिन भ्रमण के समय उन्होंने क्रमशः एक रोगी, एक जराजीर्ण बूढ़ और मृतक को देखा। उसके बाद उन्होंने एक संन्यासी को भी देखा। वे सोचने लगे— 'मनुष्य रोगी होता है, बूढ़ होता है और मर जाता है। इससे तो अच्छा यह संन्यासी ही है, जिसे कोई चिन्ता नहीं, यह संसार के दुःखों से मुक्त है।' इसलिए उनके मन में वैराग्य प्रबल हो उठा। संसार के क्लेशों से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने वैराग्य का ही रास्ता पसन्द किया।

किन्तु, वास्तविक बात यह है कि कपिलवस्तु में 'भरण्डु कालाम' नाम का एक संन्यासी आश्रम बनाकर रहता था<sup>३</sup>, जिसके सहवास से ही सिद्धार्थ के मन में वैराग्य की इच्छा उत्पन्न हुई। जिस संन्यासी को देखकर उनके मन में वैराग्य प्रबल हो उठा, वह निश्चित रूप से 'भरण्डु कालाम' ही था। इसके सम्बन्ध में पहले कहा गया है<sup>४</sup> कि उस संन्यासी के साथ सिद्धार्थ का कैसा सम्बन्ध था।

सिद्धार्थ ने अपनी २६ वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण किया। इसी बीच उनके एक पुत्ररत्न भी उत्पन्न हो गया था। कहते हैं कि जिस समय सेवक ने सिद्धार्थ के पास आकर कहा कि आप को पुत्र-लाभ हुआ, उस समय सिद्धार्थ के मुँह से निकल पड़ा—'राहु जातो, बन्धनं जातन्ति।' यानी राहु पैदा हुआ, बन्धन पैदा हुआ। शुद्धोदन ने जब सुना कि सिद्धार्थ ने ऐसा कहा है, तब उन्होंने कहा—'ठीक है, मेरे पोते का नाम राहुल ही होगा।' इसीलिए, सिद्धार्थ के पुत्र का नाम राहुल पड़ा। पुत्रोत्पत्ति के बाद सिद्धार्थ सोचने लगे कि मेरा सांसारिक बन्धन और भी कठिन होता जा रहा है,

१. कंशावतारी का जन्म मातृ-गर्भ से उत्पन्न नहीं दिखाया जाता है, इसलिए मूर्तियों या चित्रों में बुद्ध को मायादेवी की दाहिनी ओख की ओर से फिसलते हुए दिखाया गया है।—ले०

२. जातकटु-कथा ( अतिदूर निदान )—३६, पृ० ४३

३. अंगुत्तर निकाय ( अट्ठकथा )—२, ४, ५

४. पृष्ठ १४ देखिए।

जल्दी इसे काट फेंकना चाहिए। उस, एक रात को पत्नी और पुत्र को सोते छोड़कर और सेवक 'छन्दक' के साथ 'कन्थक' घोड़े पर सवार होकर चुपके, संसार का बन्धन काट, वे वैराग्य के लिए निकल पड़े। प्रव्रज्या के समय सिद्धार्थ ने कोसल-देश में जाकर 'अनोमा' नदी के किनारे अपने लम्बे-लम्बे बाल काट दिये, ठाढ़-ठाढ़वाले वस्त्र उतारकर कापाय-वस्त्र धारण कर लिया। सिद्धार्थ गौतम अब भिक्षु सिद्धार्थ हो गये, भिक्षु सिद्धार्थ के सामने सबसे बड़ी समस्या थी—'बलेही से छुटकारा पाने के लिए ज्ञान-प्राप्ति।' इस समय सिद्धार्थ की अवस्था १६ वर्ष की थी।

उपयुक्त घटनाओं के सम्बन्ध में कुछ विचारणीय प्रश्न हैं। ऊपर की घटना में बतलाया गया है कि सिद्धार्थ पत्नी-पुत्र को सोते छोड़कर, छन्दक के साथ कन्थक पर सवार होकर रात में चुपके घर से भाग गये और अनोमा नदी के तट से कन्थक के साथ छन्दक को लौटा दिया। यह घटना 'निदान-कथा', 'ललित-विस्तर' और 'बुद्ध-चरित' में वर्णित है, जो काव्यमय धर्म-ग्रन्थ हैं। किन्तु अपने गृहत्याग के विषय में भगवान् बुद्ध ने तीन-तीन जगहों—'अरियपरियेसन सुत्तन्त', 'महासच्चक सुत्तन्त' तथा 'बोधिगजकुमार सुत्तन्त'—में स्वयं इससे भिन्न प्रकार की घटना का वर्णन किया है। ये तीनों सुत्तन्त बुद्धवाक्य हैं, जिन्हें प्रथम संगीति के अवसर पर 'आनन्द' ने दुहराया था। बुद्ध ने गृहत्याग की घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—

सो खो अहं निवसत्ते, अपरेन समयेन दहरो व समानो सुसु कालकेसो भद्रेन योच्चनेन समन्नागतो पद्मेन वयसा अकामकानं मातापितृन्नं असुमुखानं रुदन्तानं केसमस्सु' ओहारेस्वा कासावानि वत्थानि अच्चादेत्वा अगारस्मा अनुगारियं पच्चजि'।

अर्थात्, "हे भिक्षुओ! समय पाकर, यद्यपि मैं उस समय पूर्ण युवक था, मेरे माथे का एक भी बाल नहीं पका था तथा मेरे माता-पिता संन्यास लेने का आदेश नहीं दे रहे थे, तथापि मैंने उन्हें रोते-कलमते छोड़कर कापाय-वस्त्र धारण कर लिया और माथे के बाल तथा दाढ़ी-मूँछ कटवाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।"

इस वाक्य से पता चलता है कि सिद्धार्थ न तो चुपके रात में भागे या न उन्होंने अनोमा नदी के तीर पर बाल काटकर कापाय-वस्त्र धारण किया। बल्कि माता-पिता के देखते-देखते घर पर ही माथे के बाल और दाढ़ी-मूँछ कटवाकर कापाय-वस्त्र धारण किया, और वहीं संन्यास ग्रहण कर घर से वे निकल पड़े। शायद होता है कि गुप्त रीतिवाली गृहत्याग की पहली कथा की प्रसिद्धि इसलिए अधिक हुई कि उस कथा के आधार-भूत 'निदान-कथा', 'ललित-विस्तर' और 'बुद्ध-चरित' जैसे तीन-तीन हृदय-आत्म और आकर्षक काव्य-ग्रन्थ थे।

कपिलवस्तु में ही सिद्धार्थ ने 'भरगु कालाम' से 'आराद कालाम' का नाम सुना था; क्योंकि भरगु 'आराद' के मत का ही अनुयायी था। अतः, ज्ञान के पिपासु सिद्धार्थ सच्चे

ज्ञान-लाभ के लिए 'आराद कालाम' के आश्रम में आये। आराद कालाम का आश्रम बिहार-प्रदेश में ही था, जिसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है। आराद कालाम ने जितनी शिक्षा सिद्धार्थ को दी, उसमें अधिकांश शिक्षा सिद्धार्थ ने 'मरगड्ड' से पहले ही प्राप्त कर ली थी। जब भिच्छु सिद्धार्थ ने अपने ज्ञान की बात 'आराद कालाम' से कही, तब उसने उन्हें 'आकिञ्चन्वायतन' समाधि की शिक्षा दी। सिद्धार्थ ने समाधि की इस क्रियापद्धति को भी बहुत शीघ्र ही जान लिया और आगे ज्ञान की शिक्षा माँगी। इस पर 'आराद कालाम' ने कहा—'आयुस, इससे अधिक मैं नहीं जानता।'। तब भिच्छु सिद्धार्थ वहाँ से चलकर 'उद्दकरामपुत्र' के आश्रम में आये। 'आराद कालाम' और 'उद्दकराम पुत्र' एक ही सम्प्रदाय के दार्शनिक थे<sup>१</sup>। अन्तर केवल इतना ही था कि 'आराद कालाम' समाधि के सात सोपानों का उपदेश करते थे और 'उद्दकरामपुत्र' समाधि के आठ सोपानों का। 'उद्दकरामपुत्र' के यहाँ सिद्धार्थ ने जो विशेष शिक्षा प्राप्त की, वह थी—'नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन' नामक समाधि की शिक्षा<sup>२</sup>। किन्तु भिच्छु सिद्धार्थ ने जिस ज्ञान की खोज के लिए अभिनिष्क्रमण किया था, वह इन दोनों जगहों में नहीं मिला और तब वे आगे बढ़े।

यह पहले कहा गया है कि राजग्रह नगर के आस-पास अनेक तपस्वी और दार्शनिक निवास करते थे। उनकी तपस्या और ज्ञान की ख्याति सर्वत्र फैली थी। तप के योग्य उपयुक्त भूमि जानकर भिच्छु सिद्धार्थ राजग्रह के पर्वतीय भू-भाग में पधारे। इसके अतिरिक्त जैनधर्म के २४वें तीर्थंकर निर्माठनाथपुत्र के धर्म-प्रचार का तो केन्द्रस्थान ही राजग्रह का प्रदेश था, जिसे भिच्छु सिद्धार्थ मली भाँति जानते थे। राजग्रह के 'जितवन' के पीछे ही 'मकखलि गोसाल' सम्प्रदाय का आश्रम था, जिसमें आजीवक लोग विभिन्न प्रकार की कठिन तपस्या करते थे। इन सारी बातों को ध्यान में रखकर ही भिच्छु सिद्धार्थ राजग्रह में आये और निश्चित रूप से इन तपस्वियों के बीच कुछ दिन रहकर ध्यान, योग तथा तपस्या करते रहे। यही कारण था कि 'उक्खेला'-प्रदेश में जाकर छह वर्षों तक राजग्रहवासी तपस्वियों के द्वारा आचरित कठिन तपस्याओं में वे लीन रहे।

एक दिन पिंडपात के लिए, जब 'आकीर्णवरलक्ष्ण'<sup>३</sup> वाले भिच्छु सिद्धार्थ, पात्र लेकर मगध की राजधानी राजग्रह में निकले<sup>४</sup>, तब अपने प्रासाद-कक्ष से मगध के राजा बिम्बिसार ने उन्हें देखा। भिच्छु सिद्धार्थ की प्रभापूर्ण, गंभीर एवं शुभ लक्ष्णों से युक्त

१. मज्झिम निकाय ( बोधिराजकुमार सुचन्त )—२,४,५

२. बौद्धधर्म-दर्शन—५०, ३

३. बुद्धचर्या—५०, ४१४

४. 'सुत्तनिपात' के इस शब्द का अर्थ है—अंग्र पुरुष के लक्ष्णों की प्रमा से युक्त।—ले०

५. अवमा राजगई बुद्धो मनधानं गिरिव्वज्ज।

विशेष अभिधांसि आकिण्णवरलक्ष्णो ॥—सुत्तनिपात—२०, ४



आकृति को देखकर राजा अत्यन्त प्रभावित हुआ और उनसे 'पाण्डव गिरि' पर जाकर स्वयं मिला। दो महान् पुरुषों के मिलने पर यथोचित कुशल-मंगल पूछने के बाद राजा बिम्बिसारने सिद्धार्थ से कहा—“आप नवयुवक हैं, प्रथम अवस्थाप्राप्त तरुण हैं। आप कम तथा प्रभाव से युक्त कुलीन क्षत्रिय-कुल के जान पड़ते हैं। कृपया सत्य-सत्य बतावें कि आप किस जाति के हैं।” राजा के इस प्रश्न पर सिद्धार्थ गौतम ने कहा—

उज्जुं जानपदो राजा, हिमवन्तस्स पस्सतो ।  
धनविरिवेन सम्पन्नां, कोसलेसु निकेतिनो ॥  
आदिच्चा नाम गोत्थेन, साकिया नाम जातिया ।  
तम्हा कुला पञ्चजितो (मिह राज) न कामे अभिवत्थयं ॥

—सुत्तनिपाट, २७, १८-१९

अर्थात्, “हिमालय के पार्श्वभाग में कोसल-देश है, वहाँ धन-वीर्य से सम्पन्न कोसल स्वभाव का जानपद राजा है, जिसका गोत्र आदित्य है और जाति शाक्य है। मैं उगी कुल से प्रवर्जित हुआ हूँ, मुझे किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं है।” सिद्धार्थ की ऐसी उच्च जाति जानकर बिम्बिसार ने उन्हें समझा-बुझाकर अपनी सेना में कोई उच्च पद देना चाहा; पर भिक्षु सिद्धार्थ ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि महाराज! मुझे न वस्तु-कामना है, न भोग की इच्छा है। मैं ज्ञान के लिए प्रवर्जित हुआ हूँ, मैं बुद्ध होऊँगा। इसपर राजा

१. कोसल-देश के निवासी कहने से स्पष्ट पता चलता है कि उस समय शाक्य जाति कोसल-देश के अधीन थी।—ले०

२. ‘जानपद’ एक ऐसी संस्था थी, जहाँ से कई जनपदों की देख-रेख की व्यवस्था होती थी। हमारा अनुमान है कि यह ‘जानपद’ आषकल के परगने या थाने की तरह था। मेरे केवल यह था कि परगने या थाने के अधिकारी ऊपर से नियुक्त किये जाते थे; पर जानपद-संस्था के सदस्यों का चुनाव होता था और ये सदस्य ही अपने जानपद-मुख्य (अधिकारी) का चुनाव करते थे। भगवान् बुद्ध का निवासस्थान कपिलवस्तु ऐसा ही एक जानपद था और उसके पिता शाक्य इसी जानपद के कर्मी मुख्य थे। इस संस्था के सदस्यों को भी जानपद कहा जाता था।—ले०

जानपद के सम्बन्ध में ‘म० म० कारीप्रसाद ज्ञानसंघाल’ ने सम्राट् अशोक के मिरनार-शिला-लेख के आधार पर एक जगह लिखा है—“बोधगया की स्था के उपरान्त अशोक ने जानपद संस्था से अपने जेठे पुत्र के सम्बन्ध में वाद-विवाद किया था।” वे दूसरी जगह लिखते हैं—“जिस प्रकार पीर संस्था राजधानी में द्रविड़ों और अनाथों की सेवा करती थी, उसी प्रकार जानपद संस्था भी अपनी सीमा के अन्दर उनकी सेवा करती थी।” फिर तीसरे स्थान पर वे लिखते हैं—“जब राजा अपने मंत्रियों की सभा में राज्य की नीति या मंत्र के सम्बन्ध में वाद-विवाद करता था, तब वे निश्चय राष्ट्र, अर्थात् जानपद के समक्ष उनकी सम्मति के लिए उपस्थित किये जाते थे।” —हिन्दू-राज्यसंघ: दूसरा खंड [ नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी); संवत् १९१६ वि० ] ,

—पृ० १८२, १८३ और १८२



विम्बिसार ने कहा—‘अच्छा महाराज, जाओ। मगर जब बुद्ध हो जाओगे, तब मुझसे भी मिलोगे।’ मिल्नु सिद्धार्थ ने उत्तर में कहा—‘जल्द मिलूँगा।’

ज्ञात होता है कि राजगृह के पार्श्ववर्त्ती श्रमणों, परित्राजकी तथा अन्य तपस्वियों के सिद्धान्त तथा तप से मिल्नु सिद्धार्थ सन्तुष्ट नहीं हो सके और महान् ज्ञान की खोज में, अपने पराक्रम का भरोसा कर राजगृह छोड़ ‘गया’ की ओर चला पड़े।

जिस तरह बिहार-प्रदेश और मगध की राजधानी राजगृह में, गौतम सिद्धार्थ के आने की कारण-रूप तत्कालीन सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि काम गया क्षेत्र में कर रही थी, उसी तरह उनके गया-क्षेत्र में जाने का विशिष्ट कारण यह था ही क्यों? कि उस क्षेत्र की भूमि अपनी पवित्रता और महत्ता के लिए परम प्रसिद्ध थी। सिद्धार्थ गौतम के समय तक गया-क्षेत्र की एक-एक इंच भूमि प्राचीन ऋषि-महर्षियों से सेवित होकर यज्ञ-वेदियों और होम-कुण्डों से पूत हो चुकी थी और जिसे सिद्धार्थ ने अपनी तपस्या तथा बुद्धत्व-लाभ द्वारा और भी महिमान्वित किया। इस क्षेत्र के अक्षयवट, महानदी ( जिसका नाम सरस्वती भी है और जो आजकल ‘मोहना’ कहलाती है ), ब्रह्मसर, घर्मारण्य और मर्तगाश्रम (बोधगया के सामने निरंजना नदी से पूर्व ), धेनुतीथ ( गया-जेल के पास की पहाड़ी ), शृद्धवट, उदयगिरि, जहाँ सावित्री के पद-चिह्न हैं, योनिद्वार (ब्रह्मयोनि-पर्वत), फल्गु-नदी (निरंजना और मोहना जब मिलकर आगे बहती है, तब वही फल्गु कहलाती है), घर्मप्रस्थ, ब्रह्मस्थान आदि ऐसे भूमि-भाग हैं, जिनकी पवित्रता और महत्ता प्रायः सभी पुराणों में वर्णित है। पुराणों के अतिरिक्त इन स्थानों की कीर्ति-कथा ‘महाभारत’ के वन-पर्व में भी कही गई है<sup>१</sup>, जिसमें हमारा गौरव भरा हुआ है। वहाँ ‘ब्रह्मसर’ के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह अनेक देवता और ऋषियों से सेवित और कल्पाणामय सरोवर है—

शिवं ब्रह्मसरो यत्र सेवितं त्रिदशर्षिभिः।

—महा०, वन०, अध्या० ८८, श्लो० ८

यहाँ इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि यदि किसी का एक पुत्र भी ‘गया’ जाय, तो अपने पूर्व और पश्चात् की दस पीढ़ियों तक के वंश का उद्धार कर देता है। यही कारण था कि सिद्धार्थ गौतम के पितामह भी गया में अपने पितरों के उद्धार के लिए गये थे, जिनके सम्बन्ध में यथास्थान उल्लेख किया जायगा। ‘गया के अक्षयवट का मूल कभी किसी काल में नष्ट नहीं होता और जिसकी अक्षयता के गीत सर्वदा ब्राह्मणगण गाता रहता है। इस वृक्ष के पास पितरों के लिए दिये गये अन्न का कभी नाश नहीं होता<sup>२</sup>।’ यही कारण था कि गया की पुण्यभूमि की महिमा सुनकर ही युधिष्ठिर भी अपने भाइयों के साथ यहाँ आये। पाण्डव जब गया-क्षेत्र में आये, तब गया-निवासी ‘शमठ’ नामक ब्राह्मण ने इस

१. महाभारत, वनपर्व, अध्या० ८४, श्लोक ८२ से १०१ तक।

२. ब्रह्मासी कीर्त्यते विम्रेण्जम्बकण्यो वटः।

वृक्षं दत्तं पितृभ्योऽन्नं क्षयं न भवति प्रसी !—महा०, वन०, अध्या० ८८, ११

स्थान के 'अमूर्तरूप गय' नामक राजर्षि की कथा उन्हें सुनाई थी<sup>१</sup>। 'शमठ' ने गय के यज्ञ की प्रशंसा करते हुए कहा—“हे पुरुषोत्तम, गय के यज्ञ में अश्वों के पर्वत लग गये थे, घी के सैकड़ों कुण्ड बन गये थे, दही की नदियाँ बह गई थीं और विविध ज्वंजनों की तो बाढ़ आ गई थी। उस यज्ञ में ब्राह्मणों को दक्षिणा देते समय वेदमंत्रों की जो ध्वनि होती थी, वह स्वर्ग-लोक तक गूँजती थी। उस ध्वनि में सभी प्रकार के शब्द विलीन हो गये थे। यज्ञ में उच्चरित पुरुषमय शब्दों से सारी पृथ्वी, सम्पूर्ण दिशाएँ और आकाश भर गये थे। हे राजन् ! जिस तरह संसार-भर की बालुका-राशि के कणों, आकाश के तारों और बरसते हुए बादलों की धारा-बूँदों की कोई गणना नहीं कर सकता, उसी तरह 'अमूर्तरूप गय' के यज्ञ में दी जानेवाली दक्षिणा की भी कोई गिनती नहीं बतला सकता—

सिकता वा तथा लोके तथा वा दिवि तारकाः ।

यथा वा वर्षतो धाराः असंख्येयाः स्म केनचित् ।

तथा गणयितुं शक्याः गय-यज्ञे च दक्षिणाः ॥

—महा०, वन०, अष्टा० ६४, २०

इतना ही नहीं, उस यज्ञ की कीर्ति के आधार पर एक कहावत बन गई थी, जिसे लोग समय-समय पर गाते हैं—

गयस्य यज्ञे के त्वष्ट प्राणिनो भोक्षुमीप्सवः ।

अर्थात्, संसार का कौन ऐसा प्राणी बच गया है, जो भोजन करना चाहता है, पानी कोई ऐसा नहीं था, जो भोजन कर संतुष्ट न हो गया था। हे राजन्, इतने पर भी यज्ञ में अवशिष्ट अश्वों के पचीस पर्वत रोप रह गये थे—

तत्र भोजनशिष्टस्य पर्वताः पञ्चविंशतिः ।

—तत्रैव, अष्टा० ६५, २५

गया की ऐसी महिमा जानकर ही पाण्डवों ने वहाँ चार महीने तक वास करके 'जातुर्मास्य' यज्ञ किया था, जिससे इस क्षेत्र की महिमा और बढ़ गई थी। युधिष्ठिर के यज्ञस्थान का ही नाम 'धर्मारण्य' है, ऐसा कहा जाता है।

गया-क्षेत्र में सनातन धर्मराज निवास करते हैं और वहाँ सम्पूर्ण पवित्र नदियाँ प्रकट होती हैं<sup>२</sup>। यहीं ब्रह्म-सरोवर के पास 'अगस्त्य ऋषि' वैवस्वत यम से मिले थे<sup>३</sup>। इसीलिए स्वयं सिद्धार्थ जब बोधिवृक्ष के नीचे वज्रासन पर बैठे, तब उन्होंने भी यही कहा—

महामत्तो इदं सध्वबुद्धानं अविजहितं अचलट्टानं किलेस पञ्जरविद्धं सनट्टा-  
नन्ति अत्वा ।<sup>४</sup> इमं पल्लकं भिन्दिस्सामीति ।

१. महा०, वन०, अष्टा० ६५

२. उवाच च स्वयं तत्र धर्मराजः सनातनः ।

सर्वासां सरितां चैव समुद्भेदो विशम्पते ॥—महा०, वन, ६५, २२

३. अगस्त्यो भगवान् ध्रुव गतो वैवस्वतो प्रति ।—तत्रैव ६५, ११

अर्थात् "सभी बुद्धों (जामिनों) से अपरिच्युत महासत्त्वमय यह स्थान है, यही दुःख-पञ्जर-विध्वंसन स्थान है। ऐसा मैं मानता हूँ। ज्ञान प्राप्त किये बिना इस आसन को नहीं छोड़ूँगा।" और, उन्होंने सत्त्वमुक्त इस पवित्र भूमि के प्रसाद से बुद्धत्व प्राप्त कर ही लिया।

हम देखते हैं कि सिद्धार्थ के समय में भी इस क्षेत्र में 'उरुविल्व काश्यप', 'नदी काश्यप' और 'गया काश्यप'—तीन-तीन अग्निहोत्री यशस्विता में ऐसे दत्तचित्त थे कि जिनकी पशु-कीर्त्ति समस्त अंग और भगवत् तक फैली थी। स्वयं सिद्धार्थ के पितामह इस पवित्र भूमि में तीर्थ करने आये थे, जिसे सिद्धार्थ ने अवश्य सुना होगा। इन सारी बातों को ध्यान में रखकर ही राजगृह से अवृत्त सिद्धार्थ, तपस्या और ज्ञान-प्राप्ति के लिए, गया-क्षेत्र की ओर उन्मुख हुए थे।

अब सिद्धार्थ भ्रमण करते तथा गया जिले के 'कुर्किहार' नामक स्थान से होते हुए उरुवेला (बोधगया) पहुँचे। उरुवेला के पास ही 'सेनानिग्राम' नामक एक स्थान था।

भिक्षु सिद्धार्थ को यह स्थान अपनी तपस्या और समाधि के लिए बहुत उरुवेला में ही उपयुक्त प्रतीत हुआ। इस स्थान के प्राकृतिक सौन्दर्य और पवित्रता का बखान बुद्ध ने अपने मुख से किया है। वे कहते हैं—"यह स्थान अनेक रंग-विरंगे वृक्षों और पुष्पों से आच्छादित था। निरंजना नदी की स्वच्छ जलधारा मन्द-मन्द गति से बह रही थी। नदी के दोनों तट-प्रदेश में सुविस्तृत चमकीला बालुकाराशिमय मैदान था। वहाँ मन्द-मन्द बहनेवाला सुखद समीर चित्तप्रसादक था। वह मैदान भ्रमण के लिए आह्लादक था। मित्राटन के लिए चारों ओर ग्राम सुलभ थे।"

भिक्षु सिद्धार्थ ने अपनी तपस्या के लिए इसी स्थान को चुना। बिहार-प्रदेश के इस पवित्र स्थान में 'मोहना' और 'निरंजना' नामक नदियों के संगम पर, नदी के पूर्व, मुंदेश्वरी नामक एक छोटा-सा पर्वत है। यहीं सिद्धार्थ ने कई वर्षों तक कठिन और घोर तपस्या की। मुंदेश्वरी-पर्वत के साथ भगवान् बुद्ध का एक प्राचीन ऐतिहासिक सम्बन्ध भी था, जिसका उल्लेख 'बोधगया इतिहास' नामक पुस्तिका<sup>१</sup> में है। इस ऐतिहासिक कथा के दृश्य बोध-गया मंदिर की वेष्टन-वेदिका (रेलिंग) पर भी उल्कीर्ण हैं। वेष्टन-वेदिका की दक्षिण ओर सोढ़ा पूर्व हटकर यह आज भी वर्तमान है। इस दृश्य की विवरण-कथा के आधार पर ही उक्त पुस्तिका में निम्नलिखित वर्णन किया गया है जिसका सारांश इस प्रकार है—

"मुंदेश्वरी"-पर्वत का नाम पुराणों में 'मुण्डपृष्ठ' है। आजकल इसे हुंदेश्वरी-पहाड़ भी कहा जाता है। इस पर्वत के साथ सिद्धार्थ के सम्बन्ध के विषय में कहा गया है

१. अरियपरिवेसन सुत्तन्त (मज्झिम निकाय—१, ३, ६)

२. लेखक—जगन्नाथदास; प्रकाशक—भगवानदास, बोधगया, सन् १९५६ ई०।

भगवानदास के पिता का नाम जगन्नाथदास था। हम बोधगया में भगवानदास से मिले थे। उन्होंने यह पुस्तिका हमें सेंट में दी थी। इनके कथनानुसार सत्राट्टी बरौकी के काल से इनका वंश बोधगया-मन्दिर में शास्त्र (निर्देशक) का काम करता रहा है। —ले०



कि सिद्धार्थ के पितामह 'अयोधन' जब गया-तीर्थ में आये, तब वे भ्रमणार्थ एक संध्या को घोड़े पर सवार होकर फल्गु नदी को पार करके 'सु' देश्वरी-पहाड़ी की उपत्यका में चले गये। वहाँ अकेले में उन्होंने एक आवाज सुनी और एक अद्भुत आकृतिवाली नारी-मूर्ति देखी। उसका मुँह तो अश्व-जैसा था; पर सारा शरीर एक सुन्दरी नारी का था। वस्तुतः, वह एक किन्नरी थी। अपनी माया में वह कुछ बोल रही थी, जिसे 'अयोधन' समझ नहीं पा रहे थे, किन्तु उसके हाव-भाव से उन्होंने समझा कि वह मेरे साथ रमण करना चाहती है। अयोधन डर से काँपने लगे। उनकी आवाज बन्द हो गई। उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा था कि इतने में उन्होंने उस नारी-मूर्ति से कुछ मिलती-जुलती एक पुरुष-मूर्ति भी देखी, जो कुछ गज की घुरी पर सामने खड़ी थी। उसकी आकृति भी अजीब थी। उसका मुँह तो पुरुष का था, पर सारा शरीर घोड़े के शरीर-जैसा था। इसके पैर भी घोड़े के थे। वह पुरुष-आकृति अपनी भयंकर बाणों से सम्पूर्ण वन्य-प्रदेश को कंपाती-सी बोल रही थी, जिसे अयोधन ने सुना। पर, इस बार भी वे कुछ समझ न सके। उनके शरीर से पसीना छुटने लगा। इतने में 'अयोधन' ने देखा कि पुरुष-मूर्ति की आवाज सुनते ही वह नारी-मूर्ति जंगल में चली गई और बाद में वह पुरुष भी गायब हो गया। इसके बाद 'अयोधन' वहाँ से लौट आये। बोधगया की वैद्यन-वेदिका पर किन्नरी के साथ 'अयोधन' को दिखाया गया है और दूसरी जगह किन्नर को दिखाया गया है।

उक्त घटना की विशेषता उस समय 'अयोधन' कुछ नहीं समझ सके; किन्तु बाद में उन्हें मालूम हुआ कि मेरे वंश में कोई स्वर्गदेवता जन्म लेगा, जो इस पहाड़ी पर आकर तपस्या करेगा।

'मज्झिम निकाय' के 'सिंहनाद सुत्तन्त' में भगवान् बुद्ध ने सु' देश्वरी-पर्यन्त की अपनी कठिन तपस्या के सम्बन्ध में अपने सर्वश्रेष्ठ शिष्य 'सारिपुत्र' से कहा था—“मैं उस कठिन तपश्चर्या में इस तरह रत हुआ कि शरीर पर का सारा वस्त्र उतार फेंका। मैं बिलकुल नंगा रहने लगा। लौकिक आचार-विचार सभी त्याग दिये। किसी भी व्यक्ति का निमंत्रण नहीं स्वीकार करता। एक घर से सात घर तक घूम-घूमकर केवल एक-एक घास माँग कर लाता और उसी पर जीवन-निर्वाह करता। पीछे चलकर इसे भी छोड़ दिया और शाक, साँवा, तथा पान खाने लगा। बाद में इसे भी त्यागा और जला हुआ अन्न, रास्ते पर फेंका चमड़ा, गाय का गोबर, बकरियों की मींसी (लेंड़ी) आदि मेरे आहार हो गये। पटुआ, मृगचर्म, टाट, और मनुष्यों के बाल का बना कम्बल मैंने वस्त्र के रूप में स्वीकार किया। मैं दाढ़ी और मूँछ के वालों को हाथों से नोच देता था। उकड़ू बैठकर तपस्या करता तथा काँटों पर सो जाता था। यह सब मेरी तपस्या की ही पद्धति थी। हे सारिपुत्र, मेरी अवस्था ऐसी हो गई कि मैं उठ-बैठ नहीं सकता था। उठने का प्रयास करने पर बार-बार गिर पड़ता था। मेरे मल-मूत्र बिलकुल रुक गये। फिर भी इन सारी कठिन तपस्याओं से कुछ भी लाभ नहीं हुआ।” मिच्छु सिद्धार्थ ज्ञान के भूले रह ही गये।



उपर्युक्त वर्णनों में भगवान् बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य 'सारिपुत्र' से वही कहा है कि शरीर को व्यर्थ कष्ट देनेवाले वे सारे तप निष्प्रयोजन हैं, इनसे कोई लाभ नहीं होने का। उन्होंने इस वर्णन के द्वारा इस बात को और भी इंगित किया है कि राजगृह में इस तरह की तपस्या करनेवाले जितने तपस्वी थे, वे व्यर्थ ही शरीर को कष्ट देते थे। साथ ही इससे यह भी पता चलता है कि यह कठिन तपस्या बुद्ध ने राजगृह के तपस्वियों की देखा-देखी ही की थी, जिससे उन्हें कोई लाभ होता नहीं दिखाई दिया। भिच्छु सिद्धार्थ अन्त में इन सारी तपस्याओं को भंग करके यथावत् मनुष्य की स्थिति में रहने लगे और इसी अवस्था में समाधि साधने लगे।

थोड़े दिनों के बाद ही बिहार-प्रदेश की इस पवित्र भूमि में सिद्धार्थ के साथ दो घटनाएँ ऐसी घटीं, जिनसे सिद्धार्थ को महान् ज्ञान (बुद्धत्व) का लाभ हो गया। इनमें एक घटना तो श्री सेनानिग्राम के कृपकपति की कन्या सुजाता का पायस-भोजन-दान और दूसरी घटना थी 'श्रोत्रिय' नामक पसियारे का आठ मुष्टी तृण-दान। भिच्छु सिद्धार्थ के कठिन तपः-काल में पाँच भिच्छुक इनकी सेवा में इसलिए लगे रहते थे कि सिद्धार्थ अब शीघ्र महाज्ञान प्राप्त कर लेगा और तब हमलोग भी ज्ञान-लाभ कर लेंगे। पर, जब उन्होंने देखा कि सिद्धार्थ ने तपोभंग कर दिया और भिक्षाटन करके अपना जीवन-यापन करने लगा, तब उन्होंने सिद्धार्थ को तपोभ्रष्ट जानकर उनका साथ छोड़ दिया। वे पाँचों भिच्छु तपस्या करने के लिए श्रुषिपत्तन मृगदाव (सारनाथ के जंगल) में चले गये। इसी समय सेनानिग्राम के कृपकपति की कन्या 'सुजाता' ने अपनी मनौती उतारने के लिए पायस का निर्माण कराया। सुजाता ने ग्रामदेवता के रूप में अपने ग्राम के पुराने बट-वृक्ष की मनौती मानी थी कि "हे बट-देव ! यदि मेरे प्रथम गर्भ से पुत्र पैदा होगा, तो तुम्हें एक लाख के खर्च से एक विशेष प्रकार का पायस तैयार कराके चढ़ाऊँगी।" इस मनौती के अनुसार 'सुजाता' का मनोरथ उस समय तक पूरा हो गया था। उसने अपने बलिकर्म के लिए—"पहले हजार गायों को पश्चिममुख में चरवाकर उनका दूध दूसरी पाँच सौ गायों को पिलावाया। फिर, उनका दूध ड़ाई सौ गायों को, इस तरह एक का दूध दूसरे को पिलाते, सोलह गायों का दूध आठ गायों को पिलावाया। इस प्रकार, दूध का गाढ़ापन, मधुरता और ओज बढ़ाने के लिए उसे क्षीर रूप में परिवर्तित किया। उसने वैशाख-पूर्णिमा के प्रातः ही बलिकर्म करने की इच्छा से प्रभात में ही उठकर उन आठ गायों को बुहवाया। बछड़ों ने गायों के थनों में मुँह नहीं लगाया। थनों के पास नवीन बरतनों को लाते ही क्षीर-धारा अपने-आप निकलने लगी। उस आश्चर्य को देख, सुजाता ने अपने ही हाथों दूध को लेकर नवीन बरतन में डाल, अपने ही हाथों से आग जलाकर पायस पकाना आरम्भ किया। उस क्षीर के पकते समय उसमें

१. सर्वे समजासिक्कं कुलधरं गन्त्वा पठमगम्भी पुत्तं लभिस्सामि अनुसंवच्छरं ते सतसहस्रपरि-  
भागेन बलिकम्मं करिस्सामीति । —जातकहु-कथा, ५४, ६०-६१

बड़े-बड़े बुलबुले उठकर दक्षिण की ओर संचार करते थे। एक बुलबुला भी बाहर नहीं गिरता था।”

इस प्रकार सुजाता ने जिस दिन पायस तैयार किया, उस दिन वैशाख मास की पूर्णिमा तिथि थी। उस दिन अति प्रभात में ही भिक्षु सिद्धार्थ उसी वट-वृक्ष के नीचे समाधि के लिए आकर बैठे। सुजाता ने बलिकर्म चढ़ाने के पहले अपनी दासी ‘पूर्णा’ को वट-देव के मूल-भाग को साफ-सुधरा करने के लिए भेजा। पूर्णा जब वट के मूल को साफ करने वहाँ आई, तब वट-मूल में भिक्षु को ध्यानमग्न देखकर वह आश्चर्य में पड़ गई। उसने समझा कि मेरी मालकिन से प्राप्त होनेवाली बलि को लेने के लिए साक्षात् वट-देवता साकार रूप धारण कर बैठे हुए हैं। पूर्णा ने दौड़कर सुजाता को यह समाचार दिया कि आज आपकी बलि लेने के लिए साक्षात् देवता प्रकट हो गये हैं। दासी की बात सुनकर जल्दी-जल्दी सुजाता स्वर्ण-शाल में पायस भरकर सीमाग्यवती कुल-घट्टू की वेश-भूषा में सखियों के साथ वट-देवता के पास आई और देवता के आगे पायस-थाल रखकर पायस-भोजन के लिए प्रार्थना करने लगी। भिक्षु सिद्धार्थ ने समाधि से अपने मन को हटाकर उसकी प्रार्थना के अनुसार पायस-थाल ग्रहण कर लिया। वे पायस-थाल लेकर निरंजना नदी के तट पर चले गये और वहाँ पूर्वामुख होकर पायस का ४६ ग्राम भोग किया तथा स्वर्ण-थाल को नदी की धारा में फेंक दिया। कहते हैं कि इस पायस के भोजन करते ही सिद्धार्थ को एक अद्भुत तेज, शक्ति तथा स्फूर्ति प्राप्त हुई।

सिद्धार्थ ने सुजाता का पायस-भोजन, ईसा के जन्म-काल से ५८८ वर्ष पहले वैशाख-पूर्णिमा के दिन की प्रथम बेला में किया<sup>१</sup>। तपस्वी सिद्धार्थ ने सेनानिग्राम से चलकर उरु-विल्व में ‘ओत्रिय’ नामक घसियारे से बैठने के लिए उसी दिन की संन्या में आठ मुष्टी तृण-दान लिया। समाधि के लिए उपयुक्त स्थान को खोजते और तृण लिये, भिक्षु सिद्धार्थ उस संन्या को, बोधि-वृक्ष (पीपल-वृक्ष) के नीचे गये। वे उस स्थान को उचित जानकर ‘ओत्रिय’ घसियारे के दिये तृण को बिछाकर वृक्ष के नीचे बैठ गये। उस समय सिद्धार्थ ने संकल्प किया—“यह सभी बुद्धों से अपरित्यक्त स्थान है। यही दुःख-संसार के विन्वसन का स्थान है। चाहे मेरा चर्म, हड्डी, नसें क्यों न शेष रह जायें, मेरा मांस-रक्त ही क्यों न सूख जाय; पर बिना सम्यक् सम्बोधि प्राप्त किये इस आसन को नहीं छोड़ूँगा।” इसी स्थान को बौद्धग्रन्थों में ‘वज्रासन’ कहा गया है।

बिहार-प्रदेश के इस पवित्र स्थान के सम्बन्ध में चीनी यात्री ‘ह्वेनसांग’ ने लिखा है—“यह स्थान विश्व के मध्यभाग में स्थित है। इसका मूलभाग पृथ्वी के मध्य में सीने के एक चक्के से टँक गया है। सृष्टि के आरम्भ में इसकी रचना भद्रकल्प में होती है। इसे वज्रासन,

१. जातकनिदान-कथा (अनुवादक—भरत आनन्द कौसल्यासन) —पृ० ८६

२. इस समय का निद्वारण प्रामाणिक ग्रन्थों में उल्लिखित बुद्ध-जन्म-तिथि, महाभिनिष्क्रमण-तिथि और बुद्धत्व-प्राप्ति-तिथि के अनुसार किया गया है।—ले०

इस हेतु कहते हैं कि यह ध्रुव है, नाश-रहित है और सारी पृथ्वी का भार इस पर है। यदि यह न होता, तो पृथ्वी स्थिर नहीं रह सकती। वज्रासन के अतिरिक्त संसार में दूसरा कोई आधार नहीं है, जो वज्रसमाधिस्थ को धारण कर सके।”

बिहार-प्रदेश के इस वज्रासन की महिमा जातक—४७६ में भी वर्णित है। उसके अनुसार एक बार ‘महामौदगल्यायन’ के द्वारा ‘बोधगया’ से लाया गया बोधि-वृक्ष का बीज, आवस्ती में लगाया गया। जब वह बीज वृक्ष-रूप में परिणत हुआ, तब ‘आनन्द’ ने तथागत बुद्ध से कहा—‘भन्ते ! आपने बोधिवृक्ष के नीचे जो ध्यान लगाया था, वही ध्यान जनता के हित के लिए इस आवस्तीवाले बोधि-वृक्ष के नीचे लगावें।’

तथागत ने आश्चर्य के साथ कहा—‘क्या कहता है आनन्द ! वही ध्यान लगाकर बैठने पर अन्य कोई भी प्रदेश उस ध्यान का सहन नहीं कर सकेगा।’

इससे बढ़कर वज्रासन की महिमा का वर्णन और क्या हो सकता है, जिसके सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध ने स्वयं ऐसा कहा है।

इसी तरह एक दूसरे प्रसंग में कहा गया है कि एक बार ‘चूल कालिंग’ का पुत्र, जिसकी राजधानी दन्तपुर ( उड़ीसा ) में थी, बड़े ठाट-बाट से अपने परिजनों और गुरुजनों के साथ हाथी पर चढ़कर अपने पिता से मिलने जा रहा था। उसका पिता साधु होकर कहीं गंगा के किनारे ( काशी से पश्चिम ) रहता था। यह रास्ता उड़ीसा से ‘बोधगया’ होता हुआ ‘अवन्ती’ की ओर जाता था<sup>१</sup>। इस रास्ते से जब उस राजा का हाथी बोधिमंडप के पास पहुँचा, तब वह लाख प्रयास के बाव भी बोधिमंडप की भूमि से होकर नहीं पार कर सका। यह वहाँ रुक गया। अंकुरा की मार से भी वह टस-से-मस नहीं हुआ। इसके बाद राजा का ‘कलिंग भारद्वाज’ नामक पुरोहित, उस स्थान की परीक्षा करने, अपनी सवारी से उतरा। इधर-उधर निरीक्षण करने के बाद उसने देखा कि मंडप के बीच भाग में घास नहीं जमी है और वहाँ चाँदी के तख्ते की तरह चमचमाती बालुका-राशि बिखरी हुई है। उस स्थान के चारों ओर वनस्पतियाँ प्रदक्षिणा करती हुई हाथ जोड़े मुड़ी हैं। पुरोहित ने तुरत समझ लिया कि यह स्थान सभी बुद्धों से सेवित और श्लेशों का नाश करनेवाला है। हाथी तो क्या, शक आदि देवता भी इसके ऊपर से नहीं जा सकते हैं।

पुरोहित ने राजा से हाथ जोड़कर कहा—‘महाराज, हाथी से उतरें। यह वह सर्वप्रशंसित भूमिभाग है, जहाँ बैठकर ऋषियों ने प्रकाश प्राप्त किया है। इस मंडप की प्रदक्षिणा करती हुई-सी तृण-लताएँ घेर कर खड़ी हैं। महाराज, हाथी से उतरकर इस

१. सुयेनचंवांग : ( जगन्मोहन बर्मो, पृ० सं० १६८० वि० ) —पृ० ११०

२. उड़ीसा के दो व्यापारी, जिनका नाम ‘तपस्सु’ और ‘भल्लिक’ था, इसी मार्ग से पश्चिम की ओर जा रहे थे, जिसकी भेंट ‘उरुविल्व’ में बुद्ध से हुई और वे उनके शिष्य हो गये। इसके अतिरिक्त इसी महापथ से ‘खारवेल’ ने उड़ीसा से चलकर ‘धोरधगिरि’ ( गृध्रगिरि = गुरुवा पहाड़ ) होते हुए पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया था।—ले०



भूमि को नमस्कार करें। जो उत्तम वंश के हाथी होंगे, वे इसके ऊपर से कदापि नहीं जा सकेंगे। क्या आपने यह नहीं सुना है कि सर्वभूतों को धारण करनेवाली और सागर-पर्यन्त विस्तृत मेदिनी का यह स्थान, मण्डपस्थान है। अतः राजगज से उतरकर इसके आगे श्रीमान् मस्तक झुकावें।'

इतना सुनकर उस स्थान की परीक्षा लेने के लिए राजा ने फिर हाथी को अश्वश मारना शुरू किया। वह हाथी वज्र-अश्वश की मार खाते-खाते, अन्त में, क्षिप्राई मारकर वहीं गिर गया और मर गया; पर आगे एक डग नहीं बढ़ा। तब राजा ने उस स्थान की महिमा जानी और उतरकर उसकी अर्चा-पूजा की<sup>१</sup>। अतः अपनी सिद्धि के लिए सिद्धार्थ का, ऐसे महिमामण्डित भूमि-भाग का, चुनाव करना उनकी दूरदर्शिता का परिचायक था।

ऐसे बौध्वृक्ष के नीचे सिद्धार्थ जब आसन जमाकर समाधिस्थ हुए, तब उनके शरीर से मार के लोक की आलोकित करनेवाला आलोकपुंज विकीर्ण होने लगा, जिसकी प्रखर किरणें मार का स्पर्श करने लगीं। उन किरणों के स्पर्शमान से मार व्याकुल हो उठा।

उसने तत्काल अपने सेनापतियों का आह्वान किया। मार के स्मरण करते ही भयंकर-भयंकर आकुंठितवाले यक्ष, राक्षस, पिशाच, कुभांड और उरग उपस्थित हो गये। मार ने उन्हें समाधिस्थ गौतम को परास्त करके समाधि-भंग कर देने की आज्ञा दी। अपनी सारी सेना को साथ लेकर, सिद्धार्थ गौतम से युद्ध करने के लिए, उनके सामने वह स्वयं उपस्थित हो गया। उसने गौतम के साथ घनघोर युद्ध आरंभ कर दिया, किन्तु गौतम अपनी समाधि में लीन ही रहे, जरा भी विचलित नहीं हुए। मार के सेनापति—इंद्र, पापाण और भिन्न-भिन्न तरह के शस्त्रास्त्र फेंकने लगे। उनके द्वारा फेंके गये भारी-भारी शिला-खण्ड बौध्वृक्ष की शाखाओं पर भूल जाते, और एक भी गौतम के शरीर का स्पर्श नहीं कर पाता। बल्कि मार और उसके सेनापतियों द्वारा अस्त्र-शस्त्र फूल बनकर गौतम पर बरसने लगे। मार के सारे उपद्रव विफल हो गये। गौतम समाधि में अन्त तक लीन ही रहे। अपने युद्ध के सारे प्रयत्न विफल देखकर मार ने अनेक सुन्दरी अप्सराओं को स्मरण करके बुलाया और गौतम को रिक्ताकर ध्यान-भंग करने के लिए कहा। वे षोडशी अप्सराएँ अपने नाना विलास-विभ्रमों से गौतम को रिक्ताने का प्रयास करने लगीं और उन्होंने नृत्य-गीत प्रारम्भ किया। किन्तु उन रूपवती अप्सराओं की भी मधुर स्वर-सहरी, मीठे वाक्य और नृत्य विफल हो गये। अपने नाना विलास-विभ्रमों की व्यर्थ होते देखकर वे अत्यन्त परेशान होने लगीं। उन्हें परेशान देखकर गौतम ने समझाया—'इन्द्रिय-भोगों का दुष्परिणाम और भयंकर होता है। वे सारे सांसारिक सुख क्षणिक हैं और ये ही सुख बार-बार जन्म धारण करने और दुःख भोगने के कारण हैं।'

अन्त में वे अप्सराएँ अपनी गलती स्वीकार कर, गौतम का अभिवादन कर लौट



गई। मार भी हारकर सिद्धार्थ गौतम के चरणों पर गिरता हुआ क्षमा-प्रार्थी हुआ। तभी से भगवान् बुद्ध का नाम 'मारजित' और 'लोकजित' पड़ा।

मार-बुद्ध एक प्रतीक है। इसका तात्पर्य है कि भगवान् बुद्ध को काम-वासना, भय, विविध तृष्णाएँ उस समय सताने लगीं; पर उन सबपर उन्होंने विजय पाई—अपने उद्देश्य से वे विचलित नहीं हो सके। इसलिए कला में तपस्या-रत बुद्ध के आगे कुछ राक्षसों को और नृत्य-रत अप्सराओं को तथा विकार-रहित आकृति के साथ अविचलित भाव में तपस्यालीन बुद्ध को बैठे दिखलाया गया है।

मार-विजय के बाद सिद्धार्थ गौतम ने इसी स्थान पर, रात के तीन बामों में से प्रथम तृतीयंश में अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान अर्जित किया, मध्यम याम में दिव्य-चक्षु प्राप्त किया और अन्तिम याम में 'प्रतीत्य-समुत्पाद' का ज्ञान लाभ कर लिया। प्रतीत्य-समुत्पाद का

ज्ञान ही परम ज्ञानवाला मोक्ष-ज्ञान है, जिसके लिए सिद्धार्थ प्रयत्नित हुए थे।  
**बुद्धत्व-प्राप्ति** और जिसके पीछे दर-दर की खाक ज्ञानते फिरते थे। प्रथम अभिसम्बोधि को प्राप्त कर लेने पर वे उस पवित्र बोधिवृक्ष के नीचे सप्ताह-भर बैठकर मोक्ष-ज्ञान का आनन्द लेते रहे<sup>१</sup>। रात को फिर 'प्रतीत्य-समुत्पाद' को अतुलीम-विलीम करके उन्होंने चार 'आर्यसत्य' की जान लिया। बौद्ध-साहित्य में ये चार आर्यसत्य इस प्रकार हैं—  
 (१) तृष्णा-जनित दुःख है, अतः दुःख सहेतुक है; (२) जबतक दुःख का हेतु रहेगा, दुःख होगा ही; (३) हेतुरूपी तृष्णा के नाश होने पर समुदय-जनित सारे म्लेश भी नष्ट हो जायेंगे और (४) तृष्णा-रूपी हेतु के नाश के उपाय अष्टाङ्गिक मार्ग हैं, जिनके अभ्यास तथा आचरण से हेतु का नाश अवश्य-मात्री है।

उपपुक्त अष्टाङ्गिक मार्गों के नाम इस प्रकार हैं—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् जीवन, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि<sup>२</sup>। इसी वस्तु के ज्ञान का नाम मध्य-मार्ग है और इसी मध्य-मार्ग का उपदेश भगवान् बुद्ध ने अपने पंचवर्गीय शिष्यों को प्रथम-प्रथम 'श्रुति-व्युत्पन्न' में दिया था, जिसे सारा संसार 'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन' के नाम से जानता है।

इस प्रकार, सिद्धार्थ गौतम ने बिहार-प्रदेश के 'उरुवेला' की पवित्र भूमि में, उस बोधिवृक्ष के नीचे, बिहार की कृपक-कन्या का वायस खाकर और 'श्रोत्रिय' घसियारे के दिये तृण पर बैठकर वैशाख-पूर्णिमा की चाँदनी में, बुद्धत्व प्राप्त कर लिया। उस रात को सिद्धार्थ गौतम के जन्म-जन्मान्तर की तृष्णा का छेदन हो गया, उनके सारे चित्त-क्लमष का एक ही भटके में प्रक्षालन हो गया और उन्होंने भगवान् बुद्ध के रूप में परमव्योतिःस्वरूप नवीन जन्म धारण किया। शाक्यकुलोत्पन्न सिद्धार्थ गौतम का जन्म मले ही लुम्बिनी की भूमि में हुआ;

१. अथ खी नगवा बोधिरूक्कमूले सत्ताई पक्कल्लहेन मिसीदि, विमुत्तिस्सुखं परिसंवेदी।

—महावग्गो ( महासङ्घक ) १, १, १

२. दृष्टव्यं—सङ्ग-संयुक्तवग्ग—२; और ललित-विस्तर —अ० ३६

किन्तु भगवान् बुद्ध का जन्म तो बिहार की पवित्र भूमि 'बोधगया' में ही हुआ<sup>१</sup>, जिसका प्रकाश आज भी सम्पूर्ण संसार को अपने अखण्ड-व्योतिःपुंज से उद्भासित कर रहा है। वन्य है वह भूमि, जहाँ ऐसा ज्ञान-दीप जला और जिसका प्रकाश कभी बुझनेवाला नहीं है।

'विनय-पिटक' के 'महावग्गो' के प्रथम भाष्यवार में ही लिखा है कि भगवान् बुद्ध सप्ताह-भर बोधि-वृक्ष के नीचे ही महाज्ञान-प्राप्ति के द्वारा उपलब्ध विमुक्ति का आनन्द लेते रहे। आठवें दिन वहाँ से उठकर, बोधि-वृक्ष से कुछ दूर, थोड़ी उत्तर दिशा को लिये पूर्व दिशा में खड़े होकर, निर्निमेष नेत्रों से सप्ताह-भर उस बोधि-वृक्ष और वज्रासन को निहारते रहे तथा विमुक्ति के आनन्द में डूबे रहे। भगवान् बुद्ध जिस स्थान पर खड़े होकर बोधि-वृक्ष को देखते रहे, उस स्थान का नाम 'अनिमेष चैत्य' पड़ा। तीसरे सप्ताह का प्रारंभ होने पर भगवान् ने उस अनिमेष चैत्य और वज्रासन के बीच, पूर्व से पश्चिम की ओर, टहलते-टहलते विमुक्ति का आनन्द लेते हुए सप्ताह बिताया। इसलिए उस स्थान का नाम 'रत्नचक्रम चैत्य' पड़ा।

सात सप्ताह तक  
विमुक्ति का  
आनन्द

इसी समय मार ने भगवान् के सामने उपस्थित होकर प्रार्थना की कि भगवान्, आप अब महाकाल को प्राप्त कर जायें। इसपर बुद्ध भगवान् ने कहा—'नहीं, अपना ज्ञान मुझे अभी अपने शिष्यों को भी देना है।' ऐसा उत्तर सुन बेचारा मार अत्यन्त खिन्न होकर लौट गया। चौथे सप्ताह में देवताओं ने 'रत्नचक्रम चैत्य' से पश्चिम रत्नग्रह बनवाया, जहाँ भगवान् सप्ताह-भर बैठकर अभिधर्म पर विचार करते रहे। उसी समय से वह स्थान 'रत्नधर चैत्य' नाम से अभिहित हुआ<sup>२</sup>।

इस प्रकार भगवान् बुद्ध चार सप्ताह तक विमुक्ति का आनन्द लेकर, पाँचवें सप्ताह में उस 'अजपाल' घट वृक्ष के नीचे पुनः विमुक्ति-आनन्द लेने के लिए पहुँचे, जहाँ सुजाता ने उन्हें पायस का भोजन कराया था। वहाँ एक ही आसन पर बैठे रहकर बुद्ध विमुक्ति का आनन्द लेते रहे। इसी समय एक अमिमानी ब्राह्मण ने बुद्ध से ब्राह्मण बनानेवाले धर्म का प्रश्न पूछा था। पाँचवें सप्ताह के बीतने पर भगवान् विमुक्ति के आनन्द के लिए 'मुचलिनद' वृक्ष के नीचे गये और वहाँ भी बैठकर मोक्ष का आनन्द उन्होंने लिपा। इसी मुचलिनद के नीचे भगवान् बुद्ध को भर्षकर आँधी-पानी का सामना करना पड़ा, जहाँ एक नागराज ने, अपने फण को तानकर, बुद्ध की रक्षा की। नागराज वहाँ एक पुष्करिणी में निवास करता था। छठा सप्ताह 'मुचलिनद' वृक्ष के नीचे व्यतीत कर भगवान् बुद्ध 'राजायतन' वृक्ष के नीचे गये और वहाँ भी एक आसन पर बैठकर सप्ताह-भर विमुक्ति का आनन्द लेते रहे। इस प्रकार सात सप्ताह विमुक्ति का आनन्द लेते हुए उन्होंने बोध-गया (उरुबिल्व) की इंच-इंच भूमि को पवित्र किया।

१. ततः कर्त्तुं सम्प्रवृत्ते सम्मोहाद् सुरद्विषाम्।

बुद्धो नाम्ना विनम्रतः कीकटेषु भविष्यति ॥—श्रीमद्भागवत-१, ३, २४

२. 'अट्टकमा'—द्रष्टव्य 'विनयपिटक' (म० प० राजल सांस्कृत्यान) —५०-७७ की टिप्पणी।

अजपाल वृक्ष के नीचे बकरी (अजा) पालनेवाले (चरानेवाले) अजा लेकर बैठते थे, इससे उस वटवृक्ष का नाम अजपाल पड़ा था। यह बोधिवृक्ष से पूर्व दिशा में था। बोधिवृक्ष से पूर्व-दक्षिण कोण में मुचलिनन्द वृक्ष था और उससे दक्षिण दिशा में स्थित राजापतन वृक्ष था, जहाँ एक पुष्करिणी थी<sup>१</sup>। इस पुष्करिणी का वर्णन 'महावग्गी' ने भी किया है।

इस प्रकार, भगवान् बुद्ध ने बोधगया की चण्डान्वृक्षा भूमि का पर्यटन करके अथवा बैठ करके पवित्र बनाया और स्वयं वहाँ विमुक्ति का महा आनन्द उठाया। बिहार-प्रदेश के उस बोधिवृक्ष तथा वज्रासन की महिमा इसी से समझना चाहिए, जिसे भगवान् बुद्ध वर पर खड़े होकर, एक सप्ताह तक, एकटक निहारते रह गये थे और उन्हें देखते हुए महा आनन्द प्राप्त करते रहे थे। इसी स्थान पर 'अग्निमेष मन्दिर' का निर्माण अशोक की रानी 'काण्वकी' ने कराया था, जिस स्थान पर अब भी एक मंदिर खड़ा है।

राजापतन वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध जब विमुक्ति का आनन्द ले रहे थे, तभी बिहार-प्रदेश की भूमि के अनुकूल एक और ऐसी घटना घटी, जो संसार को दुर्लभ रही। 'महावग्गी' में मिलता है कि जब बुद्ध राजापतन वृक्ष के नीचे थे, तभी उड़ीसा-प्रदेश के दो सार्धवाह, जिनका नाम 'तपस्सु' और 'मल्लिक' था, वहाँ आये। उन्होंने भगवान् बुद्ध को मट्ठा और गुड़ के लड्डू खाने के लिये दिये। भोजन के बाद भगवान् बुद्ध को प्रसन्न देख कर सार्धवाहों ने प्रार्थना की—'भगवन्, हम दोनों ही भगवान् तथा धर्म की शरण में आना चाहते हैं।' भगवान् ने उसी समय उन दोनों को अपनी और धर्म की शरण में ले लिया। संसार में वही दोनों दो वचनों से प्रथम उपासक हुए<sup>२</sup>। पीछे चलकर इन दोनों शिष्यों की गणना भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्यों में हुई<sup>३</sup>। इस बात से सिद्ध है कि बुद्ध ने इसी बिहार की भूमि में सर्वप्रथम धर्म का उपदेश किया और शिष्य भी बनाया। इस तरह प्रथम धर्मचक्र का प्रवर्तन भी 'उरुवेला' में ही हुआ था।

उरुवेला की एक और घटना ऐसी है जो महत्त्व की है और बिहार की विशेषता सिद्ध करनेवाली है। भगवान् बुद्ध जब 'अजपाल' वृक्ष के नीचे बैठकर विमुक्ति का आनन्द ले रहे थे, तब उनके मन में आया था कि 'बड़े कष्ट और घोर तपस्या के बाद जिस ज्ञान का अर्जन मैंने किया है, उसका आनन्द मैं अकेले ही क्यों न उठाऊँ ? उपदेश देने की संकल्प अपने सर पर क्यों लूँ ?' ठीक उसी समय उस प्रदेश का एक बड़ा ब्राह्मण भगवान् बुद्ध के पास आया और जगत् के कल्याण के निमित्त, उन्हें अर्जित ज्ञान का उपदेश देने के लिए, उसने समझाया। उसी ब्राह्मण की प्रेरणा से बुद्ध ने ज्ञान-प्रचार करने का संकल्प किया। बौद्ध-ग्रन्थों में उस ब्राह्मण को साक्षात् ब्रह्मा कहा गया है और 'सहापति' नाम से वह अभिहित हुआ है। पर ऐसी कल्पना बुद्ध-भक्तों की है, जिसे ब्रह्मा बतलाकर बुद्ध की महिमा बढ़ाई

१. विनय-पिटक—तज्जैव, पृ० ७७ की टिप्पणी।

२. ते व लोके पठम उपासका अवेसुं देवे वाचिका।—महावग्गी १, १, ४, ५

३. अंगुत्तर-निकाय—१, २, १—७



गई है। वस्तुतः तो वह बड़ा ब्राह्मण उमवेला (बोधगया) अंचल का निवासी रहा होगा, जिसकी जन्मभूमि का श्रेय बिहार-प्रदेश को है।

ब्राह्मण की प्रार्थना के बाद भगवान् बुद्ध ने प्रथम ज्ञान देने का उपयुक्त पात्र 'आराव-कालाम' और 'उद्दक रामपुत्र' को समझा। पर उसी ब्राह्मण ने यह भी उन्हें बतलाया कि वे दोनों दार्शनिक संसार से विरा हो गये। इसके बाद भगवान् बुद्ध ने अपने उन पाँच शिष्यों को उपदेश देने की ठानी, जिन्होंने उन्हें तपोभ्रष्ट जानकर झोड़ दिया था और पाँचों श्रुतिपित्तन (सारनाथ) के जंगल में तपस्या करने चले गये थे। इन पाँचों के नाम 'महावग्गो' में इस प्रकार दिये गये हैं—कौण्डिन्य, वाप्प, भद्रिक, महानाम और अश्वजित्।

त्रिपिटकों में 'सुत्तपिटक' के पाँचवें भिकाय का नाम 'खुद्दक भिकाय' है। 'खुद्दक भिकाय' में १५ ग्रन्थ हैं, जिनमें एक का नाम 'धेरीगाथा' है। 'धेरीगाथा' में तिहत्तर भिक्षुशिष्यों के उद्गार हैं। इन भिक्षुशिष्यों में 'चापा' नामक एक भिक्षुणी का वृत्तान्त मिलता है। इसमें वर्णित घटना के अनुसार 'श्रुतिपित्तन' जाते समय भगवान् बुद्ध को रास्ते में 'बंकहार' प्रदेश मिला था, जहाँ 'उपक' नाम के एक आजीवक से उनकी भेंट हुई। 'उपक' ने भगवान् बुद्ध को संन्यासी-वेश में देखकर पूछा—'तुम्हारा गुरु कौन है? तुम किसके उपदेश में आस्था रखते हो?' बुद्ध ने उत्तर दिया—'मेरा गुरु कोई नहीं है। मैं सर्व-विजयी और सर्वज्ञानी हूँ। मैं धर्मचक्र-प्रवर्तन करने वाराणसी जा रहा हूँ।' बुद्ध की ऐसी गर्व-भरी वाणी सुनकर आजीवक 'उपक' ने ताना मारते हुए कहा—'होओगे आवुस'। अच्छी बात है। जाते हो तो जाओ।' इसना कहने के बाद उपक 'बंकहार' जनपद की ओर चला गया। वहाँ इसने एक ध्यात्र-सरदार की 'चापा' नामक कन्या से विवाह कर लिया। पीछे दोनों (पति-पत्नी) बौद्धधर्म में प्रसजित हुए। 'चापा' एक प्रसिद्ध-भिक्षुणी हुई।

'ललित-विस्तर' ग्रन्थ के १६वें अध्याय में उल्लिखित वर्णन से पता चलता है कि 'बोधगया' से 'श्रुतिपित्तन' जाते समय भगवान् बुद्ध गया, नाहाल, बुन्दविकर, लोहितवस्तु<sup>१</sup>, गन्धपुर और सारथिपुर होते वाराणसी गये। मेरी समझ में ये स्थान बिहार-प्रान्त के गया और शाहाबाद जिले में होंगे। इस ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए। क्योंकि, सारनाथ बिहार की पश्चिमी सीमा से कुछ ही दूर है और जातक-कथा में उल्लिखित १८ योजन में से लगभग १६ योजन का मार्ग बिहार के उक्त दो जिलों में ही पड़ता है।

'महावग्गो' इस बात का स्पष्ट उल्लेख करता है<sup>२</sup> कि 'उपक' से भगवान् बुद्ध की मुला-

१. बौद्ध ग्रन्थों में 'आवुस' सम्बोधन श्रेष्ठ जनों के लिए है।—ले०

२. 'केशीमाधव वल्लभा' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'गया परबोधगया' (१० ११६) में इस स्थान को 'रोहिताश्वगद' बतलाया है, जो संदिग्धस्पष्ट है। इसोंने नाहाल को 'वसाला', बुन्दविकर को 'बुन्दवोजा' और लोहितवस्तु को 'रोहितवस्तुका' लिखा है।—ले०

३. महावग्गो—१, १, ६, ४ (प्रथम भाग, प्रकाशक-बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई-१, सन् १९४४ ई०)

कात 'गया' और 'बोधगया' के बीच में हुई थी। किन्तु इसमें 'बंकहार' प्रदेश की चर्चा नहीं है। 'धेरीगाथा' में 'उपक' की मिलनवाली घटना की चर्चा 'बंकहार' प्रदेश के साथ की गई है। मेरी समझ में 'बंकहार' प्रदेश शाहाबाद का वह भाग है, जो सीन नदी के किनारे आज 'बाँक' ग्राम के नाम से प्रसिद्ध है। 'धेरीगाथा' के चापा मिच्छुरीवाले उद्गार में एक शब्द 'तकारी' मिलता है जो हरी सब्जी के लिए आया है। आज भी शाहाबाद के उस भाग में हरी सब्जी को 'तरकारी' कहते हैं।

इसके अतिरिक्त 'जातक-कथा' के 'सन्तिके-निदान' में 'बुद्धपोष' ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है कि भगवान् बुद्ध आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी के भोर में ही बोधगया से चले और अठारह योजन का मार्ग तय करके पूर्णमासी की शाम को श्रुतिपत्तन पहुँचे। जिस दिन सुबह में उनकी 'उपक' से भेंट हुई, उसी शाम को श्रुतिपत्तन पहुँचे। इससे स्पष्ट है कि बोधगया से सारनाथ पहुँचने में उन्हें दो दिनों का समय लगा। अर्थात्, अठारह योजन का मार्ग उन्होंने दो दिनों में पूरा किया। यदि चतुर्दशी की भोर में बोधगया से चले, तो महात्मों के अनुसार उगी सुबह को उनकी भेंट 'उपक' से बोधगया और गया के बीच होनी चाहिए और उसी शाम को पहुँचने का अर्थ है कि चतुर्दशी की शाम को ही वे पहुँचे, जो १८ योजन मार्ग एक दिन में तय करना असंभव है। इससे स्पष्ट है कि बुद्धपोष ने महात्मों और धेरीगाथा दोनों के इस अंश को पढ़कर तथा अच्छी तरह खानबीन कर लिखा है। इस तरह बुद्ध ने पहला दिन बोधगया से शोणमद्र नद के पश्चिमी तट तक का रास्ता तय किया और दूसरे दिन वे वहाँ से सारनाथ पहुँचे। इसी दूसरे दिन की सुबह में ही उनकी भेंट 'उपक' से हुई होगी, जो बंकहार प्रदेश में घटी थी।

किन्तु, हमारे विचार से बुद्ध के 'उरुविल्व' से चलकर वाराणसी पहुँचने में जितने समय का उल्लेख ऊपर किया गया है, वह अतिशयोक्ति-पूर्ण और असंगत प्रतीत होता है। क्योंकि, भगवान् बुद्ध ने वैशाख-पूर्णिमा को ज्ञान प्राप्त किया और आषाढ़-पूर्णिमा को श्रुतिपत्तन मृगदाव में धर्मचक्र-प्रवर्तन किया। बीच के दो मास में वे सात सप्ताह तक विमुक्ति का आनन्द लेते 'उरुविल्व' में ही विहरते रहे। बाकी ग्यारह दिनों में, बुद्धपोष के अनुसार, दो दिन श्रुतिपत्तन पहुँचने में लगे; किन्तु शेष नौ दिन उन्होंने कहाँ बिताये, इस सम्बन्ध में पालि-साहित्य बिल्कुल मौन है। इस सम्बन्ध में किसी ने कुछ नहीं कहा, जो विचारणीय है। अतः हमारे विचार से वैशाख-पूर्णिमा के सात सप्ताह बाद ही (जैसा महात्मों में उल्लिखित भी है) भगवान् बुद्ध बोधगया से वाराणसी के लिए चले और उस दिनों में वाराणसी पहुँचे तथा ग्यारहवें दिन उन्होंने धर्मचक्र-प्रवर्तन किया।

## बुद्ध के जीवन-काल में धर्म के सहायक व्यक्ति

जिस तरह भगवान् बुद्ध की बुद्धत्व-प्राप्ति में बिहार-प्रदेश के दार्शनिक, तपस्वी, पवित्र भूमि एवं प्राकृतिक सौन्दर्य सहायक हुए, उसी तरह उनके जीवन-काल में ही यहाँ के अनेक भू-भाग, विद्वान्, राजा, श्रेष्ठी, ब्राह्मण, भ्रमण, परिव्राजक आदि भी बौद्धधर्म के विकास में सहायक हुए। इन धर्माधिकारियों ने बौद्धधर्म के भांडार को विविध प्रकार के दान और ज्ञान-रत्नों से भरपूर समृद्ध किया है। भगवान् बुद्ध ने भी, अपनी शिष्य-मंडली के साथ, बिहार-प्रदेश के सम्पूर्ण भूमि-भाग में भ्रमण कर ज्ञानोपदेश का कार्य किया, जिससे यहाँ के हजारों एहत्थों ने भी 'आर्य-सत्य' से लाभान्वित होकर तथा धर्म के उपासक बनकर बौद्धधर्म के संवर्द्धन में पूरा हाथ बँटाया। बिहार-प्रदेश के किन महाप्रशों, धनी-मानियों, राजकुलों, नारी-रत्नों तथा किन भूमि-भागों ने, भगवान् के जीवन-काल में, धर्म-संवर्द्धनार्थ भिन्न-भिन्न तरह का सहयोग दिया, इन सभी बातों का संक्षिप्त एवं सोदाहरण मूल्यांकन यहाँ हमारा अभिप्रेत है।

भगवान् बुद्ध ने 'श्रुतिपत्तन' (सारनाथ) पहुँचकर अपने पंचवर्गीय भिक्षुओं को, चार 'आर्य-सत्य' और 'अष्टांगिक मार्ग' का उपदेश करके धर्मचक्र-प्रवर्तन किया। उसके बाद वाराणसी के 'पश' नामक श्रेष्ठो-पुत्र को भी, उसके मित्रों के साथ, धर्म में प्रतिष्ठित किया। तत्पश्चात् भगवान् स्वयं धर्म के प्रचार के लिए 'उरुबेला' (बोधगया, बिहार) प्रदेश में लौटे। वह ध्यान रहे कि सारनाथ में धर्मचक्र-प्रवर्तन के बाद भगवान् ने भिन्न-भिन्न प्रदेशों में धर्मोपदेश के लिए अपने शिष्यों को भेजा; पर बिहार-प्रदेश की भूमि में वे स्वयं पधारे। बिहार के लिए यह भी कम गौरव की बात नहीं है। ज्ञात होता है कि बिहार-प्रदेश के विद्वान् श्रुति-तपस्वियों को देखते हुए, उनसे टकर लेने के लिए, अपने शिष्यों को यहाँ भेजना उन्होंने उचित नहीं समझा और इसलिए बिहार को उन्होंने स्वयं अपने हाथों में लिया। सचमुच जिस तरह एक राजा अपनी दिग्विजय का कार्यक्रम एक सुनिश्चित योजना और अपने नीति-नैपुण्य के अनुसार अपनाता है, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने भी धर्म-विजय के लिए एक सुनिश्चित योजना के अनुसार अपना कार्यक्रम चलाया। वे धर्म-विजय के लिए कैसे-कैसे लोगों को प्रभावित करना आवश्यक समझते थे, किस प्रकार किन लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करते थे, आदि बातों पर अच्छी तरह विचार करने से उपर्युक्त बातों की सत्यता स्पष्ट प्रतिपादित हो जाती है। आगे की घटनाओं पर, इन बातों को ध्यान में रखकर, आप विचार करेंगे, तो हमारा ऐसा कथन तर्क-संगत जैचगा।

श्रुतिपत्तन से लौटते हुए भगवान् बुद्ध को 'उरुबेला' के मार्ग में 'कपासिय' बन मिला। वहाँ तीन 'भद्रवर्गीय क्षत्रिय' अपनी-अपनी पत्नियों को लेकर वन-विहार कर रहे थे। उनमें एक क्षत्रिय-कुमार ऐसा था जिसे अपनी पत्नी नहीं थी और वह विहार के लिए



अपने साथ एक वेश्या को लाया था। वह वेश्या मौका पाकर उस कुमार की सम्पत्ति लेकर भाग गई थी। अब सभी क्षत्रिय-कुमार उसी वेश्या को, उस समय, उस वन में, ढूँढ़ रहे थे। भगवान् बुद्ध रास्ते की थकावट एक पेड़ की छाया में बैठकर मिटा रहे थे। भद्रवर्गीय क्षत्रियों ने जब भगवान् बुद्ध को देखा, तब उन्होंने भागी हुई वेश्या के संबंध में पूछा। भगवान् बुद्ध ने जब उनकी सारी कहानी जान ली और उन्हें दुःखित देखा, तब उनकी विह्वलता दूर करने के लिए धर्मोपदेश किया। बुद्ध के धर्मोपदेश से उन क्षत्रिय-कुमारों को पूर्ण शान्ति प्राप्त हुई और उन्हें धैर्य मिला। 'जातक-कथा' से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध ने उन तीस क्षत्रिय-कुमारों को अपने धर्म में बही प्रतिष्ठित किया।

यह 'कपासिय' वन कहाँ था, इस बात की ओर आज तक किसी ने ध्यान नहीं दिया। इतना ही पता चलता है कि यह श्रृंगिपत्तन और उरुवेला के रास्ते में था। पर हमने जो इसकी छान-बीन की है, उससे पता चला है कि यह 'कपासिया' ग्राम के रूप में सुरक्षित है। जान पड़ता है, इन्हीं भद्रवर्गीय क्षत्रियों की दीक्षा-भूमि की यादगार में अशोक ने भी सासाराम नगर के पास पहाड़ी पर वह अपना लघु-लेख खुदवाया था, जो वहाँ आज भी विद्यमान है। यह स्थान आज 'पीरपहाड़ी' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पहाड़ी पर अशोक-स्तम्भ का एक टूटा अंश आज भी प्राप्त है। स्थान की इस पवित्रता के कारण ही बाद में वहाँ बौद्धों के अनेक आराम (मठ) बने थे, जिससे शायद इसका नाम 'सहलाराम' पड़ा। इसके पास की पहाड़ियों में अनेक प्राकृतिक तथा कृत्रिम गुफाएँ आज भी वर्तमान हैं, जो बौद्ध भिक्षुओं के तपोरूढ़ होने की सूचना दे रही हैं। 'काव' नदी के पार की पहाड़ी की एक गुफा में अंकित तस्वीरों (पेंटिंग) की धुँधली छाया आज भी मिलती है।

सासाराम की दक्षिण पहाड़ी के 'सतास' नामक ग्राम में अनेक प्राचीन बौद्ध तथा हिन्दू-मूर्तियाँ आज भी बिखरी पड़ी हैं। वहाँ आज एक टूटा स्तम्भ है, जिसे शिवलिंग के नाम पर लोग पूजते हैं। एक बार गाँववालों ने उसकी खुदाई भी की थी, जिसमें देखा गया कि नीचे स्तम्भ-जैकी बनी हुई है। वहाँ के एक व्यक्ति ने तो बताया कि एक बार की खुदाई में नीचे घर की छत और द्वार मिले थे।

इस पहाड़ी के आस-पास अनेक हवन-कुंड तथा यशवेदियाँ हैं। 'ताराचण्डी' नामक देवी, जो एक कन्दरा में है, बौद्धों की तारा देवी ही है। इसमें 'प्रतापधवल' नामक राजा का एक लेख भी खुदा है। इसके ऊपर मस्जिद बनी है। हिन्दू और मुस्लिम धर्म का ऐसा सम्मिश्रण संसार में अकेला है। ये सारी विशेषताएँ बुद्ध के स्थान होने के कारण ही सासाराम में दिखाई पड़ती हैं, जिसके पास बुद्ध ने भद्रवर्गीयों को दीक्षा दी थी तथा जिसे अशोक ने महिमामंडित किया था।

भद्रवर्गीयों को दीक्षा देने के बाद भगवान् बुद्ध 'उरुवेला' में आये और 'उरुवेला

काश्यप' नामक अग्निहोत्री के आश्रम में पहुँचे। उस क्षेत्र में उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप—ये तीन जटिल अग्निहोत्री बड़े ही प्रसिद्ध थे। 'उरुवेल काश्यप' पाँच सौ अग्निहोत्री जटिलों का नायक था। 'नदी काश्यप' के संघ में भी सौ जटिल थे और वह उनका प्रमुख था। इसी तरह 'गया काश्यप' दो सौ जटिलों का नायक था। ये तीनों भाई थे। तीनों मगध में यज्ञ की महत्ता स्थापित करने में लगे थे। गया काश्यप, गयाशीर्ष के पास फरुगु के किनारे रहता था। उससे दक्षिण कुछ दूर पर निरंजना और मोहना नदी के संगम पर 'नदी काश्यप' का आश्रम था और 'बोधगया' के सामने निरंजना के तट पर 'उरुवेल काश्यप' का यज्ञ-मंडप था। इन तीनों में 'उरुवेल काश्यप' ही श्रेष्ठ था। भगवान् बुद्ध इसी के यज्ञ-मंडप में पहुँचे। भगवान् बुद्ध ने उरुवेल से कहा— 'हे काश्यप, यदि तुझे भारी न हो, तो मैं एक रात तेरी अग्निशाला में वास करूँ।'।

सचे ते कस्सप, अग्ररु, वसेत्थाम एकरत्तं अग्यागारे' ति ।

—महावग्गी : १, ३, १, २

'उरुवेल काश्यप' ने बड़ी नम्र वाणी में बुद्ध की रक्षा के लिए यही निवेदन किया—  
"महाश्रमण ! मुझे भारी नहीं है, लेकिन यहाँ एक बड़ा ही प्रचंड दिव्य शक्तिधारी आशीर्षि नागराज रहता है। वह तुम्हें कहीं हानि न पहुँचावे"—

न सो मे महासमण, गरु, चयडेत्थं नागराजा इद्धिमा असि विसो

घोर विसो, सो तं मा विहेत्सेसी' ति ।—तत्रैव

कारण यह था कि 'उरुवेल काश्यप' की अग्निशाला की रक्षा एक नागराज करता था। उस मंडप में प्रवेश करनेवाले किसी भी बाहरी व्यक्ति के प्राण वह हर लेता था। इसीलिए उरुवेल काश्यप ने बुद्ध से प्रार्थना की कि इस अग्निशाला में मत ठहरो। इस तरह बुद्ध ने तीन बार हठ किया कि नहीं, मैं ठहरूँगा तो इसी अग्निशाला में ही, और तीनों बार 'उरुवेल' ने मना किया। पर भगवान् बुद्ध ने जब चौथी बार हठ किया, तब उरुवेल ने कहा—'विहार महासमण, यथा सुखं ति।' अर्थात्, नहीं मानते हो तो हे महाश्रमण, खुशी से ठहरो।

इसके बाद भगवान् बुद्ध ने अग्निशाला में प्रवेश किया और तृण विछाकर आसन बाँध दिया तथा शरीर को सीधा कर एवं स्मृति को स्थिर करके बैठ गये। भगवान् बुद्ध के बैठते ही नागराज निकला और क्रोध से भर गया। वह फण को काढ़ कर अपने विष का प्रभाव विकीर्ण करने लगा। पहले तो विष का धुँआ निकला, बाद में आस-वास चारों ओर भयंकर ज्वाला व्याप्त होने लगी। 'नागराज' की हरकत देखकर भगवान् बुद्ध ने सोचा कि क्यों न इस नाग की शारीरिक क्षति पहुँचाये बिना ही, इसकी सारी विष-ज्वाला का हरण कर लूँ और इसे तेजोहीन कर दूँ। तब बुद्ध ने अपने योग-बल से उससे भी ज्यादा भयंकर धुँआ छोड़कर ज्वाल-ज्वाल फैलाया। अग्निशाला के चारों ओर धुँआ और अग्नि-

ज्वाला देखकर 'उरुवेल काश्यप' चिल्लाने लगा—“हाय ! परम सुन्दर महाश्रमण नाग द्वारा मारा जा रहा है”—

अभिरूपो वत भो महासमणो नागेन विहेटिस्सतीति ।

—महावग्गो : १, ३, १, ३

इतने में भगवान् बुद्ध ने अपने तपस्तेज से नागराज की भयंकर विष-ज्वाला को दूँक दिया और धीरे-धीरे उसके सारे विष को हरण कर उसे विलकुल निरतेज बना दिया । बुद्ध ने उस भयंकर नाग को हाथ से पकड़कर एक पिटारी में रख दिया और प्रमात होने पर उसे ले जाकर 'उरुवेल काश्यप' से कहा—“हे काश्यप, यह तेरा नाग है !”

भगवान् बुद्ध के इस अलौकिक चमत्कार को देखकर 'उरुवेल काश्यप' आश्चर्य से स्तब्ध रह गया । फिर भी, 'उरुवेल काश्यप' के मन से अपनी महत्ता का अभिमान गया नहीं । किन्तु भगवान् बुद्ध ने सोच लिया था कि यदि ये अति प्रभावशाली 'काश्यप-बन्धु' अपनी मंडली के साथ मेरे धर्म में दीक्षित हो गये, तो मेरी बहुत बड़ी विजय होगी और इनके शिष्य बन जाने पर सम्पूर्ण मगध और अंग में मेरी भाक जम जायेगी ; क्योंकि ये अग्निहोत्री सम्पूर्ण मगध और अंग में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं । इसीलिए भगवान् बुद्ध ने कुछ दिनों के भीतर 'उरुवेल काश्यप' को इस तरह के १५ बड़े-बड़े चमत्कार दिखलाये, जिससे उसके मन में बैठ गया कि भगवान् बुद्ध का योगबल अत्यन्त उच्च है तथा मैं इनके सामने अति तुच्छ हूँ । अब 'उरुवेल काश्यप' ने बुद्ध के पैरों पर गिरकर कहा—

लभेय्या हं भन्ते, भगवतो सन्तिके पच्चज्जं, लभेय्यं उपसम्पदंति ? ।

अर्थात्—“हे भन्ते ! भगवान् के द्वारा मुझे प्रव्रज्या प्राप्त हो, उपसम्पदा प्राप्त हो ।”

पहले तो बुद्ध ने उसे उपसम्पदा देने में कुछ आना-कानी की ; पर बाद में जब उसके पाँच सौ शिष्य भी अग्नि-होत्र के सारे सामान नदी में फेंककर भगवान् बुद्ध के पास आये और अपने धर्म में प्रतिष्ठित कर लेने के लिए प्रार्थना करने लगे, तब बुद्ध भगवान् ने वहीं सबको अपने धर्म में प्रतिष्ठित कर लिया । भगवान् बुद्ध की यह सबसे बड़ी और पहली विजय थी ।

इधर 'नदी काश्यप' ने अग्नि-होत्र के सारे सामान को नदी में बहते हुए देखा, तो सोचा कि मेरे बड़े भाई को शायद कुछ हो गया क्या ! वह अपनी शिष्य-मंडली के साथ 'उरुवेल' में पहुँचा । वहाँ उसने जब अपने अग्रज को बुद्ध की शरण में देखा, तब वह भी अपनी मंडली के साथ बुद्ध-धर्म में दीक्षित हो गया । 'गया काश्यप' ने जब सुना कि मेरे दोनों भाई बुद्ध-धर्म में दीक्षित हो गये, तब वह भी आकर प्रव्रजित हुआ । इस तरह तीनों 'काश्यप-बन्धुओं' को अपने धर्म में दीक्षित कर भगवान् बुद्ध ने एक बहुत बड़ी विजय प्राप्त की । इन काश्यप-अग्निहोत्रियों का सम्पूर्ण मगध और अंग में भारी प्रभाव था । यह पहले ही कहा गया है कि इनके अग्निहोत्र-कर्म में अंग और मगध के सभी धनी-मानी अग्निहोत्र के सामान और

१. विस्तृत विवरण के लिए—महावग्गो १, ३ देखिए ।

२. महावग्गो—१, ३, १, ३३



भोजन की सामग्री भेजते और यज्ञ-कर्म में उपस्थित होते थे। उरुवेल काश्यप की नामवाली घटना का दृश्य साँची-स्तूप के तोरण में भी प्रदर्शित किया गया है।

भगवान् बुद्ध को राजा बिम्बिसार से मिलना था। बुद्धत्व प्राप्त करने के पहले जब भगवान् बुद्ध राजगृह आये थे, तब उन्होंने बिम्बिसार को वचन दिया था कि बुद्धत्व प्राप्त कर लेने पर आप से मिलूँगा। अब अपनी सम्पूर्ण शिष्य-मंडली के साथ काश्यप बन्धुओं के शिष्यत्व स्वीकार कर लेने पर, भगवान् बुद्ध राजगृह की ओर चले। उन्होंने काश्यप-बन्धुओं की भारी मंडली के साथ गयाशीर्ष पर आकर 'आदित्य सुत्त' का उपदेश किया।<sup>१</sup> वहाँ से भगवान् बुद्ध जब राजगृह के पास आये, तब अपनी शिष्य-मंडली के साथ 'पट्टिवन' में ठहरे।<sup>२</sup> भिक्षुक सिद्धार्थ बुद्धत्व प्राप्त कर अपनी शिष्य-मंडली के साथ 'पट्टिवन' में आकर ठहरे हुए हैं, यह समाचार जब मगधराज बिम्बिसार को मिला, तब वह अपने समस्त श्रेष्ठ अमात्यों और ब्राह्मणों को साथ लेकर स्वयं बुद्ध से वहाँ जाकर मिला। राजा बिम्बिसार ने जब 'काश्यप-बन्धुओं' को बुद्ध के साथ देखा, तब वह तथा अन्य लोग संशय में पड़ गये कि किस ने किस का शिष्यत्व स्वीकार किया है। राजा बिम्बिसार तथा अन्य लोगों के द्वन्द्वमय मनोभाव को बुद्ध ने समझ लिया और उन लोगों के बिना पूछे ही 'उरुवेल काश्यप' से कहा—

किमेव दिस्वा उरुवेलवासी पहासि अग्निं किंको वदानो।

पुच्छामि ते कस्सप, एतम'त्वं कथं पहीनं तव अग्निहुत्तं'ति।

—महावग्गो : १, ४, १, ४,

अर्थात्—'हे उरुवेल-निवासी काश्यप, तुम्हीं बोलो कि तुमने अपने अग्निहोत्र-कर्म को क्या देखकर त्याग किया है? तुम्हीं से पूछता हूँ, यह कैसे हुआ कि तुमने अपना अग्निहोत्र-कर्म छोड़ दिया?' इसपर भरी समा के सामने ही काश्यप ने कहा—

रूपे च सदे च अथो रसे च कामिस्त्विया चा'भिवदन्ति यञ्जा।

एतं मलं'ति उपघांसु जत्वा, तस्मा न यिट्ठं न हुते अरब्जिं'ति ॥ —तत्रैव

'रूप, शब्द और रस-रूपी काम-भोगों में, स्त्रियों के रूप, शब्द और रस को हवन करते हैं। काम-भोगों के रूप, शब्द और रस में कामेष्टि-यज्ञ करते हैं। यह रागादि उपाधिर्वा मल है, ऐसा मैंने जान लिया। इसलिए मैं यज्ञ और होम से विरक्त हुआ।' इतना कहकर 'उरुवेल काश्यप' ने, जहाँ बैठा था, वहाँ से उठकर, भगवान् बुद्ध के चरणों में अपना माथा रख दिया और कहा—'भगवान् मेरे शास्ता हैं, मैं उनका शिष्य हूँ।'

अब राजा बिम्बिसार और सभी उपस्थित समुदाय का संशय मिट गया। सबने बुद्ध के चरणों पर अपना-अपना सिर मुकाया। वही बिम्बिसार ने दीक्षा देने का निवेदन किया। भगवान् बुद्ध ने सबको दीक्षा दी और उसी समय, उसी जगह, सभी ने चित्त-नैर्मल्य को प्राप्त किया।

१. आदित्य सुत्त ( संयुक्त निकाय—३४, १, ३, ६)

२. राजगृह के पास का 'पट्टिवन' गाँव।—ले०

दूसरे दिन मगधराज बिम्बिसार ने भगवान् बुद्ध को मंडली के साथ भोजन पर बुलाया और कहा कि भगवन्, आज मेरी पाँचों इच्छाएँ पूरी हो गईं<sup>१</sup>। मगध के उदार राजा ने संघ के निवास के लिए अपना 'वेणुवन' दान कर दिया और वहाँ विहार का निर्माण कराया।<sup>२</sup> बिम्बिसार की दीक्षा भगवान् बुद्ध की दूसरी धर्म-दिग्विजय थी, जिससे सम्पूर्ण मगध में उनका प्रभाव बिजली की तरह चमक उठा। इस घटना से बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में बहुत बड़ा बल प्राप्त हुआ।

यह पहले कहा गया है कि राजगृह में विज्ञेयवादी सिद्धान्त के दार्शनिक 'संजय' का आश्रम था। वह अपने आश्रम में दो सौ पचास शिष्यों को अपने दर्शन की शिक्षा दे रहा था। इन्हीं शिष्यों में 'सारिपुत्र' और 'महामौद्गल्यायन' नाम के दो शिष्य भी थे। ये दोनों सहपाठी ही नहीं थे, बल्कि बचपन से ही गाढ़े दोस्त थे। दोनों की सात पीढ़ियों से, खान-पान के साथ-साथ मित्रता का सम्बन्ध चला आ रहा था। कहते हैं कि दोनों का जन्म भी एक ही दिन हुआ था। दोनों में ऐसी गहरी मित्रता थी कि दोनों एक दूसरे के घर रहते और एक दूसरे के यहाँ खान-पान करते थे। वे बराबर साथ ही खेलते और साथ ही पढ़ते थे। एक बार दोनों साथ-साथ एक पड़ोस के गाँव में मूक अभिनय (गिरम-समज्जा) देखने गये। दोनों बालकों पर उस नाटक का ऐसा प्रभाव पड़ा कि दोनों संन्यासी हो गये। वे अब राजगृह में जाकर 'संजय' के आश्रम में विद्याध्ययन करने लगे। ये ऐसे अभिन्न मित्र थे कि भगवान् बुद्ध भी इनके नामों का स्मरण इन्द्र-समास के साथ करते थे। कहीं भी किसी काम के लिए दोनों को साथ ही भेजते थे, मानो भगवान् बुद्ध की धर्मरूपी गाड़ी को खींचने-वाले ये दो पहिये थे। यद्यपि सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन ने संजय के आश्रम में अनेक शास्त्रों को पढ़ा था और ब्राह्मण-धर्म के ग्रन्थों का पूर्ण अध्ययन किया था, तथापि वे जिस तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे, वह उन्हें नहीं मिल पाता था। इस कारण, उन लोगों के मन को संतोष नहीं प्राप्त हो रहा था।

सारिपुत्र एक दिन किसी काम से राजगृह में घूम रहे थे कि रास्ते में उन्हें 'अश्वजित्' नामक भिक्षु दिखाई पड़ा। वहाँ भिक्षु अश्वजित् की सौम्य-शान्त आकृति देखकर सारिपुत्र अत्यन्त प्रभावित हुए। अश्वजित् के पास जाकर 'सारिपुत्र' ने बड़े विनम्र भाव से पूछा—  
“आबुस ! तेरी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, तेरी कान्ति शुद्ध तथा उज्ज्वल है। आबुस ! तुम किस गुरु के शिष्य हो, तुम्हारा शास्त्रा कौन है ? तुम किसका धर्म मानते हो ? तुम्हारे गुरु का क्या मत है ? वे किस सिद्धान्त को मानते हैं ?”

विप्यसच्चानि स्तोते आबुसो ! इन्द्रियाणि परिसुद्धोच्छवियणो परियोदातो ।

१. देखिए पहला परिच्छेद, राजनीतिक स्थिति—पृ० २६-२७

२. आदिप्त-परिवायसुत्त और विनयपिटक—१, १, १७

कंसि त्वं आवुसो, उदिस्स पच्चजितो, को वा ते सत्ता, कस्स वात्वं धम्मं रोचेसी'ति ?  
 .....किं वादी पना'यरमतो सत्ता, किमवलायी'ति ।

—महावग्गो : १, ४, २, ३-४

अश्वजित् ने कहा—“मेरे शास्ता शाक्यकुल-पुत्र हैं, उसी कुल से वे प्रवर्जित हुए हैं । मैं उन्हीं का शिष्य हूँ । मैं थोड़े दिनों से उनके धर्म में आया हूँ । जो कुछ थोड़ा अपने शास्ता के मत की जानता हूँ, उसका सार आप से निवेदन करता हूँ । मेरे शास्ता इस तरह धर्म का उपदेश करते हैं—

यो धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह ।

तेसन्च यो निरोधो एवं वादी महासमणो'ति ॥

अर्थात्, धर्म (दुःख) हेतु से उत्पन्न होते हैं, इसलिए मेरे शास्ता दुःख को और उसके कारण को अर्थात् दोनों को बतलाते हैं । उस हेतु के निरोध को और निरोध के उपायों को भी बतलाते हैं । मेरे शास्ता का यही मत है ।”

‘सारिपुत्र’ ने जैसे ही इस बात को सुना कि खुशी से उनका हृदय बाँसों उछल पड़ा । उन्हें ऐसा लगा, मानों आज मैंने ज्ञान का सार-तत्त्व प्राप्त कर लिया । वे उसी दम अपने परम मित्र ‘महामौद्गल्यायन’ के पास गये, और अश्वजित् से सुने हुए बुद्धवाद के सिद्धान्त की चर्चा उन्होंने की । वहीं दोनों ने निश्चय किया कि चलकर हमलोग भगवान् बुद्ध से दीक्षा ले लें । दोनों मिलकर अपने गुरु ‘संजय’ के पास आये, और बौद्धधर्म ग्रहण करने की उन्होंने अनुमति माँगी । संजय ने उन्हें ऐसा करने से मना किया और यहाँ तक कि दोनों के बार-बार आग्रह करने पर भी ‘संजय’ ने अनुमति नहीं दी । तब वे दोनों गुरु के आदेश के बिना ही भगवान् बुद्ध के पास, दीक्षा लेने के लिए, चले गये । कहते हैं कि ‘सारिपुत्र’ और ‘मौद्गल्यायन’ जैसे सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थियों के चले जाने पर ‘संजय’ के आश्रम के सभी विद्यार्थी भगवान् बुद्ध के पास चले गये और इस शोक में ही ‘संजय’ की मृत्यु हो गई ।

भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में ही, आगे चलकर वे दो मगध-ब्राह्मणपुत्र ( सारिपुत्र-मौद्गल्यायन ) बौद्धधर्म के दो वृहस्पति हुए । बौद्धधर्म के महाप्रज्ञों में सारिपुत्र सर्वश्रेष्ठ हुए और श्रद्धिमानों में महामौद्गल्यायन सर्वश्रेष्ठ हुए, जिसे ‘आवस्ती’ की एक बड़ी परिपद् में भगवान् बुद्ध ने स्वयं कहा था<sup>१</sup>। भगवान् बुद्ध ने अन्यत्र भी कहा था—‘सारिपुत्र जिस प्रदेश की ओर जाते हैं, उधर मेरे जाने की आवश्यकता नहीं रहती ।’ इतना ही नहीं, ‘मग्गिमनिकाय’—( २, ५, २ ) में आया है कि जब ‘सेल’ नामक ब्राह्मण ने भगवान् बुद्ध से प्रश्न किया कि

१. इनकी मगध के कारण ही दोनों की अस्थियाँ सर्वांग-रूप में रखी गई थी, जो खुदाई होने पर प्राप्त हुई हैं । जिस विविधा में वे अस्थियाँ मिली हैं, उसपर स्पष्ट उल्लेख था कि वे अस्थियाँ सारिपुत्र-मौद्गल्यायन की हैं, जो विदिश-म्युजिबम संदेन में चली गई थी । स्वराज्य के बाद इन अस्थियों को भारत में मंगवाया गया है ।—ले०

२. मग्गुत्तरनिकाय—१, २, १-७



'आप जब अपने को धर्म का राजा कहते हैं, और कहते हैं कि मैं धर्म का चक्र चला रहा हूँ, तब इस राजा का सेनापति कौन है ?' सेल ब्राह्मण के इस प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने जवाब दिया था—'तथागत का अनुजात सारिपुत्र ठीक से धर्म अनुचालित कर रहा है।' अर्थात्, मेरा सेनापति सारिपुत्र है। यही बात 'सुत्तनिपात' में भी मिलती है<sup>१</sup>। इसलिए सारिपुत्र का एक नाम 'धर्मसेनापति' भी था। 'अंगुत्तर निकाय' में उल्लेख मिलता है कि भगवान् बुद्ध ने संघ से कहा था कि भिक्षुओं ! सारिपुत्र को छोड़कर मैं किसी दूसरे को नहीं पाता, जो मेरे निर्वाण के बाद ठीक से मेरे धर्म को चलायेगा। सोचिए जरा कि कैसा था—मगधभूमि का वह चरदपुत्र, जिसके सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध ने ऐसा कहा था !

बौद्धधर्म और बिहार-प्रदेश के इस जाज्वल्यमान नक्षत्र की महत्ता के सम्बन्ध में थोड़ा और उल्लेख करना अनावश्यक नहीं होगा। अपने परिनिर्वाण का काल निकट जानकर जब सारिपुत्र ने भगवान् बुद्ध से अपनी जन्मभूमि में जाकर निर्वाण प्राप्त करने की आज्ञा माँगी, तब भगवान् बुद्ध, संघ के साथ, 'भावस्ती' में थे। सारिपुत्र का परिनिर्वाण-काल निकट आ गया है और वे अपनी जन्मभूमि जाना चाहते हैं, यह सुनकर भगवान् ने भरे हुए गले से कहा—'भिक्षुओं ! अपने ज्येष्ठ भ्राता का अनुगमन करो।' उस समय भावस्ती की चारों परिपदें ( भिक्षु-परिपद, भिक्षुणी-परिपद, उपासक-परिपद और उपासिका-परिपद ) सारिपुत्र के पीछे-पीछे अनुगमन करने लगीं। सभी स्त्री-पुरुष हाथों में माला लिये, केश विखराये, दोनों हाथों से छाती पीटते, सिर झुनते और विलाप करते अनुगमन कर रहे थे—सभी कह रहे थे—'स्थविर ! किसके हाथों में शास्ता को छोड़े जा रहे हो ?'

सारिपुत्र ने अपनी जन्मभूमि नालक ग्राम<sup>२</sup> ( पटना जिला, नालन्दा के निकट ) में, अपनी माता की गोद में ही, परिनिर्वाण प्राप्त किया। परिनिर्वाण के बाद उनके शव का दाह-संस्कार हो गया, तब 'सुन्द' स्थविर सारिपुत्र की अस्थियों को लेकर भगवान् बुद्ध के पास भावस्ती पहुँचे। सुन्द स्थविर बुद्ध के शिष्यों में प्रतिष्ठित एक भिक्षु और सारिपुत्र के छोटे भाई थे। सुन्द ने जब सारिपुत्र की धातुओं (हड्डियों) को भगवान् बुद्ध को दिखलाया, तब भगवान् ने सम्मान और भद्रा के साथ अपनी हथेली पर उन धातुओं को लेकर भिक्षुओं को सम्बोधित किया—'देखो भिक्षुओं ! सौ हजार कल से भी अधिक समय तक पारमिता पूर्ण किये हुए भिक्षु की ये धातुएँ दिखाई पड़ रही हैं ! वह मेरे प्रवर्तित धर्मचक्र को अनुवर्तित करनेवाला महाप्रज्ञावान् तथा अल्पेच्छ ( त्यागी ) भिक्षु था।

१. 'मया प्रवर्तितं चक्रं धम्मचक्रं अनुत्तरं। सारिपुत्तो अनुवर्तेति अनुजातो तथागतं ॥'

अर्थात्—मैंने अनुत्तरधर्मचक्र चलाया है, तथागत का अनुजात सारिपुत्र जिसका अनुवर्तन करता है।—सुत्तनिपात—१३, १०,

२. संयुक्त निकाय (अट्ठकथा)—४५, २, ३

३. तथैव।

४. जिसका आधुनिक नाम 'बकगंवि' या 'सारिचक' है।—ले०

वह संतुष्ट और प्रसन्न भिन्नु था। देखो भिन्नुओ! उस महापुरुष की धातुओं को, जो पाँच सौ जन्मों तक मनोरम भोगों को छोड़कर प्रव्रजित होता रहा है। उस वीतराग-जितेन्द्रिय-निर्वाण-प्राप्त सारिपुत्र की वन्दना करो।' भगवान् जैसे-जैसे सारिपुत्र के विषय में कहते जाते थे, भिन्नु आनन्द अपने को वहाँ संभाल नहीं पा रहे थे। 'आनन्द' शोक-विह्वल हो, एक ओर बैठे अधुपात कर रहे थे।

धर्मसेनापति सारिपुत्र का जन्म नालन्दा के पास वर्तमान 'सारिचक' ग्राम में, ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उस समय इस गाँव का नाम उपतिथ्य ग्राम या नालक ग्राम था। सारिपुत्र के नाम पर ही 'नालक ग्राम' का नाम पीछे सारिचक पड़ा होगा। इनके पिता का नाम 'वंगन्त' और माता का नाम 'रूपसारि' था। वंगन्त और रूपसारि के तीन लड़कियाँ और चार लड़के थे। सब में बड़े सारिपुत्र ही थे। सारिपुत्र के याकी तीन भाइयों का नाम था—बुन्द, उपसेन और रेवत। तीनों बहनों का नाम था—चाला, उपचाला और शिषूपचाला। सारिपुत्र के बौद्धधर्म में प्रव्रजित हो जाने पर सभी भाई-बहन बौद्धधर्म में प्रव्रजित हो गये और अपने समय के सभी पसिद्ध भिन्नु और भिन्नुणी हुए।

'वंगन्त' अपने इलाके के प्रतिष्ठित और धनी-मानी ब्राह्मण थे। समाज में उनकी ब्राह्मणोचित प्रतिष्ठा भी अच्छी थी। किन्तु, कुछ काल बाद उनकी मृत्यु हो गई। पति के मरण और सभी सन्तानों के भिन्नु हो जाने के कारण माता रूपसारि की अवस्था पागल-जैसी हो गई थी। इनके मन में बौद्धधर्म के प्रति एक भारी विद्रोह भर गया था और वे बौद्ध भिन्नुओं से शृणा करती थीं। माता रूपसारि की आयु बड़ी लम्बी थी। इनकी गोद में ही सारिपुत्र ने परिनिर्वाण प्राप्त किया।

सारिपुत्र ब्राह्मण धर्म और दर्शन के प्रगाढ़ पंडित थे। 'संजय' के शिष्यत्व में शायद ये भीमासा-शास्त्र का अध्ययन कर रहे थे। इसीलिए जब वे बौद्धधर्म में आये, तब इसमें भी इन्होंने प्रगाढ़ पांडित्य प्राप्त कर लिया। एक बार वैशाली नगर की चार नारियाँ, जो जैनधर्मावलम्बिनी थीं, शास्त्रार्थ में दिग्विजय करने निकली थीं। उनकी प्रतिष्ठा थी कि जो यही हमें परास्त कर देगा, उसी से हमारा विवाह होगा और यदि कोई संन्यासी परास्त कर देगा, तो उनकी हम शिष्या हो जायँगी। वे इधर-उधर दिग्विजय करते भावस्ती पहुँचीं। वे झंड़े के रूप में जामुन की डाल लिये चलती थीं और चौराहे पर गाड़ देती थीं कि जो शास्त्रार्थ करना चाहेगा, इसे उखाड़कर फेंक देगा। उस समय भावस्ती के विहार में सारिपुत्र वर्तमान थे। जैन विदुषियों ने विहार के द्वार पर ही जामुन की डाल गाड़ दी और भावस्ती नगर में घूमने चली गईं। सारिपुत्र जब कहीं से टहल-घूमकर आये, तब लोगों ने बतलाया कि इस डाल के गाड़ने का रहस्य क्या है? सारिपुत्र ने डाल को उखाड़ फेंका। चारों भिन्नुशिष्याँ जब आईं और सुना कि सारिपुत्र ने इसे उखाड़ा है, तब शास्त्रार्थ में मिट गईं। किन्तु, सारिपुत्र की विद्वत्ता के सम्यन्ध में

क्या पूछना था ? जिसके ज्ञान की कद्र स्वयं बुद्ध करते थे, वह कोई साधारण व्यक्ति थोड़े ही होगा। चारों स्त्रियों की बात-की-बात में सारिपुत्र ने परास्त कर दिया ! उसी समय चारों सारिपुत्र की शिष्या बनने को तैयार हो गईं ; पर भिक्षु सारिपुत्र ने कहा—‘मेरी शिष्या क्या बनोगी, मेरे शास्ता की शिष्या बनो।’ कितना अल्पेच्छ सारिपुत्र का मन था !

सारिपुत्र के ज्ञान और साधु-चरित-स्वभाव को परखकर ही भगवान् बुद्ध ने अपने पुत्र ‘राहुल’ की दीक्षा इनसे दिलवाई थी और राहुल का ज्ञान सारिपुत्र की ही देख-रेख में बढ़ा था। सारिपुत्र-जैसा प्रभावशाली भिक्षु उस समय बौद्धसंघ में एक भी नहीं था। देवदत्त ने जब भगवान् बुद्ध से विद्रोह करके उनके संघ से वज्जिदेश के ५०० भिक्षुओं को फोड़ लिया, तब बुद्ध भगवान् बड़े ही चिन्तित हो उठे ! देवदत्त के विद्रोह को दबाने के लिए, उस समय, बुद्ध की नजर में दो ही व्यक्ति जैसे—सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन। देवदत्त उन पाँच सौ भिक्षुओं को लेकर ‘गयासीस’ (गया के ब्रह्मयोनि पर्वत) पर चला गया था और वहाँ एक अलग संघ का निर्माण कर रहा था। भगवान् बुद्ध ने सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को, देवदत्त के संघ को छिन्न-भिन्न करने के लिए, गयासीस पर्वत पर भेजा। दोनों शिष्य शीघ्र ही गयासीस पर्वत पर पहुँचकर अपनी प्रगाढ़ विद्वत्ता और अमित ज्ञान के बल से उन पाँच सौ भिक्षुओं को, देवदत्त के सामने ही, भगवान् बुद्ध के पक्ष में कर लिया। उस समय देवदत्त ने बौद्ध संघ में एक भारी खन्धक पैदा कर दिया था, जिसे सारिपुत्र-मौद्गल्यायन ने पाट दिया<sup>१</sup>।

एक बार भगवान् बुद्ध मल्लों की राजधानी ‘पावा’ नगर के नये संस्थागार में संघ के साथ विहार कर रहे थे। उस समय उनके संघ में भारी फूट का लक्षण दिखलाई पड़ा। संघ में ५०० भिक्षु थे। भगवान् बुद्ध ने संघ को फूट से बचाने के लिए ‘सारिपुत्र’ को ही बोधवत्तम व्यक्ति माना और उनसे संघ के सामने उपदेश करने को कहा था। सारिपुत्र की उपदेश-वाणियों में कैसा जादू का असर था, इसका प्रमाण उस उपदेश में मिलता है, जिसे ‘श्रावस्ती’ के ‘जितवन-विहार’ में संघ के सामने उन्होंने दिया था। सारिपुत्र के उस उपदेश को सुनकर महामौद्गल्यायन ने कहा था—“अश्रद्धालु राठ, मायावी, पाखण्डी, उद्धत, चपल, मुखर, असंयत-भाषी, असंयतेन्द्रिय, भोजन की मात्रा नहीं जाननेवाले, जागरण में तयार नहीं रहनेवाले, धन जोड़नेवाले, कायर, आलसी, अनुयोगी, मुषितस्मृति, विभ्रान्तचित्त, बुध्द्विषय आदि लोगों के हृदय को अच्छी तरह समझकर ही, उन्हें सुमार्ग पर अग्रसर कर देनेवाले सारिपुत्र के ये उपदेश-वाक्य हैं<sup>२</sup>।” तब भला ऐसे उपदेशक सारिपुत्र को बुद्ध अपना सेनापति नहीं चुनते, तो किसको चुनते ? भगवान् बुद्ध ने इसके पहले ही फूट का लक्षण अपने संघ में देखा था, जब वे श्रावस्ती में ठहरे हुए थे<sup>३</sup>। इसके अतिरिक्त कुछ दिन पहले

१. बुल्लवग्गी ( संवग्गेदक खन्धक )—७,२,५

२. मज्झिम-निकाय ( अनङ्गल सुत्तन्त )—१,१,५

३. बुल्लवग्गी ( पात्तिमीकखत्थापन खन्धक )—६,२,१



‘निर्माठनायपुत्र’ जीविसंघे जैन तीर्थंकर का निर्वाण हुआ था और जैनधर्म में भयंकर फूट पड़ गई थी। उसी समय जैन धर्म में श्वेताम्बर और दिगम्बर दो पंथ हो गये। इसलिए भगवान् बुद्ध को अपने संघ के लिए बहुत चिन्ता हो गई थी। उन्होंने पावा के संस्थानगर में परिषद् बैठाई और सारिपुत्र को उपदेश देने के लिए कहा। सारिपुत्र ने निर्माठों की फूटवाली बात को कहते हुए परस्पर फूट न करनेवाला जो उपदेश दिया, वह बौद्धधर्म की रीढ़ है। इसमें बुद्ध मंतव्यों की एक सम्बन्धी सूची है, जिसमें दस खण्ड हैं। यह पाँच सौ भिक्षुओं की संगीति ही थी, जिसे ‘पञ्च-शतिका’ कहना चाहिए। इसीलिए इस सुत्र का नाम ही है—संगीतिपरिचायसुत्र<sup>१</sup>। ‘ज्ञात होता है, बौद्ध संघ में जब-जब फूट के लक्षण दिखाई दिये, संघ-सब इसी संगीति के अनुकरण पर ही आगे की संगीति बैठाई गई।

यह पहले कहा गया है कि धर्म-सेनापति सारिपुत्र बौद्धधर्म-दर्शन तथा ब्राह्मण-ग्रन्थ और दर्शन के अग्रगण्य विद्वान् थे। किन्तु विद्वत्ता ही इनकी विशेषता नहीं थी। इनकी सब से बड़ी विशेषता तो यह थी कि बौद्ध संघ में ऐसा उग्रमी, निरहंकार, चिनयी और शीलवान् दूसरा कोई भिक्षु नहीं था। संघ में सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करने पर भी सारिपुत्र अपने हाथों से आश्रम में झाड़ू लगाते थे, आश्रम के वरतन साफ करते थे और जगह नहीं मिलने पर आश्रम के बाहर जमीन पर ही सो रहते थे। एक बार श्रावस्ती में जब थके-मर्दे भिक्षुओं ने सोने के सभी स्थानों को अपना लिया, तब सारिपुत्र बाहर जाकर पैड़ के नीचे सो गये। जाड़े की रात थी। जोंरी की ठंडक पड़ रही थी। रात बीतने पर ठंडक से जब वे खाँसने लगे, तब उनकी आवाज भगवान् बुद्ध को सुनाई पड़ी। बुद्ध ने ननदीक जाकर देखा। सारिपुत्र की ठिठुरती अवस्था से उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ और उन्हें उठाकर भगवान् बुद्ध आश्रम में लाये। दूसरे दिन भगवान् ने संघ के सामने यह नियम उद्घोषित कर दिया कि संघ में आगे-पीछे प्रमत्त्या के अनुसार आसन और स्थान दिया जायगा<sup>२</sup>।

भगवान् बुद्ध की उदारता के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। वे सारिपुत्र को कभी अपनेसे कम ज्ञानी नहीं मानते थे। यही कारण था कि सारिपुत्र ने जब-जब भगवान् बुद्ध की सेवा में उपस्थापक (पार्श्ववर्ती सेवक) होकर रहने के लिए कहा, बुद्ध ने बार-बार अस्वीकार कर दिया। सारिपुत्र कभी अपने श्रेष्ठ साथी ‘अश्वजित्’ को नहीं भूलते थे; क्योंकि उसी ने पहले-पहल, राजगृह में, भगवान् बुद्ध और उनके धर्म के बारे में सूचना दी थी। अश्वजित् भिक्षु जिस दिशा में रहता, सारिपुत्र उस दिशा को प्रणाम करते और ऊपर पैर रखकर नहीं सोते थे। संघ में किसी के प्रति भी उनका द्वेष नहीं था। देवदत्त-जैसे विरोधी व्यक्ति के गुणों की भी वे प्रशंसा करते थे। ये कृतज्ञ तो इसने थे कि कभी किसी के द्वारा किये गये छोटे उपकार को भी नहीं भूलते थे; राघ नामक एक ब्राह्मण को

१. विस्तार के लिए देखिए—‘दीप निकाय’—३, १०.

२. विमवापिटक (राहुल साहस्रपादन)—१० ४६५-४६६ और ‘बुद्धचर्या’—१० ७२.

उन्होंने भगवान् बुद्ध से कहकर दीक्षा दिलवाई, जब सारे भिक्षु विरोध कर रहे थे; क्योंकि राध ने एक बार पिण्डपात करते हुए सारिपुत्र को एक कलछी भात दिलवाया था।

धर्म-सेनापति सारिपुत्र की उदारचित्तता की चर्चा के बिना उनकी जीवनी अधूरी ही रहेगी। राजगृह के 'सण्डलपल्ल' द्वार के समीप 'धानंजानि' नामक एक ब्राह्मण रहता था, जो सम्पन्न और प्रभावशाली व्यक्ति था। वह कभी बिम्बिसार की सहायता से अपनी जाति के लोगों को लूटता और कभी जातिवालों को मिलाकर, बिम्बिसार को भी धोखा देकर, धन हड़प लेता था। उस समय सारिपुत्र दक्षिणागिरि में चारिका करते थे। जब उन्हें धानंजानि की हरकतों का समाचार मिला, तब वे उसे समझाने के लिए दक्षिणागिरि से राजगृह चले आये। धानंजानि सारिपुत्र का पूर्व-परिचित व्यक्ति था। इतना ही नहीं, जब धानंजानि बीमार पड़ा और अपना अन्त समीप देखने लगा, तब उसने आदमी भेजकर सारिपुत्र को बुलाया। खबर पाते ही सारिपुत्र उससे मिलने आ गये। सारिपुत्र ने उसका अन्त समीप जानकर उससे पूछा—'ब्राह्मण, तुम किस योनि या लोक को पसन्द करते हो?' इस पर धानंजानि ने कहा—'ब्रह्मलोक।' ब्रह्मलोक के प्रति उसकी श्रद्धा तथा ब्राह्मण जानकर सारिपुत्र ने उसे 'ब्रह्म-सारूप्य' का उपदेश करके ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित कराया<sup>१</sup>। और धानंजानि ब्रह्म-सारूप्य का ज्ञान प्राप्त करके मरने पर ब्रह्मलोक चला गया। ऐसी थी सारिपुत्र की कृपाश्रुता और धर्म-निरपेक्षता।

इसी तरह वज्जि-देश के 'पण्डजितट्ठित' ग्राम के निवासी 'महाच्छत्र' स्वविर जब गृहकृत पर्वत पर वास करते हुए रोग-ग्रस्त हो गये, तब सारिपुत्र और खुन्द—दोनों भाई उन्हें देखने गये। रोग की परेशानी के कारण छत्र अपने जीवन से ऊबकर आत्महत्या करने पर उत्सुक हो गये थे। सारिपुत्र उनकी ऐसी अवस्था देखकर अत्यन्त दयाई हो गये। छत्र को उन्होंने अनेक धर्म-कथाएँ सुनाईं और बौद्धधर्मानुयायी होने के नाते अनात्मवाद का उपदेश किया। उस उपदेश से उस समय तो छत्र की शान्ति मिल गई, पर दोनों भाइयों के चले जाने पर आखिर छत्र ने आत्महत्या कर ही ली<sup>२</sup>।

सारिपुत्र का परिनिर्वाण भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण से केवल छह मास पहले, अपने जन्मभूमिवाले नालक ग्राम ( पटना ) में, हुआ था। भगवान् बुद्ध के सामने जब सारिपुत्र की धातुएँ गईं, तब भगवान् ने उन धातुओं पर धावस्ती में एक चैत्य-बनवाया<sup>३</sup>। किन्तु अभी तक इस चैत्य का पता नहीं लग सका है।

बिहार-प्रदेश की अपने जन्म से गौरवान्वित करनेवाले धर्म-सेनापति सारिपुत्र के समय-समय पर जो अमृतमय उपदेश हुए थे, उनमें से कुछ के संग्रह बौद्धग्रन्थों में सूत्र के रूप में मिलते हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. मज्झिम निकाय—१, ५, ७

२. मज्झिम निकाय—१, ५, २

३. दीप निकाय ( अनु० राहुल साङ्गित्यायन ), महापरिनिर्वाणसुत्त, ५० १२४ की टिप्पणी।

- (१) सम्मादिष्टिसुत्त ( मग्गिम निकाय—१।१।६ ) आक्स्ती, जेतवन विहार  
 (२) धम्मदायावसुत्त-उत्तरार्द्ध ( म० नि०—१।१।३ ) " "  
 (३) अन्नङ्कणसुत्त ( म० नि०—१।१।५ ) " "  
 (४) महाहत्थपदोपम सुत्त ( म० नि०—१।३।८ ) " "  
 (५) महागोसिग सुत्त ( म० नि०—१।४।२ ) नादिका, गोसिगसालवन-वज्री  
 (६) महावेदल्ल सुत्त ( म० नि०—१।५।३ ) आक्स्ती, जेतवन विहार  
 (७) गुलिस्सानिसुत्त ( म० नि०—२।२।६ ) राजग्रह, कलन्दकनिषाप  
 (८) धानंजानिसुत्त ( म० नि०—२।५।७ ) " "  
 (९) सेवितव्व-नसेवितव्वसुत्त ( म० नि०—३।२।४ ) आक्स्ती, जेतवन विहार  
 (१०) अनाथपिंडकोवाटसुत्त ( म० नि०—३।५।१ ) आक्स्ती, अनाथपिंड का यह  
 (११) छन्नोवादसुत्त ( म० नि०—३।५।२ ) मरणोन्मुख छत्र को अनात्मवाद का उपदेश ।

महामौद्गल्यायन—भगवान् बुद्ध के दूसरे प्रिय शिष्य थे। इन्होंने भी अपने मित्र सारिपुत्र के साथ ४४ वर्षों तक बौद्धधर्म और संघ की सेवा की थी। यह अत्यन्त मेधावी विद्यार्थी थे। सारिपुत्र को अर्हत्त्व प्राप्त करने में जहाँ इक्कीस दिनों का समय लगा था, वहाँ इन्होंने सात ही दिनों में अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया था। एक बार भगवान् बुद्ध जब 'चातुमा' ग्राम में थे, तब सारिपुत्र और मौद्गल्यायन-दोनों से एक प्रश्न किया कि मैं यदि भिक्षु-संघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर लूँ, तो तुम्हें कैसा लगेगा? इस प्रश्न का उत्तर अपने-अपने विचारानुसार दोनों ने दिया; पर बुद्ध ने मौद्गल्यायन के उत्तर को ही साधुवाद दिया। सारिपुत्र के उत्तर के लिए तो बुद्ध ने यहाँ तक कहा कि तुम्हारे मन में ऐसा विचार ही कैसे आया?।

महामौद्गल्यायन का जन्म भी पटना जिले के नालन्दा के समीप 'कोलित'<sup>१</sup> नामक ग्राम में हुआ था। ये भी ब्राह्मण-पुत्र थे और सारिपुत्र के समान ही ब्राह्मण-ग्रन्थों के दिग्गज विद्वान् थे। सारिपुत्र के साथ इन्होंने भी 'संजय' के यहाँ 'मीमांसा-शास्त्र' का अध्ययन किया था। बौद्धसंघ में सारिपुत्र के बाद इनका ही स्थान था। ये संघ के श्रद्धिमानों में अग्रणी थे। सारिपुत्र ने 'राहुल' को प्रव्रज्या दी थी; पर मौद्गल्यायन ने केश काटकर कापाय वस्त्र दिया और 'शरण' में प्रतिष्ठित किया था।

महामौद्गल्यायन की मृत्यु जिस तरह हुई, वह इतिहास में एक अत्यन्त दर्दनाक

१. महाबोद्धि के प्रश्नों के उत्तर के रूप में।

२. बुद्धवर्तिषादित धर्मों की व्याख्या, भगवान् बुद्ध के सम्मुख ही।

३. मग्गिम निकाय ( चातुम सुत्त )—२, २, ७.

४. 'यह स्थान इस समय 'जगदीशपुर' कहलाता है और 'बकगार्वा' से डेढ़ मील दक्षिण-पश्चिम में है इसका प्राचीन नाम 'कुलिका' है।'।

—तपोभूमि ( रामगीपाल मिश्र : हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००७ )—पृ० २१४  
 किन्तु, हमारी समझ में 'कोलित' आज का 'कोरई' अथवा 'ककौला' ग्राम होगा।—जे०



घटना है। सारिपुत्र की मृत्यु के ठीक पन्द्रहवें दिन, अग्रहायण कृष्ण अमावस्या की रात में, राजगृह के एक आश्रम में, धर्म-द्रोहियों ने मौद्गल्यायन की हत्या कर दी। यह घटना ऐसी लगती है कि जैसे मौद्गल्यायन ने ही, अपने अन्यतम मित्र सारिपुत्र की मृत्यु का दुःख मह्य न करने के कारण अपनी मौत को बुला लिया और ठीक पन्द्रह दिन बीतते-बीतते मृत्यु का आलिंगन कर लिया एवं काल ने मौद्गल्यायन की पुकार सुनकर अपने यमदूतों की ही हत्यारों के वेश में भेजा। जो हो, अमावस्या की अंधेरी रात में हत्यारों ने मौद्गल्यायन की सूनी कुटी को घेरकर लाठियों के प्रहार से उनके मस्तक को चूर-चूर करके रात्र को एक झाड़ी में फेंक दिया था<sup>१</sup>। खैर, संसार के महामानवों का ऐसा दुःखद अन्त प्रायः देखा गया है।

मगध-देश के इन दो ब्राह्मण-भिक्कुओं का बौद्धसंघ में कितना बड़ा सम्मान था, इसका अंदाज नहीं लगाया जा सकता। भगवान् बुद्ध जिस समय 'आवस्ती' के जेतवन आश्रम में थे उस समय 'कोकालिय' नाम का भिक्कु उनसे मिलने आया<sup>२</sup>। उसने बुद्ध से कहा—'भगवन, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन पापेच्छुक हैं।' इतना सुनते ही बुद्ध को जैसे काठ मार गया। उन्होंने कहा—'कोकालिय' ऐसा मत कहो, ऐसा मत कहो। सारिपुत्र-मौद्गल्यायन के प्रति श्रद्धा रखो, वे बड़े ही उदार हैं।' किन्तु कोकालिय ने फिर वही बात दुहराई। इस तरह बुद्ध ने उसे तीन बार समझाया; पर बुद्ध की बातों पर उगने कुछ भी ध्यान नहीं दिया और वह हर बार सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को पापेच्छुक कहता ही रहा। फल यह हुआ कि कोकालिय के सारे शरीर में कुष्ठ फूट गया। वह सड़-सड़ कर मरा और अन्त में 'पद्म' नरक में गया। अन्त में बुद्ध ने भिक्कुओं को बुलाकर कोकालिय की करनी बतलाई और उसके फल का भी वर्णन किया। नरक में कोकालिय कितना कष्ट पा रहा है, भिक्कुओं को बुद्ध ने यह भी बतलाया था।

अपने इन दो शिष्यरत्नों की मृत्यु से भगवान् बुद्ध को कितनी पीड़ा पहुँची होगी, इस सम्बन्ध में हम कल्पना भी नहीं कर सकते। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इनकी मृत्यु के बाद छह मास के भीतर ही बुद्ध का भी परिनिर्वाण हो गया। भगवान् बुद्ध भावस्ती में सारिपुत्र का चैत्य बनवाकर आये ही थे कि उन्हें मौद्गल्यायन के लिए भी राजगृह में उनकी पातुओं पर चैत्य बनवाना पड़ा<sup>३</sup>। राजगृह से बुद्ध नालन्दा, पाटलिपुत्र होते हुए गंगा पारकर 'उक्काचेल' (मोनपुर) पहुँचे। उसी उक्काचेल की परिषद् में भगवान् बुद्ध ने मौद्गल्यायन की मृत्यु का दुःख प्रकट किया था—'भिक्कुओ! सारिपुत्र-मोग्गलान के बिना यह परिषद् सूनी लगती है। वे जिस दिशा में रहते थे, वह अपेक्षा-रहित होती थी'<sup>४</sup>। बुद्ध की मर्मन्तक पीड़ा का अन्दाज बहुत-कुछ इन वाक्यों से होता है।

१. बुद्धचर्या (म० प० राहुल सांकृत्यायन) — ५० ५, १६

२. मिलिन्द-वरण, वर्ग ४ प्रश्न ३२

३. सुत्तनिपात — ३५

४. देखिए—दीप निकाय (म० प० राहुल सांकृत्यायन) ५० २२४ की टिप्पणी।

५. संवत्त निकाय — ४५, ९, ४

भगवान् बुद्ध ने सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के सम्बन्ध में एक बार कहा था—“मिच्छुओ ! सारिपुत्र-मौद्गल्यायन की सेवा करो। उनके समीप जाओ। मिच्छुओ ! सारिपुत्र और मौद्गल्यायन पंडित हैं, सब ब्राह्मचारियों के अनुग्राहक हैं। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन आर्यसत्त्वों का विस्तारपूर्वक व्याख्यान कर सकते हैं, प्रकाशन कर सकते हैं। मिच्छुओ ! सारिपुत्र जन्मदाता की तरह हैं और जन्म लिये हुए को पोसनेवाले की तरह मौद्गल्यायन हैं।”<sup>१</sup> कैसे थे वे दो महारत्न, जिनके सम्बन्ध में बिल्कुल राग-मोह-शून्य बुद्ध ऐसा वाक्य उच्चारण करते थे।

भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में ही बिहार-प्रदेश ने बौद्ध संघ को जो एक तीसरा नर-रत्न प्रदान किया था, उसका नाम ‘महाकाश्यप’ था। महाकाश्यप तीन वेदों और हिन्दू-दर्शन के षष्ठाद तथा अगाध विद्वान् थे<sup>२</sup>। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के पहले ही सारिपुत्र और मौद्गल्यायन तो चल बसे थे; पर महाकाश्यप अभी जीवित थे।

महाकाश्यप बुद्ध के निर्वाण के बाद इसी महामानव ने बौद्ध-धर्म के संडे को जरा भी झुकने नहीं दिया; बल्कि धर्म के संडे के स्तम्भ-दंड को महाकाश्यप ने ऐसा स्थिर गाड़ दिया, जिससे आजतक भी बौद्धधर्म का झंडा झुका नहीं—जैसा ही उठता गया<sup>३</sup>। बुद्ध-निर्वाण के बाद यदि सगंध का यह ब्राह्मण-पुत्र बौद्धसंघ में नहीं होता, तो कहा नहीं जा सकता कि बौद्धधर्म की क्या दशा होती। भगवान् बुद्ध के समय में ही बार-बार संघ-भेद दिखाई पड़े थे, जिनके चलते बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद संघ में विस्फोट होने ही वाला था, जिसे महाकाश्यप ने अपने प्रताप से जहाँ-के-तहाँ ठंडा कर दिया। आज बौद्ध-संसार बहुत कुछ महाकाश्यप का श्रेणी है, जिसके प्रताप और प्रभाव के चलते मानवमात्र का कल्याण करनेवाला बौद्धधर्म-जैसा धर्म उसे प्राप्त हुआ।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के तीन महीने के अन्दर ही महाकाश्यप ने धर्म को व्यवस्थित और दृढ़ करने के लिए चुने हुए ५०० मिच्छुओं की एक सभा, राजगृह में, कराई थी, जो ‘प्रथम संगीति’ के नाम से प्रसिद्ध है। इस संगीति के धर्माचार्य महाकाश्यप स्वयं बने थे। इसी महासभा में बौद्धधर्म की व्यवस्थित और स्थायी नींव डाली गई। बौद्धसंघ में महाकाश्यप इतने प्रभावशाली स्थिति हुए कि बाद में इनके नाम पर बौद्धधर्म में एक ‘महाकाश्यपीय’ सम्प्रदाय ही बन गया था और जिसका अस्तित्व आजतक भी शेष है।

महाकाश्यप का जन्म पटना जिले के ‘महातीर्थ’ नामक ग्राम में हुआ था<sup>४</sup>। सारिपुत्र-मौद्गल्यायन की तरह यह भी ब्राह्मण-वंश के ही कुलभूषण थे। छात्रावस्था व्यतीत कर ये ब्रह्मचर्या और ब्राह्मण-शास्त्रों के पारंगत पंडित हुए। वचन से ही रहस्य-कर्म में इनकी अभिरुचि नहीं थी। इनके माता-पिता जब-जब इनके विवाह की चर्चा चलाते थे, वे टाल

१. मज्झिम निकाय—३, ४, १

२. देखिए—थेरगाथा (अट्टकथा—३०) और अंगुत्तर निकाय (अट्टकथा)—१, १, ४

३. महावंस, परिच्छेद ३, स्तोक ३८।

४. देखिए—थेरगाथा (अट्टकथा)—१० और संयुक्त निकाय (अट्टकथा)—१५, ११

जाते थे। किन्तु, अन्त में माता-पिता के रात-दिन के आग्रह पर 'महाकाश्यप' ने सम्मति देकर उनसे अपना पिण्ड छुड़ाया।

महाकाश्यप के माता-पिता ने अपनी वधू के चुनाव के लिए एक परम रमणीय सुवर्ण-प्रतिमा का निर्माण कराया और उसके अनुरूप वधू को ढूँढ़ने के लिए, प्रतिमा को साथ में लेकर, ब्राह्मणों को विदा किया। ब्राह्मण उस सुवर्ण-प्रतिमा को लिये कन्या ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मद्र-देश की राजधानी 'साकल' में पहुँचे। वहाँ वे नदी के एक घाट पर प्रतिमा रख करके स्नान करने लगे। उसी समय, उसी घाट पर साकल नगर की कुछ स्त्रियाँ भी स्नान करने आई थीं। कहते हैं कि उन स्त्रियों में से एक स्त्री उस सुवर्ण-प्रतिमा के पास आकर उसके कंधे पर हाथ रखकर कहने लगी—'अरे, यह तो मेरी मालिक की कन्या है। अरी, तु यहाँ क्यों खड़ी है? चल, घर चलें।' किन्तु जब उसे मालूम हुआ कि यह तो इन आगन्तुकों की प्रतिमा है, मेरी मालिकिन की कन्या नहीं, तब वह अपने भ्रम पर लज्जित होकर भाग गई। वस, अब क्या था, उन ब्राह्मणों को प्रतिमा के अनुरूप कन्या का पता लग गया। वे पता लगाकर उस कन्या के पिता के पास पहुँचे और विवाह का प्रस्ताव कर उसे राजी कर लिया। अन्त में उसी कन्या से महाकाश्यप का विवाह हुआ।

महाकाश्यप का विवाह बीस वर्ष की आयु में हुआ था। इनकी पत्नी का नाम 'भद्रा कापिलायनी' था, जो विवाह के समय सोलह वर्ष की थी और मद्र-देश के कौशिक गोज की कन्या थी। भद्रा कापिलायनी कैसे घनाट्य ब्राह्मण की पुत्री थी, इसका अन्दाज आप इसी से समझ सकते हैं कि जब वह पिता के घर से पति के घर आने लगी थी, तब उसके पिता ने दहेज में ५५ हजार बैलगाड़ियों पर लादकर घन दिया था। महाकाश्यप स्वयं ही एक अति घनाट्य ब्राह्मण थे। इनके शरीर में स्नान के समय जो उद्वर्तन (उबटन) मले जाते थे, उसके धोने पर उसकी गन्ध से बाहर की नालियाँ भर जाती थीं। इनके खजाने में ६० बड़े-बड़े चह्वच्छे थे। इनके खेत चारह योजन में थे और इनकी जमींदारी में लंका के अनुराधापुर-जैसे १४ बड़े-बड़े गाँव थे। इनके द्वार पर हाथी, घोड़े और रथ के झुंड लगे रहते थे। ऐसे वैभव-विलास में पलकर भी महाकाश्यप विवाह के बाद, कभी अपनी पत्नी की शय्या पर, मिथुन वासना से युक्त होकर नहीं सोये। इसका एक कारण यह भी कहा जाता है कि महाकाश्यप ब्राह्मण-धर्म के माननेवाले थे और इनकी पत्नी नास्तिक थी।

महाकाश्यप नाम बौद्ध नाम है। इनका घरेलू नाम 'पिप्पली माणवक' था। इनके पिता का नाम 'कपिल' था। एक दिन पिप्पली जब अपने खेतों का निरीक्षण कर रहे थे, तब इन्होंने देखा कि कौवे केचुएँ को मिट्टी से निकाल-निकालकर खा रहे हैं। पिप्पली ने अपने साथियों से पूछा कि इसका दोष किस पर लगेगा? लोगों ने कहा कि यह दोष तो खेत के मालिक पर ही लगेगा। ऐसा सुनकर पिप्पली को अपने गारें वैभव से विरक्ति हो गई और इन्होंने संसार-त्याग करने का निश्चय कर लिया। कहते हैं कि पिप्पली जब अपनी इतनी बड़ी सम्पत्ति को लात मारकर भगवान् बुद्ध के पास प्रव्रजित



होने लगे, सब इनके आश्रित हजारों नर-नारी मार्ग में हाथ जोड़कर रोते-कलपते खड़े हो गये। वे सब अनाथ होकर बोले—“आर्य, हमलोग अनाथ हो रहे हैं, हमलोगों को किस पर छोड़े जा रहे हैं! ऐसा न कीजिए।” अपने आश्रितों की ऐसी करुण दशा देखकर भी पिप्पली रागशून्य महामानव की तरह अडिग, निश्चय और अचल विश्वासपूर्ण वाणी में बोले—“तुम में से हरएक को यदि दासता से मुक्त करने लगूँ तो एक सौ वर्षों में भी यह काम पूरा नहीं होगा। तुम सब अपने-आप सिरों को धोकर मुक्त हो जाओ।” इतना कहकर पिप्पली सब को रोते-कलपते छोड़कर अपने गन्तव्य पथ पर चल पड़े।

पिप्पली जब प्रव्रजित होने के लिए घर से निकले, तब भगवान् बुद्ध राजगृह में ही थे। उन्हें जब मालूम हुआ कि इस प्रदेश का महाप्रभावशाली ब्राह्मण पिप्पली प्रव्रजित होने आ रहा है, तब वे सारे भिक्षु-संघ को छोड़कर, अकेले ही तीन कौस आगे बढ़कर राजगृह और नालन्दा के बीच ‘बहुपुत्रक’<sup>१</sup> नामक बट-वृक्ष के नीचे पिप्पली से मिले। इसी स्थान पर पिप्पली को भगवान् बुद्ध ने प्रव्रज्या दी और संघ की शरण में लिया। प्रव्रज्या के बाद बुद्ध ने पिप्पली को ‘सम्पक् प्रहाण’ चतुःसूत्री का उपदेश किया जिसके चार अंग इस प्रकार हैं—(१) वर्त्तमान पापों का नाश करना, (२) भविष्य में उनकी वृद्धि न होने देना, (३) वर्त्तमान पुण्यों की रक्षा करना और (४) वध्यासम्भव अर्जित पुण्यों की वृद्धि करना। इसके बाद भगवान् ने विनय के नियमों की महत्ता बतलाई तथा इन्द्रियों और उनके द्वारा प्राप्त अनुभवों के नियंत्रण का भी महत्त्व कहा। उन्होंने दस कुशलों और दस अकुशलों<sup>२</sup> की भी शिक्षा दी तथा पिप्पली को तीन दोषों (काम, भव और अविद्या) एवं राग, द्वेष और मोह से छुड़कारा दिलाया।

शिक्षा के बाद भगवान् बुद्ध ने महाकाश्यप के शरीर पर की रेशमी चादर स्वयं ले ली और अपना परम पवित्र चीवर ‘महाकाश्यप’ के ऊपर डाल दिया<sup>३</sup>। इतना बड़ा सम्मान बुद्ध की ओर से कभी किसी भिक्षुक को नहीं मिला। यही कारण था कि महामौद्गल्यावन की तरह महाकाश्यप भी सात ही दिनों की तपस्या से, तेरह अवधूतों के गुणों का लाभकर, प्रतिसंविद्-साहित अर्हत्त्व को प्राप्त कर गये। महाकाश्यप धूतवादी अर्हत् कहलाते थे। बौद्ध संघ में इनका तीसरा स्थान था।

महाकाश्यप की पत्नी भद्रा कापिलायनी यद्यपि अपने पति के साथ ही प्रव्रजित होने के लिए आईं, तथापि वे अलग एक नास्तिक सम्प्रदाय में ही रहकर साधना करती थीं। बुद्ध-संघ में वे इसलिए भी उस समय प्रवेश न कर पाईं कि संघ में स्त्रियों का प्रवेश तब निषिद्ध था। किन्तु, जब महाप्रजापति गौतमी को, अपने साथ की ५०० नारियों के साथ,

१. पटना जिले का ‘सिलाव’ नामक ग्राम ले० १-

२. थोरी, बिस्वा, बुरे आचरण, असत्य भाषण, सीला वचन, परमिदा, असंगत भाषण, लोभ, द्वेष और कुवितार—ये १० अकुशल हैं। इनसे बचना ही १० कुशल हैं ले० १-

३. संयुक्त निकाय—१५, ११

संघ में प्रवेश की आज्ञा मिल गई, तब 'भद्रा कापिलायनी' भी बौद्धसंघ में आ गईं। इन्होंने भी पीछे अर्हत्-पद प्राप्त किया। 'शेरीयाथा' में इनके भी उद्गार ग्रथित हैं।

बौद्धसंघ में 'महाकाश्यप' का कितना बड़ा सम्मान था, यह इसी से जाना जा सकता है कि इन्होंने 'आनन्द' जैसे विद्वान् को 'विनय' का उपदेश किया था। आनन्द कभी महाकाश्यप का नाम लेकर नहीं पुकारते थे; क्योंकि इनको वे गुरु मानते थे। इनका प्रभाव आनन्द के लिए इतना ही काफी होगा कि भगवान् बुद्ध को परिनिर्वाण किये सात दिन बीत गये थे; फिर भी उनका दाह-संस्कार तब तक नहीं हुआ, जबतक महाकाश्यप ने वहाँ पहुँचकर शव-शरीर का दर्शन न कर लिया। ये बौद्ध नियमों के पालन करने में अत्यन्त कट्टरपंथी थे। प्रथम-संगीति के अवसर पर इन्होंने ४८६ अर्हत्तों के बीच, बुद्ध के प्रिय शिष्य तथा सूत्रों के अद्वितीय ज्ञाता 'आनन्द' को विना, अर्हत्-पद प्राप्त किये बैठने नहीं दिया<sup>१</sup>। इनका ऐसा ही मानधनत्व और गौरवशील व्यक्तित्व था कि एक बार आनन्द को इन्होंने 'आबुस कुमार' कहकर सम्बोधित किया। उस समय ऐसा सम्बोधन शायद आनन्द को अच्छा नहीं लगा। आनन्द ने तो कुछ नहीं कहा; पर उनके पक्ष को लेनेवाली भिक्षुणी 'शुल्लनन्दा' ने कहा—“दुम्बर सम्प्रदाय में रहनेवाले<sup>२</sup> काश्यप ने वैदेहमुनि आर्य आनन्द को 'कुमार' कहकर नीचा दिखाने का साहस कैसे किया<sup>३</sup>!” महाकाश्यप को जब यह बात मालूम हुई, तब इन्होंने शुल्लनन्दा को तो कुछ नहीं कहा; पर 'आनन्द' को बुलाकर फटकारते हुए कहा—“शुल्लनन्दा ने आवेश में आकर ऐसा कहा है। आबुस आनन्द! जब से काश्यप प्रव्रजित हुआ, भगवान् बुद्ध को छोड़कर इसने किसी को शास्ता नहीं कहा<sup>४</sup>।” आनन्द सिर झुकाये सुनते रहे, कुछ नहीं बोल सके।

उपयुक्त सारी बातें बतलाती हैं कि महाकाश्यप कैसे जानी, किस कोटि के प्रज्ञावान् तथा किस तरह मान के धनी थे। ये भूतवादियों में अग्रणी थे<sup>५</sup>। इन्हीं के प्रभाव के कारण बुद्ध का विरोधी सम्राट् 'अजातशत्रु' बौद्धधर्म का प्रेमी बना और बुद्ध की धातुओं पर चैत्य-निर्माण कराया।

१. महावंश, परि० ३, श्लोक २४।

२. 'महाकाश्यप' भूतवादी बौद्ध थे।

३. इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'शुल्लनन्दा' के दिमाग में चतुर्विधत्व की भावना काम कर रही थी; क्योंकि वह शान्दकूल से आकर प्रव्रजित हुई थी और 'काश्यप' माध्यम थे।—ले०

४. संयुक्त निकाय—१५, ११, ८

५. अंगुत्तर निकाय—१, २, १, ७

फ०—१०

## बुद्ध की पर्यटन-भूमि और विभिन्न घटनाएँ

यदि भगवान् बुद्ध को बौद्धधर्म-गगन का सूर्य कहा जाय, तो सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और महाकाश्यप को उस गगन का सोम, शुक और बृहस्पति कहा जायगा। बिहार-प्रदेश के इन अतिशय वेदीयमान नक्षत्रों से आज भी बौद्ध-गगनांगन उद्भासित है। इनके अतिरिक्त भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में ही बौद्धधर्म के अभ्युत्थान में विहार-प्रान्त से जो विविध प्रकार की सहायता मिली, उसका दिग्दर्शन यहाँ करा देना आवश्यक है।

भगवान् बुद्ध ने बौद्धधर्म के स्थापित के लिए ४६ वर्षों तक पर्यटन और धर्म-प्रचार का प्रयत्न किया। उस पर्यटन-काल में ४६ वर्षों के वर्षावास किस तरह और कहाँ-कहाँ हुए थे, इसके स्पष्टीकरण से पाठकों को घटनाओं के क्रम समझने में बहुत-कुछ सहायता मिलेगी और विषय का प्रतिपादन भी यथातथ्य इदयंगम होगा। यद्यपि बौद्धग्रन्थों में इन वर्षावासों के काल का व्यवस्थित रूप नहीं मिलता, तथापि 'अंगुत्तर निकाय' श्रद्धकथा (२।४।५) में वर्षावास का जो क्रम उपलब्ध होता है और जिसका अनुवाद महापरिनिर्वाण राहुल सांकृत्यायन ने अपनी 'बुद्धचर्या' (पृ० ७५) में किया है, उसकी तालिका इस प्रकार है—

१ला	वर्षावास	अभिपत्तन (सारनाथ) में
२रे से ४थे तक का	"	राजगृह में
५वाँ	"	वैशाली में
६ठा	"	मकुल पर्वत पर
७वाँ	"	त्रयस्त्रिंश में
८वाँ	"	सुसुमारगिरि (भरग) पर
९वाँ	"	कोशाम्बी में
१०वाँ	"	पारिलेयक में
११वाँ	"	नाला ग्राम (भरग) में
१२वाँ	"	वैरजा में
१३वाँ	"	चालिय पर्वत पर
१४वाँ	"	आवस्ती में
१५वाँ	"	कपिलवस्तु में
१६वाँ	"	आलवी में
१७वाँ	"	राजगृह में
१८वाँ और १९वाँ	"	चालिय पर्वत पर
२०वाँ	"	राजगृह में



२१वें से ४५वें तक का	॥	श्रावस्ती में
अन्तिम ४६वाँ	॥	वैशाली में

इस तरह ४६ वर्षों के धर्म-प्रचारवाले चार महीनों के वर्षावास के समय भगवान् बुद्ध ने उपर्युक्त स्थानों में बिताये। शेष प्रतिवर्ष के आठ महीनों में वे पर्यटन करके धर्म-प्रचार करते रहे। वे विहार-प्रदेश के किस स्थान में किस वर्ष गये तथा किस वर्ष किन-किन व्यक्तियों से उनकी भेंट हुई, इसका प्रामाणिक और ठीक-ठीक समय बतलाना अति कठिन है। हाँ, बुद्धचरिका के जिन भू-भागों का उल्लेख प्राप्त होता है, उनका तथा तत्सत् भाग के व्यक्तियों का एवं घटनाओं का वर्णन हम यहाँ करेंगे, जिनसे उनकी धर्म-वृद्धि में विहार-प्रदेश के सहयोग का मूल्यांकन स्पष्ट होगा। वर्ष-भेद से एक ही स्थान में कई घटनाएँ घटित हुईं; अतः स्थान के अनुसार घटनाओं को मिला देने से ऐतिहासिक कालक्रम की परंपरा टूट जायगी, जो उचित नहीं होगी। अतः, घटनाओं के तारतम्य में उलट-फेर स्वाभाविक है। फिर भी, प्राप्त आधारभूमि के अनुसार हम कालक्रम को ध्यान में रखकर ही विषयों का प्रतिपादन करने की चेष्टा करेंगे।

भगवान् बुद्ध जब धर्मचक्र-प्रवर्तन करके राजगृह में आये और सारिपुत्र-मौद्गल्यायन के साथ संजय के २५० शिष्य इनके पास जाकर प्रवर्जित हो गये, तब राजगृह में कुहराम मच गया। अब इनके प्रभाव से यहस्थ के लड़के भी घर-द्वार छोड़कर सिर मुड़ाने लगे थे। इससे राजगृह के निवासी बहुत ही परेशान हो गये। लोग इधर-उधर बोलने लगे—“यह गौतम अपुत्र बनाने के लिए उतरा है, विधवा बनाने के लिए आया है, कुल का नाश करने के लिए पहुँचा है—”

अपुत्र क्ताय पटिपन्नो समणो गौतमो, वेधव्याय पटिपन्नो समणो गौतमो,  
कुलपञ्चेदाय पटिपन्नो समणो गौतमो।

—महावग्गो : १।४।२।१५

इन निन्दा-वाक्यों को पैलाने में राजगृह के ब्राह्मणों का विशेष हाथ था। जब भिक्षुओं ने भगवान् बुद्ध से जाकर कहा कि राजगृह-निवासी इस प्रकार बोलकर हमारी निन्दा करते हैं, तब भगवान् बुद्ध ने कहा—“भिक्षुओं ! इस तरह के निन्दा-वाक्य केवल एक सप्ताह-भर रहेंगे। अपने-आप एक सप्ताह बाद लुप्त हो जायेंगे।” वस्तुतः, उस तरह के निन्दा-वाक्य एक सप्ताह बाद अपने-आप समाप्त भी हो गये।

अवन्ती के राजा चण्डप्रघोत को जब यह मालूम हुआ कि सम्राट् बिम्बिसार के यहाँ बुद्ध अवतीर्ण हुए हैं, तब उसे भी चिन्ता हुई कि उस सिद्धपुरुष को मेरे राज्य में भी आना

- (१) किन्तु हिसाब लगाने से बुद्ध का ४५ वीं वर्षावास होना निश्चित मालूम पड़ता है; क्योंकि २६ वर्ष की अवस्था में वे संन्यासी हुए, ३५ वर्ष में बुद्धत्व लाभ किया और ८० वर्ष की आयु में, वर्षावास से पहले, वैशाल-भूमिमा की, उनका परिनिर्वाण हुआ। इसलिए ४५ वर्षावास ही होते हैं, अन्तिम वर्षावास वैशाली में उनका नहीं हुआ।—ले०

चाहिए<sup>१</sup>। उसने अपने पुरोहित महाकात्यायन को बुद्ध को लाने के लिए भेजा। पर महाकात्यायन राजगृह में आकर स्वयं बौद्ध भिक्कु हो गये। इसी राजगृह में जब बुद्ध थे, तब उनके पिता 'शुद्धोदन' को मालूम हुआ कि सिद्धार्थ बुद्ध होकर 'राजगृह' में निवास करता है। उन्होंने अपने विश्वासपात्रों को सिद्धार्थ को ले आने के लिए भेजा, जिसमें काल उदायी नामक व्यक्ति भी था। जो भी आये, सब बुद्ध के उपदेशों से संसार छोड़ कर भिक्कु हो गये। इसी राजगृह के वेणुवन कलन्दक-निवाण में बुद्ध ने सप्तवर्षीय राहुल को काद-कर्म, वचन-कर्म और मन-कर्म के परिशोधन का उपदेश किया था<sup>२</sup>। राहुल के रहने के लिए राजगृह के पास ही, आम्रलडिका<sup>३</sup> में आश्रम बना था, जहाँ राहुल 'सारिपुत्र' के तत्त्वावधान में साधना किया करते थे।

जिस राजगृह के ब्राह्मणों ने बुद्ध के विरोध में मिन्दा-वाक्य फैलाया था कि गौतम कुलहीन करने और विधवा बनाने के लिए उतरा है, उसी कुल का 'राध' नामक ब्राह्मण बुद्ध के पास प्रव्रज्या लेने आया। राध धर्म-विरोधी कुल का है, इसे संघ में नहीं लिया जाय, इसका जोरों से प्रचार बौद्ध भिक्कुओं ने किया तथा संघ में लेने से इनकार कर दिया<sup>४</sup>। इस पर 'राध' ने अनशन आरम्भ कर दिया। वह दुर्बल, रुद्ध और दुर्बल हो गया, उसकी हड्डी-हड्डी दिखाई पड़ने लगी<sup>५</sup>। जब भगवान् बुद्ध की यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने 'सारिपुत्र' को बुलाकर कहा कि 'सारिपुत्र' तुम्हें इस ब्राह्मण का कुछ किया उपकार बाद है? तब सारिपुत्र ने कहा—“इध में भन्तों सो जाह्मणी राजगृह पियडाय चरन्तस्स कटच्छु भिक्खु दापेसि<sup>६</sup>।” अर्थात्, हाँ भगवन्, मुझे राजगृह में भिक्षा के लिए घूमते समय इस ब्राह्मण ने कलछी-भर भात दिलाया था। इस पर भगवान् बुद्ध ने कहा—“साधु सारिपुत्र! सत्पुरुष कृतज्ञ होते ही हैं।” और, उन्होंने सारिपुत्र को उसे दीक्षित करने की आज्ञा दे दी। उसी समय भगवान् बुद्ध ने सारिपुत्र को प्रव्रज्या देने की विधि भी बतलाई। संपूर्ण संघ में यही 'राध' प्रतिमाशालियों में अग्रणी हुआ और संघ में इसे ४०वाँ स्थान प्राप्त हुआ<sup>७</sup>।

इसी 'राजगृह' के 'शतितवन' में जब भगवान् बुद्ध थे, तब राजगृह के श्रेष्ठी ने भगवान् को संघ के साथ भोजन के लिए निमंत्रण दिया। उसी समय 'भावस्ती' का 'अनाथ पियडक' श्रेष्ठी 'राजगृह' अपने साले के वहाँ आया था, वह राजगृह के श्रेष्ठी का बहनोई था<sup>८</sup>।

१. अंगुत्तर निकाय (अट्ठकथा) — १, १, १०

२. मज्झिम निकाय — २, १, १

३. पटना मिले का आधुनिक 'मिलाव' नामक कस्बा। — ले०

४. 'तं भिक्खु न दच्छिस्स पण्णा जेतुं।' — महावग्गो १, ५, ५, १

५. तत्रैव।

६. महावग्गो — १, ५, ५, ५

७. अंगुत्तर निकाय — १, २, १, ७

८. संवुत्त निकाय — (अट्ठकथा) १०, ८

अपने साले के घर बहुत बड़ी तैयारी देखकर उसने जाना कि बुद्ध-जैसे महात्मा के सत्कार के लिए इतनी बड़ी तैयारी हो रही है। 'अनाथपिंडक' स्वयं भगवान् बुद्ध से मिलकर धर्मदीक्षित हुआ और 'श्रावस्ती' आने के लिए उसने वहीं निमंत्रण दिया।

इसी साल राजगृह में 'पिंडोल भारद्वाज' ने श्रद्धि-प्रातिहार्य (योगबल का चमत्कार) दिखलाया, जिस पर भगवान् ने अपने सभी शिष्यों को श्रद्धि-प्रातिहार्य दिखाने से सदा के लिए मना कर दिया; बात यह हुई कि 'राजगृह' के श्रेष्ठी ने एक कौमती चंदन की लकड़ी का पात्र बनवाकर उसे बाँस में ढँगवा दिया और बाँस को आँगन में गाड़ दिया। उसने एलान कर दिया कि जो कोई श्रद्धिमान् हो, उस पात्र को उड़कर ले ले। सभी सम्प्रदाय के लोग हार मानकर चले गये। तब बुद्ध के शिष्य 'पिंडोल भारद्वाज' ने उड़कर पात्र उतार लिया। इस पर राजगृह के लोग कहने लगे, ये बुद्ध के चेलों कैसे लालची हैं, जो एक लकड़ी के पात्र के लिए श्रद्धि-प्रातिहार्य दिखाने चलते हैं? भगवान् बुद्ध को जब यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने उस पात्र को तोड़वा दिया और भविष्य में गृहस्थों को न दिखाने योग्य, श्रद्धि-प्रातिहार्य करने से भिक्षुओं को बिल्कुल मना कर दिया। श्रद्धि-प्रातिहार्य दिखाने का काम केवल अपने लिए सुरक्षित रखा।

राजगृह में रहते हुए ही बुद्धत्व-प्राप्ति के तीसरे वर्ष चारिका करते भगवान् बुद्ध कपिल-वस्तु गये और वहाँ राहुल को दीक्षा दी तथा वहाँ से चलकर वैशाली आये। वहाँ वे 'कुटागारशाला' में ठहरे। उस समय वैशाली का एक 'तन्तुवाय' भिक्षुओं के निवास के लिए स्वयं मकान बना रहा था। मकान बनाने की कला वह नहीं जानता था। उसका मकान तीन-तीन बार गिर गया। कोई उसे न उचित सलाह देता था, न सहायता करता था। भगवान् बुद्ध को जब यह बात हुआ कि दान-कर्म के लिए वह गरीब तन्तुवाय इतना परेशान है, तब उन्होंने भिक्षुओं को उसे सहायता देने के लिए भेजा। भिक्षुओं की मदद से बेचारा अन्त में सफल हुआ और उसने मकान बनाकर भगवान् बुद्ध को दान कर दिया। वैशाली की इसी शाला में भगवान् ने अपनी मौसी महाप्रजापति को, जो ५०० स्त्रियों के साथ कपिलवस्तु से चलकर वैशाली आई थी, संघ में सम्मिलित किया था<sup>१</sup>। तब से संघ में स्त्रियों के लिए स्थान विहित हो गया।

भगवान् बुद्ध का जब चौथा वर्षावास राजगृह में हो रहा था, उसी समय 'राजगृह के एक मेले में' उनके छह शिष्य गीत गाते भ्रमण कर रहे थे। भगवान् बुद्ध ने जब सुना, तब भिक्षुओं को गीत गाने और गीत सुनने से मना कर दिया<sup>२</sup>।

इसी राजगृह में कुछ भिक्षु उपासक ऐसे थे, जो शरीर को मल-मलकर स्नान करते, जलविहार करते, तेल मालिश करते, केश में कंघी लगाते, मुख पर पाउडर मलते, और

१. अंगुत्तर निकाय—II, २, १-३।

२. बुद्धवग्गो—X, १, ५ और 'विनयपिटक' (अनु० राहुल साँझवायन)—५० ४२०।



शरीर में अंगराम लगाते थे। राजरुह के लोगों में शिकायत होने लगी कि ये बुद्ध के शिष्य कैसे हैं, जो विलासी की तरह शरीर का प्रसाधन करते हैं। इस पर भगवान् बुद्ध ने शरीर रगड़कर नहाने, कंघी करने, सिर में बड़े-बड़े बाल रखने, कंठसूत्र, कटिसूत्र, आभूषण, तेल-मालिश, अंगराम आदि धारण करने से भिक्षुओं को मना कर दिया।<sup>१</sup>

एक बार भगवान् बुद्ध कोसल से चारिका करते हुए अपने संघ के साथ 'नालन्दा' में आये।<sup>२</sup> 'नालन्दा' में आकर 'प्रावारिक सेठ' के 'आम्रवन' में ठहरे। उस साल 'नालन्दा' में अकाल पड़ा था। मगध के खेतों के पीछे सूखकर टूट हो गये थे। वहाँ 'निगंठनाथपुत्र' (महावीर तीर्थंकर) भी वास कर रहे थे। उसी समय गाँव का मुखिया, जिसका नाम 'असिकबन्धक पुत्र' था, महावीर के आश्रम में आया। साष्टांग दण्डवत् और कुशल-समाचार के बाद 'असिकबन्धक पुत्र' ने महावीर से अकाल की चर्चा छेड़ दी। महावीर ने कहा—“इस समय तो गृहस्थों को अपना पेट भी चलाना कठिन हो रहा है, उस पर यह 'गौतम' अपने इतने बड़े भिक्षु-संघ के साथ 'नालन्दा' आ पहुँचा है। इसके खिलाने-पिलाने और दान देने से तो गृहस्थों की और भी तवाही होगी। हे असिकबन्धक पुत्र, तुम ग्राम के मुखिया हो। तुम्हें चाहिए कि जाकर गौतम से पूछो कि तुम गृहस्थों की रक्षा करना चाहते हो या उनका कुलनाश! इस पर वह तो कहेगा कि हम गृहस्थों की कुल-रक्षा करना चाहते हैं। तब तुम पूछोगे कि रक्षा करना चाहते हो, तो इतनी बड़ी जमात के साथ इस समय यहाँ पधारकर और गृहस्थों से अन्नादि का दान लेकर उनका कुलनाश क्यों करा रहे हो? तब देखना कि वह क्या उत्तर देता है।”

असिकबन्धक पुत्र जब भगवान् बुद्ध के पास पहुँचा और इस तरह का प्रश्न पूछा तो भगवान् ने कहा—“कुल का नाश दान देने से नहीं होता, दान देने से तो कुल की वृद्धि होती है। कुलनाश जिन कारणों से होता है, वे आठ उपधात इस प्रकार हैं—“राजा से, चोर से, आग से, बाढ़ से, धन गाड़ने से, अखड़ी तरह खेती न करने से, कुल में कुपुत्र पैदा होने से और वस्तुओं की नश्वरता से।” फल यह हुआ कि बुद्ध के मीठे उपदेशों से असिकबन्धक पुत्र भगवान् बुद्ध का ही भक्त हो गया।<sup>३</sup>

'दीप निकाय' (१.१२) के 'केवटसुत्त' से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध 'नालन्दा' के इसी 'प्रावारिक' सेठ के आम्रवन में ठहरे हुए थे, तभी बुद्ध के उपासक गृहपति-पुत्र 'केवट' ने भगवान् से प्रार्थना की, कि 'भगवन्, यदि यहाँ आप अद्भिवल दिखलावें, तो अनेक नालन्दावासी आपका सम्मान करेंगे। उससे आप की बड़ी प्रतिष्ठा होगी।' किन्तु बुद्ध ने कहा—“श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थों को मैं अद्भिवल, अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए, नहीं दिखला सकता।” यहाँ 'केवट' को भगवान् बुद्ध ने अद्भि-प्रातिहार्य, आदेशना-प्रातिहार्य और

१. चतुस्रवणी—५, १, १-६

२. संयुक्त निकाय—४०, १

३. बुद्धचर्या—५० १०

अनुशासनोपनिषद्वाच्य बतलाया था। इसमें 'गान्धारी-विद्या' और 'चिन्तामणि-विद्या' का भी उल्लेख आया है, जो तांत्रिक पद्धति की विद्याएँ हैं।

उसी वर्ष भगवान् बुद्ध 'मगध' के 'पंचशाला' नामक ब्राह्मणों के गाँव में गये। उस समय उस ग्राम में कुमारी लड़कियों का बहुत बड़ा कोई त्योहार मनाया जा रहा था, जो शायद वर्षों के निमित्त इन्द्र की प्रसन्नता के लिए आयोजित हुआ था। भगवान् बुद्ध जब चौकर पहन भिक्षा-पात्र लेकर उस गाँव में 'पिंडपात' के लिए गये, तब उन्हें सम्पूर्ण गाँव के किसी घर से एक पिण्ड भी भिक्षा के नाम पर नहीं मिला। ज्ञात होता है कि एक तो ब्राह्मणों का गाँव था, जहाँ बौद्ध भिक्षुओं को लोग पसन्द नहीं करते थे, दूसरे अकाल की स्थिति थी और तीसरे, उत्सव की धूम-धाम थी, जिससे किसी ने बुद्ध की तरफ ध्यान तक भी नहीं दिया। बुद्ध का भिक्षा-पात्र जिस स्थिति में धो-पोछकर रखा था, उसी अवस्था में वापस आ गया। 'संयुक्त निकाय' की कथा में यह बात मिलती है कि जब बुद्ध रिक्तपात्र लौट आये, तब 'मार' सामने प्रकट हुआ और उसने कहा—'भगवन्, पुनः उस गाँव में पिण्डपात के लिए चलो, इस बार हम भोजन दिलवायेंगे।' इस पर बुद्ध ने कहा—'अमात्यर देवों की भाँति हम प्रीतिरूपी भोजन के खानेवाले हैं।' इस वाक्य से स्पष्ट पता चलता है कि पंचशाला के ब्राह्मणों ने बुद्ध के साथ शिष्टता का व्यवहार नहीं किया था न कोई प्रीति-प्रदर्शन ही किया। ब्राह्मणों और बौद्धों के बीच की वह खाई दिन-दिन बढ़ती गई।

भगवान् बुद्ध का ग्यारहवाँ वर्षावात मगध के दक्षिणागिरि के 'एकनाला' ग्राम में हुआ।<sup>२</sup> 'सुत्तनिपात' (सुत्त-४) के अनुसार पता चलता है कि यहाँ 'कृषि-भारद्वाज' नाम का एक अत्यन्त धनाढ्य ब्राह्मण रहता था। अपने दान-पुण्य से बहुत बड़ा यश अर्जित किया था। वह उस क्षेत्र का अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति था। भगवान् बुद्ध ने उसे अपनी शिष्य बनाने के लिए उद्योग किया। बौद्ध धर्म का स्थायित्व तथा प्रसार कैसे होगा, भगवान् बुद्ध इस नीति को अच्छी तरह जानते थे। भगवान् बुद्ध जब अपनी वृहत् शिष्य-मंडली के साथ वहाँ पधारे, तब बरसात आ गई थी। लोग कृषि-कर्म में प्रवृत्त हो रहे थे। 'कृषि-भारद्वाज' भूमि-कर्षण उत्सव मनाने जा रहा था। वह पाँच सौ हलों से जोताई का काम करा रहा था। बुद्ध उपयुक्त अवसर देखकर एक उँचे टीले पर बैठकर समाधि में लीन हो गये। समाधि में स्थिर होते ही उनके शरीर से प्रभा-पुंज फैल उठा। वह चमत्कार देखकर गाँववालों की भीड़ लग गई। 'कृषि-भारद्वाज' ने कहा—'क्या भीड़ लगाये हुए हो? कोई मिठल्लू होगा, जो श्रद्धा-प्रातिहार्य को जीविका का साधन बनाये हुए है। अन्यथा अपने पत्नीने से उपार्जन करके जीविका-निर्वाह करता।' इतना कहकर वह घर लौट गया।

दूसरे दिन दोपहर को 'कृषि-भारद्वाज' जब ब्राह्मणों को भोजन परोस रहा था,

१. संयुक्त निकाय—४, २, =

२. अंगुत्तर निकाय (अट्ठका) - २, ४, २

तब भगवान् बुद्ध चीवर पहन, पात्र लेकर उसके द्वार पर जाकर चुप-चाप खड़े हो गये। इस तरह भिक्षा के लिए खड़े बुद्ध को देखकर भारद्वाज ने कहा—

अहं खो समण ! कसामि च वपामि च, कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जामि ।

त्वंऽपि समण ! कसस्सु च वपस्सु च, कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जस्सुत्ति ॥

अर्थात्, हे भ्रमण, मैं जोतता हूँ, बीता हूँ और जोताई-बीताई करके भोजन करता हूँ। तुम भी खेत जोतो और बीओ, इस तरह उपाजैन करके खाओ।

भगवान् बुद्ध ने कहा—“कृपक होने का धमण्ड क्यों करते हो ! मैं भी जोताई-बीताई करनेवाला कृपक हूँ। पर मेरी जोताई-बीताई तुमसे भिन्न है। मेरी यहस्थी इस प्रकार होती है—

सच्चा वाँघं तपो वुट्ठि, पञ्चा मे युगनंगलं ।

हिरि ईसा मनो योत्तं सति मे फाल पाचनं ॥”<sup>१</sup>

अर्थात्, “श्रद्धा मेरा बीज है, तप वृष्टि है, प्रज्ञा-युग लुआ और नङ्गल ( हलांग ) है, लज्जा नङ्गल-दण्ड है, मन खेत है, स्मृति फाल और डण्डा है।” आगे उन्होंने यह भी कहा कि “मैं सत्य से निरौनी का काम करता हूँ, निर्वाण की ओर ले जानेवाले वीर्य ही मेरे बैल हैं। मेरी खेती अमृत फल देती है। ऐसी खेती करनेवाला व्यक्ति सभी क्लेशों से छुटकारा प्राप्त कर लेता है।” इस तरह के उपदेशों को सुनकर ‘कुपि-भारद्वाज’ बुद्ध के चरणों पर गिर पड़ा और उनका सेवक हो गया। पीछे चलकर इसने प्रव्रज्या ले ली और भारद्वाज नाम से अर्हत् हुआ। इसी की श्रद्धा-भक्ति से प्रसन्न होकर बुद्ध ने एकनाला में चातुर्मास बिताया।

भगवान् बुद्ध वाराणसी से चारिका करते हुए जब दूसरी बार वैशाली आये, तब पुनः कूटागार-शाला में ठहरे। वैशाली से नजदीक ही ‘कलन्दक’ नाम का एक गाँव था। वहाँ के एक सेठ का लड़का, जिसका नाम ‘सुदिश’ या और जो अभी नवरा या, किसी काम से वैशाली आया हुआ था। भगवान् बुद्ध की आयु उस समय ४७ वर्ष की थी<sup>२</sup>। सुदिन्न ने वैशाली में बुद्ध को अपनी परिषद् के बीच उपदेश करते देखा। उसने भगवान् से प्रव्रज्या देने के लिए प्रार्थना की। भगवान् बुद्ध ने कहा कि प्रव्रज्या के लिए अपने माता-पिता से आज्ञा माँगकर आओ। ‘सुदिन्न’ माता-पिता से आज्ञा लेने चला गया। उसके माता-पिता रोने-धोने लगे। सुदिन्न ने बार-बार कहा और बार-बार उसके माता-पिता ने अस्वीकार किया। अन्त में ‘सुदिन्न’ ने अनशन आरंभ कर दिया और प्राण देने पर उतारु हो गया। सुदिन्न के मित्रों ने भी उसे बहुत समझाया, पर उसने किसी की एक न सुनी। तब उसके मित्रों ने उसके माता-पिता को समझाया—“उसके प्राण चले जाने से तो कहीं अच्छा होगा कि उसे तुम लोग प्रव्रजित होने की आज्ञा दे दो। कम-से-कम वह जीवित

१. सुत्तनिपात—४, स्लो० २

२. देखिए—‘बुद्धचर्य’ पृ० १४२



तो रह सकेगा।” लाचार होकर, अन्त में, उसके माता-पिता ने आशा दे दी। ‘सुदिन’ वैशाली जाकर बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में प्रतिष्ठित हो गया। बाद में सुदिन के माता-पिता ने उसका विवाह भी कर दिया; किन्तु जब उसने विधिवत् उपसम्पदा ले ली, तब उसके थोड़े ही दिनों बाद वह अवधूत-गुणों से युक्त होकर वज्जि-प्रदेश को एक गाँव के समीप रहकर साधना करने लगा। वह ग्राम के बाहर ही रहता था और मधुकरी माँग कर भोजन करता था। चीथड़ों का बना चीवर धारण करता था और सर्वदा पर्यटन करता था।

भगवान् की बुद्धत्व-प्राप्ति के १२वें वर्ष में सुदिन प्रव्रजित हुआ था और जब बुद्ध अपना २०वाँ वर्षावस ‘राजगृह’ में बिता रहे थे, तब फिर सुदिन चारिका करता हुआ वैशाली आया। उस समय उसकी प्रमत्त्या का आठवाँ वर्ष बीत रहा था। उस वर्ष सम्पूर्ण वज्जि में अकाल पड़ा था। वज्जि के अकाल के निवारण के लिए भगवान् बुद्ध को लिच्छवियों ने मगध से बुलाया था और बुद्ध से बौद्ध तंत्र-संत्रों का पाठ कराया था। वज्जि प्रदेश का यह ऐसा अकाल था कि भिखारियों को भोजन नहीं मिलती थी। ‘सुदिन’ चारिका करते-करते भिक्षा के लिए अपने गाँव ‘कलन्दकनिवाप’ में गया और अपने पिता के द्वार पर पहुँचा। उसी समय गृहदासी बासी दाल फेंकने घर से बाहर आई। सुदिन अत्यन्त भूखा था। उसने कहा—‘इसे फेंकती क्यों हो, मेरे भिक्षा-पात्र में दे दो।’ गृहदासी बासी दाल को उसके भिक्षा-पात्र में डालकर घर में दौड़ गई। उसने सुदिन को पहचान लिया। घर में जाकर उसने घर के मालिक और मालकिन से सुदिन के आने की बात कही। वे जब बाहर आये, तबतक सुदिन एक दीवार की आड़ में जाकर बासी दाल खा रहा था। उसके पिता उसे समझाकर घर लाये। पिता ने अशुश्रुतियों और स्वर्णों की राशि आँगन में रखकर पुत्र से कहा—‘यह सारा धन तुम्हारी माँ का है, जो स्त्री-धन है। मेरा धन तो श्रमी अलग है।’ सुदिन ने बिल्कुल एक अल्पेच्छ भिक्षु की तरह उत्तर दिया—‘इन्हें ले जाकर गंगा में डूबो दो। इनका संचय करके व्यर्थ क्यों कष्ट भोग रहे हो।’ उसकी माँ भी बहुत रोई-गिड़गिड़ाई और उसकी पत्नी ने भी बहुत ही प्रार्थना-विनती की; पर सुदिन पर किसी का भी कुछ असर न हुआ। अन्त में उसकी माता ने बेटे से हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि—‘बेटा! घर की अपार सम्पत्ति, नितरतान होने से लिच्छवि ले लेंगे। तुम न रहो सही, पर एक बीजक (बीज-स्वरूप) पुत्र दे दो।’ अपनी माता की इस तरह बात सुनकर वह राजी हो गया, और कहा—‘मैं पास के महावन में रहता हूँ। जरूरत होने पर वहाँ आकर मिलना।’

समय पर सुदिन की स्त्री पुण्यवती हुई। सुदिन की माता, पतोहू को बन्नाभूषण और विविध शृंगारों से सजाकर अपने पुत्र के पास महावन में ले गई। वहाँ पहुँचकर उसने अपने पुत्र को उसके दिये वचन का स्मरण कराया। अपने वचन के पालन के लिए और पत्नी की रूप-सज्जा पर मोहित होकर सुदिन ने उसके साथ तीन बार सहवास किया। सुदिन की माँ पतोहू को लेकर घर आई और समय पूरा होने पर पुत्र का जन्म हुआ। बीजक पुत्र होने से

उस लड़के का नाम भी 'बीजक' पड़ा। पीछे चलकर उसकी माता का नाम बीजक-माता और सुदिन का नाम बीजक-पिता अभिहित हुआ।

राजगृह में जब भगवान् बुद्ध की यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने दस बातों का खयाल कर 'मैथुन-पराजिक' का विधान किया<sup>१</sup> जिसके अनुसार सुदिन बौद्ध संघ से निकाल दिया गया। 'महाकाश्यप' ने जब राजगृह में प्रथम संगीति कराई, तब उपासि<sup>२</sup> से प्रश्न पूछने पर उसने पहले-बहल इसी पराजिक का संगायन किया था<sup>३</sup>। पुनः कुछ समय बाद सुदिन और उसकी पत्नी—दोनों प्रव्रजित हो श्रद्धा-पद की प्राप्ति हुए।

एक समय भगवान् बुद्ध चारिका करते पुनः वैशाली गये और वहाँ अपने प्रिय स्थान 'कूटामारशाला' में ठहरे। उसमें लिच्छवियों की परिषद् में बुद्ध के ज्ञान और संघ की बड़ी प्रशंसा हुई। वहाँ सिंह सेनापति था, जिसने बुद्ध की विशाल कीर्ति की चर्चा सुनी। वह एक विशिष्ट जैनधर्मावलम्बी था, जिसका खजाना जैनों के लिए सार्वजनिक रूप की तरह सर्वदा खुला रहता था। उसकी बड़ी इच्छा हुई कि मैं भगवान् बुद्ध से मिलूँ और मिलने की आशा लेने वह महावीर तीर्थंकर के पास गया। तीर्थंकर ने उसे मना किया; फिर भी वह नहीं माना और भगवान् बुद्ध से मिला। वह जब मिलने चला, तब उसके साथ पाँच सौ रथों पर चढ़कर वैशाली के और लोग भी चले। जहाँ तक रथ जाने का मार्ग था, वहाँ तक तो लोग रथ पर चढ़कर गये, बाकी रास्ता पैदल चलकर उन्होंने बुद्ध भगवान् के पैर छुए। कुशल-स्त्रेम के बाद 'सिंह सेनापति' ने भगवान् से कहा—“भगवन्, वे जैन कहते हैं कि बुद्ध 'अक्रियावाद' का उपदेश करता है। क्या आप अक्रियावादी हैं?” इस पर भगवान् बुद्ध ने अक्रियावाद की व्याख्या की और तर्कों से स्वीकार करा दिया कि मेरा मत तो पूर्ण क्रियावादी है। भगवान् बुद्ध की विद्वत्ता और उनके सिद्धान्त को कुशल धर्म जानकर सिंह सेनापति ने बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया और दूसरे दिन उन्हें शिष्य-मंडली के साथ भोजन के लिए अपने घर बुलाया। सिंह सेनापति ने बुद्ध-मंडली के भोजन के लिए और वस्तुओं के साथ पशुओं का मांस भी पकवाया था।

वैशाली के जैनधर्मावलम्बियों ने बौद्धों के इस भोजन पर उनकी भिल्ली उड़ानी शुरू कर दी। वे कहने लगे—“पहले तो भ्रमण गौतम कहता था कि हमें भोजन में जो चीजें (मांस भी) मिल जाती हैं, खा लेते हैं। हिंसा का दोष हमें नहीं लगता; क्योंकि भिक्षा में मिले मांस, जिसे हम खाते हैं, हमारे निमित्त नहीं बनते हैं। पर, आज जिन पशुओं के मांस वे बौद्ध भक्षण कर आवे हैं, वे पशु तो उन्हीं के निमित्त मारे गये थे। सिंह सेनापति ने तो अपने लिए इतने पशुओं का वध नहीं कराया था। बौद्धों की अहिंसा के दोग की तो जरा देखो।” इस बात का प्रचार जैनों ने वैशाली में खूब किया।

१. देखिए—विनयपिटक, प्रथम पराजिक।

२. भगवान् बुद्ध की शिष्य 'उपासि', जो जाति का ब्रह्मण या और कपिलवस्तु का निवासी था।

३. चुल्लवग्गो—११, १, २

उसी समय भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षुओं के लिए पाँच प्रतिफल लगा दिये। बौद्ध संघ में पूर्णरूप से आ जाने पर भी सिंह सेनापति को उन्होंने कहा—“सिंह, तुम्हारा कुल दीर्घकाल से निमाँठों ( जैनों ) के लिए प्याऊ की तरह रहा है। उनके लिए भी दान अवश्य देते रहना।” ऐसी बात सुनकर सिंह सेनापति भगवान् बुद्ध के चरणों में और भी भद्धा से झुक गया। वह खुशी के मारे कहने लगा—‘भन्ते ! भगवान् तो मुझे निमाँठी को भी दान देने को कहते हैं। कितने उदार हैं !’ अब सिंह सेनापति बौद्धधर्म का पूर्ण अनुयायी बन गया।

बौद्धधर्म में वैशाली का जो दूसरा महान् व्यक्ति आया, उसका नाम था—महालि। जब भगवान् ‘कुटागारशाला’ में ही ठहरे हुए थे, तब लिच्छवियों का एक समुदाय महालि के नेतृत्व में बुद्ध से मिलने गया। इन लोगों से पहले ही कोसल और मगध से कुछ ब्राह्मणवृत्त आकर वहाँ उपस्थित थे। उस समय भगवान् बुद्ध अपनी कुटी में साधना कर रहे थे। उनका उपस्थापक ( निजी सेवक ) उस समय ‘नागित’ नामक भिक्षु था। नागित ने इन लोगों को अन्दर जाने से रोक दिया। महालि लिच्छवि-समुदाय के साथ वहाँ प्रतीक्षा में बैठ गये। भगवान् बुद्ध के साथ ‘महाकाश्यप’ भी उस समय वैशाली में ही उपस्थित थे। सिंह सेनापति ने महाकाश्यप को महालि का परिचय दिया और प्रार्थना की कि भगवान् से इन्हें मिला दें। महाकाश्यप के प्रयत्न से बुद्ध भगवान् कुटी से बाहर आये। साधारण शिष्टाचार के बाद महालि के प्रश्नों के उत्तर में बुद्ध ने शरीर, जीव, अष्टांगिक मार्ग आदि का सम्बन्ध उपदेश किया। महालि ‘पूरण-कश्यप’ के सम्प्रदाय का अनुयायी था। वह शरीर और आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखता था। किन्तु बुद्ध के सबल तर्कयुक्त उपदेशों को सुनकर उसने भी बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया।

महालि का जन्म लिच्छवि-वंश में हुआ था। इसने धनुर्विद्या की शिक्षा ‘तच्च-शिला’ में पाई थी और अपने समय का अद्वितीय धनुर्धर था। शिक्षा समाप्त कर जब यह वैशाली लौटा, तब लिच्छवि-कुमारों को धनुर्विद्या सिखाने के लिए शिक्षक नियुक्त हुआ। एक समय बाण चलाने के शिक्षा-क्रम में इसने ऐसा पराक्रम दिखाया कि इसकी दोनों आँखें ही निकल गईं। फिर भी यह शिक्षक का काम करता ही रहा। वैशाली गणतंत्र की ओर से इसकी जीविका का बृहत् प्रयत्न कर दिया गया था। इसका ओठ फटा था, इसलिए ‘अधौष्ठ’ भी कहलाता था।

वैशाली के पञ्चोत्त में ही वत्सगोष्ठीय पुरहरीक नामक एक परिव्राजक रहता था। उसकी साधना की कीर्ति सुनकर भगवान् बुद्ध उससे मिलने के लिए स्वयं गये। पुरहरीक ने बुद्ध के सरकार में एक सच्चे साधु का भाव दिखलाया। मोठे कोल के द्वारा तथा, आत्मन देकर उनके प्रति पूर्ण आदर प्रकट किया। वह आजीविक-सम्प्रदाय का विरोधी था, जिसे

१. बुद्धचर्या—पृ० १४१

२. दीर्घ निकाय ( महालिसुत्त )—१,२



बुद्ध पसन्द करते थे। पुण्डरीक परित्राजक ने भी बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर उनके भाषण का अनुमोदन किया<sup>१</sup>।

भगवान् बुद्ध उस समय भी 'कूटागारशाला' में ही ठहरे हुए थे, जब लिच्छवि-पुत्र सुनच्च ने उनसे मिलने गया<sup>२</sup>। सुनच्च ने भगवान् बुद्ध से कहा—“भगवन्, अनेक भिक्षु निर्वाण-प्राप्ति का बखान करते हैं। वे हृदय से बखान करते हैं या चापलूसी में।” भगवान् बुद्ध ने कहा—“कुछ तो दिखावटी तौर पर बखान करते हैं और कुछ हृदय से। पर जिन्होंने दिखावटी तौर पर बखान किया है, उन्हें मैं धर्म का उपदेश करूँगा।” इसके बाद बुद्ध ने सुनच्च को स्थान-धारण और चित्त-संयम का उपदेश किया।

इस सुनच्च की भिन्ती बुद्ध के प्रधान शिष्यों में हो गई थी और कुछ काल तक यह उनका उपत्यापक (निजी सेवक) भी रहा था। पीछे चलकर इसने बौद्धधर्म का त्याग कर दिया। सुनच्च का ऐसा आचरण तात्कालिक गणतंत्रात्मक राज्य के आलोचनात्मक दृष्टिकोण का परिचायक था।

एक बार बुद्ध के साथ यह 'कुछ' जाति के लोगों के 'उत्तरका' नामक कस्बे में गया। वहाँ इसने कौरवत्तिय कुक्कुरव्रतिक एक अचैल संन्यासी को देखा। वह दोनों घुटनों और हाथों को जमीन पर रोपकर तथा मुँह लपकाकर भोजन करता था। उसके ऐसे आचरण को देखकर सुनच्च के मन में हुआ कि यह भगवान् बुद्ध से भी बड़ा सिद्ध है।

सुनच्च के सम्बन्ध में एक दूसरी कहानी भी है। बुद्ध जब कूटागारशाला में ही थे, तब वैशाली में कौरमट्टक नाम का एक अचैल संन्यासी बड़ा नाम और यश प्राप्त किये हुए था। उसका मत था कि 'मैं जीवन-भर नंगा रहूँगा, वस्त्राचारी रहूँगा, अन्न नहीं खाऊँगा, केवल मांस और मदिरा का ही सेवन करूँगा। वैशाली में पूर्व की ओर सिफः उदयन चैत्य तक, दक्षिण में गौतमक चैत्य तक, पश्चिम में सप्ताम्रक चैत्य तक और उत्तर में बहुपुत्रक चैत्य तक ही जाऊँगा—आगे कहीं नहीं जाऊँगा।' इन सात अंतों के पालन से वैशाली में उसका यश बहुत बढ़ गया था। एक दिन सुनच्च उसके पास जाकर प्रश्न पूछने लगा। इससे कौरमट्टक क्रोध में उन्मत्त हो गया। उसके क्रोध को देखकर सुनच्च यह सोचकर डर गया कि इस पहुँचे संन्यासी को मैंने शायद चिढ़ा दिया। पता नहीं क्या होगा! उसने बुद्ध भगवान् से जाकर अपने भय की बात कही। बुद्ध ने इसपर उसे काफी मिड़की दी—“तुम भी अपने को बौद्ध भिक्षु ही समझते हो!” उसने बुद्ध की मिड़की पाकर अशिष्ट व्यवहार किया—“आप उस महाव्रती संन्यासी से ईर्ष्या करते हैं।” अपने शिष्य की ऐसी बात पर बुद्ध को बहुत दुःख हुआ और उन्होंने शाप दिया—“जिसे तू इतना महान् पुरुष मानता है, वह अपने सारे अंतों से ख़ुद हो जायगा और काम-वातना-पर्व में मल

१. मज्झिम निकाय—२, ३, १

२. मज्झिम निकाय—३, १, ५

हो जायगा।” अन्त में कौरमट्टक वस्तुतः अपने सभी त्तों से ख़ुल होकर कामिनिषों का घोर उपासक हो गया और कुकर्म के आचरण से निन्दा का पात्र बना।

सुनच्च के बौद्धधर्म छोड़ने के सम्बन्ध में एक तीसरी घटना भी घटी। कूटामार-शाला में पाथिकपुत्र नाम का एक अचैलक भी रहता था। इसने भी वैशाली में वश प्राप्त किया था। इसे अपनी विद्या और श्रद्धा का बड़ा मारी धमरुद था। वह वैशाली के लोगों में कहता चलता था—“गौतम तपस्वी है और मैं भी तपस्वी हूँ। वह आगे और श्रद्धा-प्रदर्शन में मुझसे होड़ करे। वह कहता, मैं इधर से चलूँगा, बुद्ध उधर से आगे और बीच रास्ते में श्रद्धा-प्रदर्शन हो।” सुनच्च ने जाकर पाथिकपुत्र अचैलक के द्वारा दी गई चुनौती की बात भगवान् बुद्ध से कही। भगवान् बुद्ध ने कहा—“आज भिक्षाटन के बाद मोजनोपरान्त मैं चलूँगा।” इधर सुनच्च ने कई प्रभावशाली लिच्छवियों से जाकर कहा—“आज पाथिकपुत्र अचैलक और भगवान् के बीच श्रद्धा-प्रदर्शन की होड़ होगी। आप लोग पाथिकपुत्र के आश्रम में चलें।”

दोपहर के समय अचैलक के आश्रम में हजारों वैशालीवासियों की भीड़ इकट्ठी हो गई। किन्तु, इधर पाथिकपुत्र बुद्ध-आगमन की बात सुनकर पहले ही आश्रम छोड़कर भाग गया और तिन्दुल्लान्धु नामक परिव्राजकों के आश्रम में चला गया। लिच्छवियों ने बुद्ध के आ जाने पर तिन्दुल्लान्धु आश्रम में पाथिकपुत्र को लिवा लाने के लिए आदमी भेजा। उस व्यक्ति ने जाकर पाथिकपुत्र से चलने के लिए कहा—पर वह वहाँ-का-तहाँ बैठा रहा। उस व्यक्ति के लौटने में देर हुई, अतः एक लिच्छवि-सरदार स्वयं पाथिकपुत्र के पास गया। लिच्छवि-सरदार ने जाकर उसे बहुत दादस बँधाया कि चलिए, हमलोग आपको विजयी बना देंगे। फिर भी वह नहीं उठा। इसके बाद दारुपत्तिक संन्यासी का शिष्य जालिय भी वहाँ गया। जालिय ने पाथिकपुत्र को बहुत धिक्कारा और ललकारा। फिर भी पाथिकपुत्र टस-से-मस नहीं हुआ। अन्त में सारी सभा हैरान हो गई, पर पाथिकपुत्र न आ सका। भगवान् बुद्ध ने भीड़ के समक्ष वहाँ उपदेश किया और ऐसा प्रकाश फैलाया, जो सात ताड़ ऊँचा उठकर धुँआँ छोड़ता हुआ कूटामारशाला के ऊपर-ऊपर प्रकाश-पुंज फैलाकर लुप्त हो गया।

‘मज्झिम निकाय’ (१।२।२) के ‘महासिंहनाद सुत्तन्त’ से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध जिस समय वैशाली के ‘अश्वपुर’ वनखण्ड में थे, उस समय उपर्युक्त सुनच्च ने भगवान् बुद्ध के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। वह कहने लगा कि ‘गौतम के पास आर्यधर्म की पराकाष्ठावाली दिव्यशक्ति (उत्तर-मनुष्य-धर्म) नहीं है। विमर्ष से सोचे, अपनी प्रतिभा से जाने और तर्क से प्राप्त धर्म का ही वह उपदेश करता है। जिसके लिए वह धर्म का उपदेश करता है, वह अपने दुःख को ही प्राप्त होता है।’

सुनच्च इस तरह की बातें करता चलता है, भगवान् बुद्ध को यह सारिपुत्र से

ज्ञात हुआ। वह संघ तब छोड़ चुका था। बुद्ध ने कहा—सारिपुत्र, सुनक्षत्र गोप पुरुष है : वह मोक्षी पुरुष है। इस अवसर पर भगवान् बुद्ध ने अपने तथागत-बल, वैशारद्य, चतुरंग-युक्त ब्रह्मचर्य आदि का ऐसा उपदेश किया कि नागसमाल नामक भिक्षु को रोमांच हो आया। भगवान् बुद्ध जब सारिपुत्र से संलाप कर रहे थे, नागसमाल भगवान् के पीछे खड़े होकर पंखा मल रहे थे। तब नागसमाल ने पूछा—“भगवन्, इस धर्म-गर्वाय का क्या नाम है ? मुझे तो इसके सुनने से ही रोमांच हो आया।” इस पर भगवान् बुद्ध ने कहा—“इसे ‘लोमहर्षगर्वाय’ ही समझो।” सुनक्षत्र अपने बार-बार के अशिष्ट व्यवहार के कारण ही संघ से निकाला गया था।

भगवान् बुद्ध जब मल्लो के ‘अनूपिया’ कस्बे में थे, तब उन्होंने सुनक्षत्र के द्वारा बौद्धसंघ छोड़ने की कहानी ‘भार्गवगोत्र परिव्राजक’ को सुनाई थी।

भगवान् बुद्ध जब वैशाली की कूटागारशाला में विहार कर रहे थे, तब वहाँ एक और घटना घटी। वैशाली में लिच्छवियों का एक धर्म-गुरु था, जो जैनधर्म का बहुत बड़ा विद्वान् था। इसका नाम सच्चक था। यह ऐसे माता-पिता का पुत्र था, जो (दोनों) दस सौ विद्याओं में पारंगत थे। वे दोनों जब कुमार और कुमारी अवस्था में थे, तभी उन के बीच वैशाली में ही शास्त्रार्थ हुआ था। वैशाली के सरदारों ने वज्जि-गणतंत्र के कल्याण और प्रतिष्ठा बढ़ाने के खयाल से दोनों का विवाह करा दिया। उन्होंने विचार किया—‘इस तरह के विद्वान् और चितुषी में यदि दाम्पत्य सम्बन्ध हो जायगा, तो इनकी संतानें भी इन्हीं की तरह अनेक विद्याओं में पारंगत होगी, जिससे गणतंत्र की प्रतिष्ठा बढ़ेगी।’ इन्हीं प्रति-पत्नी का पुत्र ‘सच्चक’ था, जो लिच्छवियों का गुरु भी था।

सच्चक की चार बहनें थीं, जो अपने युग की महाविदुषी नारियाँ थीं<sup>१</sup>। इनका नाम था—सच्चा, लोला, अववादका और पाटाचारा। इन्हीं बहनों के साथ सारिपुत्र का शास्त्रार्थ धावस्ती में हुआ था, जिसका उल्लेख सारिपुत्र के जीवन-प्रसंग में पहले हो चुका है<sup>२</sup>।

उक्त चारों बहनों के माई सच्चक ने भगवान् बुद्ध के साथ शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी, जब भगवान् कूटागारशाला में ठहरे थे।<sup>३</sup> वह कहने लगा—“मेरे साथ शास्त्रार्थ में आदमी की कौन कहे, देवता भी काँपने लगेंगे, उनकी काँख से पसीना निकलने लगेगा। मैं बुद्ध को ऐसा न कर दूँ, तो मेरा सच्चक नाम नहीं।”

एक दिन वैशाली नगर में सच्चक से भगवान् बुद्ध के शिष्य अश्वजित् को भेंट हो गई। सच्चक ने उससे कहा—‘तुम्हारे शास्त्र के साथ शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ। देखें, यह अवसर कब आता है।’ फिर दूसरे दिन सच्चक लिच्छवियों की परिषद् में पहुँचा, जहाँ पाँच सौ लिच्छवि एकत्र होकर किसी विषय पर विचार-विमर्श कर रहे थे। सच्चक ने

१. जातक (चुलिकासिग) — ३०१

२. द्रष्टव्य—इस पुस्तक के पृ० ६६ और ६७।

३. मज्झिम निकाय (चुलसच्चक सुत्तन्त) — १, ४, ५।



कहा—‘आप लोग चलो, आज मेरा बुद्ध के साथ शास्त्रार्थ होगा। आज के शास्त्रार्थ में बड़े-बड़े लोमोवाली भेड़ की तरह, बुद्ध के बालों को पकड़कर ज़िंघर चाहूँगा, उधर घुमाऊँगा।’ सच्चक की बात सुनकर संन्यागार में खलबली मच गई। कोई कहता—‘शास्त्रार्थ की जोड़ी अच्छी रहेगी; कोई कहता, ‘हमारे धर्म-गुरु सच्चक के साथ बुद्ध क्या शास्त्रार्थ करेगा’ और कोई कहता—‘नहीं जी, भगवान् बुद्ध के सामने ‘सच्चक’ क्या खाकर टिकेगा।’ बाद में सारी परिपद् के साथ सच्चक वहाँ पहुँचा, जहाँ भगवान् बुद्ध थे। प्राथमिक शिष्टाचार के बाद सारी परिपद् जम गई और शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। सच्चक ने प्रश्न किया—‘हे बुद्ध। आप अपने शिष्यों को शिक्षा किस प्रकार देते हैं?’ यानी सच्चक ने बुद्ध के मूल विद्वान्ताँ पर प्रहार करना शुरू किया। किन्तु थोड़ी देर बाद ही वाद-प्रतिवाद के दौरान में बुद्ध ने अपने तर्कजालों में सच्चक को ऐसा फँसाया कि उलटे सच्चक को ही भेड़ की तरह ज़िंघर चाहो, उधर घुमाया-फिराया। सच्चक की कान्त से पसीना छूटने लगा। उसकी ऐसी हालत देखकर बुद्ध से लिच्छवि-कुमार दुर्मुख ने कहा—‘भगवन्, अब बस करो। सच्चक की हालत उस कैंकड़े की तरह हो गई है, जिसे पानी से निकालकर लड़कों ने उसके एक-एक अंगुल को काट दिया है, जिससे बेचारा कैंकड़ा पानी में घुसने से असमर्थ हो गया है।’

सच्चक हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और कहने लगा—‘हे गौतम, मतवाले हाथी से भी भिड़कर बच निकलनेवाला व्यक्ति आपसे भिड़कर कभी नहीं बच सकता। मुझे क्षमा करें। मैं आपका अनुगत हुआ। मेरे घर कल का भोजन स्वीकार करें।’ परम उदार भगवान् बुद्ध ने मौन होकर उसका निमंत्रण स्वीकार कर लिया।

वैशाली के बाद भगवान् बुद्ध चारिका करते हुए मद्दिषा (भागलपुर के पास का भदरिया) पहुँचे। उस समय उनके साथ साढ़े बारह सौ भिक्षुओं का एक भारी संघ था<sup>१</sup>। मद्दिषा में मेण्डक नाम का एक श्रेष्ठी था। बिम्बिसार के राज्य में उस समय अत्यन्त वैभव-सम्पन्न पाँच<sup>२</sup> श्रेष्ठी थे, उनमें से मेण्डक भी एक था। वह पाँच महापुण्यों से युक्त था। उसकी प्रधान भायाँ चन्द्रप्रभा, उसका पुत्र धनंजय, उसकी पत्नी सुमना, उसका दास पूर्णक और स्वयं वह—ये पाँच महापुण्य थे<sup>३</sup>। मेण्डक ने जब सुना कि कुलीन शाक्यपुत्र सिद्धार्थ बुद्ध हुए हैं और वे संघ के साथ मेरे नगर में आये हैं, तब वह समी तरह आदर-सत्कार के साथ भगवान् बुद्ध से जातिवन में जाकर मिला<sup>४</sup>। इसने पहले ही भगवान् की अगवानी में अपनी पोती विशाखा को ५०० कन्याओं के साथ सत्कार के लिए भेजा। उस समय विशाखा की उम्र केवल सात साल की थी। विशाखा की माता का नाम सुमना था और पिता का

१. बुद्धचर्या (पं० राहुल सङ्कस्यान) — १०. १५१

२. ज्योतिष, अदिल, मेण्डक, पूर्णक और काकवलिष—ये बिम्बिसार के राज्य के पाँच करोवपति सेठ थे।

३. महावग्गी—६, ५, १, १

४. तत्रैव।

धनंजय। 'महिषा' में भगवान् बुद्ध जबतक रहे, तबतक उनके संघ का सारा खज मेण्डक गृहपति ने ही चलाया। भगवान् के उपदेशों से प्रभावित होकर मेण्डक का सारा परिवार बुद्ध का उपासक हो गया। विशाखा पीछे चलकर बहुत बड़ी बुद्ध की उपासिका और दायिका हुई। बौद्ध संघ को दान देने में वह अद्वितीय नारी थी।

इसी मेण्डक का पुत्र धनंजय बाद में 'प्रसेनजित्' के राज्य कोसल में चला गया और वहाँ साकेत में बसा। बात यों हुई कि प्रसेनजित् के राज्य में उस समय कोई बड़ा श्रेष्ठी नहीं था। उसने विन्धिसार से प्रार्थना की कि अपने राज्य से एक बड़ा श्रेष्ठी दीजिए, जो हमारे राज्य को भी अलंकृत करे। विन्धिसार की समा में प्रसेनजित् की प्रार्थना पर विचार हुआ और अन्त में निश्चय हुआ कि पाँच श्रेष्ठियों में से कोई नहीं जा सकता; पर मेण्डक के पुत्र धनंजय को भेजा जा सकता है। विन्धिसार की आज्ञा से धनंजय ने कोसल-राज्य में जाकर साकेत नगर को समलंकृत किया।

भगवान् बुद्ध जब महिषा से अपने साढ़े बारह सौ शिष्यों के साथ अंगुत्तराप (भागलपुर का उत्तरी हिस्सा और सहरसा का भाग) में चले, तब मेण्डक गृहपति—नमक, तेल, मधु, चावल और अन्य भोज्य पदार्थ वैलगाड़ियों पर लदवाकर तथा १२५० दुधार गायों को साथ लेकर, एक जंगल में पहुँच, उनसे मिला। उसने सम्पूर्ण बौद्ध संघ का गायों के ताजा दूध से स्पर्श कराया। उसी समय बुद्ध ने मेण्डक की प्रार्थना पर भिक्षुओं के लिए 'पञ्चगोरस'<sup>१</sup> तथा कठिन मार्ग के लिए 'पाथेय-संचय' का विधान किया।

जातिवत से चारिका करते हुए बुद्ध अंगुत्तराप के आपण<sup>२</sup> नामक निगम में गये। वहाँ पौत्तलिय नामक एक गृहपति भगवान् बुद्ध से मिला।<sup>३</sup> अमिवादन तथा कुशल-स्नेह के बाद बुद्ध ने कहा—'आओ गृहपति, बैठो।' और आसन दिलवाया। पौत्तलिय अपना सारा वैभव पुत्र को समर्पित करके स्वयं वानप्रस्थी हो गया था, इसलिए उसे गृहपति सम्बोधन अच्छा नहीं लगा। उसे अपने उच्छेद-कर्म का पूरा अभिमान था। इस पर बुद्ध ने उसे वास्तविक उच्छेद-व्यवहार के उपयुक्त आठ<sup>४</sup> धर्मों की संध्या व्याख्या बतलाई। वह बुद्ध के शान्ति से प्रभावित होकर संघ की शरण में चला गया।

१. महावग्गी—६,५,१,११—'अनुवागामि भिक्षवे, पञ्च गोरसे-खीरं, दधि, तक्ष', नवनीतं, सर्पिं ।'

२. हमारी समझ में यह स्थान सहरसा जिले का 'बनगाँव' और 'महिरी' ग्राम हो सकता है, जहाँ आज भी पाँच लाखों अनेक बौद्ध मूर्तियाँ हैं। बुद्ध की पर्यटन-भूमि होने के कारण ही पीछे यहाँ बौद्ध मूर्तियों प्रतिष्ठित हो गईं। शायद इसी 'महिरी' के निवासी 'मन्धन मित्र' थे, जो बौद्धदर्शन के विद्वान् थे और जिन्होंने शास्त्रार्थ करने 'महिरी' में शंकराचार्य आये थे। संभव है, शंकराचार्य के जाने के बाद ही इसका नाम 'माहिष्मती' पड़ा, जिसका अपभ्रंश 'महिरी' है।—ले०

३. मज्झिम-निकाय—२,१,४

४. अपाणातिपाठ, अदृष्टादान, सृष्टावाद, अपिशुन-वचन, अगृह-लोभ, अक्रोध उपायास, अनिन्दा-दोष और अन-प्रतिमान का त्याग।—ले०

इसी आपण निगम में *केणिय* नामक एक अति प्रतापशाली जटिल निवास करता था<sup>१</sup>। इसने जब सुना कि शाक्य-पुत्र गौतम बुद्धत्व प्राप्त कर हमारे निगम में आये हैं, तब उनसे मिलने का विचार किया। पर भेंट में क्या ले चलें, यह इसकी समझ में आता ही नहीं था। अन्त में उसने निश्चय किया कि पूर्व के अट्ठक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, मरद्वाज, वसिष्ठ, कश्यप, भृगु आदि ब्राह्मण ऋषि जो पान करते थे, वही पदार्थ बुद्ध के लिए भी मुझे ले चलना चाहिए<sup>२</sup>। उसने विभिन्न फलों और पत्तों का भैंरेय तैयार करावा और बँहगी पर लदवाकर ले गया। बुद्ध के समीप पहुँचकर अभिवादनोंत्तर इसने निवेदन किया—‘भगवन्, मेरा पान ग्रहण करें।’ भिक्षु उस पेय पदार्थ को मदिरा जानकर ग्रहण करने में हिचकते थे। किन्तु बुद्ध का आदेश पाकर फिर तो भिक्षुओं ने स्तब्ध छककर पान किया।

भैंरेय-पान के बाद केणिय ने कल के भोजन के लिए बुद्ध को निर्मन्त्रित किया। बुद्ध ने कहा—‘केणिय, मेरा संघ तो बहुत बड़ा है, उसमें साढ़े बारह सौ भिक्षु हैं। तुम तो ब्राह्मणों में भद्रालु हो।’ केणिय उदार दानी था। उसने कहा—‘आप का संघ साढ़े बारह सौ भिक्षुओं का है, तो इससे क्या? आप मेरा भोजन स्वीकार करें।’ केणिय के तीन बार प्रार्थना करने पर बुद्ध ने मौन रहकर उसका निर्मन्त्रण स्वीकार कर लिया। केणिय जब चला गया, तब बुद्ध ने भिक्षुओं को कई फलों और पत्तों के रस पीने की छूट दे दी।

उस समय ‘सेल’ नामक एक बहुत बड़ा विद्वान् ब्राह्मण आपण निगम में रहता था<sup>३</sup>। वह तीनों वेदों, निषंदु, कल्प, इतिहास, काव्य, व्याकरण, लोकापत-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र आदि में निपुण हो, तीन सौ विद्यार्थियों को विद्यादान देता था। केणिय जटिल ‘सेल’ ब्राह्मणों में अति श्रद्धावान् था। इसलिए उस दिन सेल, केणिय के यहाँ धूमता-फिरता आया। केणिय के यहाँ भोज की तैयारी देखकर ‘सेल’ ने पूछा कि क्या कोई बरात आने-वाली है या मगधराज ‘विंविसार’ सदलवल आ रहा है? यह किसके लिए इतनी बड़ी तैयारी हो रही है। केणिय ने कहा—‘नहीं जी, मेरे यहाँ कल बुद्ध साढ़े बारह सौ शिष्यों के साथ भोजन पर आ रहे हैं।’ बुद्ध शब्द सुनकर सेल को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—‘क्या बुद्ध कहते हो—बुद्धोति सों केणिय वदेसि? केणिय ने कहा—‘हाँ, बुद्ध कह रहा है—बुद्धोति मां सेल वदामि।’

सेल ने केणिय से पूछा—‘बुद्ध अभी कहाँ ठहरे हैं?’ केणिय ने वहाँ से अंगुली उठाकर बतलाया—‘वहाँ, जहाँ सपन नील वृक्ष-पंक्ति दिखाई पड़ती है।’ सेल चुपचाप वहाँ से उठकर भगवान् बुद्ध के पास गया और उनमें सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार उसने बत्तीस

१. महावग्गो—६, ५, २, १५

२. इससे पता लगता है कि हमारे प्राचीन ऋषियों की कथाएँ जिन ग्रन्थों में हैं, उन ग्रन्थों का प्रचार उस समय भी था।—ले०

३. सुत्तनिपात (सेलसुत्त)—१३



महापुरुष-लक्षणों को देखा। उसने भगवान् बुद्ध की स्तुति की और तब भगवान् ने स्वयं अपना पूर्णपरिचय दिया<sup>१</sup>। सेल ब्राह्मण ने प्रार्थना की कि यदि आपकी आज्ञा हो, तो मैं भी अपने ३०० शिष्यों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करूँ। उसी समय ३०० शिष्यों के साथ सेल ब्राह्मण ने सिर मुड़वाकर प्रव्रज्या प्राप्त कर ली और बुद्ध-संघ में वह दाखिल हो गया।

दूसरे दिन भगवान् बुद्ध जब अपने संघ के साथ केशिपु के यहाँ भोजन करने गये, तब केशिपु ने देखा कि पाँति में सिर मुड़वाकर अपने ३०० शिष्यों के साथ सेल ब्राह्मण भी बैठे हैं। सेल-जैसे विद्वान् ब्राह्मण ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया, यह देखकर केशिपु की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। भोजनोपरान्त भगवान् बुद्ध ने जब आसन-ग्रहण किया, तब संघ को दान देने की महिमा का बखान किया। उन्होंने कहा—“यहाँ में अग्निहोत्र, तेजस्विनों में सूर्य, मनुजों में राजा, नदियों में सागर, नक्षत्रों में चन्द्रमा और खन्डों में नावित्री मुख्य है<sup>२</sup>। इसी तरह पुण्य की आकांक्षा से दान देनेवालों के लिए ‘संघ’ ही मुख्य है<sup>३</sup>।” इसके बाद भगवान् बुद्ध वहाँ से उठकर चले गये।

सेल ब्राह्मण प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने पर, अप्रमत्त, प्रयत्नशील और लीनचित्त हो एकान्त में विहरता हुआ सात दिनों में ही अर्हत्व प्राप्त कर ‘चीणसलव’ हो गया। वह आठवें दिन बुद्ध से मिला। बुद्ध ने उसकी सफलता की प्रशंसा की। वह एक असंग बौद्धपरिषद् कायम करके अंगुत्तराप प्रदेश में विहरने लगा।

भगवान् बुद्ध इसी ‘आपण’ निगम में, एक दिन जनखण्ड के एक भाग में जब विहार कर रहे थे, तब वहाँ आयुष्मान् ‘उदायी’ आये<sup>४</sup>। इस जगह उदायी ने एक मनोरंजक घटना भगवान् बुद्ध को सुनाई थी। उन्होंने कहा—“भगवन्, आप जब छोटी-छोटी बातों के लिए भी प्रतिबन्ध लगाते थे, तब मैं समझ नहीं पाता था कि मेरे शास्ता इन तुच्छ बातों के लिए इतनी कड़ाई क्यों करते हैं। इसी तरह जब आपने कहा—‘रात का भोजन भिक्षुओं के लिए वर्जित है, तब भी मुझे कुछ अच्छा नहीं लगा था; क्योंकि रहस्थों के यहाँ रात में ही बढ़िया भोजन तैयार होता है। किन्तु मुझे आपके कथन का तथ्य एक रात को मालूम हुआ, जब मैं उस रात को पिंडपात के लिए एक गाँव में गया। बात यों हुई कि रात अँधेरी थी, आकाश में बादल छाये हुए थे। टिप-टिप बूँदें गिर रही थीं। रास्ता देख नहीं पड़ता था। मुझे भूख लगी थी, इसलिए मैं बगल के गाँव में पिंडपात के लिए पहुँचा। मैं जैसे ही एक रहस्थ के द्वार पर पहुँचा कि इतने में बिजली चमकी और बिजली के प्रकाश में मैंने देखा कि द्वार पर एक स्त्री वर्तन माँज रही है। पर उस स्त्री ने इतने में ही बड़े जोरो से चीत्कार किया—‘अरी मरी, बचाओ-बचाओ! पिशाच-पिशाच!’ उसके चीत्कार से मैं तो

१. सुधनिपात—१२

२. तत्त्वैव।

३. भगवद्गीता के दशम अध्याय में बलिह विभूति-योग से यह प्रकारण मिलता-जुलता है।—ले०

४. मत्थिम निपाय—२, १

विलकुल ध्वरा गया, पर शीघ्र ही कहा—‘अरी वहिन, मैं पिशाच नहीं हूँ। मैं भिक्षु हूँ, भिक्षाटन के लिए यहाँ आया हूँ।’ वह बहुत डर गई थी। उसने काँपते हुए स्वर में कहा—‘तैरे भिक्षु के बाप मरे, माँ मरे। भिक्षु को चाहिए कि अपने ऐसे पेट को माघ काटनेवाली तेज छुरी से काट डाले, किन्तु इस तरह अँधेरे में भीख माँगता न फिर।’ मैं उस जगह से किसी तरह जान लेकर भागा। अतः, हे भगवन् ! आप मेरे दुःखों के अपहर्ता हैं।”

इसके बाद ‘महावग्ग’ कहता है कि भगवान् बुद्ध आपण में यथाभिमत विहार करके अपने १२५० भिक्षुओं के संघ के साथ ‘कुशीनारा’ की ओर चारिका करने लौट आये।

अपना तेरहवाँ वर्षावास भगवान् बुद्ध ने ‘चालिय’ पर्वत पर किया था, जो कहीं अंग-प्रदेश में ही है।

इसके बाद भगवान् बुद्ध को हम मगध के खाणुमत गाँव में चारिका करते देखते हैं। ‘दीप निकाय’ में जो इस चारिका का वर्णन है, उससे यह पता नहीं चलता कि बुद्ध यहाँ कहाँ से आये। पर महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी ‘बुद्धचर्या’<sup>१</sup> में लिखा है कि भगवान् बुद्ध अपनी ४६ वर्ष की आयु में खाणुमत में आये। यदि बुद्ध अपनी ४६ वर्ष की आयु में यहाँ आये होंगे, तो आपस्ती-वर्षावास के बाद पहुँचे होंगे।

भगवान् बुद्ध जब ‘खाणुमत’ आये, तब उनके साथ चुने हुए भिक्षुओं की संख्या केवल ५०० थी। यहाँ वे एक ग्राम के बागीचे में ठहरे। उस समय एक सकलशास्त्र-निष्णात कूटदन्त नामक ब्राह्मण वहाँ निवास करता था<sup>२</sup>। सम्पूर्ण ‘खाणुमत’ ब्राह्मणों का ग्राम था। ‘कूटदन्त’ ब्राह्मण्यमसेवी तथा अपनी विद्वत्ता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध था। वह ३०० विद्यार्थियों को घेद पढ़ाता था। वह बूढ़ हो चला था। खाणुमत ग्राम उसे विस्तार की ओर से ब्रह्मदेयरूप में मिला था, जो तृण-काष्ठ-उदक-धान्य से सम्पन्न तथा घनी आबादी-वाला था। उस गाँव का वही मालिक था। जिस समय भगवान् बुद्ध वहाँ गये थे, कूटदन्त यज्ञ करने के लिए उद्यत था। उसके यज्ञ में भाग लेने के लिए अनेक स्थानों के ब्राह्मण वहाँ आये हुए थे। उसके यज्ञ के स्थूल-स्थान पर ७०० बैल, ७०० बछड़े, ७०० बाल्हियाँ, ७०० बकरियाँ और ७०० भेड़ें बलिर्कर्म के लिए बँधी हुई थीं। उसी समय बुद्ध वहाँ पधारे।

कूटदन्त को जब मालूम हुआ कि अपने संघ के साथ बुद्ध हमारे गाँव के आस-पड़ने में आकर ठहरे हुए हैं, तब उसने सोलाह परिष्कारवाले यज्ञ की विधि पूछने के लिए, उनके पास जाने का विचार किया। यह में भाग लेने के लिए आये ब्राह्मणों ने विरोध किया कि ‘यदि आप बुद्ध के पास जायेंगे, तो आप की लघुता सिद्ध होगी और बुद्ध का बड़प्पन प्रकट होगा।

१. ‘यद्यपि भगवा आगो यथाभिरन्त विहरित्वा तेन कुसिनारा तेन चारिकं पक्कमि महता भिक्षुसङ्घेन सिद्धिं अद्दतेवसेहि भिक्षुसंघेहि।’—महावग्गो : ९, ५, १, १

२. बुद्धचर्या—३० २३२

३. दीप निकाय (कूटदन्तसंघ)—१, ५

आप वेदशास्त्रा हैं, इससे ब्राह्मण-धर्म की हीनता प्रमाणित होगी।' इस पर 'कूटदन्त' ने कहा कि आपसौग बुद्ध की महिमा नहीं पहचानते हैं। वे तीर्थंकरों में अग्रणी हैं। दूसरे बिम्बिसार, प्रसेनजित् तथा पौष्करसाति-जैसे राजाओं से वे पूजित हैं। और, सब से बड़ी बात तो यह है कि जो कोई भी विशिष्ट अतिथि हमारे गाँव में आये, उसका सम्मान और यथोचित सत्कार करना हमारा धर्म है। अतिथि हमारा सत्करणीय है। इतना सुनने पर सभी ब्राह्मण राजी हो गये। अन्त में कूटदन्त सभी ब्राह्मणों को साथ लेकर भगवान् बुद्ध के पास गया और प्रणाम कर एक ओर बैठा। कूटदन्त ने हाथ जोड़कर भगवान् बुद्ध से पूछा— "भगवन्, सुनते हैं कि आप 'सोलह परिष्कार-सहित विविध यज्ञ सम्पदा' को जानते हैं। मैं यह विधि नहीं जानता। मैं अभी महायज्ञ करना चाहता हूँ। क्याकर सोलह परिष्कारवाली यज्ञ-विधि बतलाइए।"

भगवान् बुद्ध ने कूटदन्त को भद्रा-सम्पन्न पावा। उन्होंने सोलह परिष्कारवाले अहिंसक यज्ञ की विधि बतलाई और इस यज्ञ के करनेवाले 'महाविजित' राजा की कहानी भी कही, जिसके यज्ञ में अपने पूर्वजन्म में पुरोहित का काम स्वयं बुद्ध ने किया था। उसके बाद बुद्ध ने उसे दान-यज्ञ, विशरण-यज्ञ, शिष्पापद-यज्ञ, शील-यज्ञ, समाधि-यज्ञ और प्रज्ञा-यज्ञ की व्याख्या बतलाई। इसके बाद कूटदन्त ने 'विशरण' में प्रविष्ट किया और उपासक-धर्म स्वीकार कर लिया। उसने यज्ञ में बलिर्कर्म के लिए आये सभी पशुओं को उसी क्षण मुक्त करा दिया। दूसरे दिन बुद्ध को, संघ के साथ, भोजन पर भी बुलाया।

बुद्धचर्या<sup>१</sup> से ज्ञात होता है कि बुद्ध इसी वर्ष चम्पा गये और वहाँ गर्गरा पुष्करिणी पर ठहरे। किन्तु 'दीघ निकाय'<sup>२</sup> से पता चलता है कि भगवान् बुद्ध अंग देश में चारिका करते हुए चम्पा (भागलपुर) की गर्गरा-पुष्करिणी पर गये थे। जो हो, पर इतना तो स्पष्ट है कि जब वे स्वाणुमत ग्राम में गये थे, तब उनके साथ ५०० चुने हुए भिक्षु थे और उन्हीं पाँच सौ भिक्षुओं के साथ वे चम्पा में भी आये थे। इससे स्पष्ट है कि गर्गरा-पुष्करिणी की यात्रा इसी यात्रा के सिलसिले में हुई थी।

उस समय चम्पा नगरी का स्वामी सोणदण्ड नामक ब्राह्मण था। उस सोणदण्ड को राजदाय और ब्रह्मदेयस्वरूप चम्पा नगरी बिम्बिसार ने दान में दी थी। उस समय चम्पा में ५०० ब्राह्मण बहुश्रुत थे, जो अनेक स्थानों से आये हुए थे। सोणदण्ड ने नगर के नारी-नर के विशाल झुंड को देखा कि वे बुद्ध के दर्शन के लिए जा रहे हैं। उसने भी जाने का विचार किया। उन ब्राह्मणों ने पहले तो बुद्ध के पास जाने से सोणदण्ड को रोका, पर पीछे बुद्ध की महिमा बतलाने पर सभी राजी हो गये। सोणदण्ड उन पाँच सौ ब्राह्मणों के साथ गर्गरा-पुष्करिणी के तट पर जाकर भगवान् बुद्ध से मिला। वह भगवान् बुद्ध की प्रभापूर्ण आकृति देखकर ही अभिभूत हो गया। वह सोचने लगा कि कुछ पूछूँ, पर यदि ठीक से

१. बुद्धचर्या—पृ० २४१

२. दीघ निकाय (सोणदण्डसुत्त)—१,४



नहीं प्रश्न कर सका, तो मेरी परिषद् ही मुझे छोटा समझेगी। यदि मैं नहीं पहुँचूँ, बुद्ध ही प्रश्न करें और फिर भी यदि ठीक से उत्तर नहीं दे सका, तो भी मेरी निन्दा होगी। इसी विचार में वह आमा-पीछा कर रहा था कि भगवान् बुद्ध ने उसके मन की बात जान ली और उन्होंने उसी के धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया। बाद में बुद्ध जो-जो कहते गये, सभी सोणदण्ड स्वीकार करता गया। इस पर ब्राह्मणों ने सोणदण्ड से कहा—“आप यह क्या कर रहे हैं। बुद्ध जो कह रहे हैं, सब आप स्वीकार कर रहे हैं। इससे तो वर्ण-व्यवस्था, वेद-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था का आप खसड़न कर रहे हैं।” भगवान् बुद्ध ने कहा—‘यदि आप लोग सोणदण्ड को अल्पज मानते हैं, तो आप ही लोग वाद करें, नहीं तो सोणदण्ड को वाद करने दें।’

सोणदण्ड ने भगवान् बुद्ध से कहा—“ठहरिए भगवन्, मैं इन लोगों का भ्रम दूर कर देता हूँ। उस समय सोणदण्ड का भानजा अंगक भी वहाँ उपस्थित था, जो मंत्रधर और वेदपाठी था। वह निघण्टु, कला, व्याकरण, इतिहास, काव्य, लोकायत, सामुद्रिक आदि शास्त्रों में पूर्ण निष्णात था। उसके मातृ-पितृ-कुल दोनों शुद्ध थे। सोणदण्ड ने कहा—“मेरे भानजे इस अंगक को तो आप लोग देखते हैं। यह वर्ण, जाति और मंत्र तीनों से शुद्ध है। मगर यदि वह आचार और शील छोड़कर असत्य भाषण करने लगे, प्राण हरण करने लगे, चोरी करने लगे, परस्त्री गमन करने लगे, मद्यपान करने लगे, तो वर्ण, जाति और वेद क्या करेंगे। यह तीनों से अवश्य च्युत हो जायगा। इसलिए मैं ऐसे बुद्ध-वचनों का खसड़न नहीं कर सकता हूँ।” इस पर ब्राह्मणों की परिषद् मूक हो गई। पीछे बुद्ध ने उसे शील, प्रज्ञा आदि के बारे में समझाया। सोणदण्ड भी बुद्ध का उपासक हुआ और दूसरे दिन उन्हें संघ के साथ भोजन पर आमंत्रित किया।

‘दीप निकाय’ से यह भी पता चलता है कि यद्यपि सोणदण्ड बुद्ध का उपासक हुआ, तथापि उसने ब्राह्मण-धर्म को छोड़ा नहीं। ब्राह्मण-परिषद् की कड़ाई के कारण ही वह परिषद् में बैठने पर, भगवान् बुद्ध को उठकर प्रणाम नहीं करता था। केवल अभिवादन के लिए बैठे-ही-बैठे माथे की पगड़ी इटा लेता था। यदि वह रथ पर कहीं जाता था, तो उतरकर अभिवादन नहीं करता था, केवल चाबुक उठा देता था अथवा केवल हाथ उठा देता था। विहार-प्रान्त की इसी गर्गरा-पुष्करिणी पर ‘सारिपुत्र’ ने भिक्खुओं को ‘दसुत्तरसुत्त’ का उपदेश किया था<sup>१</sup>।

‘अंगुत्तर निकाय’<sup>२</sup> से ज्ञात होता है कि जब बुद्ध इसी गर्गरा-पुष्करिणी पर निवास कर रहे थे, तब उनके साथ वज्जिदेश का ‘महिता’ नामक गृहपति भी साथ था। महित एक दिन पास के अग्न्य तैर्थिकी से मिला। उसके द्वारा अपना परिचय देने पर भी तैर्थिकी ने समझा कि यही गौतम बुद्ध है, अतः वाद-विवाद के विचार से आक्षेप किया। तैर्थिकी ने

१. दीप निकाय—३, ११

२. अंगुत्तर निकाय—१०, २, ४, ४

कहा—'तेरा गौतम तो सिर्फ वाद का खण्डन ही करता है, कुछ प्रतिपादन तो करता नहीं।' इस पर महित ने उत्तर दिया—'नहीं जी, मेरे भगवान् तो केवल प्रतिपादन ही करते हैं, खण्डन नहीं। वे कुशल धर्मों को और अकुशल धर्मों को बतलाते हैं—यानी इतने धर्म कुशल हैं, इतने अकुशल हैं। इस तरह तो वे दोनों का भेद-प्रतिपादन करते हैं। अतः भगवान् बुद्ध सप्रशंसक हैं; अप्रशंसक नहीं।' महित का ऐसा तर्क सुनकर सभी अन्य तैर्थिक मौन हो गये। जब बुद्ध ने यह बात सुनी, तब कहा कि 'भिच्छुओ, तुम लोगों को भी महित-जैसा ही अन्य तैर्थिकों का समाधान करना चाहिए।'।

इसी स्थान पर एक दिन पेस्स नामक कुमार, जो एक हाथीवान का लड़का था, भगवान् बुद्ध से मिला<sup>१</sup>। उसके साथ उसका मित्र कन्दरक परिव्राजक भी था। जब ये दोनों भगवान् बुद्ध के पास गये, तब उस समय बुद्ध-परिषद् विलकुल मौन थी। इस शान्त परिषद् को देखकर कन्दरक परिव्राजक ने बुद्ध से पूछा—'भगवन्, इतनी ही बड़ी परिषद् पहले के बुद्ध भी रखते थे और क्या वाद के बुद्ध भी रखेंगे?' भगवान् बुद्ध ने कहा—'हाँ, पहले ऐसा हुआ है और बाद में भी ऐसा होगा।' इसके बाद पेस्स और कन्दरक—दोनों ने भगवान् के साथ अनेक धर्म-संलाप किये, तथा वे पीछे उठकर चले गये। उनके जाने पर भिच्छुओ से बुद्ध ने पेस्स के ज्ञान की बड़ी बड़ाई की थी। धन्य है वह प्रदेश, जहाँ के हाथीवान के लड़के के ज्ञान की प्रशंसा बुद्ध-जैसे शानी करते थे।

भगवान् बुद्ध के इस चम्पा-प्रदेश की गंगरा-पुष्करिणी पर वास करने के प्रसंग में 'महावग्गो' में एक 'चम्पेय्य सन्धक' नाम का प्रकरण ही है<sup>२</sup>। उसमें उल्लेख है कि जिस समय बुद्ध चम्पा में थे, उस समय काशी-प्रदेश का काश्यप गोत्र नामक भिच्छु, उनसे यहाँ आकर मिला। काश्यप गोत्र को कुछ भिच्छुओ ने उच्छेषा-दण्ड (संघ से निष्कामित करने का दण्ड) दिया था। वास्तविक दण्ड का भागी मैं हूँ कि नहीं, यही बात जानने के लिए वह भिच्छु भगवान् के पास चम्पा में गंगरा-पुष्करिणी पर आया था।

काश्यप गोत्र काशी के वासभगाम नामक स्थान में रहता था। उसकी भद्रा थी कि अच्छे-अच्छे, जो कमी नहीं आये हैं, ऐसे भिच्छु मेरी कुटी में आते और मैं उनका उत्तम सत्कार करता। संयोग की बात, एक दिन बहुत-से भिच्छु आ गये। काश्यप गोत्र बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने स्नान, भोजन और शयन तथा भिच्छुओ की अन्य सुविधाओं का भी बहुत बढ़िया इन्तजाम किया। फल यह हुआ कि उसके सत्कार से पूर्ण संतुष्ट हो आगन्तुक भिच्छु पूरा आराम प्राप्त कर वहीं जम गये—जाने का नाम ही न लेते। काश्यप विचारा माँगकर लाता था। उसने सोचा, यह कितने दिनों तक चलेगा। उसने अतिथि-सत्कार बन्द कर दिया। इसी बात पर भिच्छुओ ने उसे संघ से निकासने का दण्ड दिया कि

१. मज्झिम निकाय—(कन्दरकसुत्तम्)—२, १, १

२. महावग्गो (द्वितीय भाग, चम्पेय्यसन्धको), ५० १६१, (प्रकाशक—बम्बई-विरसविद्यालय, बम्बई-१; सन् १९५९ ई०)

तुमने भिक्षुसंघ का निरादर किया है। इससे ज्ञात होता है कि गुटघन्दी का अन्याय तब भी था और बहुमतवाली गणतंत्र-प्रणाली के दोष का यह एक उदाहरण है।

जब वह अपना अपराध लेकर चम्पा पहुँचा और भगवान् बुद्ध ने सुना, तब उससे कहा—‘जाओ, काश्यप गोत्र, तुम वासभगाम में जाकर वास करो। तुम्हें कोई दण्ड नहीं दे सकता।’ और, बुद्ध ने उन पेट्ट भिक्षुओं को बहुत धिक्कारा कि ये हमारे भिक्षु ऐसे अधिवेकी हैं, जो आतिथ्य को आतिथ्य पर भार बना देते हैं।

इसी चम्पेय्य-प्रकरण में दण्ड-कर्म, प्रतिसारणीय कर्म, वर्जनीय कर्म, संघ की महत्ता आदि का विधान है। यह कर्म और अकर्म का विस्तृत प्रकरण है।

‘चुल्लवग्ग’<sup>१</sup> से ज्ञात होता है कि आबस्ती से बुद्ध चारिका करते ‘कीटागिरि’ में गये। कीटागिरि काशी-प्रदेश में था<sup>२</sup>। कीटागिरि से ‘आलवी’ आये<sup>३</sup>। आलवी में सोलहवाँ वर्षावास किया और वही से राजगृह आये<sup>४</sup>।

‘आलवी’ के सम्बन्ध में म० पं० राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि आलवी का नाम आज ‘अरवल’ है, जो कानपुर से कन्नौज के रास्ते पर है<sup>५</sup>। पर यह बात युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती। ‘चुल्लवग्ग’ के उपरिलिखित विवरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि काशी-प्रदेश और राजगृह की ओर आते हुए बुद्ध आलवी आये। इसलिए आलवी कन्नौज-प्रदेश का अरवल नहीं हो सकता। मेरी समझ में आलवी शाहज्वाद जिले का मुख्य नगर ‘आरा’ होगा। आरा नगर में ही कनिष्क के विचारानुसार एक यक्ष का मान-मर्दन कर बुद्ध ने उसे अपना शिष्य बनाया। उसी स्थान पर एक चैत्य का निर्माण अशोक ने कराया था, जहाँ हनेसांग आरा जिले के मसाढ़ (महाशाल) गाँव से चलकर आया था। मसाढ़ स्वयं एक बौद्ध स्थान था, जहाँ की मूर्तियाँ पटना-संग्रहालय में आज भी सुरक्षित हैं। वह महाशाल से छह मील पूर्व था। इसी आरा के चैत्य को देखकर, सामने से गंगा पार कर हनेसांग वैशाली गया था। हमारी बातों की पुष्टि ‘सुचनिपात’ से भी होती है।

हनेसांग द्वारा देखा गया यह चैत्य ‘आरा’ नगर के दो स्थानों में से किसी एक स्थान पर संभव है। एक स्थान तो वह है, जहाँ आजकल ‘जैन हाई स्कूल’ है और जो आरा-नागरी-प्रचारिणी-सभा-भवन से कुछ दूर पूर्व है। वद्यपि आज इस स्थान पर मकान बन गये हैं, तथापि इस भूमि की ऊँचाई स्पष्ट बतलाती है कि यह कभी एक टीला था। कहते हैं कि एक बार डॉ० फटक नामक किसी बंगाली सज्जन को घर की नौव खूदवाते समय यहाँ से एक पेंसी बुद्ध की सुवर्ण-मूर्ति मिली, जिसको गलवाकर डबिटर साहब ने एक लाख मुद्राएँ प्राप्त

१. चुल्लवग्ग—३,५,२

२. मज्झिम निकाय—२,२,१०

३. चुल्लवग्ग—३,५,४

४. तत्त्व—६,६,१

५. निवर्णपिटक—(म० पं० राहुल सांकृत्यायन)—पृ० ४७२ टि०



कर लीं और उसके बाव से कलकत्ता जाकर वहाँ रह गये। इसके बाद 'मॉडल हाई स्कूल' (आरा) के संस्कृत-अध्यापक पं० कमलाकान्त उपाध्याय को उस भूमि से एक खण्डित बौद्ध देवी की मूर्ति मिली है, जिसे उनके यहाँ हमने स्वयं देखी है। इसलिए हमारा पक्का विश्वास है कि वह चैत्य वहाँ था। उपाध्यायजी का भी कहना है कि आरा में जेनसांग द्वारा देखा गया चैत्य या तो 'जैन हाई स्कूल' अथवा 'मॉडल हाई स्कूल' की भूमि होगी। यह स्थान भी श्रुति प्राचीन और ऊँचा है। इसी के पास 'अरण्य' देवी का स्थान है। आरा नगर को जल देनेवाली पानी-टंकी की नींव की जब खुदाई हो रही थी, तब यहाँ भी कई हिन्दू और बौद्ध मूर्तियाँ मिलीं।

'सुत्तनिपात' के 'आलवकसुत्त' में लिखा है कि जब बुद्ध आलवी के 'आलवक' चैत्य में बिहार कर रहे थे, तब आलवक यज्ञ आया और उसने तीन बार भगवान् बुद्ध को घर से बाहर जाने और अन्दर आने को कहा। जब उसने फिर चौथी बार निकलने के लिए कहा, तब बुद्ध ने बाहर जाने से इनकार कर दिया। इस पर वह यज्ञ क्रुद्ध होकर कहने लगा कि भ्रमण, मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, नहीं तो चित्त विक्षिप्त कर दूँगा, हृदय को फाड़ दूँगा या पैरों को पकड़कर गंगा के पार फेंक दूँगा—

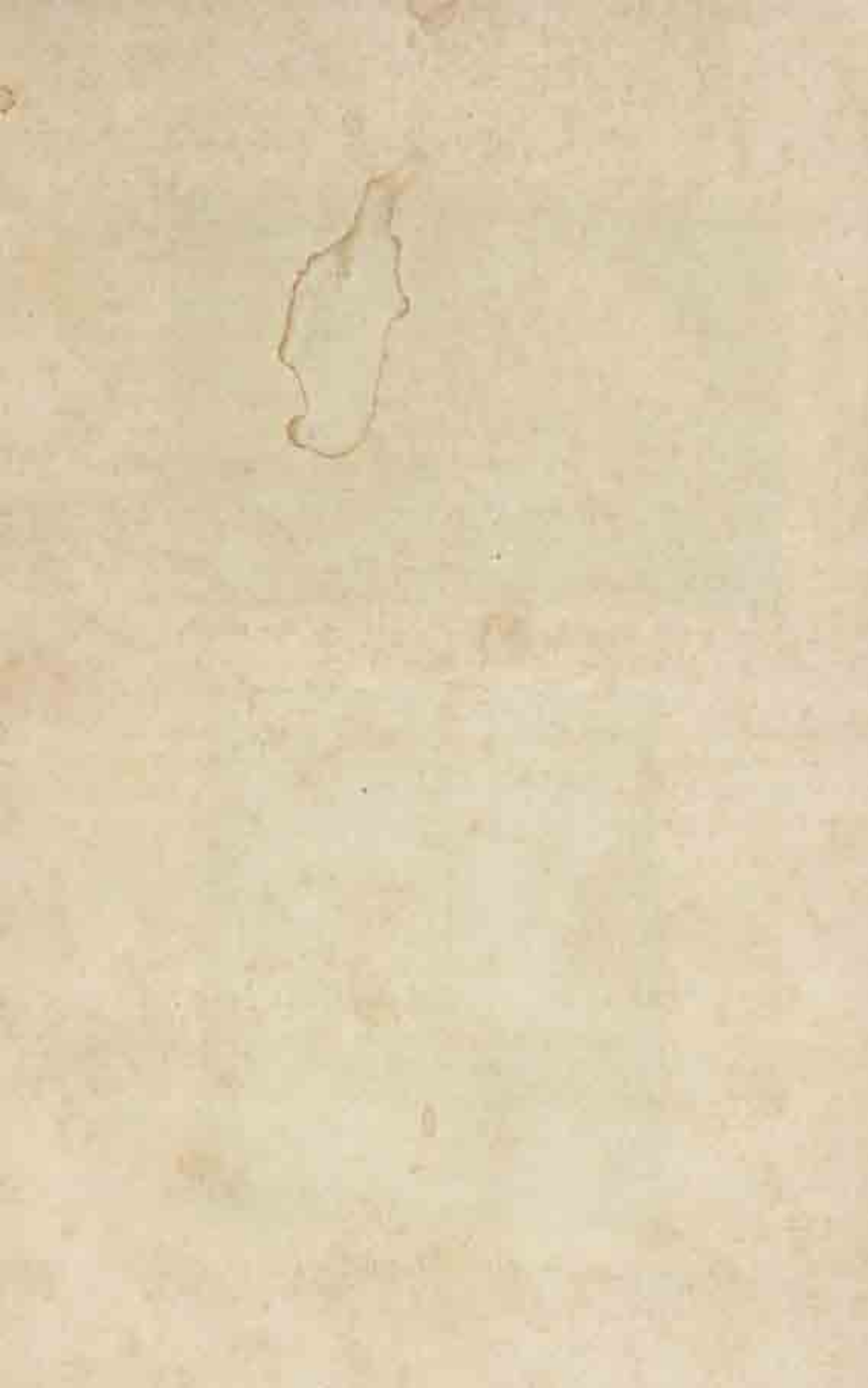
पण्डं तं समण पुच्छिस्सामि सचे मे न व्याकरिस्ससि चित्तं वा ते खिपिस्सामि,  
हृदयं वा ते फल्लेस्सामि, पादेसु वा गहेत्वा पार गंगाय खिपिस्सामीति ।

भगवान् बुद्ध के प्रति ठीक ऐसा प्रश्न हम खर और सूचिलोम यक्षों की ओर से, जो गया नगर के टंकितमंच पर निवास करते थे, सुनते हैं। उन्होंने भी कहा था—पादेसु वा गहेत्वा पारगङ्गाय खिपिस्सामि<sup>२</sup>। गंगा पार फेंक देने का मुहावरा आज भी शाहाबाद में प्रचलित है। गया वाला टंकितमंच और आलवी—दोनों गंगा के दक्षिण में थे, जहाँ से गंगा पार करना देश-निष्कासन-रूप था। आरा नगर ठीक गंगा के दक्षिणी तट पर अवस्थित था ही।

आलवक का नाम आरवक भी हो सकता है, जिसके कारण आरा और बकरी इन दो गाँवों का नाम पड़ा। बकरी में बड़ी-बड़ी लम्बी ईंटें पाई गई हैं, जिन पर 'त्रिपुण्ड्र' का चिह्न है और जो मार-शिखों का समय बतलाती हैं। 'बुकानन' ने अपनी शाहाबाद की रिपोर्ट में लिखा है कि 'बक' राजस के नाम पर ही 'बकरी' गाँव का नाम पड़ा और बक बकरी का ही रहनेवाला था। महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा ने भी 'आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा' से प्रकाशित पुस्तक 'आरा-पुरातत्व' में इसी मत का प्रतिपादन किया है। यह बक, आलवक शब्द का ही अर्द्धांश 'बक' होगा। 'महाभारत' में आये जिस यज्ञ को भीम ने मारा था, वह 'आरा' नगर के पास का ही था, इस किंवदन्ती से भी इसको मिलाना चाहिए। पानी, आरा नगर प्राचीन काल से यक्षों का निवास था। इसके साथ आरा के समीप के तीन गाँवों के नामों की ओर भी हम शब्दशास्त्रियों का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

२. सुत्तनिपात—आलवकसुत्त।

३. सुत्तनिपात—२७ (सूचिलोमसुत्त)।



बौद्धधर्म और विहार



सिंह-मिरा ( मसाद, ज्वारा ) ( पृ० ६७ )



मिथुन दम्पती, ( बौधगाया-रेलिंग )



ये ग्राम हैं—‘मसाद’, ‘कारीसाय’ और ‘बगवाँ’। मसाद की व्युत्पत्ति तीन तरह से होगी—(१) महा + शाल = मसाद; (२) महा + शस्य + आदय = मसाद और (३) महा + शस्य + आळ (ड)। इस तीसरी व्युत्पत्ति में ‘आलवक’ का ही ‘आल’ हो सकता है। इसी तरह ‘कारीसाय’ की व्युत्पत्ति होगी—करुष + हत्थ = कारीसाय। यह हत्थ ‘अंगुत्तर निकाय’ (८.१।३४) का ‘हर’क आलवक’ नामक ही यज्ञ होगा, जिससे ‘आलवी’ में बुद्ध की वार्त्ता हुई थी। ये दोनों गाँव ‘आरा’ से पश्चिम में हैं; पर थोड़ी दूर पर दक्षिण में बगवाँ ग्राम है। शाहाबाद में बगवाँ का ‘राकस’ मशहूर है, जिसकी कहानी में कहा जाता है कि बगवाँ के एक वैभव-सम्पन्न गृहस्थ ने एक राजस के मांसे की जटा काटकर अपने घर की कोठी के अन्न में छिपाकर रख दी थी। उस दिन से गृहस्थ का वैभव कभी कम नहीं होता था और वह राजस उसके वहाँ बनिहारे का काम करता था। एक दिन खेत में अन्न ले जाने के लिए उस बनिहारे राजस ने ही अन्न की कोठी खोली और तब उसमें उसकी जटा मिल गई। जटा मिलते ही वह उसे लेकर भाग गया, जो कभी फिर नहीं आया और गृहस्थ की सम्पत्ति जाती रही। उस राजस के चले जाने पर सारा गाँव वैभवहीन हो गया। इस बगवाँ गाँव की व्युत्पत्ति भी वही है—वक + ग्राम = बगवाँ। इसमें भी आलवक शब्द का ही ‘वक’ है। उपर्युक्त किंवदन्तीवाली कहानी और आलवक के ‘वक’—इन दोनों की ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त आरा नगर से उत्तर ‘सारन’ जिले के दक्षिणी भाग का भी जो नाम ‘अल्लकप्य’ है और बुद्ध के समय में जिसकी चर्चा मिलती है, वह भी इस आलवी के नाम पर ही पड़ा हो, तो आश्चर्य नहीं। सबसे तो बड़ी बात है कि आलवी काशी से राजगृह के रास्ते में था। अतः निश्चित रूप से आलवी आज का आरा नगर ही होगा। सोन नद के पूर्वी किनारे का ‘अरवल’ क्षेत्र भी आलवी क्षेत्र का ज्ञान कराता है। आरा और अरवल इन दोनों की दूरी भी ऐसी नहीं, जो इनका एक क्षेत्र में होना असंभव जान पड़े। ‘सुत्तनिपात’ में जिस अग्गलाष चैत्य की चर्चा मिलती है, वह शाहाबाद का ‘अगियाँव’ या गया का ‘अरवल’ होना चाहिए। ‘सुत्तनिपात’ से ज्ञात होता है कि ‘आलवक’ ने बुद्ध से कई प्रश्न किये, जिन सबका समुचित उत्तर बुद्ध ने दिया और उन्हें महाजानी जानकर आलवक यज्ञ स्वयं प्रार्थना करके भगवान् बुद्ध की शरण में चला आया।

‘अंगुत्तर निकाय’<sup>१</sup> की कथा के अनुसार जब बुद्ध आलवी में थे, तब हरवक आलवक उनके पास अपनी बड़ी परिपद् के साथ आया। जब बुद्ध ने पूछा कि इतनी बड़ी परिपद् को तुमने कैसे बनाया, तब उसने उत्तर दिया—“भगवन्, जो दान लेकर मेरी परिपद् में सम्मिलित होते हैं, उन्हें दान देकर अपना लेता हूँ, जो सम्मान चाहते हैं, उन्हें सम्मान प्रदान करके प्राप्त करता हूँ, जो पैसे से खरीदे जा सकते हैं, उन्हें पंचुर धन देकर खरीद लेता हूँ और जो बराबरी के भाव रखने से प्रसन्न होते हैं, उन्हें बराबरी का व्यवहार करके परिपद् में

१. अंगुत्तर निकाय—८, १, ३, ४

मिला लेता हूँ।" हत्यक आलवक से बुद्ध भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा— 'हत्यक जानी है।' मालूम होता है, यह घटना भगवान् बुद्ध जब दूसरी बार आलवी में आयें, तो घटी थी।

आलवी से चारिका करते भगवान् फिर राजगृह आये। इस बार उनका सवहवाँ वर्षावास 'राजगृह' में ही बीता। वहाँ राजगृह के वेणुवन कलन्दक निवाप में भगवान् बुद्ध ठहरे। राजगृह में उस समय दुर्मिच्छ पड़ा था। संघ को यह स्थिति बड़ा मोज नहीं दे सकते थे। भगवान् बुद्ध ने इसलिए संघ में उद्देश-भोज, शलाक, पाक्षिक, उपोसधिक, प्रादिपदिक का विधान किया। उसी समय बुद्ध ने संघ में शयनासन-प्रहापक, भांडारिक, चीवर-प्रतिग्राहक, चीवर-भाजक, यवागु-भाजक, फल-भाजक, खाद्य-भाजक, अल्पमात्रक विसर्जक, शाटिक-ग्रहापक, आरामिक प्रेषक और आक्शेर प्रेषक<sup>२</sup> का विधान किया।

कलन्दक निवाप से कुछ दूर पर मोर निवाप नामक एक स्थान था, जहाँ अनुगार वरचर और महा सुकुलुदायि नाम के विद्वान् परित्राजक रहते थे। भगवान् बुद्ध एक दिन मोर निवाप आश्रम में गये। वहाँ सुकुलुदायि परित्राजक ने बुद्ध की आव-भगत की। दोनों में धर्म-चर्चा छिड़ी<sup>३</sup>। धर्म-चर्चा के विषय थे—संप्रपति, गणी, गणाचार्य, तीर्थंकर, मक्खलि गोसाल, अजितकैसकम्बल, पकुभ कचायन, संजय वेलह्विपुत्त आदि। 'सुकुलुदायि' ने बुद्ध के सिद्धान्त-प्रतिपादन का समर्थन किया और बौद्धों के उच्छेदवादी सिद्धान्त की प्रशंसा भी की। इसके बाद भगवान् बुद्ध ने बौद्ध ज्ञान-विज्ञान की बातें बतलाईं। सभी विषयों की सराहना परित्राजक ने की, फिर भी वह बुद्ध-धर्म को ग्रहण नहीं कर सका। बुद्ध उस समय वहाँ से चुपचाप चले आये।

भगवान् बुद्ध इस परित्राजक के पास, जब दूसरी बार राजगृह आये, तब, फिर गये। इस बार धर्म-चर्चा के प्रसंग में सुकुलुदायि बौद्ध धर्म स्वीकार ही करना चाहता था कि उसकी परिपद् विलकुल विगड़ गई। सारी परिपद् उन्मादिनी होकर चिल्ला पड़ी—'परित्राजक उदायि। इससे हम तो अपने मत से नष्ट हो जायेंगे—सब धर्मविरोधी हो जायेंगे।' इस विरोध के कारण महासुकुलुदायि बौद्धधर्म नहीं ग्रहण कर सका।

उपर्युक्त घटना से यह सिद्ध है कि तब मगध में ब्राह्मण-परित्राजकों का बहुत बड़ा सम्मान था, जिन्हें बुद्ध अपने पक्ष में करने के लिए बार-बार चेष्टा करते थे।

इसी कलन्दक निवाप आश्रम से एक दिन बुद्ध पिंडपात के लिए राजगृह जा रहे थे कि कुछ दूर जाने पर उन्हें रास्ते में यहपति-पुत्र सिंगाल मिला, जो प्रातःकाल ही स्नानकर भीगे वस्त्र पहने सभी दिशाओं को नमस्कार कर रहा था। बुद्ध ने जब पूछा कि यह क्या कर रहे हो,

१. चुल्लवग्ग—६, ६, १

२. विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए 'विनयपिटक' (म० पं० राजल साहित्यायन) —पृ० ४७५-७६

३. मज्झिम निकाय—२, ३६

तब उसने बतलाया कि मेरे पिता ने मरते समय मुझसे कहा था—'पुत्र ! रोज सबेरें स्नान कर छह दिशाओं को नमस्कार करते रहना ।' अतः उनकी आज्ञा का पालन करता हूँ । धर्म की चर्चा के सिलसिले में बुद्ध ने गृहपतिपुत्र को छह दिशाओं के नमस्कार करने का तात्पर्य बतलाया । उन्होंने कहा—छह दिशाओं के नमस्कार करने का तात्पर्य है—( १ ) माता-पिता, ( २ ) आचार्य, ( ३ ) पत्नी, ( ४ ) मित्र, ( ५ ) सेवक और ( ६ ) साधु-ब्राह्मण की सेवा करना । उन्होंने उसे पंचशील ( अहिंसा, अस्तेय, सत्य, कामनिषेध और मद्यनिषेध ) का भी उपदेश किया । उन्होंने उसे पाप के चार स्थानों ( द्वेष, मोह, राग, और भय ) का वर्णन सुनाया । सम्पत्ति-नाश करनेवाले—मद्यसेवन, चौरास्ते की सैर, नाच-तमाशा, जूआ, दुष्टों के संग और आलस्य—इन छह दोषों से बचना चाहिए, ऐसा कहा । मित्र के लिए कहा कि जो ठाकरी, समान सुख-दुःखी, हितवादी और अनुकम्पक है, वही मित्र है और जो परधनहारक, वातूनी, खुशामदी, नाश में सहायक है, उसे अमित्र समझोगे ।<sup>१</sup> इन उपदेशों के बाद 'सिंहाल' भगवान् बुद्ध का अनन्त उपासक बन गया<sup>२</sup> ।

राजगृह के कलन्दर निवाण में द्वी शाक्य-कुल के कुछ व्यक्ति बुद्ध से मिलने आये थे<sup>३</sup> । उन्होंने बुद्ध से पूछा था कि शाक्य जाति में सर्वश्रेष्ठ भ्रमण कौन है ? बुद्ध ने इसपर 'मैत्रायणीपुत्र' का नाम बतलाया था । 'सारिपुत्र' ने 'मैत्रायणीपुत्र' की प्रशंसा बुद्ध के मुख से सुनकर सोचा—'देखें, ऐसे महापुरुष के दर्शन कब होते हैं ?' सारिपुत्र की मनःकामना श्रावस्ती में जाकर पूरी हुई ।

इसी स्थान में जब बुद्ध निवास करते थे, तब बुद्ध का उपासक विशाख, धर्मदिक्षा नामक भिक्षुणी के पास गया<sup>४</sup> । उसने धर्मदिक्षा से पूछा—'आर्य ! सत्काय-सत्काय तो सभी कहते हैं ; पर भगवान् बुद्ध ने सत्कायधर्म किसे कहा है ?' धर्मदिक्षा ने बताया—'आयुष ! भगवान् बुद्ध ने पाँच उपादान-स्कन्धों को सत्काय कहा है, जिनमें रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान हैं ।' इसके बाद विशाख ने एक-एक करके सत्काय-समुदय, सत्काय-निरोध, सत्काय निरोधगामिनी प्रतिपद, उपादान, उपादान-स्कन्ध, सत्काय-दृष्टि, आर्य अष्टांगिक मार्ग, समाधि आदि अनेक विषयों पर प्रश्न किये, जिनके सम्बन्ध में बारी-बारी से 'धर्मदिक्षा' ने सुबोध और समुचित उत्तर दिया । इसके बाद विशाख वहीं से उठकर बुद्ध के पास गया और उसने धर्मदिक्षा के साथ के धर्मकथा-संलाप को कहा । बुद्ध ने धर्मदिक्षा की सराहना की और कहा—'वह पंडितता है, महाप्रज्ञा है ।'

'धर्मदिक्षा' भिक्षुणी इसी विशाख की पत्नी थी । विशाख राजगृह का एक नामी गृहपति था । पहले-पहल बुद्ध के उपदेशों से 'विशाख' के ही मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ था ।

१. दीप निकाय ( सिंहालोबाधसूत )—३, =

२. मग्गिम निकाय—१, ३, ४

३. तथैव—१, ५, ४



बाद में पतिपरायणा धर्मदिक्षा पति का अनुगमन करके भिक्षुणी हुई; पर धर्मज्ञान में वह अपने पति से बाजी मार ले गई।

वहीं पर तीसरी बार वैशाली-निवासी वत्सगोत्री पुण्डरीक परिव्राजक भगवान् बुद्ध से आकर मिला<sup>१</sup>। इसके पहले दो बार बुद्ध से उसकी भेंट हो चुकी थी। पहली बार तो भगवान् बुद्ध स्वयं उसके पास वैशाली में गये थे<sup>२</sup>। दूसरी बार वह वत्सगोत्र परिव्राजक भावस्ती में जाकर उनसे मिला था<sup>३</sup>। पहली बार भेंट होने पर इसने केवल भगवान् बुद्ध के भाषण का अनुमोदन किया था। दूसरी बार मिला तो 'उपासक' हुआ। तीसरी बार जब इस 'कलन्दक निवाप' में मिला, तब वह बौद्ध भिक्षु बन गया।

इस बार इसके द्वारा धर्म-वाचना करने पर बुद्ध ने कुशल और अकुशल धर्मों को अच्छी तरह समझाया। उसके प्रश्न करने पर बुद्ध ने बतलाया कि मेरे पास ऐसे ५०० से भी अधिक भिक्षु हैं, जो चित्तविमुक्तिक और प्रज्ञा-विमुक्तिक हैं और कई भिक्षुणियाँ भी ऐसी ही हैं। उन्होंने ऐसे गृहस्थ ब्रह्मचारों और कुमारी ब्रह्मचारिणियों को भी बतलाया, जो 'अवरमाणीय संयोजनों' के लिये 'औपपातिक' हो निर्वाण प्राप्त करनेवाले हैं और जिनकी संख्या पाँच सौ से भी अधिक है। ऐसे मेरे धर्म में श्रद्धा रखनेवाले कामयोगी गृही और गृहिणी भी हैं, जिनकी संख्या भी पाँच सौ से अधिक है। अन्त में परिव्राजक ने जब भिक्षु बनने की इच्छा प्रकट की, तब बुद्ध ने कहा—'अन्य तीर्थकों को चार मास परिवास करने के बाद प्रव्रज्या दी जाती है।' इसने कहा—'महाराज, चार मास क्या, मैं चार वर्ष परिवास कर सकता हूँ।'

उपसंपदा लेने के पन्द्रह दिनों बाद फिर बुद्ध के पास यह गया, और उनसे आगे का धर्म इसने पूछा। बुद्ध ने इसे अब धर्म का विलुप्त ज्ञान दिया। अन्त में इस वत्सगोत्र परिव्राजक ने एकान्तवासी और आत्मसंयमी होकर शीघ्र ही ज्ञान प्राप्त कर लिया और अर्हत्ता में इसकी गिनती हुई। बुद्ध ने इसके त्रैविद्य ज्ञान और महर्दिक की प्रशंसा अन्य भिक्षुओं से की थी।

भगवान् बुद्ध जब इसी 'कलन्दक निवाप' में ठहरे थे, तब एक समय गुलिस्सानि नामक आरण्यक भिक्षु वहाँ उपस्थित था<sup>४</sup>। वह आचार-धर्म में अत्यन्त अस्थिरचित्त था। सारिपुत्र ने उसी को अपना प्रवचन सुनाने के उद्देश्य से भिक्षुओं को इकट्ठा किया और आरण्यक भिक्षुओं के आचार के सम्बन्ध में अत्यन्त मार्मिक धर्म का उपदेश किया। वह उपदेश ग्राम के निकट रहनेवाले भिक्षुओं के लिए भी लाभप्रद था।

इसी कलन्दक निवाप में जब बुद्ध भगवान् बिहार करते थे, तब पास के जंगल में

१. मज्झिम निकाय—२, ३, ३

२. तत्तैव—२, ३, १

३. तत्तैव—२, ३, २

४. तत्तैव—२, २, ६

एक कुटिया बनाकर उनका शिष्य अचिरावत रहता था<sup>१</sup>। एक दिन 'अजातशत्रु' का छोटा भाई जयसेन धूमते-फिरते अचिरावत के पास पहुँचा। साधारण शिष्टाचार के बाद जयसेन ने भिन्नु से पूछा—'भ्रमण ! मैंने सुना है कि भिन्नु प्रमाद-रहित उद्योग और संयम में दत्तचित्त होकर चित्त को एकाग्र कर लेते हैं।' अचिरावत ने कहा—'राजकुमार, आप ठीक कहते हैं।' जयसेन ने फिर कहा—'महाराज, आपने जो धर्म समझा है, उसको कहिए।' अचिरावत बोला—'मैं धर्म के समर्थ को कहूँ और आप समर्थ नहीं, तब मेरा कहना व्यर्थ होगा।' इसपर जयसेन ने कहा—'कहिए भी तो, शायद समझ सकूँ।' भिन्नु ने धर्म के सम्बन्ध में, जो कुछ जानता था, कहा। तब जयसेन ने फिर प्रश्न किया—'मन्ते, इसमें कोई कारण नहीं दिखाई देता कि प्रमाद-रहित होकर उद्योग और संयम में विहार करते हुए भिन्नु चित्त को एकाग्र कर लें।' अचिरावत इस प्रश्न का समुचित उत्तर न दे सका। तब जयसेन उठकर चला गया।

भिन्नु अचिरावत को वहीं म्लानि हुई और वह भगवान् बुद्ध के पास 'कलन्दक निवाप' में आया।<sup>२</sup> भिन्नु ने भगवान् से जयसेन से हुई सारी बातें कहीं। बुद्ध ने भिन्नु को जयसेन के प्रश्न का उत्तर उदाहरणों के साथ समझाया। इस पर भिन्नु ने कहा—'मला, ऐसे उदाहरण भगवन्, मुझे कहाँ सूक्तों कि मैं उसे ठीक से समझाता।'।

एक दिन 'भूमिज' नामक भिन्नु जयसेन से मिलने गया<sup>३</sup>। भूमिज आबस्ती का रहने-वाला था और जयसेन का मामा था<sup>४</sup>—(भूमिज सुत्त-अट्ठकथा)। वह 'भूमजक' भी कहलाता था। यह पट्ठगोय भिन्नुओं<sup>५</sup> में से एक था। जयसेन ने भूमिज से बुद्ध के वादों के सम्बन्ध में प्रश्न किया। पर उसे बौद्धवाद को भूमिज भी ठीक से नहीं समझा सका। अन्त में वह भी भगवान् के पास गया और इसने भी जयसेन के प्रश्न की और अपनी अल्पज्ञता की बात बतलाई। बुद्ध ने भूमिज को जयसेन के प्रश्न का उत्तर चार उपमाओं के साथ अच्छी तरह समझा दिया। इसने भी वही बात कही—'महाराज, ये उपमाएँ मुझे कहाँ सूक्तों।'।

इसी 'कलन्दक निवाप' में रहते हुए भगवान् बुद्ध ने 'सारिपुत्र' को विषयों के त्याग, स्मृति-ग्रन्थान आदि भावना की महत्ता बतलाई थी<sup>६</sup>।

भगवान् बुद्ध ने अपना १८वाँ और १९वाँ वर्षावास अंग-देश में कहीं अवस्थित चालिय पर्वत पर बिताया था। इन दो वर्षों में उन्होंने बिहार के पूर्वी भागों के अनेक स्थानों में भ्रमण करके उन्हें पवित्र बनाया तथा अनेक गृहस्थों और ब्राह्मणों से धर्म-संलाप

१. मत्थिम निकाय—३, ३, ५

२. तर्षेव—३, ३, ६

३. तर्षेव (रा० सर्ग) —पृ० ५२० दि०

४. पण्डुक, लोहितक, मेत्थिय, भूमजक, अश्वजित और पुनर्वसु—ये पट्ठगोय थे। यह अश्वजित पंचवर्गीय अश्वजित से भिन्न था। —विजयपिटक (रा० सर्ग) —पृ० १४-१५

५. मत्थिम निकाय—३, ५, ६

किया था। इसी चारिका के सिलसिले में वे अंग-प्रदेश के अश्वपुर गाँव में गये थे। वहाँ उन्होंने भिक्षुओं को चीवर, पिंडपात, रावनासन, प्रत्यय-भेषज्य की महिमा बतलाई थी। इसके साथ अभिष्या और मिथ्यादृष्टि का नाश करनेवाले धर्मों को समझाया था<sup>१</sup>।

अश्वपुर से चारिका करते बुद्ध कंजंगल प्रदेश में पहुँचे। आजकल के 'सताल परगना' को कंजंगल कहते थे<sup>२</sup>। वहाँ बौद्ध धर्म को जाननेवाली कंजंगला नामक भिक्षुणी निवास करती थी, जो एक महाबिहारी नारी थी। कंजंगल प्रदेश पहुँचकर बुद्ध वहाँ के वेणुवन में विहार करने लगे<sup>३</sup>। इसी समय कंजंगल के कुछ भिक्षु महापंडिता 'कंजंगला' के पास गये और उन्होंने उससे पूछा कि—“आर्ये ! भगवान् ने जो महाप्रज्ञा में 'वसुत्तर प्रश्न' बतलाया है—जिसमें एक प्रश्न, एक उद्देश्य, एक उत्तर; दो प्रश्न, दो उद्देश्य, दो उत्तर; इसी तरह तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ और दस प्रश्न, उद्देश्य और उत्तर हैं—उसका विस्तार समझाइए। इन विषयों पर कंजंगला ने समुचित, विद्वत्तापूर्ण और सुविस्तृत व्याख्या भिक्षुओं के सामने प्रस्तुत की, जिसे उसने कभी स्वयं बुद्ध के मुँह से नहीं सुना-समझा था। उसने अपनी व्याख्या की पुष्टि के लिए उन भिक्षुओं को 'वेणुवन' में भगवान् बुद्ध के पास भेजा। भिक्षुओं ने जब बुद्ध के पास पहुँचकर कंजंगला द्वारा की गई व्याख्या की उन्हें सुनाया, तब भगवान् बुद्ध ने कहा—“भिक्षुणी ने ठीक और समुचित व्याख्या बतलाई है। वह पंडिता है, वह महाप्रज्ञा है।”

इसी कंजंगल में बुद्ध जब भ्रमण कर रहे थे, तब पारासिविय ब्राह्मण का शिष्य उत्तर माणवक भगवान् बुद्ध के पास मिलने आया था<sup>४</sup>।

भगवान् बुद्ध ने सोचा अन्य तीर्थक का यह शिष्य है, धर्म-उपदेश का अच्छा अवसर उपस्थित है। ऐसे अवसर पर धर्म का उपदेश करना चाहिए। उन्होंने अपने भिक्षुओं को इकट्ठा करके आर्यविनय अनुत्तर, इन्द्रिय-भावना, शैक्ष्य प्रतिपद तथा भावतेन्द्रिय आर्य का समुचित उपदेश किया। इस अवसर पर 'आनन्द' भी उपस्थित थे। इन धर्मों के सम्बन्ध में 'पारासिविय ब्राह्मण' जिस तरह का उपदेश करता था, उसका खण्डन भी अपने उपदेशों से ही भगवान् बुद्ध ने किया था।

कंजंगल-प्रदेश से भगवान् बुद्ध सुह्य-प्रदेश में गये और वहाँ सिलावती (सिलहरे) नदी के तट-प्रदेश में विहार करने लगे<sup>५</sup>। बुद्ध के विहार-स्थान से कुछ दूरी पर थोड़े-से बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। उन्हें वासना के जाल में फँसाने के लिए पापी मार बूढ़ा ब्राह्मण का वेश धारण करके आया। उसने भिक्षुओं से कहा—“अरे ! इस भरी जवानी में

१. मज्झिम निकाय-१, ४, १०

२. बुद्धचर्या ( २० सर्ग )-५० २=६

३. अंगुत्तर निकाय-१, १, ३, =

४. मज्झिम निकाय (इन्द्रिय-भावना-सूचन)-३, ५, १०

५. अंगुत्तर निकाय-४, ३, १



वर्त्तमान के आनन्द को छोड़कर कालान्तर के आनन्द के लिए क्यों मरते हो ?' किन्तु, वे भिक्षु, क्षीणालव थे। उन्होंने कहा—'तुमने हमारे धर्म को गलत समझा है। हमलोग वर्त्तमानकालिक आनन्द का ही भोग कर रहे हैं, हमारा धर्म कालान्तर के पीछे नहीं दौड़ता।' वह बूढ़ा ब्राह्मण अपना-सा मुँह लिये लाठी टेकता चला गया।

इसके बाद बुद्ध सुण से सेतकसिण्णक (अबरखवाली भूमि—हजारीबाग जिला) भू-भाग में आये। 'संयुक्त निकाय' के 'उदायी सुत्त' से ज्ञात होता है कि सेतकसिण्णक भू-भाग में ही आयुष्मान् उदायी अपनी ब्रह्मचर्य-तपस्या पूरी करके तथा धर्म का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर बुद्ध से मिले। इन दोनों की कथा-वार्त्ता में गुरु और शिष्य के सम्बन्ध के अतिरिक्त बुद्ध-धर्म के प्रारंभिक ज्ञान पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। यहाँ उदायी ने कहा—'भगवान्, अब मैंने धर्म को ज्ञान लिया, मुझे अब सच्चा मार्ग मिल गया।' बुद्ध ने कहा—'ठीक है, तुम्हें जो करना चाहिए, तुमने किया। अब तुम्हें कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं।'।

इस तरह चारिका करते भगवान् बुद्ध ने अपना १६वाँ वर्षावास भी 'चालिय' पर्वत पर व्यतीत किया, जो श्रंग के कृमिकाला (किउल) नदी के आस-पास कहीं है।

बुद्ध के इस वर्षावास में उनका उपस्थापक (निजी सेवक) आयुष्मान् मेधिय नामक भिक्षु था<sup>१</sup>। पास में जन्तुग्राम नाम का एक ग्राम था। मेधिय ने बुद्ध से कहा—'भन्ते, जन्तुग्राम में पिंडपात करना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो जाऊँ।' भगवान् ने कहा—'जैसा समय समझो, वैसा करो।' विना स्पष्ट आदेश के भी वह चीवर पहन भिक्षा-पात्र ले पिंडपात के लिए ग्राम में चला गया। भिक्षाटन के बाद पास की कृमिकाला नदी के तट पर विहार करने लगा। उसने तट-प्रदेश में एक अत्यन्त रमणीय आश्रम का बागीचा देखा। उसने सोचा कि यह स्थान ध्यान के लिए बड़ा ही महत्वपूर्ण है। वह भगवान् बुद्ध के पास आया और निवेदन किया कि यदि आज्ञा हो तो, कृमिकाला के तट पर स्थित आश्रम में बैठकर ध्यान-विहार करूँ। इसपर बुद्ध ने कहा—'मैं अभी अकेला हूँ, किसी भिक्षु को आ जाने दो, तो जाओगे।' इसपर उसने बार-बार हठ किया। तब भगवान् ने कहा—'जैसा समय देखो, वैसा करो।' मेधिय उस आश्रम में जाकर आसन मार ध्यान में बैठा। किन्तु कुछ क्षण बाद ही उसके चित्त में काम, क्रोध, द्वेष और हिंसा के भाव उलझ हुए। ये भाव इतने प्रबल हुए कि वह परेशान हो गया। अन्त में वह वहाँ से उठकर भगवान् के पास आया और अपनी परेशानी की बात कही। द्वेष के प्रहाण के लिए मैत्री-भावना, वितर्क के नाश के लिए प्राणायाम, राग के प्रहाण के लिए शुभ-भावना और अहंकार के नाश के लिए अनित्य-भावना का उपदेश बुद्ध ने उसको दिया। मेधियवाली यह घटना 'अंगुत्तर निकाय' के आनन्द-चरित (१।४।१) में भी दुहराई गई है और बतलाया गया है कि ऐसे सेवकों से तंग आकर ही बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य 'आनन्द' को

१. संयुक्त निकाय—४,१,१०

२. उदान (मेधियवग्ग) —४,१ [प्रकाशक—उत्तम मित्र, सारनाथ (बनारस) सन् १९३७ ई०]

निजी सेवक बनाया था। इसी जगह यह भी लिखा है कि इस 'चालिय' पर्वत से चारिका करते हुए भगवान् बुद्ध 'भावस्ती' को और चले गये।

भगवान् बुद्ध ने राजगृह में अपना बीसवाँ वर्षावास किया। उसके कुछ पहले ही वहाँ उनके पैर में 'पेचिस' का दर्द उमड़ आया। यह रोग उनकी तपस्या-काल से ही था। 'महावग्गो' से पता चलता है कि बुद्ध इस बीमारी से बहुत परेशान थे और उन्होंने 'आनन्द' से कहा कि मैं जुलाब लेना चाहता हूँ। आनन्द राजगृह के राजवैद्य जीवक से परिचित थे। वे जीवक के पास गये और कहा—

दोसाभिसत्तां खो आवुसो जीवक, तथागतस्स कायो। इच्छति तथागतो विरेचनं पातु<sup>१</sup>ति<sup>२</sup>।

अर्थात्—आवुस जीवक! भगवान् बुद्ध का शरीर रोगग्रस्त हो गया है। वे जुलाब लेना चाहते हैं।

जीवक ने कहा कि जुलाब लेने के पहले, भगवान् के शरीर में तेल मालिश कराकर मेरे पास आइए। आनन्द बैसा करके उसके पास फिर आये। 'जीवक' ने एक ऐसा घी का नस्य तैयार किया, जिसके एक बार के सूँघने से दस विरेचन हो और इसी तरह उसने बुद्ध को वह नस्य तीन बार सुँघाया। भगवान् बुद्ध को उनतीस दस्त तो नस्य सूँघने से ही और एक दस्त गरम पानी से स्नान करने के बाद हुआ। इसके बाद वे पूर्ण स्वस्थ हो गये। बुद्ध में जीवक की भक्ति अतुलनीय थी। संघ के निवास के लिए इसने अपनी आग्रवाटिका दे दी थी।

मगध के इस राजवैद्य का महावग्ग<sup>३</sup> में पूरा परिचय मिलता है, जिसके आधार पर कुछ बातों का उल्लेख करना आवश्यक है। यह उस जमाने का बड़ा भारी रासायनिक और शल्य-चिकित्सक था, जिसने मगध के गौरव में चार चौद लगा दिये थे।

जीवक राजगृह की एक वेश्या के गर्भ से जन्मा था। वैशाली की अनेक गौरवशाली वस्तुओं में से वहाँ की प्रतिष्ठित गणिका अम्बपाली भी एक थी। बिम्बिसार का एक मंत्री जब वैशाली गया और वहाँ से लौटकर आया, तब उसने बिम्बिसार से कहा कि महाराज! वैशाली की तरह राजगृह में भी अम्बपाली के जोड़ की ही एक गणिका होनी चाहिए। इसपर बिम्बिसार ने अपनी सहमति दे दी और तब सालवती नाम की एक परम रमणीय कुमारी खोजी गई। वही सालवती 'राजगृह' की प्रधान गणिका के रूप में प्रतिष्ठित हुई। यह नृत्य, संगीत, वाद्य आदि कलाओं तथा रूप-सौन्दर्य में अपूर्व थी। जहाँ वैशाली की गणिका को पचास सुवर्ण-मुद्रा पर अनुरक्त किया जा सकता था, वहाँ राजगृह की गणिका का शुल्क एक सौ सुवर्ण-मुद्रा था। किन्तु दुर्भाग्यवश सालवती शीघ्र ही गर्भवती

१. इसी वर्ष 'भावस्ती' में आनन्द बुद्ध के परिवारक नियुक्त हुए थे। देखिए—'अंगुत्तर निकाय' (आनन्द-परित) १, ४, १

२. महावग्गो—२, १, ६, १

३. महावग्गो, प्रथम भाषावाच (चीवर-खण्डक)

हो गई। कुछ लोगों का कहना है कि वह गर्भ महाराज 'विम्बिसार' का था। गणिका-वृत्ति के अनुसार 'मालवती' ने अपने गर्भ को छिपाया। वह लगभग छह मास तक किसी से नहीं मिली, बीमारी का बहाना करके घर में पड़ी रही। समय पूरा होने पर इसने पुत्र का जन्म दिया। किन्तु, वेश्यावृत्ति कायम रखने के लिए उस पुत्र को अपनी दासी के द्वारा बाहर के घरे पर फेंकवा दिया। यही अनाथ पुत्र आगे चलकर जीवक महाभिक्षु हुआ, जो अपने समय का चन्वन्तरि था।

घरे पर पड़े इस शिशु को विम्बिसार का अमात्य अमयकुमार उठा ले गया और उसी ने अपने घर में इसे पाल-पोसकर बड़ा बनाया। अमयकुमार द्वारा पालित होने के कारण इस शिशु का एक नाम कौमारमुत्थ भी पड़ा, जिसका अर्थ हुआ—कुमार के द्वारा भरण-पोषण से पालित। बालक जब बाहर जाकर विद्योपार्जन के लायक हुआ, तब उसकी भी इच्छा हुई कि मैं कुछ शिल्प-ज्ञान प्राप्त करूँ। अमयकुमार ने भी सोचा कि अपनी जीविका चलाने के योग्य होने के लिए इसे शिल्प-शिक्षा दिला देना आवश्यक है। अमयकुमार ने शिक्षा के लिए इसे 'तक्षशिला' विश्वविद्यालय में भेज दिया। साथ ही उसने एक परिचय-पत्र भी तक्षशिला के राजा के नाम से इसे दिया। जब जीवक तक्षशिला पहुँचा, तब मगध के राज-परिवार से आये इस अतिथि का, वहाँ के राजा 'पुष्करसारि' ने भव्य स्वागत किया। राजा ने इसकी आयुर्वेद-शास्त्र के अध्ययन की इच्छा जानकर तक्षशिला-विश्वविद्यालय के प्रधानाचार्य के पास भेजा। यद्यपि 'महावग्ग' में प्रधानाचार्य का नाम नहीं लिखा है, केवल एक वैद्य ही लिखा है, तथापि अनेक सूत्रों से ज्ञात है कि आयुर्वेद-विभाग के प्रधानाचार्य उस समय 'आत्रेय' थे। आत्रेय ने 'जीवक' को अत्यन्त कुशाम्बुद्धि तथा त्रिनयी शिष्य के रूप में पाया और उन्होंने अपना इसे प्रधान शिष्य के रूप में रखा। वे जिस रोगी को देखने या दवा देने जाते, साथ में जीवक को भी ले लेते थे। इसने तक्षशिला में अपने गुरु के पास सात वर्षों तक वैद्यक-शास्त्र का अध्ययन किया। एक दिन इसने अपने गुरु से कहा—'महाराज, इस शास्त्र का अन्त नहीं जान पड़ता है, अभी और कितने वर्षों तक मुझे इसका अध्ययन करना पड़ेगा। कौन-कौन ओषधि अभी जानने की रह गई है?' आत्रेय ने कहा—'अच्छा, जाओ खनित्री ले लो और तक्षशिला के आस-पास के जंगलों में जाकर कोई ऐसा पौधा ले आओ, जिसे तुम नहीं पहचानते हो, तो उसकी उपयोगिता बता दूँगा।' कहते हैं कि जीवक खनित्री लेकर तक्षशिला के ईर्द-गिर्द के चार कोस के जंगलों में गई ओषधि की तलाश में घूमता रहा, पर उसे एक भी ओषधि ऐसी नहीं मिली, जिसे वह न पहचानता हो। वह निराश लौटा और अपने गुरु से जाकर कहा—

**आहियदन्तो'ग्धि आचारिय, तक्षसिलाय समन्ता योजनं, न किञ्चि अग्रेसज्जं अदसं।**

अर्थात्, हे आचार्य। मैं तो तक्षशिला के चारों तरफ चार-चार कोस की दूरी में चक्कर लगाता रहा; पर मुझे एक भी नवीन भेषज नहीं मिला। इसपर आचार्य ने कहा—

१. भारतीय इतिहास का उन्मूलन (डी जयचन्द्र विचारतकार) — २. ४१ संस्क०, पृ० १११।



सिबिलितो'सि मय्ये जीवक ! अलं ते एत्तकं जीविकाया'ति' ।

अर्थात्, 'बस जीवक, तुम सीख चुके । इतनी शिक्षा तेरी जीविका के लिए पर्याप्त है ।' अब जीवक ने 'राजगृह' जाने का विचार किया और गुरु ने रास्ते के लिए थोड़ा पाषेय देकर उसे सम्मान विदा कर दिया ।

मार्ग में जीवक जब 'साकेत' नगर में पहुँचा, तब इसका गुरु-प्रदत्त पाषेय चुक गया था । इसे चिन्ता हुई कि आगे का रास्ता अभी काफी दूर है और बीहड़ है, वगैर राह-खर्च के राजगृह कैसे पहुँचूँगा ? इसने सोचा, साकेत ( अयोध्या ) में ही अपनी विद्या की आजमाइश क्यों न करूँ ? साकेत के सेठ की पत्नी के सिर में सात वर्ष से दर्द था, जिसे अच्छा करने के लिए कितने वैद्य आये और बहुत-कुछ सेठ से उन्होंने लिया, फिर भी शिरोरोग दूर न हो सका । जीवक को पता लगा, तो यह सेठ के द्वार पर पहुँचा और सेठानी को कहला भेजा कि मैं तुम्हारी शिरःपीड़ा दूर कर दूँगा । सेठानी ने उत्तर में कहलाया कि तुम्हारे-जैसे कितने ठग आये और ठगकर चले गये । इस पर जीवक ने कहलाया कि पहले मैं एक पैसा भी नहीं लूँगा । रोग दूर होने पर तुम्हारी जो मर्जी हो, वही देना । इस बात पर सेठानी राजी हो गई । जीवक ने पसर-भर धी में अनेक दवाओं को डालकर उसे आग पर पकाया और सेठानी को उतान लिटाकर उसकी नाक में वह पकाया हुआ धी डाल दिया । कहते हैं कि वह सेठानी भी बड़ी कंजूस थी । उसकी नाक में डाला धी मुख के रास्ते से बाहर निकल आया, जिसे सेठानी ने नौकरों के पैर में मलने के लिए और दीप में डालने के लिए एक बरतन में सुरक्षित रखवा दिया । यह देखकर जीवक ने माथा पीटा कि यह कृपण मुझे क्या देगी ? जीवक के भाव को सेठानी साह्य गई । उसने कहा—'वैद्य, तुम मत घबराओ, तुम्हें उचित पुरस्कार मिलेगा ।'

जीवक की इस दवा से सेठानी का सात वर्ष का पुराना रोग दूर हो गया । सेठानी ने चार हजार, उसके पुत्र ने चार हजार, उसकी पत्नी ने भी चार हजार और स्वयं सेठ ने अपनी पत्नी को नीरोग जानकर चार हजार कर्पापण तथा एक दास, एक दासी और एक अश्व-रथ दिया । इन सोलह हजार कर्पापणों, दास-दासी तथा अश्वरथ को लेकर वह राजगृह आया और पहली बार की समी कमाई उसने अपने अभिभावक 'अभयकुमार' की सेवा में सुपुर्द कर दी । इन मुद्राओं से अभयकुमार ने जीवक के निवास के लिए एक महल का निर्माण कराया ।

उसके बाद बिबिसार के पुराने रोग भगन्दर को भी जीवक ने दवा के एक ही लेप से आराम कर दिया । बिबिसार ने पाँच सौ स्त्रियों को आभूषण से सजवाया और पीछे सभी आभूषणों को उतरवाकर जीवक को पारितोषिक रूप में दिया ; पर जीवक ने कहा—'आपकी कृपा ही काफी है ।' सभी आभूषण उसने लौटा दिये । तब से जीवक राजवैद्य के पद पर प्रतिष्ठित हुआ ।

राजगृह के अंशु की भी सिर में सात वर्षों से पीड़ा थी, जिसे बड़े-बड़े वैद्य अच्छा नहीं कर सके थे और बहुत-सा सोना ले गये थे । वैद्यों ने कह दिया था कि आज के सातवें

दिन सेठ मर जायगा। विविस्वार की आशा से जीवक ने सेठ के पास जाकर कहा—‘सेठ, यदि एक करघट सात मास, दूसरी करघट सात मास और उतान होकर सात मास लेटे रहने की प्रतिज्ञा करो, तो मैं तुम्हारी दवा आरंभ कर दूँ।’ जीवन के भूले सेठ ने इसकी शर्त स्वीकार कर ली। जीवक ने सेठ को उतान सुलाकर खाट में अच्छी तरह बाँध दिया और माथे की खोपड़ी काटकर निकाल दी। उसने उसके अन्दर से दो कीड़े निकाले। बाद में खोपड़ी की सिलाई कर उसपर दवा का लेप कर दिया। इक्कीस मास लेटे रहने का वादा करनेवाले सेठ को जीवक ने इक्कीस दिन लेटने के बाद ही उठाकर टहला दिया। पारितोषिक में इस सेठ ने जीवक को एक लाख और राजा को भी एक लाख मुद्राएँ दी। धन्य है, यह बिहार का भू-भाग, जिसमें उस प्राचीन समय में भी इतना बड़ा और ऐसा शल्य-चिकित्सक वर्तमान था।

इसके बाद जीवक के पास बाराणसी का भेन्डी आया। उसके लड़के के सिर में धूमि की बीमारी थी। उसके पेट में कोई चीज भी नहीं पचती थी। जीवक बाराणसी गया, और भेन्धि-पुत्र को लंबे में बैँधवाकर उसके पेट को चीर दिया। उसकी आँत में गाँठ पड़ गई थी, जिससे उसे कोई चीज नहीं पचती थी। जीवक ने उस गाँठ को काटकर निकाल लिया और उसकी पत्नी को दिखलाया। बाद में उसके पेट के चमड़े को सीकर उसपर दवा लगा दी, जिससे वह शीघ्र अच्छा हो गया। उसने भी इसे सोलह हजार अश्वकिर्वा पारितोषिक में दी।

उसी समय ‘अवन्ती’ के राजा चण्डप्रद्योत को पांडुरोग हो गया था। प्रद्योत ने विविस्वार के पास संदेशा भेजा कि मेरी हालत बहुत खराब है, अपने वैद्य को चिकित्सा के लिए भेजिए। विविस्वार ने जीवक को उज्जैन भेज दिया। जीवक ने वहाँ जाकर प्रद्योत को देखा और उसका रोग पहचान लिया। जीवक ने कहा—‘महाराज, मैं एक घी पकाऊँगा, उसे आप पीजिए।’ इस पर प्रद्योत ने कहा—‘वैद्य, मुझे घीवाला औषध मत दो। घी पीना मेरे लिए शक्य नहीं।’

किन्तु, वह रोग उसी औषध से ही अच्छा हो सकता था। जीवक ने ऐसी औषधियों का घी में प्रयोग किया, जिससे घी की गंध जाती रही और उसमें कषाय गंध आ गई। पर दवा देने के पहले उसने सोच लिया कि गंध तो राजा को मालूम नहीं पड़ेगी, पर उसे वह पचा नहीं सकेगा। बाद में राजा को घी का प्रयोग मालूम होगा, तो वह अत्यन्त चण्ड है, मुझे मरवा डालेगा। इसलिए दवा देकर यहाँ से चल देना चाहिए।

उसने प्रद्योत से जाकर कहा—‘महाराज, हम वैद्य हैं। खास-खास मुहूर्त और लग्न में औषधि उखाड़ते हैं। आज एक औषधि उखाड़ने के लिए ऐसा ही मुहूर्त आया है। मुझे आशा मिले कि जिस सवारो से और जिस रास्ते से मैं चाहूँ, उज्जैन के बाहर जा सकूँ और आ सकूँ। मुझे कोई रोक मत।’ राजा ने ऐसी आशा दे दी।

जीवक ने प्रद्योत को दवा दे दी और बाहनागार में आकर सबसे तेज चलनेवाली हथिनी को ले लिया। हथिनी का नाम भद्रवतिका था और वह प्रद्योत की प्रिय हथिनी थी, जो दिनभर में ५० योजन चल सकती थी। वह भद्रवतिका पर चढ़कर चल पड़ा।

उपर प्रद्योत को घी से चमन हो गया। उसने अमात्यों से कहा—‘उस दुष्ट वैद्य ने मुझे घी पिला दिया। उसे पकड़कर ले आओ।’ लोगों ने कहा—‘महाराज, आपकी आज्ञा से वह भद्रवर्तिका पर सवार होकर बाहर गया है।’ तब प्रद्योत ने ‘काक’ नामक धावक को बुलाकर कहा—‘देखो, वैद्य मुझे घी पिलाकर भाग गया है। जहाँ भी मिले, उसे पकड़कर ले आओ।’ धावक ‘काक’ दिन-भर में साठ योजन चलता था। प्रद्योत ने काक से यह भी कहा—‘देखना, उसका दिया कुछ खाना नहीं।’

काक उज्जैन से खाना हुआ और जीवक को ‘कौशाम्बी’ में प्रातराश करते हुए पकड़ा। काक ने कहा—‘चलिए वैद्यजी, राजा बुला रहे हैं।’ जीवक ने पहले तो जाने से इनकार किया; पर काक के हठ करने पर उसने कहा—‘अच्छा, प्रातराश कर लूँ।’ तुम भी कुछ खाओ न?’ इसपर काक ने कहा—‘नहीं महाराज, राजा ने मना किया है।’ जीवक कच्चा आँवला खाकर पानी पी रहा था। उसने कहा—‘कच्चा आँवला खाकर पानी पीने में तो कोई हर्ज नहीं है। लो, खाओ।’ भोले-भाले ‘काक’ ने सोचा, कच्चे आँवले खाने में तो कोई हर्ज नहीं। उसने आँवला खा लिया। जीवक के मख में दवा थी। उसने मख को आँवले में चुभो दिया था।

आँवला खाते ही काक चमन करने लगा। काक गिड़गिड़ाने लगा और प्राणों की भीख माँगने लगा। जीवक ने कहा—‘डरो मत, तुम नीरोग हो जाओगे। राजा भी नीरोग हो गया होगा।’ वैद्य ने कहा—‘देखो काक, तुम्हारा राजा चण्ड है, वहाँ जाना अच्छा नहीं। तुम भद्रवर्तिका को लेकर लौट जाओ। मैं उज्जैन नहीं जाऊँगा।’ थोड़ी देर बाद काक स्वस्थ हो गया और वह लौट गया। जीवक राजशुह आया।

नीरोग होने पर प्रद्योत ने फिर दत्त भेजा कि जीवक आवे, मैं उसका सम्मान करूँगा। पर जीवक नहीं गया। तब उपहार-स्वरूप सर्वश्रेष्ठ एक जोड़ा दुशाला प्रद्योत ने जीवक के पास भिजवाया। जीवक ने उस दुशाले को भगवान् बुद्ध को समर्पित कर दिया। वाराणसी के सेठ ने भी हजारों कम्बल जीवक के लिए भेजे थे, जिन्हें इसने बौद्ध संघ को दान में दे दिया था। उस जमाने का यह ‘धन्वन्तरि’ था। इसी के अनुरोध पर बुद्ध ने भिक्षुओं को रक्षपति-चीवर धारण करने की आज्ञा दी थी। इसके पहले सभी भिक्षुपांसुकुलिक थे<sup>१</sup>।

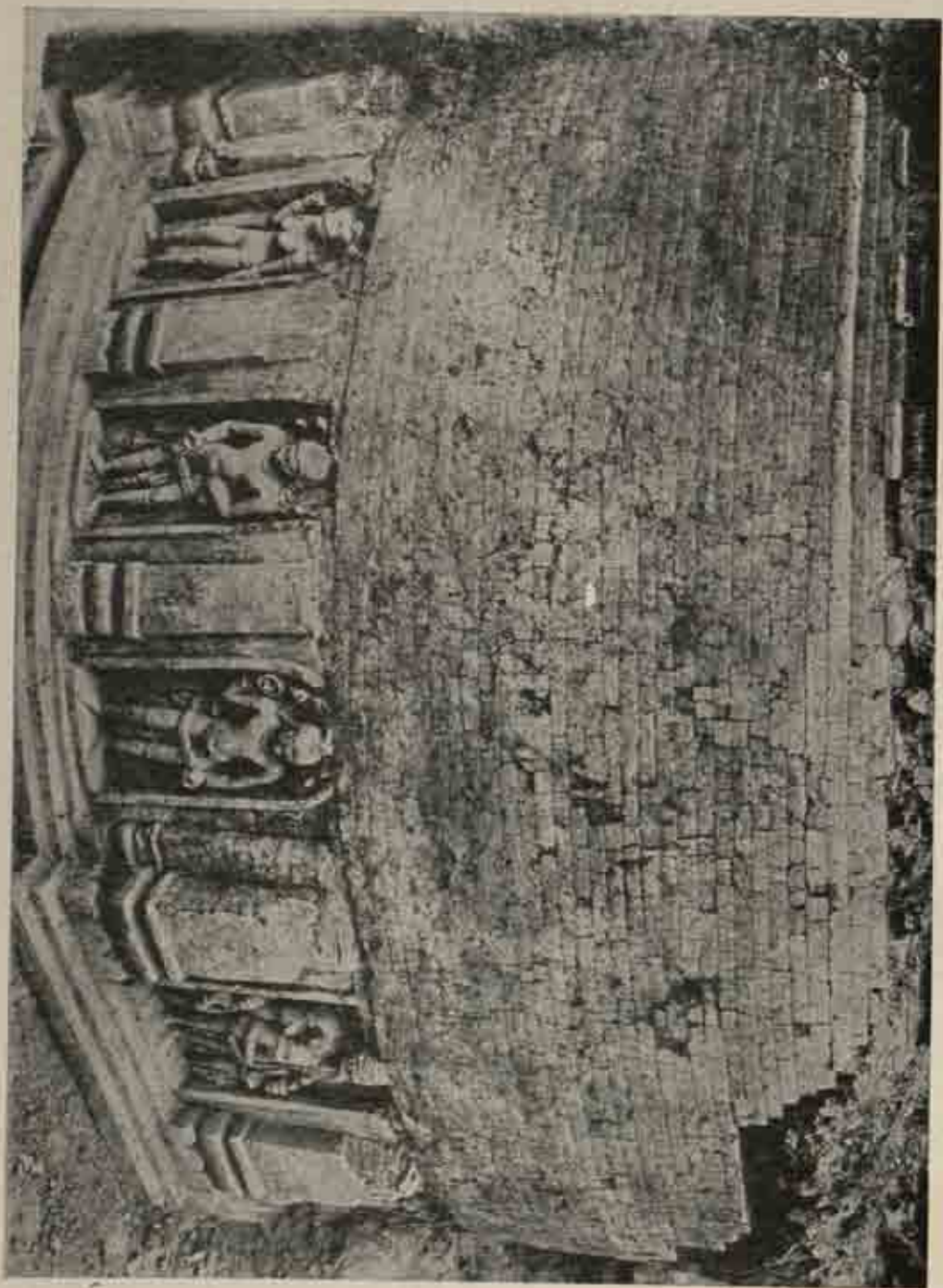
भगवान् बुद्ध राजशुह से चारिका करते हुए मगध के दक्षिणागिरि में गये। रास्ते में जाते समय इन्होंने मगध के पत्तिवद्ध सेतों को देखकर इसी तरह पत्तिवद्ध, और सीमावद्ध चीवरी को बनाने के लिए आनन्द से कहा था<sup>२</sup>। दक्षिणागिरि में चारिका करके बुद्ध फिर राजशुह चले आये। राजशुह में गृध्रकूट पर्वत पर वास किया। उस समय श्रृंगगिरि

१. जीवक के वित्तुत जीवन-चरित देने का यहाँ जामिनाय यही है कि बिहार-प्रदेश में इस तरह का उस समय ही विपितसा-राश्रव उन्नत अवस्था में था और ऐसा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बौद्धधर्म में दीक्षित था, जिसने बौद्धधर्म के लिए कई बातों में बुद्ध को भी प्रेरित किया।—ले०

२. महावग्गो—८, २, ६, १.







पर्वत की बगल में तृण-कुटी बनाकर अनेक बौद्ध भिक्षु वास करते थे। भगवान् बुद्ध का यह बीसवाँ वर्षावास था। वर्षावास समाप्त होने पर सभी भिक्षु अपनी-अपनी कुटी उजाड़कर चारिका के लिए चले गये। उन भिक्षुओं में 'धनिय' नामक भिक्षु भी था, जो जाति का कुम्भकार था। वह अपनी कुटी उजाड़कर चारिका में नहीं गया। अपनी कुटी में रहता और आस-पास से ही पिंडपात करता था। एक दिन जब वह पिंडपात के लिए गया, तब लकड़ी चुननेवाली गरीब स्त्रियाँ उसकी कुटी उजाड़कर लकड़ी और फूस ले गईं। धनिय फिर से अपनी फूस की कोपड़ी तैयार कर रहने लगा। पाँच-दस दिन बाद फिर जब वह पिंडपात के लिए गया, तब शय्य पाकर लकड़हारियों ने उसकी कुटी उजाड़कर फूस और लकड़ी ले ली। इसपर धनिय कुम्भकार ने पोखता कुटी, स्थायी छाजन कर, तैयार कर डाली। वह कुम्भकार था, मिट्टी का काम अच्छा जानता था। उसने लाल मिट्टी से कुटी की दीवार को लीप-पीतकर चमका दिया।

एक दिन भगवान् बुद्ध गृध्रकूट के शिखर से भिक्षुओं के साथ उतर रहे थे। उन्होंने दूर से ही लाल मिट्टी से पुती, स्वच्छ, नई छाजनवाली कुटी देखी। पूछने पर भिक्षुओं ने बतलाया कि धनिय ने अपनी स्थायी कुटी तैयार की है। भिक्षु द्वारा एक स्थान पर निवास करने के लिए बनाई कुटी देखकर बुद्ध को बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने आज्ञा देकर भिक्षुओं से धनिय की कुटी उजाड़वा दी। उसके बाद बुद्ध चले गये। इधर धनिय को भी अपनी कुटी से ममता बढ़ गई थी। उसने सोचा, इस बार काठ की दीवार तैयार करूँ। धनिय बिबिसार राजा के 'काठगोदाम' में गया और गोदाम के रक्षक से बोला—'राजा ने मुझे लकड़ी दी है, दे दो।' रक्षक ने सोचा, भिक्षु भूठ नहीं बोलेगा और राजा के नाम पर तो भूठ बोलने का कोई साहस नहीं करेगा! धनिय ने अच्छे-अच्छे मजदूर तलते लाकर कुटी की दीवार तैयार कर ली और ऊपर से छाजन भी कर ली।

राजा का मंत्री वर्षकार एक दिन घूमता-फिरता गोदाम का निरीक्षण करने गया। मंत्री ने उन तख्तों को नहीं देखा, जिन्हें उसने रखवाया था। उसने जब गोदाम के रक्षक से तख्तों के सम्बन्ध में पूछा, तब रक्षक ने बतलाया कि राजा की आज्ञा से भिक्षु को दे दिये हैं। वर्षकार को बड़ा आश्चर्य हुआ कि राजकाज के लिए रखे तख्तों का महाराज ने, किना मुझे सूचित किये, कैसे दे दिया। उसने बिबिसार के पास जाकर तख्तों के देने की बात पूछी। राजा ने कहा—'नहीं जी, मैंने किसी को नहीं दिये हैं।' काठगोदाम का रक्षक एकड़कर मंगाया गया और उसके कहने पर धनिय भी दरबार में लाया गया। जब धनिय से राजा ने पूछा कि मैंने कब तुम्हें तख्त दिये, तब उसने कहा—'महाराज! जब आपका राजतिलक हो रहा था, तब आपने कहा था कि भ्रमण-ब्राह्मणों को तृण और काष्ठ देता हूँ। इसका वे उपयोग करें।' राजा ने कहा—'मुझे अच्छी तरह याद है, वह तो जंगल के तृण-काष्ठ के लिए कहा था। जाओ, भिक्षु होने के कारण बच गये, आगे से कभी ऐसा नहीं करना।' राजगृह में इस बात के कारण बौद्धों की बड़ी निन्दा होने लगी, कि बौद्ध भूठ



सोलते हैं, ब्रश्मन करते हैं, और रहने के लिए गृहस्थ-जैसा घर बनाते हैं। जब यह बात भगवान् बुद्ध तक पहुँची, तब उन्होंने भिक्षुओं को इकट्ठा किया, धर्मिक को धिकारो और कहा—‘इसे संघ से निकाल दो।’ इसके बाद बुद्ध ने यह नियम बना दिया कि कम-से-कम पाँच माशे के मूल्य तक के सामानों को, जो कोई बिना मर्ग ले या उगकर ले ले, उसे संघ से निकाल दिया जाय। यही चोरी की *पाराजिका* कहलाती है।

इसी समय वैशाली के सुदित्र भिक्षु ने अपनी पत्नी में मैथुन करके बीज-वपन किया था, जिसकी कथा पहले दी गई है<sup>१</sup>। बुद्ध ने उसे भी संघ से निकाला था और मैथुन-पाराजिका का नियम यहाँ बनाया था।

भगवान् बुद्ध जब एअकूट पर ही थे, तब शक्र के मुँह से बुद्ध-धर्म की प्रशंसा सुनकर *पंचशिख गन्धर्वपुत्र* उनसे मिलने आया था<sup>२</sup>।

एक दिन भगवान् बुद्ध जब राजगृह के वेदिक पर्वत की इन्द्रशाल गुफा में विहार कर रहे थे, तब स्वर्ण शक्र उनसे मिलने वहाँ आया। इसी गुफा में पंचशिख गन्धर्वपुत्र ने बुद्ध को अपना बीजावादन सुनाया था। प्राचीन राजगृह से पूर्व दिशा में अम्बवण्ड नाम का एक ब्राह्मणों का गाँव था। वेदिक पर्वत इस गाँव से उत्तर दिशा में था<sup>३</sup>।

बौद्धों की एक देवी का नाम *हारीति* है। यह हिन्दुओं की ‘शीतला’ की तरह पूज्य और प्रसिद्ध है। राजगृह के क्षेत्र में हारीति शीतला मानकर आज भी पूजी जाती है। इसकी कहानी यह है कि भगवान् बुद्ध जब राजगृह में थे, तब हारीति नाम की एक राजसी थी, जिसकी ५०० सन्तानें थीं। पर यह राजसी प्रतिदिन राजगृह के पड़ोस के बच्चों को चुरा ले जाती और स्वयं उनका मांस खाती और बच्चों को भी खिलाती थी। उस क्षेत्र में इतने भीषण आतंक मचा रखा था। राजगृह के आस-पास की जनता हारीति से ब्राण पाने के लिए भगवान् बुद्ध के पास गई और इस राजसी के उपद्रव से बचने के लिए अपनी दुःख-कहानी सुनाई। भगवान् बुद्ध ने जनता को हारीति के उपद्रव से बचाने का वचन दिया।

एक दिन भगवान् बुद्ध ने हारीति के सबसे छोटे और सबसे प्रिय बच्चे को चुरवा लिया और किसी एकान्त स्थान में रखवा दिया। बच्चे के वियोग से हारीति व्याकुल हो गई। उसे पता लगा कि भगवान् बुद्ध, जो दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिए ही अवतरित हुए हैं, हमारे दुःख दूर कर देंगे। वह रीती-कलापती भगवान् बुद्ध के पास पहुँची, और उसने अपने बच्चे को प्राप्त करने का यत्न पूछा। भगवान् ने कहा—‘तुम्हारे तो ५०० बच्चे हैं, जिनमें एक के भूल जाने पर तुम इतना व्याकुल हो। जिनके पास एक ही बच्चा है, उसे भी ले जाकर जब तुम मार देती हो, तब सोचो कि उसे कितना कष्ट होता होगा। तुम्हारा बच्चा तो जरूर मिल जाएगा; पर आज से तुम प्रतिज्ञा करो कि किसी के बच्चे की हानि नहीं पहुँचाऊँगी।’

१. इष्टव्य—इस पुस्तक के पृ० ८३-८४

२. दीप निकाय—२, ६

३. दीप निकाय—२, ८

भगवान् बुद्ध की ऐसी मीठी बात सुनकर हारीति उनके चरणों पर गिर पड़ी। उसका बच्चा मिल गया और वह बुद्ध-सेविका हो गई। तब से वह सन्तान-रक्षिणी के रूप में पूजी जाने लगी। इसकी मूर्ति लाहौर के संग्रहालय में सुरक्षित है<sup>१</sup>।

‘दीप निकाय’ के ‘उदुम्बरिक तिहनादसुत्त’<sup>२</sup> में न्यग्रोध परित्राजक की कथा मिलती है। उस समय भगवान् बुद्ध गृध्रकूट पर ही विहार करते थे। यह न्यग्रोध अपनी एक बड़ी शिष्य-मंडली के साथ उदुम्बरिका आश्रम में रहता था, जिसमें तीन हजार शिष्य थे। एक दिन बुद्ध के उपासक सन्धान नामक गृध्रपति ने सोचा—‘भगवान् बुद्ध अभी समाधि में हैं, वहाँ जाना ठीक नहीं है। न्यग्रोध परित्राजक का नाम सुनता हूँ, वहाँ चलो।’ वह उदुम्बरिका आश्रम में पहुँचा। सन्धान जब वहाँ गया, तब न्यग्रोध अपनी बड़ी परिपक्व के बीच में बैठा नाना कथाएँ कह रहा था। यहाँ प्राचीन-कथा साहित्य का सुन्दर और विस्तृत परिचय मिलता है। विविध विषयों की एक लम्बी कथा-तालिका भी उपलब्ध होती है।

संधान ने पहुँचते ही कहा—‘महाराज ! क्यों निरर्थक कथाएँ कहते हो ? भगवान् बुद्ध की कथा कहो।’ न्यग्रोध को इस असामयिक छेड़खानी से कोप हो आया। उसने कहा—“गृध्रपति संधान, तुम्हारे भवण गौतम की बुद्धि शून्यागार में रहते-रहते मारी गई है। वह सभा से मुँह चुराता है, पंडितों से अलग-अलग ही रहता है—मानों कानी गाय की अलग बंधान। यदि तुम्हारा भ्रमण गौतम इस सभा में आवे, तो एक ही प्रश्न में वह चकर खा जाय, उसे खाली घड़े की तरह जिवर चाहूँ, उधर लुढ़का दूँ।”

संयोग से भगवान् बुद्ध सुमांगधा पुष्करिणी के तीर पर मोरनिवाप आश्रम में टहल रहे थे। दूर से ही न्यग्रोध परित्राजक ने उन्हें देखा। थोड़ी देर बाद बुद्ध स्वयं उसके आश्रम में आ गये। बुद्ध ने पूछा कि क्या बातें हो रही थीं ? न्यग्रोध ने कहा—“यही कि यदि बुद्ध यहाँ आवें, तो पूछा जाय कि आप किस तरह अपने श्रावकों को विनीत करते हैं, आपका वह कौन-सा धर्म है ? इसी बीच आप आ ही गये।” इसके बाद दोनों में शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। शास्त्रार्थ का विषय रहा—तपस्या। किन्तु थोड़ी देर बाद न्यग्रोध की बोलती बन्द हो गई और उसके शिष्यों ने शोर मचा दिया कि ‘हाय ! हमारे गुरु तो परास्त हो गये, हमारा नाश हो गया !’

बुद्ध का उपासक संधान गृध्रपति वहाँ बैठा था। उसने कहा—‘भन्ते ! थोड़ी देर पहले तो न्यग्रोध कह रहे थे कि यदि तुम्हारे शास्ता आवें, तो एक ही प्रश्न में उन्हें चकरा दूँ, खाली घड़े की तरह जिवर चाहूँ, लुढ़का दूँ ?’ इतना सुनने पर ‘न्यग्रोध’ लजा से कंधे मुका मुँह लटकाकर गूँगा-ना बन गया। उसकी दशा भोगी किल्ली की तरह हो गई। अन्त में बुद्ध ने उसे बौद्धधर्म के पालन से इसी शरीर में अनेक लाभ बतलाये। किन्तु, इतना

१. मासिक ‘सरस्वती’ (प्रयाग), दिसम्बर, १९१७ ई०।

२. दीप निकाय—४, ९

होने पर भी किसी ने नहीं कहा कि भगवान्, मैं प्रव्रज्या लूँगा। तब बुद्ध ने कहा—‘ये सभी मार से ग्रस्त हैं, इनके सामने धर्म का उपदेश करना व्यर्थ है।’ वे सिंहनाद कर आकाश-मार्ग से यत्रकूट पर चले गये और तब संधान भी राजगृह चला गया। बुद्ध ने वहाँ भी श्रुद्धि का प्रदर्शन कर उन परिव्राजकों पर प्रभाव डालना चाहा था, जो उनके धर्म-प्रचार का एक ढंग था।

इसी यत्रकूट पर्वत पर ‘आटानाटीय’ रक्षा की आवृत्ति की गई थी<sup>१</sup>। इसमें भूत, प्रेत, राक्षस, वज्र आवि से रक्षा के लिए सातों बुद्धों की नमस्कार, चार महाराजों का वर्णन, रक्षा में माननेवाले यक्षों को दण्ड, प्रवल यक्षों का नामस्मरण आदि करने को बुद्ध ने कहा है। बुद्ध की इसी वाणी ने आगे चलकर कालक्रमानुसार मंत्र-तंत्र का विकास किया और बौद्धधर्म में मंत्रपान और वज्रपान-जैसा सम्प्रदाय का जन्म हुआ।

भगवान् बुद्ध जब यत्रकूट के शूकरखात में विहार कर रहे थे, तब दीर्घनख नाम का एक परिव्राजक भगवान् से मिलने गया<sup>२</sup>। दीर्घनख ने बुद्ध से कहा—‘मैं अमुक ‘वार’ का माननेवाला हूँ, सभी बाद मुझे पसन्द नहीं।’ इसी बात पर भगवान् बुद्ध ने अपने सकों के जाल में उसे ऐसा बाँधा कि उसने हाथ जोड़कर कहा—‘भगवान्, आज आपने तो श्रद्धा को सीधा कर दिया। आज से मुझे आप अजलिबद्ध शरणागत जानकर उपासक स्वीकार करें।’ दीर्घनख अभिवेश गोत्र का था। जिस समय बुद्ध अभिवेश को उपदेश कर रहे थे, उस समय ‘सारिपुत्र’ बुद्ध के पीछे खड़े होकर पंखा झल रहे थे। सारिपुत्र को लगा कि भगवान् जिन उपदेशों को अभिवेश को दे रहे हैं, वे उपदेश मेरे लिए भी कह रहे हैं। इन उपदेशों के अनुसार मुझे भी आचरण करना चाहिए।

अंग-देश के सांशकोटिविश नामक श्रेष्ठीपुत्र ने भी भगवान् बुद्ध से राजगृह में ही उपसम्पदा ली थी<sup>३</sup>। बुद्ध जब राजगृह के ‘यत्रकूट’ पर्वत पर विहार कर रहे थे, तभी मगधराज बिम्बिसार ने अपने समस्त राज्य के सब ग्रामपतिवर्गों को राजगृह में बुलाया था। बिम्बिसार अस्सी हजार ग्रामों का अधिपति था—असोतिया ग्रामसहस्रेषु इस्सराधिपच्चं रज्जं कारेति<sup>४</sup>। उन ग्रामों के अध्यक्ष राजगृह आये थे। उन्हीं में से एक था—सोशकोटिविश, जो चम्पा नगरी (अङ्ग-देश) का रहनेवाला था। यह बीस करोड़ मुद्राओं का स्वामी था। अतः यह कोटिविश (बीसकरोड़ी) कहलाता था। उसके खजाने में ८० बैलगाड़ी हिरण्य-मुद्राएँ थीं और द्वार पर ४६ हाथी झूलते थे<sup>५</sup>। सोश के शरीर में एक ऐसा चिह्न था, जो शायद ही किसी पुरुष में रहता हो। उसके पैरों के तलवों में बड़े-बड़े लोम जमे हुए थे।

१. दीर्घ निकाय—३, ६

२. मज्झिम निकाय—२, ३, ४

३. महावग्गो—५ (चम्मसखन्धको)

४. तथैव—४, १, १

५. असोति सप्तदशो विरज्जं ओदाय अमारमा जनमारिव पम्बजितो सप्तहरिकल अनिकं।



जब विम्बिसार की ओर से 'सोण कोटिविंश' के पास मुलाहट पहुँची, तब उसके माता-पिता ने समझा दिया कि देखो, राजा के सामने पैर पैलाकर नहीं बैठना। वहाँ कमलासन में बैठना, जिससे तुम्हारे तलबों के रोम को राजा देख सकें। वह बड़े ठाट-बाट से पालकी पर चढ़कर चम्पा से राजगृह आया था।

मगध-राज्य के अस्सी हजार ग्रामाध्यक्ष उस समय विम्बिसार के यहाँ इकट्ठे हुए और उसने उनसे कुछ राज्य-व्यवस्था-संबंधी बातें कहीं। सभा समाप्त होने पर विम्बिसार ने उन ग्रामाध्यक्षों से कहा—'मेरे यहाँ आप लोगों ने लौकिक विषयों पर बातें की हैं, अब आप भगवान् बुद्ध के पास जाकर कुछ पारलौकिक सचों भी सुनें।'।

ये अस्सी हजार ग्रामाध्यक्ष जब भगवान् बुद्ध के पास पहुँचे, तब बुद्ध के समीप उनका निजी सेवक स्वागत था<sup>१</sup>। इन ग्रामाध्यक्षों को प्रभावित करने के लिए बुद्ध की आज्ञा से 'स्वागत' ने आकाश में उड़कर विविध ढंग से 'श्रद्धा-प्रतिहार्य' दिखलाये, जिनसे प्रभावित होकर सभी ग्रामाध्यक्ष बुद्धोपासक बन गये। सोण कोटिविंश बुद्धोपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि उसका मन केवल उपासक बनकर ही तुल्य नहीं हुआ। उसने निवेदन किया कि भगवान्, मुझे प्रव्रज्या वीजिए—अपनी शरण में ले लीजिए। भगवान् बुद्ध ने उसे प्रव्रजित कर उपसम्पदा भी दे दी।

उपसम्पदा प्राप्त कर 'सोण कोटिविंश' राजगृह के पास 'सीतवन' नामक स्थान में अन्य भिक्षुओं के साथ रहने लगा। वह बड़ा जिद्दी, किंतु उद्योग-परायण था। अभी तक वह पैदल नहीं चला था। अत्यन्त सुकुमार था। भिक्षु बनकर मगध के पैदल चलते रहने से उसके तलबे फट गये और इतना रक्त प्रवाहित हुआ कि जैसे वहाँ किसी पशु का वध हुआ हो। ऐसा दृश्य देखकर 'सोण' का मन विचलित हो गया। उसने सोचा—'मैं तो अतिवैभवशाली व्यक्ति हूँ। घर रहकर भी और दानकर्म कर पुण्यार्जन कर सकता हूँ। क्यों न, मैं घर लौट चलूँ?'।

भगवान् बुद्ध को जब यह बात मालूम हुई, तब वे तुरन्त यत्रकूट से सीतवन आधम में पहुँच गये। वहाँ उन्होंने सोण को समझाया कि उद्योग में भी मध्यम-मार्ग को ही अपनाओ। न तो तपस्या में अधिक दीले होओ, न अधिक उद्योगी ही। दोनों में हानि है, अतः मध्यम-मार्ग ही श्रेयस्कर है। सोण कोटिविंश ने मध्यम-मार्ग से चलकर अर्हत्त्व प्राप्त किया।

दूसरी बार जब उसकी भेंट बुद्ध से हुई, तब उन्होंने कहा—'सोण, तू बड़ा सुकुमार है। यद्यपि संघ के भिक्षुओं के लिए जूता पहनने का विधान नहीं है, तथापि तू जूता पहना कर।'। इसपर सोण कोटिविंश ने कहा—'नहीं, महाराज। इतनी बड़ी सम्पत्ति छोड़कर जब मैं प्रव्रजित हो गया, तब भिक्षु होकर जूता क्या पहनूँ? लोग कहेंगे, अब भी आराम-पसन्द ही है। हाँ, यदि सारा संघ पहने, तो मैं भी पहन सकता हूँ।'।

भगवान् बुद्ध ने तब एक तल्लेवाला जूता पहनने का विधान सम्पूर्ण संघ के लिए कर दिया। सच पूछिए, तो श्रेष्ठपुत्र सोण के लिए ही बुद्ध ने संघ के नियम में ऐसा

परिवर्त्तन किया। उनके शिष्यों में इसका सोलहवाँ स्थान था। उद्योग-परायणों में यह सर्वश्रेष्ठ था।

यष्टकुट पर्वत पर ही जब बुद्ध थे, तब माघ नाम का माणवक उनके पास गया<sup>१</sup>। कुशल-सौम के बाद 'माघ' ने उनसे कहा—'हे गौतम ! मैं दायक हूँ, दानपति हूँ। मैं अनेक स्वक्तियों को दान देता हूँ। क्या इस तरह दान करके मैं पुण्य अर्जन करता हूँ ?' बुद्ध ने दान की बहुत-सी महिमाएँ कहीं और इसी प्रकार दान देते रहने को उससे कहा—

यजस्सु यजमानो (माघोति भगवा) सम्बत्थ च विपसादेहि चित्तं ।

आरम्भणं यजमानस्स यज्जं एत्थपतिट्ठाय जहाति दोसं<sup>२</sup> ॥

'हे माघ ! दान करो और सर्वत्र अपने मन को प्रसन्न रखो। दान ही दायक का आरम्भण है। इसमें जो प्रतिष्ठित होता है, उसका ड्रैप चुक जाता है।"

एक बार भगवान् बुद्ध राजग्रह के तपोदाराम में विहार कर रहे थे<sup>३</sup>। 'अट्टकथा' में तपोदाराम की 'वैभारगिरि' के पादमूल के गर्म सोते के पास बतलाया गया है। उस समय बुद्ध के साथ रहनेवाले शिष्यों में समिद्धि नाम का एक भिक्षु था। एक रात की ब्रह्मवेला में 'समिद्धि' गरम सोते में स्नान कर एक वस्त्र धारण कर चलने की तैयार हुआ, तो सामने उसने एक देवता को खड़ा देखा। देवता ने भिक्षु से पूछा—“भिक्षु, क्या तुम 'भद्देकरत्त' के उद्देश्य और विभंग जानते हो ?" समिद्धि ने कहा—'नहीं, मैं तो नहीं जानता।' देवता ने फिर पूछा—'क्या उसकी गाथाएँ याद हैं ?' उसने कहा—'नहीं, महाराज ! गाथाएँ भी नहीं जानता।' 'भद्देकरत्त' के उद्देश्य और विभंग सीखो, वह कहता हुआ वह देवता अन्तर्धान हो गया।

भिक्षु समिद्धि तपोदाराम में भगवान् बुद्ध के पास गया और उनसे भोरवाली घटना निवेदित की। भगवान् बुद्ध उस समय कहीं जा रहे थे। उन्होंने भद्देकरत्त के विभंग और उद्देश्य के लिए इतना ही कहा कि अतीत का अनुगम करो, शान्ति मुनि 'भद्देकरत्त' कहते हैं। इसके बाद वे चले गये।

समिद्धि इस सूत्रात्मक उत्तर को नहीं समझ सका। वह 'महाकात्यायन' के पास गया और भगवान् के सूत्रात्मक वाक्य की विस्तार से समझाने के लिए कहा। 'महाकात्यायन' ने 'भद्देकरत्त' के उद्देश्य और विभंग को सुचिह्नित और सुबोधरूप में समझाया, जिसकी व्याख्या का भगवान् बुद्ध ने समर्थन किया था।

समिद्धि 'कलन्दक निवाप' के पास ही जंगल में कुटी बनाकर रहता था<sup>४</sup>। एक दिन समिद्धि की कुटिया में पोत्तलिपुत्र परित्राजक टहलते-धूमते गया। साधारण शिष्टाचार के

१. सुत्तनिपात—३१

२. सुत्तनिपात—३१, २०

३. मज्झिम निकाय—३, ४, ३

४. मज्झिम निकाय—३, ४, ६

बाद परित्राजक ने प्रश्न किया—‘आयुस, मैंने बुद्ध गौतम के मुख से सुना है कि कायिक और वाचिक कर्म निष्फल हैं, केवल मानसिक कर्म ही सत्य हैं। क्या कोई ऐसी समाधि है, जिसे प्राप्त कर कुछ भी अनुभव नहीं किया जा सके?’ समिद्धि ने कहा—‘पोत्तलिपुत्र, इस तरह भगवान् पर मिथ्यारोप कथो करते हो? इस तरह भगवान् कभी नहीं कहते।’

परित्राजक ने पूछा—‘मित्र, तुम्हें प्रव्रजित हुए कितने वर्ष हुए?’ उसने कहा—‘केवल तीन वर्ष।’

परित्राजक ने फिर दूसरा प्रश्न किया—‘आयुस समिद्धि! जो कोई स्मृति-सम्पन्नान के साथ काय, वचन और मन से कर्म करता है, वह क्या अनुभव करता है?’

समिद्धि ने कहा—‘हाँ, इस तरह के कर्म करनेवाले दुःखानुभव करते हैं।’ इतना सुनकर पोत्तलिपुत्र परित्राजक बिना कुछ कहे उठकर चला गया। इस तरह परित्राजक के जाने पर समिद्धि को ज्ञात हुआ कि मैंने ठीक से उत्तर नहीं दिया। वह ‘आनन्द’ के पास गया और पोत्तलिपुत्र के साथ की हुई बातें कहीं। आनन्द ने कहा—‘चलो, भगवान् बुद्ध से ही पूछा जाय।’ दोनों ने बुद्ध के पास जाकर कुल वृत्तान्त कह सुनाया।

बुद्ध ने कहा—‘आनन्द! मैंने तो ‘पोत्तलिपुत्र’ परित्राजक को देखा तक भी नहीं। उससे बातें करने की कौन कहे। पर इस मोघपुरुष समिद्धि ने विभ्रम करके उत्तर दिये जानेवाले प्रश्न के एकांश का ही उत्तर दिया। इसने तो बौद्धों के ज्ञान को हँसाया है।’ पास में ही भिक्षु ‘उदायी’ बैठे थे। भट्ट उन्होंने कहा—‘भगवन्, समिद्धि ने क्यों ऐसा उत्तर दिया कि जो कुछ अनुभव है, वह दुःखविषयक है।’ बिना ठीक-ठीक समझे और बीच में ही बोल उठनेवाले उदायी को बुद्ध ने खूब फटकारा और आनन्द से कहा—‘दिलते हो इस बाल उदायी को, जो बिना मूल विषय जाने बीच में हुबकी लगा रहा है।’ इसके बाद भगवान् बुद्ध ने पोत्तलिपुत्र के प्रश्न का उत्तर कैसे देना चाहिए, इसे अच्छी तरह समझाया और बाद में ‘महाकर्म विभंग’ का उपदेश भी किया। इस कथा से पता चलता है कि मगध में उस समय अन्य तीर्थक भी बहुत बड़े शानी थे।

राजग्रह में यथेच्छ विहार कर भगवान् बुद्ध चारिका करते वैशाली की ओर पुनः चले। रास्ते में उन्होंने देखा कि बहुत-से भिक्षु चीखरो की शठरी बाँध-बाँधकर माथे पर ढोते चल रहे हैं। बुद्ध ने सोचा, जब अभी ही ये भिक्षु इतना संग्रह करने लगे हैं, तब आगे न जाने क्या करेंगे। वैशाली पहुँच कर, जाड़े की एक रात में सर्दी न लगने के लिए कितने चीखर से काम चल सकता है, उन्होंने इसको जाना। उसके बाद बुद्ध ने त्रिचीवर तक विधान कर दिया। भगवान् बुद्ध की उम्र इस समय ५५ वर्ष की हो गई थी।

इस बार भी बुद्ध ने वैशाली में, महाजन की ‘कुटायार’ शाला में, अपना पड़ाव डाला था। वैशाली में भगवान् बुद्ध ने काया से होनेवाली अशुभ भावनाओं की बड़ी शिकायत की। शरीर



द्वारा होनेवाले अशुभ कर्मों की भर्त्सना भी उन्होंने की। ऐसे समय में बुद्ध ने एकान्तवास करने का सोचा। उन्होंने पन्द्रह दिनों के लिए एकान्तवास का विचार ठान लिया और भिक्षुओं से कहा—'मिरी कोठरी में भोजन देनेवाला-मर ही आयेगा। पन्द्रह दिनों तक दूसरा कोई हमसे नहीं मिले ! ऐसा ही हुआ, सिर्फ 'आनन्द' भोजन के समय भोजन लेकर उनके पास जाते थे और भोजन रखने के सिवा वे न तो कुछ बोलते थे या न पूछते थे।

उस समय वहाँ उपस्थित भिक्षु, धर्म का विचित्र अर्थ समझने लगे। बुद्ध के इन उपदेशों को सुनकर उन्हें अपने शरीर से घृणा होने लगी थी। वे जीवन के प्रति जुगुप्सा करते और बन्धन से छुटकारा पाने के लिए इस काया के उत्सर्ग में ही धर्म मानने लगे। दान की महिमा उनके मन में इतनी बढ़ गई कि वे चाहने लगे, कोई हमारा शरीर ही ले ले, हमारा पात्र-चीवर भी ले ले, तो कुछ पुण्य हो जायगा। वे अपनी काया के प्रति घृणा करने, अपने हाथों से अपने को पीटने और आत्महत्या तक भी करने लगे।

संघ के पास में ही 'मिगलंडिक श्रमणकुत्तक' नाम का एक व्यक्ति रहता था, जो स्वभाव से निर्दय और लोभी था। कुछ भिक्षु उसके पास गये और उन्होंने कहा—'श्रमणकुत्तक ! तुम हमारे प्राण लेकर हमें भव-बन्धन से छुटकारा दिला दो और हमारा पात्र-चीवर ले लो।' 'मिगलंडिक' ने पात्र-चीवर के लोभ से बहुतों की जान ले ली, और अपनी खुनी तलवार को वरगमुदा ( बागमती ) नदी में धोने गया। वहाँ तलवार धोते समय उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वह सोचने लगा—'मैंने बड़ा पाप किया।' उसी समय किसी भिक्षु ने कहा—'ऐसा मत सोचो, मिगलंडिक ! तूने तो बहुत पुण्य किया कि तूने बहुत-से अतीर्थों को भी तार दिया, तुम्हें तो औरों को भी तारना चाहिए।' बौद्धग्रन्थों में कहा गया है कि यह प्रशंसा करने-वाला 'पापी मार' था। इसके बाद तो 'श्रमणकुत्तक' ने अनेक बौद्ध भिक्षुओं को तलवार के घाट उतार दिया और सबके पात्र-चीवर ले लिये। पन्द्रह दिनों बाद जब बुद्ध समाधि से बाहर आये, तब देखा कि भिक्षुओं की संख्या बहुत कम है। उन्होंने आनन्द से पूछा, तो आनन्द ने सारी घटना का वर्णन किया। मगवान् बुद्ध ने बचे भिक्षुओं को इकट्ठा करके 'मनुष्य-हत्या की पाराजिका' का विधान किया। उन्होंने कहा—'इस तरह के हत्यारे के सम्बन्ध में और ऐसी हत्या करने के लिए प्रेरित करनेवाले के प्रति क्या कहा जाय ! ऐसे पापी के लिए तो ऐसे दुर्जीवन से मरना ही अच्छा है।'।

एक समय कुछ भिक्षु वरगमुदा ( बागमती ) के तीर पर वर्षावास करने गये। वर्षा-देश में अकाल पड़ा था। भिक्षुओं को ठीक से पिंडपात नहीं मिलता था। कुछ भिक्षुओं ने सोचा, हमें गृहस्थों को प्रसन्न करके पिंडपात करना चाहिए। उनमें से कुछ भिक्षु गृहस्थों के यहाँ उनकी खेती के काम में लग गये। कुछ ने गृहस्थों के चिट्ठी-पत्री पहुँचाने का काम ले लिया। कुछ ने अनेक कथा-वार्ता कहने का धंधा उठाया। कुछ ने एक-दूसरे की ठकुरसुहाती का काम लिया। वे गृहस्थ बड़े प्रसन्न हुए कि जिन भिक्षुओं के दर्शन

दुर्लभ थे, वे सब हमारे घर आकर हमारे कामों में हाथ बँटाते हैं। वे भी अपने-अपने दास तथा परिवार को भी न मिलनेवाला भोजन भिक्षुओं को देने लगे। थोड़े ही दिनों में ऐसे भिक्षु स्वामन् तथा मोटे-तगड़े हो गये—इनके मुखड़े पर लाली दौड़ने लगी। वर्षावास समाप्त होने पर ये भिक्षु भगवान् बुद्ध के पास आये। इधर-उधर गये हुए दूसरे भिक्षु भी आये, जिनके शरीर रुच्य थे, देह में स्तन नहीं था और बहुत दुबले हो गये थे। बुद्ध ने पूछा 'वमामुदा' के तट-प्रदेश में वास करनेवाले भिक्षु इतने मोटे और स्वस्थ कैसे हो गये? इसपर बुद्ध को सारी बातें मालूम हुईं। कृशकाय भिक्षुओं ने मिन्दा आरंभ की, जिससे भिक्षुओं के दो दल हो गये। भगवान् बुद्ध ने परिषद् बैठवाई और ग्रहस्थों के घर में जाकर नौकरी करके मोटे होनेवाले भिक्षुओं को धिक्कारा। उन्होंने कहा—“तुमने उदर-पोषण के लिए ग्रहस्थों के यहाँ एक-दूसरे के 'उत्तर मनुष्य-धर्म' की कैसे प्रशंसा की?” यही बुद्ध ने 'उत्तर मनुष्य-धर्म की पाराजिका' का विधान किया। उन भिक्षुओं को पापी ठहराया और उन्हें संघ से बाहर कर दिया। इसके बाद भगवान् बुद्ध अपनी मंडली के साथ चारिका के लिए वाराणसी की ओर गये।

इसके बाद 'अंगुत्तर निकाय' के उल्लेखानुसार बुद्ध ने २५ वर्षावास केवल 'आवस्ती' में किये। इस प्रकार उनका वर्षावास २१वें से लेकर ४५वें तक केवल आवस्ती में हुआ। इसके दो कारण जबरदस्त थे—एक तो अनाथपिटक-जैसा दायक उपासक वहाँ था, जिसके जोड़ का बुद्ध के लिए कोई दायक नहीं हुआ। वह अन्त में दान करते-करते इस दुर्गति तक पहुँचा कि मृत्यु के समय तक भोजन भी उसे दुर्लभ हो गया। यह वही अनाथपिटक था, जिसने बौद्ध विहार बनवाने के लिए 'जैत' राजकुमार के बागीचे की पसन्द किया था और उसे खरीद लेने के लिए उस बागीचे की समस्त भूमि को अशर्कियों से पाट दिया था। इस घटना का दृश्य बोधगया और साँची की वेष्टन-वेदिकाओं पर भी उत्कीर्ण है। दूसरा कारण था—विशाखा-जैसी दायिका उपासिका भी वहाँ थी। विशाखा का जन्म विहार-प्रदेश के महिषा (भदरिया, भागलपुर) में हुआ था और जो अपने पिता के साथ जाकर 'साकेत' नगर में बस गई थी तथा जिसका विवाह आवस्ती में हुआ था। यहाँ पचीस वर्षावास करते हुए भी भगवान् बुद्ध अपनी चारिका सर्वत्र करते चलते थे।

एक बार बुद्ध 'आनन्द' के साथ चारिका करते-करते विहार-प्रदेश की *मिथिला* भूमि में भी गये<sup>१</sup>। वहाँ वे मत्स्यादेव के नाम पर स्थापित आम्रवन में ठहरे। उसी समय बुद्ध ने आनन्द को मत्स्यादेव और उनके पुत्र *निमि* की जीवन-कथा बतलाई थी। उन्होंने निमि के पुत्र 'कलार जनक' की भी कहानी कही। 'ब्रह्मायु सुतन्त्र'<sup>२</sup> से पता चलता है कि बुद्ध जब वहाँ गये थे, *ब्रह्मायु* नामक एक बृद्ध ब्राह्मण ने अपने उत्तर नामक एक शिष्य को महापुरुषों

१. अंगुत्तर निकाय (अट्ठकथा) — १, ७, २

२. मज्झिम निकाय — २, ४, ३

३. मज्झिम निकाय — २, ५, १

के लक्षण देखने के लिए बुद्ध के पास भेजा। उत्तर माणवक अपने गुरु की आज्ञा पाकर बुद्ध को देखने गया और एक सुनिपुण समालोचक की दृष्टि से देखा। उसने बुद्ध को चलते, खड़े होते, कुटी में प्रवेश करते, कूपकी के गृह में बैठते, भोजन करते, भोजनोपरास्त के कर्म करते, वस्त्र धारण करने, आराम में टहलते, आराम के भीतर चुपचाप बैठते, धर्मोपदेश करते, ध्यान करते आदि अनेक अवसरों पर देखा। उसने हर समय और हर जगह महापुरुषों और स्थितिप्रसो के आचरण बुद्ध में देखे। उत्तर माणवक, बुद्ध को देखकर अत्यन्त आनन्द से नाचता हुआ अपने गुरु 'ब्रह्मायु' के पास पहुँचा और उन्हें बुद्ध के सभी महापुरुष-लक्षण बतलाये। उसकी प्रसन्नता और बुद्ध में पाये जानेवाले महापुरुष-लक्षण का विस्तृत वर्णन उस मुत्त में देखना चाहिए। 'ब्रह्मायु' की आयु उस समय १२० वर्ष की थी। वह बड़ा ब्राह्मण अपना सीमांत समझकर भगवान् के दर्शन के लिए आश्रम में गया तथा भारी जनसमुदाय के बीच बुद्ध के चरणों को अपने हाथों से सहलाने लगा। बुद्ध ने उसे धर्मोपदेश के साथ प्रवर्जित किया; किन्तु बेचारा ब्राह्मण ज्यादा दिनों तक प्रव्रज्या का आनन्द नहीं उठा सका। कुछ काल बाद ही उसकी मृत्यु हो गई, फिर भी वह अनागामी हुआ।

एक बार बुद्ध कोसल-प्रदेश से चारिका करते-करते कंसपुत्त निगम (शाहाबाद जिले का 'कंसठ' गाँव) में पहुँचे। वहाँ कालाम जाति के क्षत्रियों का वास था। बुद्ध के आने पर कालाम क्षत्रियों ने उनसे पूछा—'भगवन्, यहाँ जो श्रमण या भिक्षु आते हैं; सभी अपने-अपने धर्मों को बड़ा बतलाते हैं और दूसरे के धर्मों की निन्दा करते हैं। हम किसका धर्म अपनायें?' यहाँ बुद्ध ने बड़ी ही चतुराई से उन्हें अपने धर्म के पक्ष में किया। उन्होंने कहा—'तुम्हें किसी के कहने पर नहीं जाना चाहिए। जो तुम्हें हृदय से पसन्द आवे, जिसकी अच्छाई के लिए तुम्हारा हृदय गवाही दे, उसी का अनुसरण करना चाहिए।' इसके बाद उन्होंने कालामों को अवैर-चित्त तथा चार आश्रमों के सम्बन्ध में उपदेश दिया।

एक बार बुद्ध कौशाम्बी में पधेच्छ विहार करके चारिका करते 'राजगृह' आये। वे इस बार फिर कलन्दक निवाप वेणुधन में ठहरे<sup>१</sup>। कौशाम्बी से पहले ही 'देवदत्त' राजगृह आ गया था और उसने अपने क्रुद्धि-प्रतिहार्य द्वारा अज्ञातशत्रु (मगधराज) को प्रसन्न कर लिया था। अज्ञातशत्रु देवदत्त पर इतना प्रसन्न था कि रोज सायं-प्रातः पाँच सौ रथों के साथ सजकर उसके दर्शन के लिए जाता था और पाँच सौ स्थालीपाक भोजन ले जाता था<sup>२</sup>। देवदत्त ने ही अज्ञातशत्रु को उकसाकर, उसके पिता के विरुद्ध विद्रोह करा कर बिम्बिसार को मरवा दिया था तथा स्वयं मगध की गद्दी पर आसीन हो गया था<sup>३</sup>। अब देवदत्त को राज-शक्ति का बड़ा भरोसा था।

१. यह ग्राम शाहाबाद जिले के डुमराँव नगर से दक्षिण-पूर्व पाँच मील पर है।—ले०

२. चुस्तबन्ध—७, १, ४

३. तत्रैव—७, १, ३

४. तत्रैव—७, १, १



देवदत्त ने संघ की महंथी लेने के लिए बुद्ध से प्रस्ताव किया। बुद्ध ने कहा— 'तुम जैसे थूक को क्या, महंथी तो सारिपुत्त को भी मैं नहीं दूँगा।' इस पर देवदत्त भगवान् बुद्ध के प्राण का गाहक बन गया। उसने 'अजातशत्रु' से जाकर निवेदन किया कि बुद्ध ने मुझे अपमानित किया है। मरी परिपक्व के बीच मुझे थूक कहा है। कृपया आदमी दीजिए, जो उसे जान से मार दे। देवदत्त ने जिस आदमी को बुद्ध की हत्या के लिए भेजा, वह उनके पास पहुँच कर उनका ही शरणागत हो गया। इसपर देवदत्त ने सोचा, मैं स्वयं बुद्ध को मारूँगा और वह बराबर इस घात में रहने लगा।

एक दिन बुद्ध गृध्रकूट पर्वत के पादमूल में टहल रहे थे। देवदत्त गृध्रकूट पर चढ़ गया और वहीं से उसने एक भारी चट्टान बुद्ध के ऊपर फेंकी। चट्टान तो ऊपर हीदी पत्थरों के बीच अँटक गई, पर उसका टूटा हुआ एक टुकड़ा बुद्ध के पैर पर आ गिरा, जिससे उनका पाद-पीठ कुचल गया। भिन्नुओं ने जब बुद्ध के बाल-बाल बच जाने की बात सुनी, तब वे जोर-जोर से उनकी मंगलकामना के लिए सूत्र-पाठ करने लगे। बुद्ध ने उन भिन्नुओं को बुलाकर कहा— 'इसकी आवश्यकता नहीं है, तथागत की अकालमृत्यु नहीं हो सकती।'

देवदत्त ने अब एक तीसरी चाल चली। एक दिन बुद्ध जब राजगृह के राजमार्ग से पिंडपात के लिए जा रहे थे, तब उसने 'अजातशत्रु' से कहकर **मालागिरि** नामक मतवाले हाथी को उनके सामने छुड़ा दिया। मालागिरि पूँछ उठा, सूँड़ हिलाता, कान फटफटाता बड़े ही वेग से चिंगाड़ करता बुद्ध के सामने दौड़ा। लोग चिल्लाने लगे— 'भगवन्, भागिए-भागिए।' बुद्ध ने दूर से ही हाथी को देखा। जब वह सामने आ गया, तब बुद्ध स्थिरचित्त हो सामने ही खड़े हो गये। उन्होंने मैत्रीयुक्त चित्त से हाथी को आप्लावित कर दिया। हाथी चुपचाप खड़ा हो गया और सूँड़ हिलाने लगा। बुद्ध ने उसके सूँड़ को अपने हाथों से स्पर्श किया। हाथी ने सूँड़ से भगवान् की चरचरज को उठा लिया और पीछे की ओर मुड़ गया तथा वह भगवान् को देखता हुआ पीछे की ओर से हटता गया। इस दृश्य का प्रदर्शन भी बोधगया की वेष्टन-वेदिका पर उत्कीर्ण कराया गया है। इन सारी घटनाओं से बुद्ध की कीर्ति और भी पैली, किन्तु देवदत्त की अपकीर्ति हुई।

इसके बाद देवदत्त ने देखा कि अब इस संघ में मेरा निवाह नहीं होगा। उसने अलग संघ बनाने का निश्चय किया। उधर बुद्ध के पैर में काफी चोट आई थी। उन्हें भिन्नु डोली पर चढ़ा कर आराम के लिए, **मुगकुसिदाव** में ले गये<sup>१</sup>। देवदत्त ने वज्रि-प्रदेश के पाँच सौ भिन्नुओं को फोड़कर अपने पक्ष में मिला लिया। इन पाँच सौ भिन्नुओं को साथ लेकर **गयासांस** पर्वत ( गया का ब्रह्मपोनि पर्वत ) पर चला गया। जब बुद्ध को यह समाचार मिला, तब उन्हें इस संघ-भेद से बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने सारिपुत्त और मीद्गल्यायन को बुलाकर कहा— 'तुम लोगों को उन पाँच सौ भिन्नुओं पर जरा भी दया

नहीं आई। तुम लोगों के देखते-देखते ही कैसे देवदत्त ने उन्हें फोड़ लिया ! जल्दी जाओ सारिपुत्त-मौद्गल्यायन, उन भिक्षुओं पर दवा करके उन्हें अपने पक्ष में करो ।'

बुद्ध के संप में सारिपुत्त और मौद्गल्यायन ही ऐसे व्यक्ति थे, जो अपने प्रभाव और विद्वत्ता से उन भिक्षुओं को अपने पक्ष में कर सकते थे। जब दोनों वहाँ पहुँचे, तब देवदत्त एक परिपक्व में बैठकर उन भिक्षुओं को उपदेश दे रहा था। सारिपुत्त-मौद्गल्यायन को देखकर देवदत्त ने समझा कि बुद्ध के ये प्रधान शिष्य भी मेरे पक्ष में आ गये। वह सारिपुत्त से उपदेश देने को कहकर स्वयं विग्राम करने चला गया। इधर सारिपुत्त ने बुद्ध के प्रभाव का ऐसा उपदेश किया कि सभी भिक्षु बुद्ध के पक्ष में हो गये। सारिपुत्त और मौद्गल्यायन उन पाँच सौ भिक्षुओं के साथ राजगृह चले आये, तबतक भगवान् बुद्ध कलन्दकनिवाप के वेशुवन में चले गये। इसके बाद देवदत्त मुँह से गर्म लून उगलकर मर गया<sup>१</sup>।

भगवान् बुद्ध इसी कलन्दकनिवाप वेशुवन में थे, तब समिय नामक परिव्राजक उनसे जाकर मिला<sup>२</sup>। समिय अपने प्रश्नों के उत्तर के सिलसिले में पुरणकस्सप, मग्गसिगोसाल, अजितकैसकम्बल, पकुपकच्चायन, संजयवेलट्ठिपुत्त और निमांठनायपुत्त जैसे भीखी और बुद्ध, चिर-प्रव्रजित महापुरुषों से मिल चुका था, पर ठीक से किसी ने भी उत्तर नहीं दिया था। वे इसके प्रश्नों पर क्रुद्ध हो जाते थे। तब समिय ने सोचा—'चलूँ, गौतम बुद्ध से भी मिल लूँ ! शायद वे मेरे प्रश्नों के उत्तर दें।' बाद में वह आकर राजगृह के वेशुवन में बुद्ध से मिला। थोड़े-से कुशल-खेम के बाद समिय ने अपने आने का मन्तव्य प्रकट किया और उसने बुद्ध से भी वही प्रश्न किया —

किं पत्तिनमाहु भिक्खुन ( इति समियो ) सोरतं केन कथं च दन्तमाहु।

बुद्धोति कथं पवुच्चति, पट्टो मे भगवा व्याकरोहि॥

अर्थात्—'किस प्रकार की प्राप्तिवाले को भिक्षु कहते हैं। शान्त और दान्त किसे कहते हैं और बुद्ध किसे कहा जाता है। भगवान्, मेरे इन्हीं प्रश्नों के उत्तर की व्याख्या करें।'।

समिय ने इसी तरह के कई प्रश्न किये, जिन सबके बुद्ध ने समुचित और विस्तृत उत्तर दिये। समिय ने प्रसन्न होकर बुद्ध की शरण में जाने की प्रार्थना की। अन्य तीर्थंकर होने के कारण चार महीनों तक इसकी परीक्षा होती रही। बाद में इसने उपसम्भवा पाई और अपने पराक्रम से अर्हत्ता में स्थान पाया।

एक दिन बुद्ध मगध में चारिका के लिए निकले, तो 'वेशुवन' से दूर चले गये। राजगृह आते-जाते रात हो गई। वहाँ एक कुम्भकार के घर पर गये<sup>३</sup> और उससे कहा—'क्या तुम्हारी इस कोठरी में रात-भर रह सकता हूँ ?' उस कुम्भकार का नाम था—भार्गव।

१. सुल्लवग्ग—७, २, =

२. सुत्तनिपात ( समिध सुत्त )—३२

३. मग्गिम निपाय—३, ४, २०

भार्गव ने कहा—‘मुझे तो कोई आपत्ति नहीं है ; किन्तु इसमें एक भिन्न पहलू से ही ठहरे हैं। यदि वे अनुमति दें, तो आप ठहर सकते हैं।’ अंधेरा होने के कारण अथवा परिचय न रहने के कारण भार्गव बुद्ध भगवान् को पहचान न सका।

**पुष्करसाति** ( पुष्करसाति ) नामक ब्राह्मण ने बुद्ध-धर्म में दीक्षित होने के लिए घर छोड़ दिया था। वह ‘तच्छिला’ का शासक था। मगध के राजा बिम्बिसार के किसी लड़के से बुद्ध भगवान् की महिमा सुनकर उनसे प्रव्रज्या लेने मगध आया था। यही पुष्करसाति उस रात भार्गव की उस कोठरी में ठहरा था, जो दूसरे दिन बुद्ध से मिलनेवाला था।

भगवान् बुद्ध और भार्गव में जब बातें हो ही रही थीं, तभी पुष्करसाति बाहर आया और बुद्ध को देखकर उसने कहा—‘ठीक है, आवुस ! आप सुखपूर्वक ठहर सकते हैं। आइए, अन्दर आइए !’ भगवान् बुद्ध अन्दर गये और थोड़ी देर बाद दोनों अलग-अलग आसन जमाकर ध्यान में लग गये। बुद्ध ने पुष्करसाति को देखकर ही जान लिया कि वह कोई कुलपुत्र है, इसे धर्म में दीक्षित कराना चाहिए। बुद्ध ने पुष्करसाति से पूछा—‘आप किस धर्म के माननेवाले हैं, किस गुरु से दीक्षा ली है ?’

पुष्करसाति ने कहा—‘आवुस ! मैं शाक्य-कुलपुत्र भ्रमण गौतम की कीर्ति सुनकर उनके धर्म में दीक्षित होने के लिए आया हूँ। उन्हीं का धर्म मेरा धर्म है, वे ही मेरे गुरु हैं।’ इस पर बुद्ध ने पूछा—‘आपको मालूम है, भ्रमण गौतम आजकल कहाँ हैं ? क्या उन्हें कभी देखा है ?’ पुष्करसाति ने कहा—‘सुना तो था कि आजकल भगवान् भावस्ती में विहार कर रहे हैं<sup>१</sup>। मैंने आज तक उन्हें नहीं देखा है।’ तब भगवान् बुद्ध ने कहा—‘भिन्नु, मैं ही शाक्य-कुलपुत्र भ्रमण गौतम हूँ। आओ, तुम्हें धर्मोपदेश करूँ।’ बुद्ध ने उसे संक्षेप में ‘धातु-विमंग’ का उद्देश्य समझाया और कहा—‘जाओ, पात्र-चीवर-परिपूर्ण होकर आओ। अपरिपूर्ण-पात्र-चीवर भिन्नु को हम दीक्षा नहीं देते।’

पुष्करसाति बुद्ध की आज्ञा पाकर पात्र-चीवर के संग्रह में इधर-उधर घूम रहा था कि एक दिन बेचारे को एक पगली गाय ने जान से मार दिया। बुद्ध को ‘वेणुवन’ में जब पुष्करसाति के मरने का पता लगा, तब उन्होंने कहा—‘अनागामी हुआ’।

इसी ‘कलन्दक निवाप वेणुवन’ में राजगृह का अग्रभय राजकुमार, जो बिम्बिसार के मंत्रियों में से एक था, भगवान् बुद्ध से एक बार मिला<sup>२</sup>। अग्रभय जीवक का पालन करनेवाला पिता था और पहले निम्बोठ ( जैन ) था। एक दिन वह अपने शास्ता ‘निम्बोठनाथपुत्र’ के

१. मज्झिम निकाय ( म० प० राहुल सांक्रायण )—पृ० ५७ को पादलिपिणी। यह शाब्द ‘जयसेन’ होगा, जो अजातशत्रु के द्वारा गद्दी ले लेने पर पारम्परिक विरोध के कारण ‘तच्छिला’ भाग गया था।—ले०

२. पुष्करसाति ने तच्छिला में सुना कि बुद्ध भावस्ती में हैं। पर वह जब वहाँ आया, तब बुद्ध राजगृह चले आये थे। पुष्करसाति भी पता लगाते राजगृह पहुँचा था।—ले०

३. मज्झिम निकाय—२, १, ८



पास गया और अभिवादन कर बगल में बैठा। निम्माठनाथपुत्र ने राजकुमार से कहा—“जा अभय, तू भ्रमण गौतम से बाद रोग। पूछना कि तুম अप्रिय बोलते हो कि नहीं। यदि कहे कि अप्रिय बोलता हूँ, तो कहना कि साधारण जन और तूम में किमेद क्या है। यदि कहे कि नहीं, तो पूछना कि तूम ने देवदत्त को अपायिक (दुर्गति में जानेवाला), नरकगामी, भूक क्यों कहा। देखना कि गौतम क्या उत्तर देता है।”

अभय राजकुमार भगवान् के पास वैष्णव में गया; पर उचित समय न देखकर उसने प्रश्न नहीं किया। उसने बुद्ध से कहा—“भगवन, अपने चार शिष्यों के साथ कल मेरा भोजन स्वीकार करें।” बुद्ध ने मीन रहकर स्वीकृति दे दी। दूसरे दिन बुद्ध अपने चार शिष्यों के साथ उसके वहाँ भोजन के समय पर पहुँचे। अभय राजकुमार ने अपने हाथों से परोस कर बुद्ध को तृप्त किया। भोजन के बाद उसने पूछा कि भगवन, आप क्या ऐसा वचन बोलते हैं, जो दूसरों को अप्रिय हो। बुद्ध ने कहा—“राजकुमार, एकांश से नहीं कहा जा सकता, अपवाद-रूप में बोल भी सकते हैं।” बुद्ध की इस तर्कपूर्ण उक्ति ने ‘अभय’ के प्रश्न को बड़ी काट दिया। उसने ऐसा ज्ञानपूर्वक उत्तर सुनकर वहीं अपने को उपासक बना लेने की प्रार्थना की। भगवान् ने उसे अन्य उपदेशों से भी तृप्त किया।

एक बार भगवान् बुद्ध चारिका करते-करते नालन्दा गये और वहाँ अपने पुराने स्थान प्राचारिक आम्रवन में ठहरे। उस समय निम्माठनाथपुत्र भी ‘नालन्दा’ में ही थे। उनके साथ एक महती परिषद् भी वहाँ थी। निम्माठों की उस बड़ी परिषद् में दीर्घतपस्वी नाम का एक भिक्षु था। वह नालन्दा में भिक्षाचार करके भोजनोपरान्त घूमते-फिरते प्राचारिक आम्रवन में गया। यहाँ वह बुद्ध का संमोदन करके एक ओर खड़ा हो गया। भगवान् बुद्ध ने आसन की ओर इशारा करते हुए बैठने को कहा। जब दीर्घतपस्वी बैठ गया, तब भगवान् बुद्ध ने पूछा—“दीर्घतपस्वी, तुम्हारे शास्ता पाप-कर्मों से छुटकारा पाने के लिए कितने प्रकार के कर्मों का विधान करते हैं।” उसने कहा—“मेरे शास्ता पापकर्म से मुक्त करने के लिए कर्म का विधान नहीं करते, वे दण्ड का विधान करते हैं।” बुद्ध ने पूछा—“कितने और कौन-कौन हैं।” उसने उत्तर दिया—“तीन प्रकार के दण्ड हैं—काय-दण्ड, वचन-दण्ड और मनोदण्ड।”

बाद में दीर्घतपस्वी ने पूछा—“आप पाप-मोचन के लिए कितने प्रकार के दण्ड-विधान करते हैं।” इस पर बुद्ध ने कहा—“मेरे यहाँ दण्ड नहीं हैं, कर्म हैं और वे हैं—काय-कर्म, वचन-कर्म और मनःकर्म।” इसके बाद ‘दीर्घतपस्वी’ निम्माठ उठकर चला गया, जहाँ निम्माठनाथपुत्र निवास करते थे।

निम्माठनाथपुत्र, बालक (लोणकार)-निवासी उपाली आदि गृहस्थों की परिषद् में बैठे थे। दीर्घतपस्वी ने वहाँ पहुँचकर गौतम बुद्ध के साथ हुई वार्त्ता को निवेदित किया। उपाली ने सारी बातें सुनकर कहा—“भन्ते, यदि आज्ञा हो, तो मैं भ्रमण गौतम के साथ जाकर ‘वाद’ करूँ।” निम्माठनाथपुत्र ने कहा—“जा, उपाली, वाद कर।” इस पर दीर्घतपस्वी निम्माठ ने

मना किचा कि उपाली को नहीं भेजा जाय। अमण गौतम मायाजी हैं, इनके मत को फेर देगा।' पर निर्माठनाथपुत्र ने उपाली को शास्त्रार्थ करने के लिए भेजा ही, वे नहीं माने।

उपाली को भी अपनी बिचा और तर्कशक्ति का बड़ा भारी अभिमान था। वह प्रावारिक आश्रम में गया और बुद्ध के साथ उसने शास्त्रार्थ रोप दिया। अनेक वाद-विवाद हुए; पर अन्त में उपाली ने कहा—'भन्ते, मैं तो पहली उपासा से ही संतुष्ट हो गया था, बाद में तो इसलिए चर्चा को बढ़ाया कि कुछ और व्याख्यान सुनूँ। आज आपने श्रीं को सीधा कर दिया। मैं आपकी शरण में हूँ।' उसके बाद वह घर आया और द्वारपाल को उसने कह दिया कि आज से बौद्धों के लिए मेरा भोंडार खुला रहेगा। निर्माठ आवें, तो कह देना कि उपाली ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया। वह नालन्दा का प्रसिद्ध ग्रहपति था।

यह बात जब निर्माठनाथपुत्र (महावीर) को मालूम हुई, तब वे स्वयं इसे जाँचने के लिए उपाली के द्वार पर आये। दालान में बैठी अपनी परिपद के सामने ही उसने कहा—'हे निर्माठनाथपुत्र, मैं बुद्ध का भक्त हूँ, आपका नहीं।' मज्झिम निकाय (२, १, ६) में तो लिखा है कि इस अपमान को न सह सकने के कारण महावीर ने वहीं मुँह से खून उगल दिया, जो अतिशयोक्ति से भरा मालूम होता है।

इसी घटना के आस-पास एक बार भगवान् बुद्ध राजगृह में 'जीवक' के आश्रम में ठहरे थे। जीवक बुद्ध का भी वैद्य था। जब कभी बुद्ध की चिकित्सा करता, तब वे इसी जीवकाराम में रहते थे। बुद्ध की देखभाल करने उसे घर नहीं जाना पड़े, इसलिए उसने अपने बागीचे में ही एक विहार बनवाकर संघ को दान कर दिया था। इसी जीवकाराम में इस बार बुद्ध विहार कर रहे थे। उस समय इनके साथ केवल ५०० भिक्षुओं का संघ था। जुल्लपण्थक नाम के भिक्षु को उनके सहोदर बड़े भाई ने, जिसका नाम महापण्थक था, और जो बौद्ध संघ में मोक्ष-प्रवन्धक (भक्त उद्देशक) था, संघ से निकाल दिया था। जुल्लपण्थक का अपराध यही था कि वह चार मास में भी निम्नलिखित गाथा को याद नहीं कर सका था। वह गाथा इस प्रकार थी—

पटुमै यथा कोकनदं सुगन्धं पातो सिंया फुल्लमवीत गन्धं।

अङ्गोरसं पस्स विरोचमानं तपन्तमादिच्चमिवन्तल्लिक्खे ॥

एक दिन भिक्षुओं ने मजाक उड़ाया कि 'महापण्थक' अपने भाई को चार मास से इस गाथा को सिखा रहा है, फिर भी उसे याद न करा सका। महापण्थक को बुरा लगा, उसने जुल्लपण्थक से कहा—'तू जब चार मास में धर्म की एक गाथा भी याद न कर सका, तब तू प्रव्रज्या के उद्देश्य को कैसे पूरा कर सकेगा? जा, तू घर चला जा।' विचारें जुल्लपण्थक को भी लजा आई, वह भिक्षुपात्र उठाकर ग्रहस्थ होने के लिए अपने गाँव की ओर चल पड़ा।

१. जुल्लसेट्टि वातक—४

२. जिस तरह लाल कमल प्रकारमान सूर्य की देखकर अत्यन्त सुगन्धमय तथा विकसित हो जाता है, उसी प्रकार तर्क बुद्ध आदित्य की तरह रोमनेवाले अंगिरस-वागीश्वर भगवान् बुद्ध की देखो।'

जब भगवान् बुद्ध को यह बात मालूम हुई, तब विहार के द्वार पर 'सुल्लपन्थक' से पहले ही वे खड़े मिले। उन्होंने पूछा—'कहाँ जा रहे हो?' सुल्लपन्थक ने सारी कथा कह दी। बुद्ध भगवान् ने कहा—'लो, यह सफेद कपड़े का टुकड़ा, इससे पूर्वाभिमुख हो, मुँह पोछते रहो और रजो-हरण-रजोहरण बोलते रहो।' इतना कहकर बुद्ध विहार में चले आये। मुँह पोछते-पोछते सुल्लपन्थक का सफेद कपड़ा गंदा हो गया। उसने सोचा, यह शरीर का मल है, इसे अब दूर करना ही चाहिए। उसने दूने उत्साह से अपनी समाधि बढ़ाई।

उस दिन विहार के भिक्षुओं का भोजन कीमरमृत्य जीवक के यहाँ था। बुद्ध सभी भिक्षुओं को लेकर जीवक के यहाँ चले गये। भोजनोपरान्त जब उपदेश के लिए परिषद् बैठनेवाली थी, तब बुद्ध ने कहा—'ठहरो जीवक! अभी विहार में और भी भिक्षु हैं।' इसपर महापन्थक ने कहा—'भन्ते, सभी भिक्षु आ गये हैं। वहाँ कोई नहीं है।' बुद्ध ने कहा—'नहीं, है।' इसपर आदमी भेजा गया। 'जीवक' का आदमी जब विहार में गया, तबतक 'सुल्लपन्थक' ने सभी सिद्धि प्राप्त कर ली थी। उसने जान ली थी कि जीवक के घर पर इस तरह की बात चल रही है। जीवक का आदमी जब वहाँ पहुँचा, तब उसने देखा कि सारे विहार में भिक्षु भरे पड़े हैं और सभी रजोहरण-रजोहरण बोल रहे हैं। उसने जाकर निवेदन किया कि महाराज, अभी तो हजारों भिक्षु हैं। ऐसा सुनकर सभी भौंक-से रह गये। बुद्ध ने कहा—'जो उसमें सुल्लपन्थक हो, उसे ले आओ।' उसकी पहचान के लिए कहा कि तुम्हारे पृष्ठ पर जो पहले कड़े कि मैं सुल्लपन्थक हूँ, उसी का हाथ पकड़ना। वह गया और उसने वैसा ही किया। 'सुल्लपन्थक' के हाथ पकड़ते ही अन्वान्य भिक्षु अन्तर्धान हो गये। अब 'सुल्लपन्थक' जीवक के यहाँ भोजन पर आया और संघ में सम्मिलित हो गया। वह प्रतिसिद्धि ज्ञान प्राप्त कर अर्हत्-पद पर प्रतिष्ठित हुआ।

महापन्थक और सुल्लपन्थक राजगृह के एक सेठ की कन्या से उत्पन्न हुए थे। वह कन्या घर के एक गौंर से प्रसन्न कहीं भाग गई थी। दोनों बच्चों का जन्म रास्ते में चलते समय ही हुआ था, इसलिए पहला महापन्थक और दूसरा सुल्लपन्थक कहलाया। इनके माता-पिता इन्हें अपने नाना के घर पालने-पोसने के लिए दे गये थे। ये नाना के घर से ही बौद्ध भिक्षु हुए थे।

भगवान् बुद्ध दूसरी बार जब जीवकाराम में आये, तब उनके साथ १२५० भिक्षु थे। उस दिन उपोसथ की चातुर्मास पूर्णिमा (कार्तिक-पूर्णिमा) की रात थी। आकाश खच्छ दुध का घोषा बना था। मगधराज अजातशत्रु कई अमात्यो के साथ प्रसाद के ऊपर बैठा चांदनी का आनन्द ले रहा था। उसने कहा—'आज की रात अत्यन्त चित्ताह्लादक है। किसी भ्रमण या ब्राह्मण का संसर्ग करना चाहिए। आपलोग बतलाये कि किसके पास चला जाय?' इस पर राजमंत्री ने कहा—'महाराज! पूर्णकाश्यप संघ-स्वामी, गणाचार्य, यशस्वी, लोकसम्मानित, सम्प्रदाय-संस्थापक तथा वयोवृद्ध हैं, उन्हीं के पास चलकर धर्म-चर्चा हो।'।



मंजी की बात सुनकर मगधराज चुप रहा। दूसरे ने कहा—‘मक्सलिंगोसाल से मिला जाय।’ तीसरे ने अजितकेसकम्बल, चौथे ने प्रकुधकात्यायन, पाँचवें ने संजयबेलहिंपुत्र और छठे ने निमगंठनाथपुत्र का नाम लिखा। पर प्रत्येक विचार पर अजातशत्रु मौन रहा।

‘जीवक’ भी उस समय अजातशत्रु की बगल में ही बैठा था। वह श्रव, विध्विसार के मरने के बाद, अजातशत्रु के राजवैद्य के पद पर ही प्रतिष्ठित था। मगधराज ने कहा—‘जीवक, तुम क्यों नहीं कुछ कहते, चुप क्यों हो?’ जीवक ने कहा—‘महाराज, यदि मेरी राय ली जाय, तो मैं तो कहूँगा कि मेरे आराम में भगवान् बुद्ध अपने साढ़े बारह मी शिष्यों के साथ ठहरे हैं; उन्हीं से मिला जाय।’ अजातशत्रु राजी हो गया। वह पाँच सौ हाथियों पर अन्तःपुर की स्त्रियों को बिठाकर अपने राजकीय गजराज पर चढ़कर बड़े डाट-बाट से मशालों की रोशनी में भगवान् बुद्ध से मिलने चला। जब वह जीवक कौमारभृत्य के बागीचे के समीप पहुँचा, तब उसे डर हो गया कि कहीं जीवक मुझे शत्रुओं के बीच में न फँसा दे। उसने जीवक से कहा—‘कौमारभृत्य, कहते हो कि १२५० भिक्षुओं के साथ यहाँ बुद्ध हैं, पर जरा भी किसी तरह की, आदमी की, आदमि नहीं मिल रही है, क्या मुझे तुमने धोखा तो नहीं दिया?’ जीवक ने कहा—‘नहीं महाराज, ऐसा मत सोचिए।’ अन्त में वह भगवान् बुद्ध के पास पहुँचा।

अजातशत्रु भगवान् बुद्ध को अभिवादन कर, संघ को हाथ जोड़, एक ओर बैठा। उसने कहा—‘भगवन्, मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।’ बुद्ध ने कहा—‘जल्द पूछो।’ अजातशत्रु ने कहा—‘भन्ते, क्या जिस तरह अनेक विद्या-कलाओं को गीलकर मनुष्य प्रत्यक्ष सुख प्राप्त करता है, क्या उसी तरह भ्रामण्यफल भी इसी जन्म में प्रत्यक्ष सुखदायक है?’ बुद्ध ने कहा—‘क्या तुमने यह और किसी से भी पूछा है या पहली बार मुझसे ही पूछ रहे हो?’ मगधराज ने कहा—‘नहीं महाराज, मैंने छह शास्ताओं से इसपर बात-चीत की है। पर किसी ने कुछ निश्चित उत्तर नहीं दिया है।’ इसी सिलसिले में अजातशत्रु ने छह शास्ताओं के मत का विरलेषण किया है। इसके बाद बुद्धने भिक्षु के श्रारंभिक शील, मध्यम शील, महाशील, इन्द्रिय-संयम, स्मृति, सन्तोष और समाधि, प्रज्ञा का चित्तुत विवेचन और विरलेषण करके उनकी प्रत्यक्ष प्राप्ति का उपदेश किया। किन्तु ‘दीप निकाय’ के उक्त सुत्र से पता चलता है कि इस उपदेश का विशेष प्रभाव अजातशत्रु पर नहीं पड़ा। अन्त में वह यह कहकर कि ‘भन्ते, मुझे बहुत काम है, चलता हूँ’, उठ गया। उसके जाने के बाद भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा—‘राजा का संस्कार अच्छा नहीं है। यह पितृहन्ता है, नहीं तो आज इस उपदेश से विरज-निर्मल चक्षु प्राप्त कर लेता।’

इसके बाद भगवान् बुद्ध राजगृह से चारिका करते भावस्ती की ओर चले गये थे। तदनन्तर भगवान् बुद्ध फिर मगध में तब आये, जब सारिपुत्र और मौद्गल्यायन का निर्वाण हो गया। भगवान् बुद्ध सारिपुत्र की धातुओं पर भावस्ती में एक नैत्य बनवाकर राजगृह की

और चले गे। किन्तु, जब वे श्रीमी उद्गाधेल (वज्जि-प्रदेश) में ही गे, उन्हें अपने दूसरे प्रिय शिष्य 'महामीदगल्यापन' की हत्या का भी समाचार मिला। अब भगवान् बुद्ध का दिल बिलकुल ही टूट गया। वे राजगृह आये, और उन्होंने मीदगल्यापन की धातुओं पर भी चैत्य-निर्माण कराया। सारिपुत्र का निर्वाण कास्तिक-पूर्णिमा को हुआ और मीदगल्यापन का मार्गशीर्ष-अमावस्या को—ठीक पन्द्रह दिनों के बाद।

इसी समय मगधराज अजातशत्रु वज्जियों पर चढ़ाई करना चाहता था। फिर भी मगधराज पर एकाएक हमला करना साधारण काम नहीं था। उसने सोचा, किसी अच्छे भविष्य-दृष्टा से राय लेकर हमला किया जाय। उसने अपने मंत्री 'वर्षकार' को बुद्ध के पास राय लेने के लिए भेजा। उस समय बुद्ध राजगृह में ही थे।

'वर्षकार' गृध्रकूट पर्वत पर गया, जहाँ भगवान् बुद्ध थे। 'वर्षकार' ने वन्दना करके मगधराज की वन्दना का भी निवेदन किया। मंत्री ने कहा—'भगवन्, मगधराज वज्जियों पर आक्रमण करना चाहते हैं। आपकी सम्मति चाहते हैं।' उस समय 'आनन्द' भगवान् को पंखा मल रहे थे। बुद्ध ने आनन्द से कहा—'आनन्द, क्या तुम जानते हो कि वज्जि सात 'अपरिहाणीय धर्म' का पालन करते हैं?' आनन्द ने कहा—हाँ, भन्ते, जानता हूँ। अब बुद्ध ने वर्षकार से कहा—'ब्राह्मण, जबतक वज्जि (१) सन्निपातबहुल हैं, (२) जबतक वे एक ही बैठक करते हैं, (३) जबतक वे अग्रज को प्रथम और प्रथम को अग्रज नहीं करते, (४) जबतक वे बुद्धों को मानते तथा पूजते हैं, (५) जबतक वे कुलस्त्रियों के साथ जबरदस्ती नहीं करते, (६) जबतक वे अपने चैत्यों की पूजा करते हैं और (७) जबतक वे अपने अर्हत्तों की रक्षा करते हैं; वर्षकार! जबतक उन वज्जियों को कोई पराजित नहीं कर सकता। ये सात अपरिहाणीय धर्म वज्जियों की उन्नति के मूल हैं।"

यह सुनकर वर्षकार लौट आया और उचित अवसर न देखकर अजातशत्रु ने वज्जियों पर चढ़ाई करने का विचार स्थगित कर दिया। किन्तु, वर्षकार बड़ा भारी कूटनीतिज्ञ आत्मा था, उसे भगवान् बुद्ध की इन्हीं बातों में वज्जियों के समूल नाश करने का रहस्य मिला गया। बाद में उसने वज्जियों के इसी अपरिहाणीय धर्म को भंग करके उनमें फूट डाल दी, जिससे मगधराज ने वज्जियों पर विजय पाई।

इसी अवसर पर वहाँ बुद्ध ने सभी भिक्षुओं को इकट्ठा करके उपर्युक्त सात अपरिहाणीय धर्म का उपदेश किया और कहा कि इसके ग्रहण से कभी भिक्षु-संघ की हानि नहीं होगी।

'चक्रवर्त्ती सिंहनादसुत्त'<sup>१</sup> से ज्ञात होता है कि इसी समय भगवान् बुद्ध मगध के मातुला ग्राम में संघ के साथ गये। उक्त सुत्त की वाणियों से स्पष्ट है कि ये वाणिर्वा सारिपुत्र-मीदगल्यापन के निर्वाण के बाद भगवान् बुद्ध के दुःखी हृदय की वाणिर्वा हैं, जिस तरह अपने निर्वाण के समय उन्होंने आनन्द से कहा था।

१. दीप निकाय ( महापरिनिर्वाणसुत्त )—२, ३

२. दीप निकाय—१, ३

उक्त सुत्त में आया है कि बुद्ध ने वहाँ भिक्षुओं को इकट्ठा करके कहा—‘साम्बलाम्पी बनी। आत्मशरण और धर्मशरण में विहार करो।’ इसके बाद मनुष्य क्या-क्या करके ज्वर्णत की ओर क्रमशः जाता है, इसपर भी प्रकाश डाला है। फिर, मनुष्य किस धर्म के आचरण से उन्नति की ओर जाता है, ऐसे धर्मों को भी उन्होंने भिक्षुओं को समझाया। अन्त में भिक्षुओं के कर्त्तव्य का उपदेश किया है।

भगवान् बुद्ध गृध्रकूट से चारिका करते, अपने संघ के साथ अम्बलट्टिका (तिलान, पटना) आये। वहाँ वे राजागारक में ठहरे। वहाँ से चारिका करते नालन्दा आये और प्राणारिक अज्जवन में संघ के साथ उन्होंने निवास किया।

भगवान् बुद्ध जब अपने संघ के साथ राजगृह और अम्बलट्टिका के बीच में जा रहे थे, तब उनके पीछे-पीछे सुप्रिय नाम का परिव्राजक भी चल रहा था। सुप्रिय के साथ उसका विद्यार्थी ब्रह्मदत्त था। दोनों गुरु-शिष्य में बुद्ध के विषय में ही बातें चल रही थीं। गुरु सुप्रिय बुद्ध की निन्दा करता था और छात्र बुद्ध की प्रशंसा करता था। अम्बलट्टिका तक पहुँचते-पहुँचते अंधेरा हो गया और बुद्ध ने वहाँ अपने संघ के साथ पकाव डाल दिया। इस अवसर की याचा में उनके साथ चुने हुए केवल पाँच ही भिक्षु थे। सुप्रिय परिव्राजक भी अपने छात्र के साथ वहीं ठहरा। रात बीती और मोर हुई।

प्रभात में ही भिक्षु जब नित्य-क्रिया से निवृत्त हो बैठे, तब चर्चा करने लगे कि भगवान् बुद्ध सबके मन की बात जान जाते हैं; पर यह सुप्रिय परिव्राजक निन्दा कर रहा है और उसका छात्र भगवान् की प्रशंसा कर रहा है, इसे भगवान् ने क्यों नहीं जाना। इतने में भगवान् बुद्ध उस परिषद् में आये। उन्होंने कहा—‘क्या बातें चल रही थीं?’ भिक्षुओं ने सुप्रिय और ब्रह्मदत्त की बातें कहीं। इस पर बुद्ध ने कहा—‘भिक्षुओं, यदि कोई मेरी, धर्म की या संघ की निन्दा करे, तो तुमलोगों की न तो उससे वैर करना चाहिए और न कोप या असन्तोष। ऐसा करने से मेरी, धर्म की और संघ की—तीनों की हानि होगी।’ इसी बात पर भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को ‘ब्रह्मजालसुत्त’ का उपदेश किया, जो ‘दीप निकाय’ के प्रारम्भ में ही द्रष्टव्य है।

नालन्दा से बुद्ध अपने संघ के साथ पाटलिग्राम आये। उस समय अजातशत्रु के प्रधान मंत्री वर्षाकार और सुनीथ पाटलिग्राम में किला बनवा रहे थे। वैशाली की देखा-देखी वहाँ भी नगर को तीन भागों में बाँटा गया था—उच्चकोटि, मध्यकोटि और निम्नकोटि के मनुष्यों के वास के लिए। पाटलिग्राम में बुद्ध अपने संघ के साथ राज-अतिथि-शाला में ठहरे।

दूसरे दिन प्रभात में जब बुद्ध ने सुना कि पाटलिग्राम अच्छी तरह बसाया जा रहा है, तब उन्होंने कहा—‘आनन्द, मैंने दिव्यचक्षु से देख लिया कि पाटलिग्राम, आर्य आप्तन, वसिष्ठाक्ष और पुटभेदन में सर्वश्रेष्ठ नगर होगा। इसे केवल आग, पानी और आपसी घृट का ही भय रहेगा।’ इसके थोड़ी देर बाद ही वर्षाकार और सुनीथ ‘अवसथासार’ में गये



और उन्होंने बुद्ध-संघ को भोजन के लिए आमंत्रित किया। भोजनोपरान्त बुद्ध अपने संघ के साथ पाटलिग्राम से निकले। वर्षकार और सुनीथ भी उन्हें विदा देने उनके पीछे-पीछे चले। जिस द्वार से बुद्ध निकले, वह गौतम द्वार नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिस घाट पर बुद्ध ने गंगा पार किया वह, गौतम घाट के नाम से विख्यात हुआ<sup>१</sup>। गंगा पार करके भगवान् बुद्ध उकाचेल गये। श्रीराहुल सांक्रयायन ने इस स्थान की हाजीपुर बतलाया है<sup>२</sup>। वहाँ से कांटग्राम और कोटिग्राम से नादिका तथा नादिका से बुद्ध वैशाली गये।

उकाचेल में ही बुद्ध ने मगध के दो स्वालों की कहानी कही थी<sup>३</sup>, जिसमें एक मूलं और एक चतुर स्वाले का वर्णन है। मूलं स्वाले ने गौश्रो के यूथ-नायक को गंगा में पार करने के लिए सीधे हाँक दिया, जिससे उसकी सारी गायें डूब गईं और चतुर स्वाले ने अपनी गायों के यूथ-नायक को धारा की ओर करके तिरछे हाँका, जिससे उसकी सारी गायें गंगा को आसानी से पार कर गईं। बुद्ध ने इस कथा के द्वारा भिक्षुओं को बतलाया था कि मार की विजय उस चतुर स्वाले की तरह करनी चाहिए और इन्द्रियों के मुखिया (मन) को पार करने का तरीका पहले सिखाना चाहिए।

नादिका में भगवान् बुद्ध ने गिजकावसथ में विहार किया<sup>४</sup>। इसी गिजकावसथ में एक बार और बुद्ध ने विहार किया था, जिसका वर्णन चूलगोसिग सुत्तन्त<sup>५</sup> में मिलता है। उस समय अनिरुद्ध, नन्दिय और किम्बल—तीनों भिक्षु 'गोसिग सालवन' में विहार कर रहे थे। एक दिन बुद्ध भ्रमण करते गोसिग सालवन में पहुँचे। उस वामीचे के माली ने बुद्ध की घुसने से रोक दिया। उसने कहा—'वामीचे में नहीं जाइए, अभी तीन भिक्षु यथेच्छ विहार कर रहे हैं।' इतने में दूर से ही अनिरुद्ध ने बुद्ध की रोकते हुए माली को देखा। दौड़कर शास्ता के पास आये, और माली से कहा—'अरे, ये हमारे शास्ता हैं, इन्हें आने दो।' भगवान् बुद्ध जब अन्दर गये, तब तीनों गुरु-भाइयों की साथ में विहार करते देखकर बड़े प्रसन्न हुए और साथ-साथ मिलकर विहार करने के महत्त्व को बतलाया। उस समय शास्ता और शिष्यों को एक साथ वज्जि-देश में देखकर दीर्घपरजन नामक पक्ष ने वज्जि-प्रदेश के सीमास्थ को सराहा था।

यह नादिका बुद्ध के समय में और बाद में भी बौद्धों का प्रधान अड्डा रही है। इसी नादिका में नुन्दा नामक भिक्षुणी ने परिनिर्वाण प्राप्त किया था। इसके अतिरिक्त सुजाता नामक उपासिका ने भी यहीं निर्वाण प्राप्त किया। उपासकों में सुदत्त, ककुध, कालिय,

१. पाटलिपुत्र के 'मूलजारवाग' नक्षले में स्थित सिमखों के मुसद्बारे के पास 'गौतम द्वार' सम्भव है और घाट होता है 'गौतम घाट' ही आजकल 'गावघाट' कहलाता है।—जे०

२. बुद्धचर्या—पृ० ५२६

३. मग्गिम निकाय—१, ४, ४

४. दीप निकाय—२, ३, २

५. मग्गिम निकाय—१, ४, १

निकट, कारिस्तम, तुट्ट, सन्तुट्ट, भद्र और सुभद्र ने भी यहाँ निर्वाण प्राप्त किया। इस तरह यहाँ पचास से भी अधिक उपासक काल-कवलित होकर अनागामी हुए। नन्वे से अधिक यहाँ के बौद्ध सकृदागामी और ५०० से अधिक स्तोतापन्न हुए थे। इन सारी बातों से बिहार-प्रदेश के इस 'नादिका' ग्राम का वैशिष्ट्य स्पष्ट है।

इस बार भगवान् बुद्ध जब 'नादिका' से वैशाली गये, तब अपने पुराने स्थान महाजन की 'कूटागारशाला' में नहीं गये। इस बार वैशाली की प्रसिद्ध नर्तकी अम्बपाली के आम्रवन में ठहरे। अम्बपाली ने जब सुना कि भगवान् बुद्ध वैशाली में आकर मेरे ही बागीचे में ठहरे हैं, तब वह बड़े शान-वान से अश्व-रथ पर चढ़कर उनसे मिलने गई। जहाँ तक रथ जाने का रास्ता था, वहाँ तक तो रथ से गई और बाकी स्थान पैदल चलकर ही बुद्ध के पास पहुँची। वहाँ पहुँचकर उसने अभिवादन किया और एक ओर बैठी। उसने हाथ जोड़कर भगवान् बुद्ध से कहा—'भगवन्, भिक्षु-संघ के साथ कल का भोजन मेरी ओर से स्वीकार करें।' भगवान् ने मौन रहकर स्वीकृति दे दी। स्वीकृति जानकर वह आसन से उठी और अभिवादन कर विदा हो गई।

इधर जब लिच्छवियों ने सुना कि भगवान् वैशाली में आये हैं, तब वे सुन्दर पानों पर आरुढ़ होकर भगवान् बुद्ध से मिलने चले। उनमें कुछ जो नीले वर्ण के थे, वे नीले वस्त्र और नीले ही अलंकारों से भूषित थे। जो पीत वर्ण के थे, वे पीले वस्त्र और पीले अलंकारों से सजे थे और जो लोहित वर्ण के थे, वे लाल वस्त्र और लाल आभूषणों से मंडित होकर चले। बुद्ध ने इन्हीं लिच्छवियों के टाट-बाट को देखकर भिक्षुओं से कहा था—'यदि तुममें से किसी ने तावत् प्रिंशकोटि देवताओं को न देखा हो, वह इन लिच्छवियों को देख ले।' रास्ते में इन लिच्छवियों के रथों से लौटता हुआ अम्बपाली का रथ मिला। अम्बपाली लिच्छवियों के रथ के धुरों से अपने रथ के धुरे को, चक्कों से चक्के को, और खुशों से खुश को टकराती रथ को उड़ाती चली गई। लिच्छविकुमारों ने जब इस खुशी का कारण पूछा, तब अम्बपाली ने कहा—'कल का भोजन भगवान् ने मेरे घर स्वीकार कर लिया है।' इसपर राजकुमारों ने चाहा कि 'यह सौभाग्य हमें दे दो, बदले में एक लाख मुद्रा ले लो।' इसपर अम्बपाली ने उत्तर दिया—'एक लाख क्या, समस्त वज्रि-देश दे देने पर भी यह सौभाग्य मैं नहीं दे सकती।' लिच्छविकुमार अपना-न्सा मुँह लिये रह गये।

दूसरे दिन भगवान् बुद्ध अपने संघ के साथ भोजन करने के लिए अम्बपाली के यहाँ गये। अम्बपाली की प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। उसने अपने हाथों से धरोसरकर भगवान् को भोजन कराया। भोजनोपरान्त बुद्ध ने अम्बपाली को उपदेश किया। बाद में यह त्रिभुवन-मोहिनी गणिका बौद्ध संघ की एक प्रसिद्ध भिक्षुणी हुई।

भगवान् का अन्तिम वर्षावास वैशाली के पास 'वेलुव ग्राम' में हुआ<sup>१</sup>। इसी जगह बुद्ध के पेट की बीमारी पुनः उभड़ी और उन्हें मरणान्तक पीड़ा देने लगी। इस समय बुद्ध ने

१. दीप निकाय—२, ३, ३

२. यहाँ अन्तिम वर्षावास नहीं हुआ था, बल्कि वैशाली की अन्तिम वाता थी।—ले०

अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा—‘आनन्द, मेरी आयु ८० साल की हुई। मेरा शरीर अब पुरानी गाड़ी की तरह जोड़-बाँधकर चल रहा है। अब तुम लोग अपने अत्मदीप के प्रकाश में ही बिहार करो।’ इसके बाद बुद्ध ने पिंडपात किया और उसके बाद आनन्द के साथ ‘चापाल चैत्य’ में गये। वहीं उन्होंने अपने प्रिय स्थानों के नाम गिनाये थे, जिनमें वैशाली, उसके उदयन चैत्य, गौतमक चैत्य, सप्त आश्रमक चैत्य, बहुपुत्रक चैत्य, सारदन्द चैत्य, चापाल चैत्य और राजगृह में एधकूट, चोरप्रपात, वैभारगिरि की कालशिला, सीतवन के सर्पशौण्डिक पहाड़, लोदाराम, वेणुवन कलन्दक-निवाप, जीवक का आश्रमवन, मदकुक्षि का मृगदाव तथा कपिलवस्तु का न्यग्रोधाराम मुख्य हैं।

भगवान् बुद्ध की पेटवाली बीमारी अब कुछ कम हुई, तब वे महावन के कूटागारशाला में गये। वहीं बुद्ध ने भिक्षुओं को बतलाया कि मेरे परिनिर्वाण का काल अब केवल तीन मास रह गया है। उन्होंने कहा—‘मैंने अपना काम पूरा कर लिया है। तुम्हें निरालस्य, सावधान और सुशील होना चाहिए। धर्म की रक्षा करो। प्रमादरहित होकर उद्योग करो।’

वर्षावास के बाद बुद्ध वैशाली से ‘कुशीनारा’ की ओर चले। वैशाली से वे क्रमशः भएडग्राम, आश्रमग्राम, जम्बूग्राम और वहाँ से भोगनगर गये। बिहार-प्रदेश की भूमि में बुद्ध की अन्तिम चारिका इसी ‘भोगनगर’ में हुई, जो तारन जिले में या मुजफ्फरपुर जिले के अन्तिम पश्चिम भाग में कहीं स्थित था। बिहार-प्रदेश में बुद्ध का अन्तिम उपदेश इसी भोगनगर में हुआ था। यहाँ उन्होंने चार ‘महाप्रदेश’ का उपदेश किया था, जिनमें ‘बुद्ध-वचन’, ‘संघ-वचन’, ‘पदप्राप्त स्थविर-वचन’ तथा ‘स्थविर-वचन’—इन चार को प्रमाण मानने के लिए कहा था<sup>१</sup>। इसके बाद ही भगवान् बुद्ध बिहार-प्रदेश की भूमि से बिदा हो गये।

भोगनगर से चलकर बुद्ध भगवान् मल्लों की नगरी पावा में गये, वहाँ ‘चुन्द कर्मार’ के बागीचे में ठहरे। चुन्द ने बुद्ध को भोजन के लिए निर्माजित किया। भोजन में उसने शकर मर्दव (सूअर का मांस) दिया, जिसके खाने से उनके पेट की बीमारी महापरिनिर्वाण और बढ़ गई। भगवान् बुद्ध पावा-कुशिनारा के रास्ते में जा रहे थे कि दर्द की अधिकता से उनका चलना कठिन हो गया। वहीं दो साल बूच्चों के बीच उन्होंने आनन्द से चौपटी दिक्खवाई, और उसपर लेट गये। इन्हीं सालबूच्चों के नीचे बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ। इस समय इनकी आयु पूरे अस्सी साल की थी।

जब बुद्ध निर्वाण की तैयारी में थे, तब उन्होंने आनन्द से कहा—‘आनन्द! जो कुछ पूछना हो, पूछ लो। कहीं तुम्हें यह पछतावा न रह जाय कि अमुक बात शास्ता से नहीं पूछी।’ बुद्ध का अन्तिम वचन था—

हंद दानाँ भिक्खवे आमन्तयामि वां।

वय धम्मा संसारा अप्पमादेन सम्पादेयति ॥

१. साहित्यकार (मुद्रांक)—वीराट्टुल सांस्कृत्यायन का लेख। प्रकाशक—साहित्यकार-संस्द, बलाघाबाद, सन् १९५६ ई०।

२. दीप निकाय—२, ४, ७



अर्थात्—‘हे भिक्षुओं ! इस समय में वह कह रहा हूँ कि सभी धर्म (वस्तुएँ) नाशधर्मों हैं, अतः अप्रमादयुक्त होकर ( जीवन-लक्ष्य का ) सम्पादन करो ।’

अपने अन्तिम समय में बुद्ध ने सुमद्र नामक ब्राह्मण को शिष्य बनाया, जिसने बुद्ध के निर्वाण के बाद रोते हुए भिक्षुओं से कहा—“आवुसो ! शोक मत करो । वह महाभ्रमण हमें हर बात में कहता था—यह करो, यह मत करो । अब हम जो चाहेंगे, वही करेंगे; जो नहीं चाहेंगे, नहीं करेंगे । हम मुक्त हो गये” ।

इस तरह ईसा के ५४३ वर्ष पूर्व, वैशाख-पूर्णिमा को, मल्लों के कुशीनारा नगर के पास, उस परम शानमय ज्योतिःपुञ्ज मार्त्तण्ड का विरोधान हुआ, जिसके ज्ञान-प्रकाश से, आज ढाई हजार वर्ष के बाद भी, सारा संसार आलोकित है तथा जिसकी प्रथम प्रभा, बिहार-प्रदेश के बोधगया में, बोधिवृक्ष के नीचे छिटकी थी ।

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनकी धातुओं ( हड्डियों ) का बंटवारा हुआ । उसमें ( १ ) मगध, ( २ ) वैशाली, ( ३ ) अल्लकण, ( ४ ) वेण्डीप, ( ५ ) रामगाम, ( ६ ) कपिलवस्तु तथा ( ७ ) पावा और कुशीनारा को हिस्सा मिला था । पिप्पलीवन के मौरियों ने राख ली और धातुओं का बंटवारा करनेवाले द्रोण ब्राह्मण ने कुम्भ ले लिया था । इन अवशेषों के ऊपर बुद्ध के स्मारक-स्वरूप चैत्यों का निर्माण हुआ ।

इस प्रकार, भगवान् बुद्ध ने अपनी आयु के २६वें वर्ष से ८०वें वर्ष की अन्तिम अवधि तक बराबर बिहार की भूमि में वर्षावास अथवा चारिका कर ज्ञान, तपस्या, समाधि एवं बुद्धत्व-लाम के साथ अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुए धर्म का प्रसार किया । इसमें बिहार के अनेक लोगो ने उन्हें हार्दिक योग देकर धर्म के विकास में पूरी सहायता पहुँचाई, जिनका सिंहावलोकन किया गया है, सबकी गिनती तो असम्भव है ।

१. कुछ लोगों की राय में यह ‘सुमद्र’ नामक भिक्षु दूसरा था । देखिए—‘पालि-साहित्य का इतिहास’ ( लेखक-भरतसिंह उपाध्याय ), पृ० ७६ की टिप्पणी ।

## तीसरा परिच्छेद

### बिहार की नारियाँ और बौद्धधर्म

भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में बिहार के बौद्धमतानुयायी पुरुषों के उल्लेख के बाद बिहार-प्रदेश की नारियों के सहयोग की भी थोड़ी चर्चा यहाँ कर देना आवश्यक है। उस समय भारतीय समाज में नारियों की स्थिति क्या थी, इस और जब हम अच्छी तरह ध्यान देते हैं, तब हम देखते हैं कि नारियों ने बौद्धधर्म के विकास में जितनी भी सहायता पहुँचाई, वह कुछ कम नहीं है।

आरण्यक ग्रन्थों और उपनिषदों में जो कुछ विदुषी स्त्रियों की कहानियाँ प्राप्त होती हैं, उनसे सर्वसाधारण नारी-समाज की उज्ज्वल स्थिति का भान हमें नहीं कर लेना चाहिए। पूर्णतया छान-बीन करने पर हम देखेंगे कि बुद्ध-काल में या उससे पहले भी साधारण जन-नारी की समाज में नारियों की बहुत उन्नत अवस्था नहीं थी। जिस तरह समाज में सामाजिक शूद्रों की स्थिति दासता और सेवा-वृत्ति में हम पाते हैं, उसी तरह नारी की स्थिति भी गृह-प्रबन्ध और पतिसेवा में ही विशेष रूप से देखते हैं। ऐसी स्थिति का पता हमें उत्तर वैदिक काल से बुद्ध के काल तक प्राप्त होता है। उपनिषद् और आरण्यक के युग में वेद पढ़ने और यज्ञ करने का अधिकार नारियों को नहीं प्राप्त था। इन्हीं ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार पर 'मनुस्मृति' की रचना हुई थी, जिसका आधुनिक रूप भी शुंग-काल (१८० ई० पूर्व) से इधर नहीं आ सकता। इस धर्मग्रन्थ में स्त्रियों के अधिकार, कार्य और सामाजिक स्थिति को हम मली भाँति देख पाते हैं। इसके अनुसार यज्ञादि क्रियाओं में पति के साथ ही नारी को अधिकार प्राप्त था। पौडश संस्कारों में स्त्री के लिए एकमात्र विवाह-संस्कार ही था, दूसरा कोई नहीं। गुरुगृह-वास कर विद्याभ्यसन उनके लिए वर्जित था। इसकी जगह उनके लिए पति की सेवा ही विहित थी। यज्ञाग्नि-क्रिया स्त्री के लिए केवल पाकशाला तक ही सीमित थी—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।

पतिसेवा गुरो वासो गृहायोऽग्निपरिक्रिया ॥

—मनु०, अ० २, श्लो० ६७

जवानी की तो बात ही क्या, बचपन और बुढ़ापे में भी नारी स्वतंत्र नहीं मानी जाती थी। पुरुषों ने जो इन्हें घर की रानी या गृहस्वामिनी बनाया और गृह में अर्थ-संग्रह तथा अर्थ-व्यय का भार सौंपा, पुण्य तथा धर्म में लगाया, भोजन बनाने एवं गृह के अन्य कार्यों में

नियोजित किया, उसमें दूसरा कोई कारण नहीं है—उसमें एकमात्र कारण नारीत्व का संरक्षण और पुरुषों का उनपर प्रभुत्व कायम रखना ही था<sup>१</sup>।

अन्य सम्पत्तियों की तरह कन्या भी बेची और खरीदी जा सकती थी<sup>२</sup>। ब्राम्ह होने पर अथवा सन्तानवती होने के बाद भी ब्राम्ह हो जाने पर, उसे पति त्याग सकता था। यदि किसी पुरुष के पुत्र हो, तो उसकी सम्पत्ति उसकी पत्नी को न मिलकर पुत्र को ही मिलती थी। इतना ही नहीं, उसके पुत्र के बाद भी उसके पौत्र को ही मिलती थी, पर उस बूढ़ी दादी का सम्पत्ति पर कतई अधिकार नहीं था<sup>३</sup>। इस तरह की अनेक बातों से नारी-समाज की स्थिति का पता हमें चलता है, जो बुद्धकाल या उसके थोड़े बाद के काल का है।

आधुनिक इतिहासकारों में विशिष्ट विद्वान् 'श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य' के मतानुसार महाभारत की रचना बुद्ध-काल के बाद हुई है। पर, हमारा डढ़ मत है कि 'महाभारत' की रचना शुंग-काल के बाद तो किसी तरह भी नहीं मानी जा सकती। वस्तुतः, इसकी रचना बुद्ध के पहले ही हुई है; क्योंकि जिस 'महाभारत' में देश के सभी भौगोलिक स्थानों, राजाओं और नगरों के नाम हैं, उसमें 'पाटलिपुत्र' जैसे विस्फात नगर का नाम कहीं नहीं मिलता है। किन्तु पाटलिपुत्र की चर्चा बौद्धग्रन्थों में मरी पड़ी है। इससे स्पष्ट है कि 'महाभारत' की रचना बुद्ध से पहले हुई थी और पाटलिपुत्र का निर्माण बुद्ध के समय में हुआ था। उस महाभारत के 'अनुशासन-पर्व'<sup>४</sup> में भी स्त्रियों के लिए बहुत अवान्छनीय विशेषण व्यवहृत हुए हैं। 'देवयानी' अपने पति 'ययाति' को छोड़कर पिता के घर चली गई थी<sup>५</sup>। इस कथा से भी तत्कालीन नारी-समाज की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उपनिषद्-काल में जिस मार्गी, वाचकनवी, घोषा, मैत्रेयी (याज्ञवल्क्य की पत्नी) आदि को ब्रह्मवादिनी के रूप में पाते हैं, वहीं याज्ञवल्क्य की दूसरी पत्नी 'कात्यायनी' को हम उस रूप में नहीं देखते। उपनिषद्-काल की उपर्युक्त नारियाँ नारी-समाज में अपवाद-स्वरूप ही थीं। खासकर महाभारत-युद्ध के बाद तो स्त्रियों का अधिकार और क्रियाक्षेत्र केवल गृह के भीतर ही रह गया था।

ऐसी बात केवल ब्राह्मण-ग्रन्थों या ब्राह्मण-धर्म के उत्थान के काल में ही नहीं थी, बल्कि बौद्धसम्प्रदाय या बौद्धकाल में भी नारी की अवस्था विशेष उन्नत नहीं दीख पड़ती। बौद्धकालीन नारी-समाज की वास्तविक स्थिति का पता तो बौद्ध 'जातक-कथाओं' में ही मिलता है। जातक-कथाओं का निर्माण-काल भी बुद्ध के समय से मौर्यकाल तक का हो सकता है; क्योंकि जातक की कहानियों के आधार पर बने चित्र हमें भरहुत, साँची और बोधगया की वेष्टन-वेदिकाओं की दीवारों पर उत्कीर्ण मिलते हैं, जिनका निर्माण शुंग-

१. मनु० ३, ११

२. मनु० ६, १७

३. मनु० ६, १३७

४. महा०, अनु०, अध्या० १२, श्लो० १६-२१, २८-३३ और ५० द्रष्टव्य।

५. महा०, आदिपर्व, अध्या० ८३



काल में हुआ था। इससे सिद्ध है कि शुंग-काल में जातक-कथाओं की प्रसिद्धि समाज में पूर्णतया हो गई थी, जिसके कारण उनके चित्र भी बनने लग गये थे। जातक-कथाओं में वे ही कहानियाँ, किंवदन्तियाँ तथा ऐतिहासिक घटनाएँ वर्णित हैं, जो बुद्ध-पूर्व की अथवा बुद्ध-कालीन थी। इनमें बुद्धकालिक घटनाओं के साथ समाज में प्रचलित पुरानी कहानियों का मिलान किया गया है। अतः, जातकों में वर्णित नारी-समाज की अवस्था बुद्ध-पूर्व की या बुद्ध के समय की ही है, जिससे स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर विशद प्रकाश पड़ता है। जातक-कथाओं की संख्या १२०, १४५, १६७, १८३, १९६, २१२, २६२, २६३, २७४ आदि में भी महामारतवाले पूर्वोक्त विशेषण व्यवहृत हुए हैं। इनमें कथाओं के द्वारा नारी-सम्बन्धी उक्त विशेषणों को सार्थक कर दिखाने का प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त जातक ६१, ६३, ६४, ६५, १०६, १२५, १२६, १६५ और २०७ संख्यक कथाओं में भी नारी-समाज के चरित्र पर पूरी कालिख पड़ी है। 'धम्मपद' की टीका ४ और ८ में बौद्धविद्वान् 'बुद्धघोष' ने लिखा है कि उस समय पति के कुव्यवहार के कारण एक स्त्री को न्यायालय में जाना पड़ा, जहाँ न्यायकर्त्ता ने स्त्री के पक्ष में फैसला दिया। इतना जरूर था कि स्त्रियों में घनघोर पर्दा नहीं था, वे समाज के अच्छे कामों में भाग लेती थीं; पर अल्प परिमाण में ही।

जातक-कथाओं की तरह बौद्धों का एक दूसरा ग्रन्थ 'सुद्धनिकाय' है, जिसके एक अंश का नाम 'धेरीगाथा' है। इसकी अनेक गाथाओं से नारी-समाज की स्थिति पर भी हमें रोशनी मिलती है। कोसल-देश की मुत्ता नाम की स्त्री घर के कामों से ऊबकर भिच्छुरी हो गई। उसने कहा है कि हमें आज तीन देवी वस्तुओं से छुटकारा मिल गया। वे वस्तुएँ थी—ऊखल, मूसल और कुबड़ा पति। भद्राकापिलापनी को, यद्यपि उसकी आस्था बौद्धधर्म में नहीं थी तथापि, अपने पति 'महाकाश्यप' का ही अनुगमन करते हम देखते हैं। भद्राकुंडलकेशा का लालची पति जब उसकी हत्या करने पर उतारू हो जाता है, तब वही अपने पति की हत्या करके भिच्छुरी हो जाती है। पाटान्नारा, वासिष्ठी और स्वयं प्रजापति गौतमी को अपने वस्त्रों तथा पति की मृत्यु के शोक से छुटकारा पाने के लिए संसार-त्याग की प्रवृत्ति होती है, पहले नहीं। श्रावस्ती की उत्तरा नारी-समाज को कोसती है कि रात-दिन मूसलों से धान क्यों कुटती रहती हो, उसे छोड़ो, बुद्धधर्म में आओ। उल्लवण्णा का पति उसकी माता (अपनी सास) को भी पत्नी बनाकर रखे हुए था, बानी दोनों माँ-बेटी सपत्नी बनकर जीवित थीं। पूरुषिका एक पनिहारिणी थी, उसे रोज अपने मालिक से माली और मार मिलती थी, जिससे छुटकारा पाने के लिए वह भिच्छुरी हुई। नारी के साथ तब भी बलात्कार होता था। राजगृह की ब्राह्मण-कन्या शुभा एक रात को बुद्ध के दर्शन के लिए जा रही थी कि रास्ते में एक लम्पट युवक ने उसे जा धरा। उसने कहा—'शुभे! कमल-कोष को भी मात करनेवाले तेरे स्वर्ण-सदृश त्वच्छ-मुख-मंडल में स्थित इन दोनों नयनों को देखकर मैं अवश हो गया हूँ। हे प्रियदर्शिनि! तेरी दोनों भौंहें कमान-जैसी विस्तृत हैं,

तेरे नेत्र कितने मादक हैं।' इस पर शुभा ने अपनी आँख ही निकालकर उस लम्पट के हाथ पर रख दी। ऋषिदासी के वैश्य माता-पिता ने उसे तीन-तीन बार बेचा और दूसरे-दूसरी से उसका ब्याह किया। जीवक वैद्य के जन्म के बारे में हमने पहले देखा ही है कि उसकी माता ने पुरुषों की प्रेम-यात्री बने रहने के उद्देश्य से अपनी युवावस्था को अल्लुगण दिखाने के लिए अपने नवजात शिशु को कूड़े में फेंकवा दिया था। प्रजापति गौतमी के साथ शाक्य-कुल की पाँच सौ नारियों के भिक्षुणी होने की कथा जो मिलती है, उससे पता लगता है कि वे सभी नारियाँ ऐसी ही थीं, जिनके पति या तो भिक्षु हो गये थे या मर गये थे।

इस तरह स्वतंत्र विचारिका, उच्छेदवादिनी तथा स्थिरचित्तवाली नारियों की उस समय भी कमी थी। सम्पत्ति पर उनका कोई अधिकार नहीं था और न वे ज्ञान-विज्ञान में अग्रग्राही थीं। उपनिषद्-काल की तरह उस समय भी अपवाद-रूप में कुछ ही नारियाँ पूर्ण विदुषी थीं—जैसे वैशाली की सच्चा, लोला, अववादका तथा पाटाक्षारा—जिनके सम्बन्ध में पहले भी कुछ कहा गया है और आगे भी कहा जायगा। स्वयं भगवान् बुद्ध भी नारी-समाज के सम्बन्ध में बहुत-कुछ पुराने विचारों से ही सहमत थे; क्योंकि आनन्द के प्रयास से जब भिक्षुणी-संघ का निर्माण हुआ, तब भगवान् बुद्ध ने कहा—'आनन्द, यदि स्त्रियाँ इस धर्म में नहीं आती, तो यह धर्म १००० वर्षों तक ठहरता; पर चूँकि स्त्रियाँ भी आ गईं, अतः यह केवल अब पाँच सौ वर्ष ही जीवित रहेगा।'।

किन्तु, ऐसी दशा में भी, भगवान् बुद्ध के समय में ही, बिहार-प्रदेश की नारियों ने बौद्धधर्म के विकास में जो योगदान किया, वह अभूतपूर्व घटना है। बौद्धभिक्षुणियों के संघ के पहले ही जैनसंप्रदाय में भिक्षुणियों का संघटन हो गया था। वैशाली के सचक की चार बहनें जैनसंघ की ही भिक्षुणी थीं। सच पूछिए, तो जैनो की बौद्धभिक्षुणी देखा-देखी ही बौद्धों ने भी भिक्षुणी-परिषद् की स्थापना की थी। बौद्धधर्म में प्रथम-प्रथम महाप्रजापति गौतमी ही पाँच सौ नारियों को लेकर भिक्षुणी हुईं। इसके बाद तो नारी-समाज में बौद्ध भिक्षुणी होने की लहर-सी उठ गई और भिक्षुणियों का एक बृहत् संघटन ही हो गया। ये नारियाँ भी धूम-धूमकर धर्मोपदेश करने लगीं और संघ में भिक्षुणियों को दीक्षित भी करने लगीं। वे जहाँ भी जातीं, भिक्षु-संघ से अलग उनके संघ का पड़ाव होता था। जगह-जगह भिक्षुणियों के लिए विहार भी अलग बन गये थे। भावस्ती में विशाखा ने भिक्षुणियों के लिए ही एक अलग विहार बनवाया था, जिसके निर्माण में २६ करोड़ मुद्राएँ व्यय हुई थीं। इन भिक्षुणियों में से बिहार-प्रदेश की भिक्षुणियों पर हम यहाँ प्रकाश डालेंगे, जिससे स्पष्ट होगा कि बिहार की नारियों की बौद्धधर्म में क्या देन है।

१—वत्सा (?) वैशाली नगर की एक भिक्षुणी की चर्चा 'घेरीगाथा' में है, जिसके नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु गाथा के पढ़ने पर ज्ञात होता है कि शायद इसका नाम वत्सा था। एक दिन वह भोजन के लिए बाग पका रही थी कि कड़ाही में ही

साग जल गई। इस घटना से इसके अन्तर का पट खुल गया। इसके मन में आया कि अधिक देर तक आग पर रखने के कारण जिस तरह साग जल गई, उसी तरह यदि अधिक समय तक समाधि और ध्यान का कर्म किया जाय, तो अन्तर के राग-द्वेष भी जल जायेंगे। इसने ध्यान और चिन्तन को बढ़ाकर ज्ञान प्राप्त कर लिया तथा ऐश-आराम के सारे सामान त्याग दिये। इसने अपने पति के पास जाकर कहा—‘स्वामिन् ! मेरा मन संसार से उन्नत गया है। मैं अब गृहस्थ-धर्म को निबाहने में अपनेको असमर्थ पा रही हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए, मैं अब प्रव्रज्या लूँ।’ पत्नी की मानसिक दशा तथा शरीर के कपड़े आदि देखकर पति ने समझ लिया कि अब सचमुच इसका मन गृहस्थी से उन्नत गया है। विवश होकर उसने प्रव्रज्या लेने की आज्ञा दे दी। वत्सा महाप्रजापति गौतमी के पास जाकर धर्म में दीक्षित हो गई। दीक्षा के बाद गौतमी उसे भगवान् बुद्ध के पास ले गई। बुद्ध ने इसके सन्ने आन्तरिक वैराग्य की सराहना की।

यह वत्सा एक क्षत्रिय-कन्या थी और एक लिच्छवि-युवक से ब्याही गई थी। पहले ही गौतमी के धर्मापदेश सुनकर इसके मन में वैराग्य जगा था। यह कई बार पहले ही प्रव्रजित होना चाहती थी; पर इसका पति हर बार रोक देता था। किन्तु कड़ाही में साग जलनेवाली घटना ने इसके मन में ऐसा वैराग्य भर दिया जो किसी प्रकार उच्छिन्न होनेवाला नहीं था।

२—धर्मदित्रा राजगृह-निवासी एक वैश्य सेठ की पुत्री थी। विशाख नाम के एक श्रेष्ठी-पुत्र से उसका विवाह हुआ था। एक दिन ‘विशाख’ अपने साधियों के साथ भगवान् बुद्ध का उपदेश सुनने गया। धर्मापदेश सुनकर उसके मन में वैराग्य की भावना जग गई। राज्ञि में जब वह घर लौटा, तब उसकी पत्नी ‘धर्मदित्रा’ ने भोजन के समय जो मीठी-मीठी बातें कहीं, उन बातों की ओर उसने जरा भी अभिरुचि नहीं दिखाई। उसने भोजन भी अनिच्छापूर्वक किया। धर्मदित्रा ने समझा, कोई गलती मुझसे हुई है। उसने हाथ जोड़कर और आँखों में आँसू भरकर कहा—‘स्वामिन् ! यदि मुझसे कोई अपराध हुआ हो, तो क्षमा करो।’ विशाख को करुणा आ गई। उसने करुणाद्रि वाणी में कहा—‘नहीं प्रियतमे ! तुम्हारी ओर से ऐसी कोई बात नहीं हुई है। मैं ही अब तुम्हारे प्रेम का पात्र नहीं रहा। मेरा मन अब बुद्ध के धर्म की ओर मुड़ गया है। अब तुम्हें मुझसे सुख प्राप्त नहीं होगा। तुम मेरा सम्पूर्ण ऐश्वर्य लेकर पिता के घर चली जाओ।’

धर्मदित्रा ने भारतीय नारियों की तरह ही निवेदन किया—‘स्वामिन् ! मेरा सब-कुछ तो आप ही है। अब मैं पिता के घर नहीं जाऊँगी। आपका ही अनुगमन करूँगी।’

दोनों पति-पत्नी बुद्ध-संघ में प्रव्रजित हो गये। किन्तु धर्म के चिन्तन में पत्नी ने पति से बाजी मार ली। धर्मदित्रा थोड़े ही काल में बौद्धधर्म की परम पंडिता हो गई। बौद्धधर्म का प्रचार करनेवाली भिक्षुणियों में इसका स्थान प्रथम था। इसकी वस्तुत्व-शक्ति अपूर्व थी। इसका विचार था कि जो कोई चित्तवृत्तियों को अवदमित करके शान्ति-साम कर लेता है और जो विषय-भोग का पूर्णतया उच्छेद कर देता है, वही ‘ऊर्ध्वलोत’ कहलाता है।



इसके धर्मशान की थोड़ी चर्चा पहले भी की गई है, जो इसके और इसके पति 'विशाखा' के बीच हुआ था।

३—विशाखा भद्रिया ( भागलपुर के पास का भद्रिया ) नगर के महासेठ मेण्डक की पौत्री थी। इसके पिता का नाम 'धनंजय' था और माता का 'सुमना'। जब विशाखा सात साल की छोटी बच्ची थी, तभी भगवान् बुद्ध भद्रिया नगर में गये थे। इसने अपने दादा मेण्डक की आज्ञा पाकर ५०० कुमारियों और ५०० दासियों को साथ लेकर भगवान् बुद्ध का, नगर से बाहर निकल अगमानी करके, स्वागत किया था, जिसकी चर्चा पहले ही की गई है। पीछे चलकर यह बुद्धसंघ की सबसे बड़ी दायिका ( दान देनेवाली ) हुई। बौद्धधर्म में इसके अनुराग की पराकाष्ठा इसी से सम्मत्नी चाहिए कि यह बराबर कहा करती थी—'बुद्ध-शासन के लिए सोचो मत, अभी पैर धोकर आसन लगा ध्यान में लग जाओ।' पीछे चलकर वह भी एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुणी हुई।

विशाखा जब लगभग बारह साल की हुई, तब अपने पिता-माता के साथ प्रसेनजित् के कोसल-राज्य के 'साकेत' नगर में जाकर बस गई। प्रसेनजित् ने मगधराज बिम्बिसार से अपने देश में बसने के लिए एक महासेठ की माँग की थी, जिसके अनुसार विचार करके बिम्बिसार ने मेण्डक के पुत्र 'धनंजय' को भेजा था। इसका भी उल्लेख पहले किया गया है<sup>१</sup>।

विशाखा जब युवती हुई, तब उसका विवाह 'आवस्ती' नगर के सेठ 'मिगार' के पुत्र 'पुण्यवद्धन' ( पुण्यवर्द्धन ) से हुआ। इसके विवाह में आवस्तीवासी कोसल-नरेश प्रसेनजित् स्वयं सम्मिलित हुआ था। वह वर-पक्ष की ओर से गया था। उसका स्वागत-सत्कार भी धनंजय ने शाही ढंग से ही किया था। बरात सप्ताहों जमी रह गई और स्वागत-सत्कार का शाही राग-रंग चलता ही रहा। अन्त में स्वयं प्रसेनजित् ने धनंजय को लिख भेजा कि हमलोगों का भरण-पोषण कबतक करोगे? कन्या की विदाई कब होगी, सूचित करो।

इसके उत्तर में विशाखा के पिता धनंजय ने लिख भेजा—'अब तो वर्षा ऋतु आ गई। चार मास तक कहीं जाना-आना कठिन है। दल-बल-सहित आपका सत्कार मेरे जिम्मे है। महाराज को मालूम कि जब हम विदाई करें, तभी श्रीमान् यहाँ से जायें।'।

तीन मास तक बरात साकेत में पड़ी रही। इतने दिनों के बाद भी विशाखा के लिए बननेवाले आभूषण बनकर तैयार नहीं हुए थे। एक दिन कारपरदाज ने आकर धनंजय से निवेदन किया कि—'स्वागत की सारी सामग्री पूर्ण है, किन्तु लकड़ी ( ईन्धन ) घट गई है। बरसात का समय है, पेड़ कटवाने पर भी सूखी लकड़ी नहीं मिलेगी।' इसपर धनंजय ने आदेश दिया कि हस्तिशाला, अश्वशाला, गोरशाला आदि उजाड़कर ईन्धन का काम लिया जाय।

१. देखिए—पृ० १०१

२. देखिए—पृ० ८३ और ९०

३. देखिए—पृ० ६०

आदेश का पालन किया गया : पर इस तरह भी पन्द्रह दिनों तक ही ईन्धन का काम चला । पुनः जब ईन्धन घट गया, तब उसने आदेश दिया कि 'कपड़े का गोदाम खोल दो । उससे साड़ियाँ निकालकर मोटी बत्तियाँ बनाओ और उन्हें तेल में भिगो कर जलाओ ।' पन्द्रह दिनों तक सारी बरात का भोजन साड़ियाँ जला-जलाकर पकता रहा । अब वर्षा बीत गई थी और विदाई का समय आ गया था । विदाई के दिन धनंजय ने नौ करोड़ मूल्य के महार्घ आभूषणों से विशाखा को सजावा । पुत्री के स्नान-चूर्ण लिए के सारे सामान दिये और उसके बाकी स्वर्ण के लिए ५४ सौ बैलगाड़ियों पर धन लदवाकर दिया । कन्या के साथ पाँच सौ दासियाँ, पाँच सौ उत्तम रथ और अन्य वस्तुएँ सौ-सौ की संख्या में देकर धनंजय ने बरात की विदाई की ।

विशाखा का इश्वर 'मिगार' जैनधर्मावलम्बी था और निम्गंठनाथपुत्र (महावीर तीर्थंकर) का पूर्ण भक्त था । जब विशाखा अपने इश्वर के गृह में गई, तब बौद्धसंघ को दान देने लगी । यह नित्य पाँच सौ बौद्ध भिक्षुओं को भोजन कराकर स्वयं भोजन करती थी । बौद्धधर्म में इसकी ऐसी भक्ति देखकर इसका इश्वर 'मिगार' इसे धर्म-विरोधिनी मानने लगा और सतत प्रवास करने लगा कि मेरी पत्नीहू निम्गंठों में भक्ति करे । पर उसकी सारी चेष्टा विफल हो गई । इधर 'विशाखा' भी चाहती थी कि मेरे ससुर निम्गंठों की भक्ति छोड़कर बौद्धों में भक्ति करें । अन्त में बहुत कशमकश के बाद 'विशाखा' की ही जीत हुई । इसने अपनी सेवा, सुरीलता, धर्मनिष्ठा, गुणों तथा तर्कों से अपने ससुर की निष्ठा बौद्धधर्म में स्थापित कर दी और धर्म-भावना में उससे अंध साक्षित हो गई, अतः बौद्धों ने इसका नाम 'मिगारमाता' रख दिया । उसी समय से 'विशाखा' के नाम के पहले 'मिगारमाता' विशेषण भी जुड़ने लगा ।

विशाखा ने आवस्ती में बौद्धसंघ के निवास के लिए 'पूर्वाराम' नामक विहार का निर्माण कराया था, जो 'मिगारमातुपासाद' के नाम से भी अभिहित होता था । यह विहार दो-मंजिला बना था और नौ मास में तैयार हुआ था । इसके निर्माण में उन्तीस करोड़ मुद्राएँ व्यय हुई थीं । इस घटना के समय भगवान् बुद्ध आवस्ती के ही विहार में थे ।

पूर्वाराम विहार के निर्माण की कथा 'धम्मपद अष्टकया' में मिलती है । उसके अनुसार एक दिन विशाखा बुद्ध के प्रवचन सुनने के लिए अपनी दासी 'सुप्रिया' के साथ विहार में गई । विहार के द्वार पर ही विशाखा ने अपने आभूषण शरीर से उतारकर दासी को दे दिये ; क्योंकि बुद्ध के पास वह कभी श्रृंगार करके या सज-धजकर नहीं जाती थी । बुद्ध के धर्मोपदेश सुनने के बाद वह दासी के साथ जब विहार से बाहर आई, तब उसने पहनने के लिए दासी से आभूषण मंगि । दासी धर्मोपदेश सुनने में ही आभूषणों को लेना भूल गई थी । दासी ने जब आभूषणों के वही छूट जाने की बात कही, तब विशाखा ने कहा—'जाओ, ले जाओ । पर यदि किसी बौद्ध भिक्षु ने उसे रख दिया हो, तो न लाना ।' सभी के चले जाने पर 'आनन्द' ने उन भूषणों को सुरक्षित रख दिया था । दासी जब आभूषण लेने आई, तब आनन्द ने कहा—'वहाँ रख दिये हैं, ले जाओ ।' पर दासी ने कहा—'आपने इन्हें

खू दिया है, मेरी मालकिन इन्हें अब नहीं पहन सकती।' आनन्द ने कहा—'हम लोग भी तो नहीं ले सकते, हमारे लिए तो धातु-ग्रहण वर्जित है।' आनन्द के कथन को जानने के बाद विशाखा ने उन्हें मँगा लिया। वे आभूषण नौ करोड़ मूल्य के थे और उनके बनाने की मजदूरी सौ हजार (एक लाख रुपये) थी। इन आभूषणों को कोई दूसरा खरीदनेवाला भी नहीं था। विशाखा ने इतने मूल्य देकर स्वयं उन्हें खरीदा और नौ करोड़ मूल्य की जमीन खरीदकर वहाँ पूर्वाराम बनवाया, जिसके बनवाने में और २० करोड़ लगे थे। इस बिहार के निचले हिस्से में ५०० और उपरी तल्ले पर भी ५०० कोठरियाँ बनी थीं। इसकी बनावट की देख-रेख का भार स्वयं महामीदगल्यायन ने लिया था।

विशाखा को भगवान् बुद्ध ने नारियों के कर्त्तव्य की स्वयं शिक्षा दी थी<sup>१</sup>। उन्होंने कुलवन्ती स्त्रियों के लिए आठ गुणों को ग्रहण करने का विधान बतलाया है। वे आठ सूत्र इस प्रकार हैं—

(१) कुलवधुओं को सहानुभूतिपूर्वक अपने सात-समुद्र की सेवा करनी चाहिए, उनसे सर्वदा मीठे वचन बोलने चाहिए और उनके प्रत्येक सुख का खयाल करना चाहिए।

(२) अपने पति द्वारा आदृत मित्र तथा साधु-संतों की उचित सेवा में मनोयोगपूर्वक तत्पर रहना चाहिए।

(३) घर में रखी हुई कपास के समुचित उपयोग करने की कला में स्त्रियों को पूर्ण दक्ष होना चाहिए।

(४) घर के दास-दासियों के जिम्मे लगाये गये कामों पर और उनके भोजन तथा वस्त्र की व्यवस्था पर पूरी निगरानी रखनी चाहिए।

(५) पति द्वारा घर में लाये धन की, समुचित उपयोग के बाद, रक्षा करनी चाहिए। उसे अपने लिए खर्च नहीं करना चाहिए।

(६) विशरण (बुद्ध, धर्म और संघ) को स्वीकृत कर उपासिका बनना चाहिए।

(७) पंचशील का पालन कड़ाई से करना चाहिए।

(८) कृपणता त्याग कर दान देने में मुक्तहस्त होना चाहिए।

विशाखा ने अत्यन्त वृद्धा होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया। उस समय इसकी आयु १२० साल की थी। बुढ़ापे में इसने भी पीन-मृत्यु का दुःख भोगा था।

४—जयन्ती का जन्म वैशाली में हुआ था और यह एक लिच्छवि-राजकुमारी थी। इसने स्वयं बुद्ध के उपदेशों को सुनकर धर्म का ग्रहण किया था और इसने बाद में अर्हत्-पद भी प्राप्त किया। यह बुद्ध-शासन के सप्ताहों<sup>२</sup> की पूर्ण साधिका थी।

१. अंगुत्तर निकाय—४, २६७

२. सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम और सम्यक् स्मृति—ये समाधि के सात भेद हैं। सम्यक् समाधि को मिलाकर वे ही अष्टांगिक मार्ग कहलाते हैं।—ले०



५—चित्रा राजगृह के अत्यन्त वैभवशाली गृहपति की कन्या थी। एक बार इसने भगवान् बुद्ध का उपदेश राजगृह नगर के द्वार पर सुना। तभी से इसकी अद्भुत बुद्ध-धर्म में हुई। बाद में इसने महाप्रजापति गौतमी से प्रव्रज्या ली। प्रव्रज्या लेने के बाद यह रोगिणी हो गई थी और शरीर जर्जर हो गया था। छद्दी का सहारा लेकर गृध्रकूट पर्वत पर साधना करने गई। पर्वत पर चढ़ते समय इसका जीवर गिर गया और भिक्षा-पात्र हाथ से छूटकर टूट गया। फिर भी हिम्मत न हारकर चढ़ती ही गई। गृध्रकूट पर जाकर इसने अवधूत-व्रत की साधना आरंभ की और अन्त में इसने ज्ञान प्राप्त कर अर्हत्-पद लाभ लिया।

६—मैत्रिका ने भी जबानी के बाद, वृद्धावस्था में, शक्तिहीन शरीर होने पर भी गृध्रकूट पर्वत पर जा, अवधूत-व्रत की साधना की। यह राजगृह के एक धनी ब्राह्मण की लड़की थी। यह बुद्ध-शासन की तीनों विद्याओं की पखिबता हुई। इसने भी अर्हत् प्राप्त किया था।

७—अभयमाता उज्जैन की प्रसिद्ध रूपवती धेया थी; पर बिम्बिसार की रखेली बनकर राजगृह में रह गई थी। इसका मूल नाम पद्मावती था। बिम्बिसार से इसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम 'अभय' था। अभय को बिम्बिसार बहुत प्यार करता था। बाद में अभय बौद्धमित्रु हो गया। अपने पुत्र के प्यार से तथा उसके उपदेशों के प्रभाव से पद्मावती भी मित्रुणी हो गई। अभय को अपनी माता के जीवन से अत्यन्त विरक्ति थी। वह बार-बार अपनी माँ से कहता—'माँ! इस अशुचि और दुर्गन्धमय रस से युक्त काया को, अपने पैरों से फेंको तक, जरा गौर से नू देख।' इन लौछन-भरी बातों से पद्मावती ने परम लज्जा का अनुभव किया और प्रव्रज्या ले ली। प्रव्रज्या के बाद संघ में इसे 'अभयमाता' नाम से संबोधित किया जाता था। अपनी कहानी इसने अपने ही मुख से कही है।

८—दन्तिका रहनेवाली तो श्रावस्ती की थी; पर राजगृह को बौद्धधर्म का तीर्थ मानती थी। इसलिए राजगृह में ही रह गई थी और बौद्धधर्म की कथा श्रवण कर अपने को तृप्त करती थी। एक दिन इसने एक गीलवान को देखा कि उसने महाकाय विशाल हाथी को अपने श्रृंखुश से बंध में करके बैठा दिया। दन्तिका ने उपमा बैठाई कि चिपय-वासना-जैसी दुर्जय वस्तु का भी दमन अवश्य किया जा सकता है। वह गृध्रकूट पर्वत पर चली गई और एकान्त में उसी हाथी का ध्यान करके उसने साधना आरंभ की। अन्त में उसने समाधि को बढ़ाकर अपनी चित्तवृत्तियों का दमन कर ही लिया।

९—शुक्ला 'घेरीगाया' की चौतीसवीं मित्रुणी है। इसने धर्मदिज्ञा से बौद्धशासन की शिक्षा ली थी। इसने राजगृह के एक उच्च कुल में जन्म लिया था। यह बौद्धसंघ में अत्यन्त ओजस्वी भाषण करनेवाली मित्रुणी थी। धर्मदिज्ञा की तरह ही धर्म के प्रचार में मुखियात थी। इसके भाषण को सुनकर श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते थे। लोगों की धारणा थी कि इसने

१. पूर्वजन्म का स्मरण-शान, काम-मृत्यु का ज्ञान और आलस्य के लय का ज्ञान—इनके शानती 'वे विष' कहलाते हैं।—ले०

एक बुद्ध-देवता को यश में करके वस्तुत्व-कला में ऐसी निपुणता प्राप्त की है। इसके मधुर और अजीब-पूर्ण भाषणों के सम्बन्ध में लिखा है कि वर्मा के निर्मल जल की तरह इसकी वाणी-रुमी जीवन-सुधा को छानीजन, प्यासे पथिकों की तरह, पान करते हैं।

१०—सोमा का जन्म राजगृह में हुआ था। यह मगधराज बिम्बिसार के ब्राह्मण पुरोहित की पुत्री थी। इसने तपस्या और ज्ञान के द्वारा सुखावस्था में ही अपनी सभी विषय-वासनाओं का दमन कर लिया था। एक दिन जब यह 'अन्धक वन' में अपनी समाधि में लीन थी, तभी पापी मार एक सुवक्त्र का वेश धारण कर इसके सामने प्रकट हुआ और कहने लगा—'अरी सुन्दरी! अपनी भरी जवानी में ही तू यह क्या कर रही है? जिस वस्तु को प्राप्त करने में बड़े-बड़े तपस्वी ऋषि कठिनाई का अनुभव करते हैं, उसे तेरी-जैसी दो अंगुल<sup>१</sup> का ज्ञान रखनेवाली नारी कैसे प्राप्त कर सकती है?' वासना को जला करके निर्विकार हुई सोमा ने कहा—'पापी मार! तू स्वयं मेरे द्वारा मार दिया गया है। जा, तू अब मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है।'।

११—भद्रा कापिलायनी का जन्म तो 'सागल' (स्यालकोट : पंजाब) नगर के कौशिक-गोत्रीय ब्राह्मण के कुल में हुआ था। किन्तु इसका विवाह मगध के प्रसिद्ध धनाढ्य ब्राह्मण पिप्पलीमाण्वक (महाकाश्यप) के साथ हुआ था। यह एक अत्यन्त सुन्दरी रमणी थी। इसके शरीर का गठन सुवर्ण-निर्मित नारी-मूर्ति की तरह था। इसका पिता भी सागल का प्रसिद्ध धनवान् व्यक्ति था। उसने अपनी पुत्री के साथ द्रहेज में हजारों गाड़ियों पर सामान लदवाकर 'पिप्पली माण्वक' के घर भेजा था<sup>२</sup>। विवाह के बाद भी दोनों पति-पत्नी (पिप्पली और भद्रा कापिलायनी) सहवास से रहित होकर धर्माचरण में दत्तचित्त थे। यद्यपि अपने पति महाकाश्यप के साथ ही इसने भी अपना माथा मुड़ाकर संन्यास लिया था, तथापि 'तिरियाराम विहार' में अपने पति से अलग रहकर, पाँच वर्षों तक यह साधना करती रही। बाद में महा प्रजापति गौतमी ने इसे प्रव्रजित करके संघ की शरण में ले लिया। महाकाश्यप की तरह इसने भी अर्हत्त्व प्राप्त किया था। यह पतिपरायणा ऐसी थी कि अर्हत्त्व प्राप्त कर लेने पर भी महाकाश्यप के गुणों का ही सर्वदा गान करती थी। यह कहती थी—'शान्त-समाधिनिष्ठ महाकाश्यप बुद्ध भगवान् के उत्तराधिकारी पुत्र हैं।' इसका वास्तविक नाम तो भद्रा ही था; पर महाकाश्यप का गोत्र 'कापिलायन' था, इसलिए यह भद्रा कापिलायनी कहलाती थी। यह बुद्ध-शासन की तीनों विद्याओं का साक्षात्कार कर लेनेवाली मृत्यु-विजयिनी भिक्षुणी थी।

१२—विमला वैशाली की एक वेश्या की पुत्री थी। इसने भी अपनी आयु की वयःसन्धि में वंशानुगत पेशे को अपनाया था। यह स्वयं कहती है कि—'मैं रूप-लावण्य, वैभव तथा यश की ख्वाति से मतवाली बनी रहती थी। रूप और जीवन के अहंकार में अपने

१. त्रिवर्षों मात पकाने समय अपनी दो अंगुलियों के सहारे ही पकेतंडुल का ज्ञान प्राप्त करती है। इसीलिए दो अंगुल के ज्ञान की कहावत उस समय प्रचलित थी।—ले०

२. देखिए—पृ० ७१

जीवन के प्रति मुझे बड़ा गर्व था। मैं यहद्वार पर बैठकर मन्द मुस्कान और सीदर्य की किरणों बिखेरा करती और युवकों को पँसाने के लिए व्याध की तरह अपने बिलास-विभ्रम का जाल फैलाया करती थी। किन्तु, आज मैंने अपने सभी पापों को बो-बोछकर फेंक दिया है और परम शान्ति में लीन हो गई हूँ। अब मुझे कोई विषय नहीं सता सकता।<sup>१</sup>

इसने अपनी भरी जवानी में ही धर्म-साधना की और अपने मन को लगाया था। एक दिन महामौद्गल्यायन वैशाली की गलियों में भिच्छाटन करते-करते विमला की गली से गुजरे। विमला की दृष्टि मौद्गल्यायन की परम शान्त-सौम्य आकृति पर मुग्ध हो गई। इसे अपनी जवानी और रूप पर तो पूरा अभिमान था ही, किसी को फँसा लेना इसके बाँधे हाथ का खेल भी था। महामौद्गल्यायन चर्चवृत्ति करके जब अपनी कुटिया में लौटे, तब वहाँ पूर्ण साज-सजा में विमला उपस्थित मिली। इसने अपनी मीठी-मीठी बातों तथा अनेक मनोमोहक हाव-भावों के द्वारा मौद्गल्यायन को जाल में पँसाना चाहा। किन्तु मौद्गल्यायन परम निर्वाणप्राप्त (जीवन्मुक्त), रागरहित और धिमलचित्त भिन्नु थे। उन्होंने विमला को इस कुत्सित व्यवहार के लिए इतना धिक्कारा कि इसका रूप और यौवन का सारा धमएड चूर-चूर हो गया। यह ग्लानि और लज्जा से मारे पानी-पानी हो गई। इसने वहीं संन्यास लेने के लिए ठाना; पर उस समय इसपर विश्वास कौन करता। यह संघ से अलग ही रहकर अकेले ही धर्म-साधना में लग गई। यह कड़ाई के साथ व्रज्या के सभी नियमों का पालन करती और समाधि को साधती। तब इसने सारी चित्तवृत्तियों को वश में कर लिया, तब वर्षों बाद जाकर संघ ने अपनी शरण में इसे लिया।

१३—सिंहा का घरियों में चालीसवाँ स्थान है। यह वैशाली मण्डल के सेनापति (सिंह सेनापति) की भगिनी-पुत्री थी। मामा के नाम पर ही इसका भी नाम सिंहा रखा गया था। सिंह सेनापति ने जैनधर्म छोड़कर जय बौद्धधर्म को अपनाया, तब इसने भी मामा की देखादेखी बौद्धधर्म को अपना लिया। आगे चलकर इसने वैराग्य धारण किया; पर सात वर्षों तक प्रयास करते रहने पर भी इसके अन्तर से वासना का अंकुर नहीं उखड़ सका। तब इसने भोग द्वारा तृष्णा का अन्त करना चाहा, पर तृष्णा का अन्त होना तो दूर रहा, तृष्णा दिन-दिन बढ़ती गई। बाद में अपने ऊपर इसे ग्लानि होने लगी। यह बड़े ही कामुक स्वभाव की नारी थी। अपने चंचल चित्त से यह इतनी उद्विग्न हो गई कि इसका जीवन भार हो गया। एक दिन इस जीवन से छुटकारा पाने के लिए इसने फाँसी की रस्सी लटका दी। किन्तु दुःख की महिमा अपार थी। इसने जैसे ही रस्सी में अपना गला डाला कि चित्त एकाग्र होकर ध्यानमग्न हो गया और इसे चित्त एकाग्र करने का मार्ग मिल गया। बाद में इसने इसी प्रकार साधना करते-करते ज्ञान प्राप्त कर लिया।

१४—भद्रा कुण्डलकेशा भिच्छुणी का जीवन बड़ा ही रोमांचकारी है। यह राजगृह के एक बड़े सेठ की दुलारी बेटी थी। इसका पिता राजगृह नगर का कोषाध्यक्ष था। बड़े वैभव और भोग-विलास के बीच भद्रा का लालन-पालन हुआ था। सुविधा और



शोधी के कारण यह एक राजपुरोहित के लम्पट पुत्र पर आसक हो गई थी। उस युवक का नाम 'सत्युक' था। एक दिन सत्युक किसी बड़ी चोरी के अपराध में पकड़ा गया और उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। सजा सुना देने के बाद अधिक उसे बध-स्थान की ओर लेकर चले। भद्रा को जब यह बात मालूम हुई, तब यह घर में अन्न-जल छोड़कर पड़ गई और इसने माता-पिता से स्पष्ट कह दिया कि जबतक पुरोहित-पुत्र मुझे नहीं मिलेगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगी—जान दे दूँगी।

सेठ ने अपनी लाइली पुत्री को बहुत समझाया; पर इसने एक भी न सुनी। लाचार होकर सेठ ने राजा को चोरी गये धन के बराबर मूल्य के अतिरिक्त भी धन देकर पुरोहित-पुत्र को छुड़ा लिया। इसके बाद सेठ ने सत्युक को घर लाकर विविध रत्न-आभूषणों और सुन्दर वस्त्रों से मंडित करके पुत्री को सत्युक के हवाले कर दिया। भद्रा अपने अभीष्टित वर को प्राप्त कर परम प्रसन्न हुई और खुशी-खुशी पति के रह गई। किन्तु 'सत्युक' अत्यन्त लम्पट और लोभी प्रकृति का युवक था। चरित्र नाम की वस्तु उसके पास थी ही नहीं। उसकी दृष्टि अपनी परम रूपवती युवती पत्नी पर नहीं थी, उसकी दृष्टि तो उसके मूल्यवान् आभूषणों पर लगी थी। एक दिन सत्युक ने भद्रा से कहा—“प्रिये ! मैं जिस दिन चोरी के अपराध में पकड़ा गया था और बध-स्थान की ओर लाया जा रहा था, उस दिन मैंने बध-स्थान के देवता की मनीषी की थी कि—‘हे बधस्थान के देवता ! यदि मैं आज किसी तरह छूट जाऊँगा, तो तुम्हें पूजा चढ़ाऊँगा।’ पूजा की सामग्री तैयार करके हमलोग चलें और देवता की पूजा चढ़ा आँवें।”

पतिपरायणा भद्रा ने बड़ी प्रसन्नता से पूजा की सामग्री जुटाई, और नाना आभूषणों तथा वस्त्रों से सज-धजकर, कुलवधू की तरह दास-दासियों को साथ लेकर देव-स्थान की ओर चल पड़ी। कुछ दूर जाने पर सत्युक ने सभी दास-दासियों को घर लौटा दिया और भद्रा के साथ उस निर्जन बध-स्थान की ओर चला। दास-दासियों के लौटा देने का मर्म उस मोली भद्रा ने नहीं समझा। बध-स्थान एक ऊँची पहाड़ी पर था। उस पहाड़ी के ऊँच शिखर पर पहुँचकर सत्युक ने कहा—“भद्रा ! अपने शरीर पर के एक वस्त्र को छोड़कर सारे आभूषणों और वस्त्रों को उतार दो।” सत्युक की घृणित आकृति देखकर भद्रा सहम गई। उसने कहा—“स्वामी, ऐसा क्यों ?” इस पर सत्युक ने कहा—“मुझे तेरे मूल्यवान् आभूषण चाहिए।” भद्रा ने गिड़गिड़ाकर कहा—“ये आभूषण क्या, मैं भी तो आपकी ही हूँ।” उसने डाँटते हुए कहा—“बुप रह, तेरी मुझे कोई आवश्यकता नहीं है, बुपचाप आभूषणों को उतार दे।” भद्रा ने अपनेको असहाय देखकर बड़े ही कम्पन स्वर में कहा—“स्वामी ! मैं मरने के लिए तैयार हूँ; पर मरने के पहले मेरी एक कामना पूरी कर दें, जिससे मरने के बाद मेरी आत्मा को शान्ति मिले। कृपया एक बार आप अपने कोमल और विशाल भुजपाशों से प्रेमपूर्वक गाढालिङ्गन कर लें। यही मेरी अन्तिम अभिलाषा है।” सत्युक इसकी इतनी-सी विनती मानने के लिए राजी हो गया। उसने भुजपाशों को पीलाकर ज्योंही आलिङ्गन करना चाहा

कि मद्रा ने उसे ऐसा मूटका दिया कि पहाड़ के शिखर से वह हजारों फीट नीचे आ गया और वहीं उसका काम तुरत समाप्त हो गया।

पति की हत्या करने के बाद खिन्नमना मद्रा ने पिता के घर जाना उचित नहीं समझा। पहले ही इसने गुरुजनों के विचार के विपरीत सत्युक से विवाह किया था। अब इसे सारे संसार के सुखों से विरक्ति हो गई। यह वहीं से चलकर निर्माठनाथपुत्र के धर्म में दीक्षित हो गई। जैनधर्म में दीक्षित हो जाने पर धर्म-नियम के अनुसार इसके माथे के केशों का लुंचन हुआ। बाद में जो इसके माथे पर केश जमे, वे सुंघराले कुण्डल की आकृतिवाले हुए। इसलिए यह कुंडलकेशा भी कही जाने लगी और इसका नाम 'मद्रा कुण्डलकेशा' पड़ा। जैनधर्म में रहते हुए इसने विभिन्न शास्त्रों का अभ्यास किया और अल्पकाल में ही वह एक प्रसिद्ध विदुषी हो गई। तर्क-शास्त्र में इसकी बुद्धि की गहरी पैठ थी। शास्त्रों में निष्णात होकर यह जिस आश्रम में जाती, वहाँ के बड़े-बड़े विद्वानों से शास्त्रार्थ करती तथा विजय प्राप्त कर यश अर्जित करती थी। जैनधर्म की इस प्रसिद्ध भिक्षुणी ने बड़े-बड़े धर्माचार्यों के विद्याभेद का दमन कर दिया था।

एक दिन एक आश्रम में, संयोग से, मद्रा का साक्षात्कार धर्म-सेनापति सारिपुत्र से हो गया। दोनों एक-दूसरे की विद्वत्ता की प्रसिद्धि से अवगत थे। जुटान अच्छी थी, दोनों में शास्त्रार्थ छिड़ गया। पहले मद्रा ने प्रश्नों की बौछार की; किन्तु सारिपुत्र की विद्वत्ता का क्या कहना था! मद्रा के मुख से प्रश्न के निकलते ही सारिपुत्र का उत्तर तुरत ही उसका प्रतीकार कर देता—मानो विपक्षी योद्धा की प्रत्यंचा से छूटे हुए बाणों को वहीं पर दूसरे पक्ष का योद्धा छिन्न-भिन्न कर देता था। अन्त में थककर मद्रा मौन हो गई। अब सारिपुत्र ने अपने ज्ञान-क्षीर से केवल एक तीर निकाला—'अच्छा मद्रा! बताओ तो, एक वस्तु क्या है?' मद्रा ने ऐसे प्रश्न पर कभी गौर नहीं किया था। यह पहले प्रहार से ही आहत हो गई। यह सारिपुत्र के पैरों पर गिर पड़ी और कहा—'मुझे अपनी शरण में ले लें प्रभो!' सारिपुत्र ने कहा—'मेरी शरण में क्या आओगी, मेरे शास्ता बुद्ध की शरण में जाओ।'।

एकदम पर्वत पर जाकर मद्रा ने भगवान् बुद्ध के दर्शन किये। वहीं इसने प्रव्रज्या ली, और भिक्षुणी-संघ में प्रविष्ट हुई। इसकी विद्वत्ता के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं था। यह बौद्धधर्म की महोपदेशिका हुई। इसने अंग, मगध, वज्जि, काशी और कोसल-प्रदेशों में धूम-धूमकर पचास वर्षों तक बौद्धधर्म का प्रचार किया था। यह परम मोक्ष की अधिकारिणी हुई थी।

१५—वासिष्ठी का जन्म वैशाली नगर के एक उच्च कुल में हुआ था। विवाहोपरान्त पति के साथ इसका जीवन बड़ा सुखपूर्ण था और जैन के साथ यह गृहस्थ-जीवन बिता रही थी। कुछ दिनों के बाद वासिष्ठी के इकलौते बेटे का देहान्त हो गया। अपने पुत्र के लिए रात-दिन शोकाकुल हो रोती-पीटती रहती थी। पति, सास, ससुर आदि परिजनों की लाख चेष्टा करने तथा धैर्य बँधाने पर भी इसका शोक कम नहीं हुआ। पुत्र के शोक-संतप से अन्त में यह बिलकुल पागल हो गई और उसी अवस्था में घर छोड़कर निकल भागी।

अपनी वित्तितावस्था में बाल बिखरावे, शरीर की सुधि भूलकर जहाँ-तहाँ घूमने लगी। कभी जंगलों में, कभी कूड़े-कचरो में, मरघटों में, खँड़हरो में, सड़कों पर, नदी के कछार आदि स्थानों में घूमती, दौड़ती, बैठ जाती और लेट जाती थी। इस तरह भूखे, प्यासे, नंगे, गंदे बदन तीन वर्षों तक मारी-मारी फिरती रही। एक दिन मिथिला में अपनी इसी अवस्था में जा रही थी कि वहाँ बुद्ध भगवान् से इसकी भेंट हुई। बुद्ध की सौम्य आकृति तथा शान्त मुखमंडल को देखकर यह पगली चित्रवत् स्तब्ध हो गई और बुद्ध के मुखमंडल को एकटक निहारने लगी। 'आमन्द' के साथ भगवान् बुद्ध भी खड़े हो गये और पगली की आँखों में अपनी आँखें डालकर ताकते रहे। थोड़ी देर बाद ही यह स्वस्थचित्त हो गई और इसका पागलपन दूर हो गया। इसने बुद्ध के पैरों पर अपना माथा रख दिया। भगवान् बुद्ध ने इसे बैठने को कहा और बैठने पर वहाँ उन्होंने इसे उपदेश किया। उनके विमल उपदेशों से इसका सारा शोक जाता रहा और यह धर्म-साधिका बन गई। पीछे प्रव्रजित होकर संघ में सम्मिलित हुई और बाद में बुद्ध की कृपा से परम ज्ञान की अधिकारिणी हुई।

१६—जेमा मगधसम्राट् बिम्बिसार की छोटी और सबसे प्यारी पत्नी थी। जेमा का सौन्दर्य आग में तपाये स्वर्ण-जैसा भास्वर था। यह सागल (स्वालकोट) के राजा की कन्या थी। बिम्बिसार के अमित प्यार ने इसके रूप के अभिमान को और भी ऊँचा चढ़ा दिया था। यह शरीर के सौन्दर्य को नारी के लिए सबसे बड़ा सौभाग्य समझती थी। इसलिए अपने रूप को निहारकर अपने ऊपर ईश्वर की बड़ी कृपा मानती थी। जब यह भिक्षुणी हो गई, तब एक बार कोसलराज प्रसेनजित् ने इससे ज्ञान की चर्चा की थी।

जेमा के भिक्षुणी होने के पहले एक बार भगवान् बुद्ध राजग्रह में आकर बिम्बिसार के उद्यान में ही ठहरे। बिम्बिसार का सारा परिवार बुद्ध के दर्शन के लिए गया; किन्तु जेमा नहीं गई। यह समझती थी कि अमणु गौतम शारीरिक सौन्दर्य तथा रूप-शृंगार को तुच्छ दृष्टि से देखते हैं, जिसे मैं ईश्वर का वरदान मानती हूँ। अतः, ऐसे व्यक्ति के पास मुझे नहीं जाना चाहिए। बिम्बिसार ने लाख बुद्ध की महिमा का बखान किया; पर यह उनके दर्शन के लिए नहीं गई। किन्तु बिम्बिसार का अमित प्यार इस पर था, वह चाहता था कि मेरी सबसे प्यारी पत्नी भगवान् बुद्ध के दर्शन के सौभाग्य से वंचित न रहने पावे। वह राजा था, राजनीति और बुद्धि में पटु था। उस दिन तो उसने चुप्री साध ली; पर दो-चार दिनों बाद उसने जेमा से कहा—'आज हमलोग उद्यान-बिहार के लिए चलें।' जेमा राजी हो गई। उद्यान-बिहार के बहाने राजा ने जेमा को भगवान् बुद्ध के सामने प्रस्तुत कर दिया। बिम्बिसार ने भगवान् बुद्ध का अभिवादन किया, अतः जेमा को भी अभिवादन करना पड़ा। दोनों एक ओर बैठ गये। बुद्ध ने अपने श्रद्धाबल से जेमा के मन की बात जान ली। उसी समय भगवान् बुद्ध ने अपने योगबल से ऐसी दो अप्सराओं को प्रकट किया, जिनके रूप-सौन्दर्य के आगे जेमा का रूप अत्यन्त नगण्य था। अप्सराओं के अमित सौंदर्य को देखकर जेमा की आँखें चौंधिया गईं और उसे अपने सौंदर्य के ऊपर स्थान होने लगी।



वे दोनों अप्सराएँ सेविका बनकर बुद्ध के बायें-दायें खड़ी होकर पंखे भलाने लगीं। थोड़ी देर बाद सेमा ने देखा कि विश्वमोहिनी दोनों अप्सराओं की जबानी ढल गई और थोड़ी देर बाद उसने यह भी देखा कि वे दोनों अब कूटी हो गई हैं। उनके मुख पीपले पीपले लगे हैं, उनके शरीर के चमड़े सिकुड़कर झूलने लगे हैं। उनके मांश के लम्बे-लम्बे काले केश, एक-एक कर गिर गये और टूँठ होकर झाड़ू बन गये हैं। उनके शरीर की शक्ति इतनी क्षीण हो गई कि उनके हाथों से पंखे छूटकर जमीन पर गिर गये। सुचती और परम-सुन्दरी अप्सराओं की ऐसी हालत देखकर सेमा काँपने लगी और उसी क्षण इसका सौंदर्य-मय जाता रहा। वह सोचने लगी—‘हाय ! जिस शारीरिक सौंदर्य पर मुझे इतना गर्व था, उसकी यही परिणति है !’

इस समय भगवान् बुद्ध को अच्छा अवसर मिला। उन्होंने सेमा के हृदय की भावना जानकर अपना प्रवचन आरंभ कर दिया। उनके विमल उपदेशों ने सेमा की आँखें खुल गईं और धर्म के प्रति इसकी आस्था पूरी बन गई। कुछ ही दिनों बाद उसने प्रवच्यता ले ली। किन्तु इसके ध्वजपन तथा जवानी का संस्कार पूर्णतया भोग-विलास का था, अतः इसका मन अश्रुत चंचल था। इसे अपनी वासनाओं को दमन करने में यहाँ भारी पराक्रम करना पड़ा। परन्तु धर्म-साधना में इसकी निष्ठा अटूट थी और इसने अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध करके वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ही ली। बाद में यह प्रतिष्ठ भिक्षुणी हो गई।

१७—विजया का भी जन्म राजग्रह में हुआ था। वह एक उच्चकुल तथा वैभवसम्पन्न नागरिक की पुत्री थी। सुन्दरी, गुणवती और समवयस्क होने के कारण यह बिम्बिसार की पत्नी सेमा की सखी थी। इसने भी अपनी सखी सेमा का अनुगमन किया, और भिक्षुणी हो गई। वैभव-विलासपूर्ण जीवन होने के कारण इसका भी मन बहुत चंचल था। धर्म-साधना की अवस्था में ही यह बिहार से निकलकर भ्रमर जाती थी। ऐसी घटना एक ही बार नहीं; प्रत्युत तीन-चार बार घटी। अपने ऐसे मन को यश में करने के लिए और अपनी आन्तरिक दुर्बलता के विषय में इसने ‘सेमा’ से कहा और कल्याण का मार्ग पूछा। सेमा ने इसे घाट, ज्ञानतन, चार आर्य-सत्य, इन्द्रिय-बल, सात बोधगंग और अष्टांगिक मार्ग का विशद उपदेश किया तथा दृढतापूर्वक इन सब पर आचरण करने को कहा। इसने सेमा के सत्संग से तथा उसके द्वारा बताये गये मार्ग का दृढतापूर्वक अवलम्बन करके अपने चंचल मन को यश में कर लिया। बाद, इसके अन्तर का सारा अज्ञानांधकार दूर हो गया और इसने परम ज्ञान प्राप्त कर लिया।

१८—चाला, उपचाला और शिशूपचाला ये तीनों सभी बहनें थीं। इनका जन्म मगध के ‘नालक’ ग्राम में हुआ था। ये ब्राह्मण-पुत्रियाँ थीं। इनका सबसे उल्लेखनीय परिचय यह है कि ये धर्मसेनापति ‘मारिपुत्र’ की बहनें थीं। तीनों मारिपुत्र से छोटी थीं। इनमें बड़ी का नाम चाला, मँमली का उपचाला और छोटी का शिशूपचाला था। मारिपुत्र के द्वारा बौद्धधर्म ग्रहण कर लेने पर इन्होंने सोचा कि जिस धर्म को मेरे भाई ने ग्रहण किया है, वह धर्म निश्चय ही महान् होगा। अतः, इन्होंने भी भाई का अनुगमन किया।

चाला और उपचाला तो विवाहिता थी, पर छोटी शिराएचाला वीक्षित होने के समय कुमारी ही थी। तीनों का जीवन-वृत्तान्त समान ही है। इनकी आन्तरिक प्रेरणा की सच्चाई तथा संसार-त्याग की भावना की मात्रा अल्प थी, अतः परमज्ञान प्राप्त करने में बहुत समय लगा और इन्हें चित्तवृत्तियों का निरोध करने में काफी संघर्ष करना पड़ा। फिर भी इनका मिश्रचय दृढ़ था, और इन्होंने अकुराल धर्मों पर अन्त में विजय प्राप्त कर ही ली।

१६—रोहिणी वैशाली-निवासी अत्यन्त धनाढ्य ब्राह्मण की कन्या थी। एक दिन इसे वैशाली में भगवान् बुद्ध के धर्म का उपदेश सुनने का मौका मिला। उसी समय से इसके मन में धर्म के प्रति अद्भुत जागरित हुई। इसके बाद तो इसकी अद्भुत ऐसी उन्नत हुई कि रात-दिन बौद्ध भिक्षुओं का ही गुणगान करती रहती थी। यहाँ तक कि रात में गाढ़ी निद्रा में सोये अपने पिता को जगा देती और कहने लगती—‘पिताजी, इन बौद्ध भ्रमणों को देखो तो।’ इतना ही नहीं, वह स्वनामधेयता में बड़बड़ाने लगती—‘अहो ! ये भ्रमण !’ अपने पिता से हठपूर्वक बौद्ध भ्रमण-संघ को प्रचुर दान विलवाया करती थी। अपनी पुत्री की ऐसी हालत देखकर इसका पिता, जो ब्राह्मण-धर्म का माननेवाला था, सदा चिन्तित रहता था। एक दिन बाप ने बेटी को बड़े प्यार से समीप बैठकर कहा—‘रोहिणी, क्या तू भ्रमण होना चाहती है ? अरी, वे बौद्ध भिक्षु तो जरा भी भ्रम नहीं करते। ये आलसी, कर्मरहित और लोभी हैं, दूसरे के दिये अन्न पर जीनेवाले हैं। स्वादिष्ट भोजन के ही चक्कर में रात-दिन रहते हैं। ऐसे लालची और अकर्मण्य भ्रमणों के फेर में तू कैसे पड़ गई ?’

रोहिणी ने अपने पिता को उत्तर दिया—‘नहीं पिता जी ! ये भ्रमण भ्रमशील हैं, आलसी नहीं ! वे अप्रमादी हैं, साथ ही उच्चकर्मी और तृष्णाहीन हैं। किसी के साथ भी इनका न राग है, न द्वेष ही। ऐसे भ्रमणों की आराधना मैं क्यों न करूँ ?’ इसके अतिरिक्त भी इसने बौद्ध भ्रमणों के गुणों का बखान किया। बाप अपनी बेटी की निष्ठापूर्वक बुद्ध से भक्ति और सुमार्ग पर ले जानेवाली भावना से ऐसा प्रभावित हुआ कि इसके साथ ही उसने भी बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया।

२०—चापा का पिता वहेलियों का सरदार था और चंकहार प्रदेश (वर्तमान शाहाबाद) का रहनेवाला था। ‘उपक’ नामक आजीवक की कथा पहले दी गई है<sup>१</sup>, जो भगवान् बुद्ध से उस समय मिला था, जब वे धर्म-चक्र-प्रवर्तन करने बोधगया से सारनाथ जा रहे थे। उपक, बुद्ध से मिलने के बाद, चंकहार में गया और वहेलियों के सरदार के द्वार पर पहुँचा। सरदार शिकार में कहीं गया था। उसकी लड़की ‘चापा’ ने ही अभ्यागत उपक का स्वागत-सत्कार किया। चापा का रूप देखकर उपक मोहित हो गया और उसने वहाँ प्रतिज्ञा कर ली कि वयतक इससे मेरा ब्याह नहीं होगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा। ब्याह-सरदार जब आया, सब उसे सारी बात मालूम हुई। उसने उपक संन्यासी को बहुत समझाया कि साधु बाबा, आप तो संसारत्यागी हैं, इस शादी-ब्याह की कसबत में क्यों

संस्तते हैं। पर उपक ने कुछ नहीं सुना। वह अपने हठ पर अड़ा रहा। तब व्याध-सरदार ने कहा—‘तुम तो कुछ शिल्प जानते नहीं, गृहस्थी कैसे चलाओगे, ऐसे भ्रमहीन को मैं अपनी पुत्री कैसे दे सकता हूँ?’ इसपर उपक ने कहा—‘जिन पशु-पक्षियों को तुम मारकर खाते हो, उन्हें मैं बाजार में ले जाकर बेच लाऊँगा, हमलोंगों की डाट से गृहस्थी चलेगी।’ अन्त में लाचार होकर व्याध-सरदार ने इसे अपनी कन्या दे दी।

बाद में चापा के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम ‘सुमद्र’ पड़ा। चापा को यह बराबर खलता था कि मेरा पति धर्म से भ्रष्ट होकर मांस बेचने का काम करता है। वह अपने मर्ने पुत्र को रोने से जब चुप कराती, तब ताना मारकर कहती—‘संन्यासी के पुत्र! चुप हो जा, व्याध के पुत्र! चुप हो जा।’ अपनी पत्नी के द्वारा बार-बार ऐसा सुनकर उपक के मन में बड़ी खिन्नी हुई। उसने सोचा—‘बुद्ध से मेरी भेंट हुई थी, वे मेरे पुराने परिचित हैं। वे सचमुच अब बड़े सिद्ध पुरुष हो गये हैं। मैं उन्हीं की शरण में जाऊँगा।’ उसने अपनी पत्नी से अपना निश्चय कहा। पीछे तो चापा ने बहुत प्रयास किया कि मेरा पति भिक्षु न हो; पर उसकी एक न सुनने पर चापा ने भी निश्चय कर लिया कि मैं भी पति का अनुगमन करूँगी और भिक्षुणी हो जाऊँगी। उपक निरंजना नदी के तीर पर भगवान् बुद्ध से (दूसरे मतानुसार श्रावस्ती में) जाकर मिला और बौद्ध भिक्षु हो गया। बुद्ध ने अपने परिचित संन्यासी को देखकर कहा—‘इतने दिन तक कहाँ थे?’ और बड़े प्यार से उसे उन्होंने प्रमजित किया। पति द्वारा बौद्धधर्म ग्रहण कर लेने पर चापा भी अपने पुत्र को उसकी दादी के हवाले करके धर्मग्रहण करने चली गई और भिक्षुणी हो गई। यह भी एक प्रसिद्ध भिक्षुणी हुई, जिसकी गाथा ‘थेरी-गाथा’ में संगृहीत है।

२१—कंजंगला ‘कंजंगल’ (संताल परगना)—प्रदेश की रहनेवाली भिक्षुणी थी। जब भगवान् बुद्ध के धर्म का विस्तार हुआ, तब इसकी अवस्था विलकुल दल गई थी। यह बौद्धधर्म की पण्डिता थी। यह विधिवत् बौद्ध विद्यार्थियों को धर्म का उपदेश करती थी। एक बार इसने बुद्ध के एकधर्म से लेकर दस धर्मों तक की विशद व्याख्या-सहित शिक्षा देकर उसके तप्य की जानकारी के लिए उन विद्यार्थियों को बुद्ध के पास भेजा था। उस समय बुद्ध कंजंगल में ही विहार करते थे। बुद्ध ने उसकी पंडिताई को सराहा था।

२२—शुभा राजगृह-निवासी एक सुवर्णकार भेष्ठी की कन्या थी। शरीर की सुन्दरता के कारण ही इसका नाम शुभा पड़ा था। देश के बड़े-से-बड़े भेष्ठी इसके रूप पर मुग्ध होकर इसे अपनी पत्नी बनाना चाहते थे। पर होनेवाली बात को कोई कैसे मिटा सकता है। एक दिन नगर की अन्य स्त्रियों के साथ शुभा भगवान् बुद्ध का उपदेश सुनने राजगृह के एक विहार में गई। उस दिन के बुद्धोपदेश का इस पर अत्यंत गहरा असर पड़ा और नियमित रूप से उसके बाद यह उपदेश सुनने लगी। कई दिनों के धर्म-श्रवण से इसका चित्त ‘स्रोतापन्नफल’ में प्रतिष्ठित हो गया। उसके बाद यह महाप्रजापति गौतमी के पास चली गई



और वहीं उसके द्वारा बताये गये उद्योगों के अनुसार धर्म-साधना करने लगी। बाद, इसने विधिवत् गौतमी से प्रव्रज्या ले ली। जब यह घर से निकलकर गौतमी के पास गई, तब इसके परिवारवाले और जाति-विरादरी के और लोग भी इसे समझाने तथा घर लौटा लाने के लिए भिक्षुणी-संघ में गये। किन्तु, इसने अपने जाति-विरादरीवालों को ऐसा फटकारा कि वे उलटे पाँव लौट आये। संघ में अन्य कई भिक्षुणियों से इसका धर्म-ज्ञान बहुत ऊँचा था। यह जहाँ भी उपदेश करती थी, सांसारिक भोगों और सुखों की धजियाँ उड़ाकर छोड़ देती थी।

२३—शुभा (द्वितीय) का भी जन्म राजग्रह नगर में ही हुआ था; पर यह एक धनाढ्य ब्राह्मण की कन्या थी। इसका भी 'शुभा' नाम इसके भास्वर रूप के चलते ही पड़ा था। इसका भी मन उपदेशों को सुनते-सुनते धर्म-भावना की ओर मुका था। इसने भी गौतमी से प्रव्रज्या ली। इसी के साथ एक लम्पट युवक ने बलात्कार करना चाहा था, जिसके हाथ पर इसने अपनी आँगुलियाँ ही निकालकर रख दी थी<sup>१</sup>। वह अंधी होकर लहलुहान मुखमंडल लिये बुद्ध के सामने गई। कथुणा-वत्सल बुद्ध ने अपने पागवल से इसकी आँखों को ठीक करके इसकी आकृति पूर्ववत् कर दी थी। बुद्ध ने धर्म से इसकी ऐसी निष्ठा जानकर ज्ञान में अधिक उन्नति करने के लिए एक विशेष ध्यान का इसे उपदेश किया था। इस ध्यान का विशिष्ट आचरण करके इसने योग और ज्ञान-भारों में परम उन्नति की थी।

२४—सच्चा, लोला, अववादाका और पाटाचारा चारों सगी बहनें थीं। इनके भाई का नाम सच्च था। ये वैशाली की रहनेवाली थीं। इनके सम्बन्ध में पहले ही कहा गया है<sup>२</sup>। 'विनय' जाननेवाली भिक्षुणियों में पाटाचारा का स्थान मुकुटमणि-सा था।

२५—अम्बपाली की कथा बहुत प्रसिद्ध है और इस पुस्तक में भी पहले ही इसके सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा गया है<sup>३</sup>। इसने भी अपनी डलती आयु में बौद्धधर्म स्वीकार किया था। बुद्ध के जीवन में बिहार-प्रदेश की यह शायद अन्तिम नारी थी, जिसने भिक्षुणी का जीवन अपनाया था। इसका जन्म तो एक उत्कृष्ट कुल में हुआ था, पर अवैध रूप से जन्म लेने के कारण इसकी माता ने एक आम के बागीचे में इसे पैक दिया था। यह माली के द्वारा पाली गई और आम्र-वन में मिली, इसलिए इसका नाम अम्बपाली पड़ा था। जब यह युवती हुई, तब इसे पत्नी बनाने के लिए लिच्छवि-कुमारों में होड़ लगी थी। अन्त में इसे नगर-वधू का पेशा अपनाना पड़ा। वज्रिज-संघ को परस्पर लड़कर नष्ट हो जाने से बचाये रखने के लिए इसने 'नगर-वधू' का धर्म स्वीकार किया था। वैशाली नगर को जिन वस्तुओं के कारण गर्व था, उनमें एक अम्बपाली वेश्या भी थी। अम्बपाली के ऊपर मगध-सम्राट् बिम्बिसार भी आसक्त था। मगवान् बुद्ध अन्तिम बार जब वैशाली गये, तब इसी के बागीचे में ठहरे और अपने संघ के साथ इसके घर जाकर भोजन किया था। उसके बाद ही इसने बौद्धधर्म स्वीकार किया।

१. देखिए इस पुस्तक का पृष्ठ—१३६

२. देखिए इस पुस्तक के पृष्ठ—६६, ६७ और ८८

३. देखिए पृष्ठ—१३१

अम्बपाली के एक पुत्र भी था, जिसका नाम 'विमल कीण्डिन्य' था, वह अम्बपाली से पहले ही बौद्धधर्म स्वीकार कर भिजु हो गया था। लड़के के प्रेम के कारण ही बौद्धधर्म में इसकी लड़ा लगी थी। 'बेरीगाथा' में जो गाथा इसके उद्गार के रूप में ग्रथित है, विश्व की गेय गाथाओं में काव्य की दृष्टि से उसका स्थान उच्च है। शान्तरस का परिपाक इस गाथा में जैसा है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

## चौथा परिच्छेद

### बुद्ध के पश्चात् और मौयों के पूर्व

भगवान् बुद्ध का परिनिर्वाण जब 'कुसीनारा' के पास हुआ, तब उस समय और उस जगह उनके प्रधान शिष्य 'महाकाश्यप' नहीं थे। बुद्ध के परिनिर्वाण का समाचार सुनकर उनके शव के दर्शन के लिए महाकाश्यप चले। अपने पाँच सौ भिक्षुओं के संघ के साथ जब वे कुसीनारा के नजदीक पहुँचे, तब बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुए सात दिन<sup>१</sup> बीत गये थे। इससे सिद्ध होता है कि महाकाश्यप को मगध में निर्वाण का समाचार मिला और वे मगध से कुसीनारा गये। उस दिन कुसीनारा के मल्ल भगवान् के शव का दाह-संस्कार करनेवाले थे; किन्तु भिक्षु अनिरुद्ध ने (जो बुद्ध का स्वजातीय और शाक्यों के राजा 'महानाम' का छोटा भाई था) कहा—“वासिष्ठो! पाँच सौ भिक्षुओं के संघ के साथ<sup>२</sup> आचार्य महाकाश्यप कुसीनारा के बीच रास्ते में आ रहे हैं। जबतक महाकाश्यप भगवान् के चरणों की वन्दना न कर लेंगे, तबतक भगवान् की चिता नहीं जलेगी।” और, हुआ भी ऐसा ही।

उपयुक्त बातें बतलाती हैं कि बुद्ध-संघ में विहार-प्रदेशवासी महाकाश्यप भिक्षु का कितना बड़ा प्रभाव था! इतना ही नहीं, जिस मगध-सम्राट् अजातशत्रु के प्रति एक दिन भगवान् बुद्ध ने कहा था—“यह पितृहन्ता है, इसका चित्त कलुषित है। उपदेश की बातों की ग्रहण नहीं कर सकता<sup>३</sup>”; उसी अजातशत्रु ने महाकाश्यप के ही प्रभाव से भगवान् बुद्ध की अस्थियों को प्राप्त करने का दावा किया। वे अस्थियाँ बड़ी धूम-धाम से उत्सव-मान कराते सात वर्ष, सात महीने और सात दिनों में कुसीनारा से राजगृह लाई गईं। उनपर इसी अजातशत्रु ने राजगृह में सर्वश्रेष्ठ चैत्य का निर्माण कराया<sup>४</sup>। उस चैत्य-निर्माण का वर्णन जैसा 'अष्टकथा' में मिलता है, उससे पता चलता है कि अजातशत्रु ने उस कार्य में करोड़ों रुपये व्यय किये थे। 'अष्टकथा' में यद्यपि चैत्य-निर्माण की कथा अतिशयोक्ति से भरी है, तथापि वह मनोरंजक है एवं अजातशत्रु को बुद्ध-भक्ति विचारणीय है। इसने जमीन को ८० हाथ गहरा खुदवाया और उसमें तमाम लोहे की चादरें बिछवा दी। चैत्य के बराबर का तबि का गृह बनवाकर उसमें धातुओं को रखने के लिए इसने आठ-आठ

१. बुद्धचर्या—पृ० ५४३

२. चुल्लवग्ग—११

३. दीप निकाय—१, १, २

४. बुद्धचर्या—पृ० ५४३



हरिचन्दन आदि की पिटारियाँ तैयार कराईं। भगवान् की वातु को हरिचन्दन की पिटारी में रखवाया। उस पिटारी को दूसरी पिटारी में और इस तरह 'अजातशत्रु' में एक के बाद दूसरी को आठ पिटारियों में रखवाकर बन्द करवाया। इसके बाद हाथी-दाँत की बनी आठ पिटारियों में एक के बाद दूसरी को बन्द करवाया। फिर अन्तिम हाथी-दाँत की पिटारी को सर्वरत्नमयी आठ पिटारियों में एक के बाद दूसरी पिटारी को रखवाकर बन्द करवाया। इसके बाद पुनः सर्वरत्नमयी पिटारी को आठ सुवर्ण की पिटारियों में उसी तरह रखवाता गया। फिर उस सुवर्ण-पिटारी को आठ चाँदी की बनी पिटारियों में पूर्ववत् ढंग से एक-के-बाद दूसरी में बन्द करवाया। इसी तरह मणिषो की बनी आठ पिटारियों में, फिर पञ्चराग मणि की बनी आठ, फिर तारगल्ल की आठ, पुनः स्फटिक मणि की आठ पिटारियों में एक के बाद दूसरी पिटारी को बन्द करवाया। इसके बाद सर्वरत्न, सुवर्ण, रजत और ताँबे का यह बनवाकर मिट्टी और बालू से ढँकवाया। ऊपर चारों ओर मूर्तियों को प्रतिष्ठित कराया। उसपर दीप जलाये गये और विभिन्न रंग की ध्वजाएँ फहराई गईं। यह सब अजातशत्रु ने महाकाश्यप की प्रेरणा से ही राजगृह में किया।

बिहार-प्रदेशवासी महाकाश्यप ने ही राजगृह में पाँच सौ भिक्षुओं की प्रथम संगीति कराई थी, जिसमें आये हुए भिक्षुओं के भोजन तथा निवास का प्रबन्ध अजातशत्रु ने कराया था। यह भी इसने महाकाश्यप के ही प्रभाव से किया। भगवान् बुद्ध के विरुद्ध विद्रोह करनेवाले देवदत्त का पक्षपाती अजातशत्रु जिस भगवत्वासी महाकाश्यप की प्रेरणा से इतना बड़ा बुद्ध-भक्त हो गया, उस महाकाश्यप भिक्षु की महत्ता के सम्बन्ध में विशेष और क्या कहना है !

महाकाश्यप अत्यन्त दूरदर्शी श्रुति थे। उन्हें भगवान् बुद्ध के अन्तिम शिष्य सुभद्र<sup>१</sup> नामक ब्राह्मण की वह बात खटक गई थी, जिसमें उसने कहा था कि 'भिक्षुओ ! शोक मत करो। शास्ता मर गया, तो अच्छा हुआ। अब हम जैसा चाहेंगे, करेंगे। जो नहीं चाहेंगे, नहीं करेंगे।' महाकाश्यप ने समझ लिया कि भगवान् की मृत्यु के बाद उनके उपदेश-वचनों को तोड़ा-मरोड़ा जायगा और उनके वचनों के नाम पर अनेक नये और मिथ्या वचन बुद्ध-वचन कहकर प्रचारित किये जायेंगे। इसलिए उन्होंने बौद्धधर्म के चुने हुए ५०० भिक्षुओं को राजगृह में बुलाया। इन पाँच सौ भिक्षुओं में बुद्ध के अत्यन्त प्रिय शिष्य आनन्द भी थे। भगवान् बुद्ध ने आनन्द की भक्ति-भावना से प्रसन्न होकर पचीस वर्षों तक अपने साथ रखा था तथा आनन्द मन-कर्म-वचन से बुद्ध की सेवा में रात-दिन तत्पर रहते थे। वे भगवान् बुद्ध के उपस्थापक ( निजी सचिव ) का काम सम्भालते थे। भगवान् बुद्ध पर भक्त आनन्द का भी बहुत बड़ा प्रभाव था। इन्हीं के कहने से स्त्रियों को बुद्ध ने संघ में स्थान दिया था, जिसे बुद्ध स्वयं नहीं चाहते थे। फिर भी,

१. उपर्युक्त वाक्य कहनेवाला सुभद्र भिक्षु, बुद्ध का अन्तिम शिष्य सुभद्र नहीं था। वह कोई दूसरा सुभद्र था। — 'पालि साहित्य का इतिहास' : १०-५७ की टि०।

आनन्द ने अर्हत्त्व की प्राप्ति नहीं की थी। ज्ञात होता है कि आनन्द को अर्हत्त्व-पद प्राप्त करने में श्रद्धा नहीं थी। उन्हें अपनी ज्ञान-गरिमा का बहुत बड़ा अभिमान था। पर इस संगीति के अवसर पर महाकाश्यप के प्रभाव के सामने आनन्द की एक न चली और धर्म के इस कट्टर अनुयायी ने उस बैठक में सम्मिलित होने से आनन्द को रोक दिया। महाकाश्यप ने आदेश दिया कि जबतक आनन्द अर्हत्त्व-पद प्राप्त नहीं कर लेंगे, संगीति में सम्मिलित नहीं हो सकेंगे। हाँ, उनके लिए एक स्थान रिक्त रखा जायगा। इतना ही नहीं, उन्होंने आनन्द पर कई दोष भी लगाये। जैसे—'आनन्द' ने भगवान् बुद्ध की बाध्य किया कि—

(१) स्त्रियों को संघ में लिया जाय, जिसके चलते संघ कमजोर हुआ।

(२) इन्होंने भगवान् से परिनिर्वाण के समय यह नहीं पूछा कि कौन-से क्षुद्र नियम नहीं माने जायेंगे।

(३) आनन्द ने निर्वाण प्राप्त करते समय भगवान् से नहीं कहा कि संसार के कल्याण के लिए आप केवल और एक दिन के लिए रुक जायें।

(४) आनन्द ने भगवान् की बर्षा-साटी को पैरों से दबाकर सिलाई की।

(५) आनन्द ने निर्वाण के समय भगवान् के गुप्तांग को स्त्रियों को दिखाकर उसकी वन्दना कराई और उन स्त्रियों के आँसुओं से भगवान् का शरीर तर-बतर हो गया आदि।

इन आरोपों को आनन्द ने दोष तो नहीं माना; पर संघ के सामने प्रायश्चित्त के रूप में क्षमा-वाचना की<sup>१</sup>। इसी तरह संगीति में बैठने के लिए उन्हें अर्हत्त्व-पद प्राप्त करना पड़ा। आनन्द-जैसे ज्ञानी के लिए अर्हत्त्व-पद प्राप्त करना कोई बड़ी चीज नहीं थी और इन्होंने उसी रात को तपस्या कर अर्हत्त्व-पद प्राप्त कर लिया। दूसरे दिन अर्हत्त्व प्राप्त कर जब ये संगीति में बैठने के लिए गये और द्वार खुलवाने के लिए महाकाश्यप के पास प्रार्थना-समाचार भिजवाया, तब महाकाश्यप ने कहा—'अर्हत्त्व-पद प्राप्त करनेवाले के लिए द्वार खुलवाने की क्या आवश्यकता है? कहो कि आनन्द विना द्वार खुलवाये चले आये।' आनन्द की यह भी परीक्षा ही थी। इसके बाद आनन्द ज्योतिर्माग से ही समा में प्रवेश कर अपने रिक्त स्थान पर जाकर बैठ गये<sup>२</sup>। यह 'संगीति' भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के चार मास बाद राजश्व की सप्तपणी गुहा में हुई थी।

आनन्द के सम्मिलित होने से संगीति की संख्या पूर्ण हो गई। जब संगीति पूर्ण हो गई, तब महाकाश्यप ही उस संगीति के आचार्य-पद पर बैठे। महाकाश्यप ने बुद्ध-विनय के सर्वश्रेष्ठ 'उपालि'<sup>३</sup> से प्रथम-प्रथम विनय के सम्बन्ध में पूछा। भगवान् बुद्ध ने जहाँ-जहाँ और जिसके

१. विनय-पिटक (अनु० राहुल सांकृत्यायन)—४०. ५४४

२. तथैव—५०. ५४५

३. महावंस—परि ३, स्तो० २६

४. महावंस—३, ३३

फ०—२०

सम्बन्ध में, जिस विनय का उपदेश किया था, उन सबके बारे में यथातथ्य उपाधि ने संगायन किया और महाकाश्यप संगीति की राय लेकर उन विनयों पर सुहर लगाते गये। प्रथम जिन चार पाराजिकाओं की चर्चा 'चुल्लवग्ग' में उपाधि से कराई गई है, वे सभी बिहार-प्रदेश की भूमि में और बिहारनिवासी भिक्षुओं के सम्बन्ध की हैं। जैसे, प्रथम पाराजिका राजगृह में हुई और वह भी वैशाली-निवासी कलन्दकपुत्र 'मुदिल' के कारण। द्वितीय पाराजिका भी राजगृह में हुई, राजगृह के 'धनिय' कुम्भकार भिक्षु के कारण। तृतीय पाराजिका वैशाली में हुई, अनेक भिक्षुओं के कारण। इसी तरह चतुर्थ पाराजिका भी वैशाली में ही हुई, चागमती नदी के तटवासी अनेक भिक्षुओं के कारण। उपाधि के द्वारा कहे गये बुद्ध-विनयों को एकत्र करके ही विनय-पिटक व्यवस्थित किया गया है।

विनय के संगायन के बाद महाकाश्यप ने बुद्ध के सूक्तों के सम्बन्ध में आनन्द से पूछा, जिसके माने-जाने विद्वान् आनन्द थे। महाकाश्यप के आदेश पर आनन्द ने सूक्तों का संगायन किया, जिन्हें सुनकर संगीति ने उसकी शुद्धता पर अपनी सुहर लगाई और 'सुत्त-पिटक' ग्रथित हुआ। आनन्द के कथानुसार ब्रह्मजालसुत्त, सामञ्जसलसुत्त आदि अनेक सूक्तों का प्रवचन बुद्ध ने बिहार की भूमि में ही किया था। इस समय ऐसा आभास स्पष्ट मिलता है कि आनन्द ने चाहा था कि अवसरविशेष के अनुसार बने बुद्ध के छोटे-छोटे नियम छोड़ दिये जायें; पर महाकाश्यप ने ऐसा नहीं होने दिया। महाकाश्यप का प्रताप उस समय पूर्ण धीमत् था। जब उन्होंने संघ के सामने खड़ा होकर पूछा कि—'भिक्षुओ! बुद्ध के जीवन के बाद, क्या आप उनके छोटे-छोटे नियमों को छोड़ना पसन्द करेंगे?' सब संगीति के भिक्षुओं में से एक की भी हिम्मत न हुई, जो कहे कि हाँ, वे अवसर-विशेष के नियम थे, उन्हें छोड़ देना चाहिए। दूसरे को कौन कहे, स्वयं आनन्द ने भी ऐसा साहस नहीं किया, जिसने छोटे नियमों को छोड़ देने का प्रचार-आन्दोलन खड़ा किया था।

बुद्धघोष की 'समन्तपासादिका' के अनुसार 'अभिधम्म' का संगायन स्वयं महाकाश्यप ने किया, जिसकी शुद्धता पर संगीति ने सुहर लगाई; पर अनेक विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके विचार में अभिधम्म की रचना अशोक के समय में महातिथ्य ने की थी।

एक बात विचारणीय है। जिस समय राजगृह में संगीति बैठी थी, उस समय 'पुराण' या 'पुराण' नामक भिक्षुक दक्षिणागिरि में चारिका कर रहा था। वह जब राजगृह में आया, तब संगीति समाप्त हो गई थी और धर्म व्यवस्थित कर दिया गया था। संगीति के अनुसार व्यवस्थित बुद्ध-धर्म पर चलने के लिए जब पुराण से कहा गया, तब उसने स्पष्ट कह दिया कि मैंने तो जैसा भगवान् बुद्ध से सुना है, उसी को ग्रहण करूँगा और उसी के अनुसार धर्माचरण करूँगा। संगीति की व्यवस्था के अनुसार नहीं चलूँगा<sup>१</sup>। इससे स्पष्ट पता चलता है कि संगीति में जो धर्म व्यवस्थित हुआ, वह बिल्कुल शुद्ध नहीं था और उसमें महाकाश्यप का भी विचार घुसेड़ा गया था। जो हो, किन्तु आज संसार को जो बुद्ध-धर्म उपलब्ध है,



उसके सम्बन्ध में महाकाश्यप ने जो काम किया है, वह सदा अजर-अमर है। राजगृह की यह प्रथम संगीति सात महीनों तक चली<sup>१</sup>। इस संगीति में ५०० भिक्षु एकत्र थे, अतः इसका नाम 'पंचशतिका' है। त्विषी को संघ में आने के बाद बुद्ध ने कहा था कि मेरा धर्म ५०० वर्षों से ज्यादा नहीं चलेगा, उषी धर्म को महाकाश्यप ने इस संगीति के द्वारा पाँच हजार वर्षों के लिए स्थायी कर दिया<sup>२</sup>। महाकाश्यप द्वारा स्थापित धर्म का ही नाम 'स्थविरवाद' है, जो बौद्धों के अनेक सम्प्रदायों में सबसे प्राचीन है।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद बिहार-प्रदेश की पवित्र भूमि में कुछ ऐसी भी घटनाएँ घटीं, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक है। इन घटनाओं की चर्चा बौद्धग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। 'मज्झिम निकाय' (३।१।८) से पता चलता है कि बुद्ध के निर्वाण कुछ समय के पश्चात् आयुष्मान् 'आनन्द' राजगृह के वेणुवन कलन्दक निषाप घटनाएँ में बिहार कर रहे थे। यह बात उस समय की है, जब 'अजातशत्रु' अवन्ती के राजा 'जगदप्रद्योत' के मय में, राजगृह नगर को सुरक्षित रखने के लिए, उसके चारों ओर पत्थर की चहारदीवारी तैयार करा रहा था। यह हमने पहले ही देखा है कि अजातशत्रु ने 'देवदत्त' के कहने पर गद्दी के लोभ से अपने पिता बिम्बिसार को कैद में डालकर मार दिया था, जिससे क्रुद्ध होकर कोसलराज प्रसेनजित् ने अपनी बहन (बिम्बिसार की पत्नी) के स्नान-चूर्ण के खर्च के लिए दिये गये काशिराज्य को लौटा लिया था और उसके लिए दोनों में लड़ाई चल रही थी। उससे पहले ही अवन्ती की ओर से 'बोधिराज-कुमार' सुंसुमारगिरि (शाहाबाद और मिर्जापुर की पहाड़ी) पर सेना के साथ भगध के विरुद्ध में डटा था, जहाँ भगवान् बुद्ध से उसकी भेंट हुई थी। जब अजातशत्रु कोसल-नरेश से बुद्ध में रूँत मसा, तब अवन्ती की ओर से और भी ज्यादा लूट-राह महसूस करने लगा, जिससे अपने नगर की रक्षा के लिए इस समय चहारदीवारी बनवा रहा था। यह घटना बुद्ध की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद की बात होती है।

एक दिन आनन्द चारिका करते हुए पास के गाँव में बसनेवाले गोपक मोंद्गल्यायन नामक ब्राह्मण के द्वार पर गये। गोपक ने आनन्द का यथोचित सेवा-नत्कार किया। बाद, उमने आनन्द से पूछा—'भन्ते! क्या आपके संघ में ऐसा कोई भिक्षु है, जो भगवान् बुद्ध के सम्पूर्ण गुणों से युक्त हो?' आनन्द से शीघ्र ही उत्तर दिया—'नहीं ब्राह्मण! आज ऐसा एक भी भिक्षु नहीं है।' उन्होंने फिर कहा—'भगवान् तो अनुत्पन्न मार्ग के जानने-वाले, अनालयात मार्ग के आख्याता, मार्गज्ञ और मार्ग-कोविद थे।' इसी बीच अजातशत्रु का मंत्री वर्षकार किसी काम से गोपक के यहाँ आ गया। उसपर नजर पड़ते ही आनन्द और गोपक के बीच की बातों भंग हो गईं। बातों-भंग होते देखकर वर्षकार ने पूछा—'आपलोगों ने बातों क्यों तोड़ दी, क्या विषय था?' इस पर आनन्द ने विषय बतला दिया।

१. महावंस—१, ६७

२. तर्क-३, ३८

तब वर्णकार ने प्रश्न किया—‘अच्छा, ऐसा कोई भिक्षु है, जिसे बुद्ध ने अपने बाद का मार्गदर्शक नियुक्त किया हो?’ इसपर भी आनन्द ने कहा—‘नहीं, ऐसा भी कोई भिक्षु नहीं है?’ वर्णकार ने पुनः दूसरा प्रश्न किया—‘तो आनन्द! ऐसा तो कोई भिक्षु जरूर होगा, जिसे आपके संघ ने सर्वश्रेष्ठत्व की मान्यता दी होगी?’ आनन्द ने इस प्रश्न का भी नकारात्मक ही उत्तर दिया। गोपक ब्राह्मण को ऐसा सुनकर बड़ा दुःख हुआ। उसने कहा—‘तब भिक्षु, बिना किसी अगुआ या आभयदाता के आप लोग कैसे उचित मार्ग पर चल रहे हैं?’ यद्यपि प्रश्न सीधा चोट करनेवाला था, तथापि आनन्द ने बड़ा ही तर्कपूर्ण और युक्तिसंगत उत्तर दिया। उन्होंने कहा ‘हमारा अगुआ और मार्गदर्शक हमारा धर्म है, उसका अनुसरण हम करते हैं।’ इस पर वर्णकार ने अपने साथ के सेनापति उपनन्द से पूछा—‘तुमने सुना, क्या ये भिक्षु पूजनीय की पूजा करते हैं?’ उपनन्द ने तुरत जवाब दिया—‘जरूर, ये लोग पूजनीय की ही पूजा करते हैं।’ इसके बाद वर्णकार अपने सेनापति के साथ वहाँ से चला गया। ‘कलन्दक निवाप’ विहार उस समय गोपक मौर्यकल्याण ब्राह्मण की ही देख-रेख में सुरक्षित था और उसकी व्यवस्था का भार गोपक पर ही था, जो उस इलाके का कोई प्रतिष्ठित रहपति था।

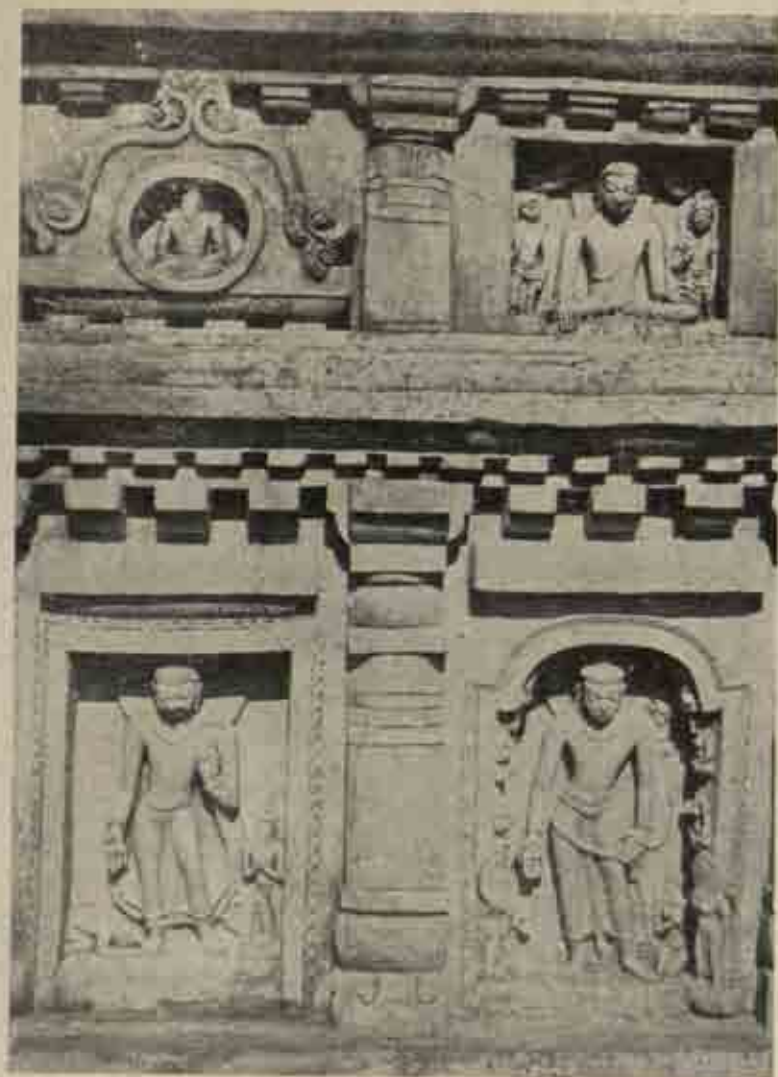
इस वार्त्ता से स्पष्ट है कि आनन्द अपने संघ में किसी को नेता नहीं मानते थे और गोपक तथा वर्णकार की दृष्टि में बुद्ध-संघ के नेता शायद महाकाश्यप थे, जिनकी अजातशत्रु से अच्छी पटरी बैठती थी। साथ ही इससे यह भी पता चलता है कि आनन्द गणतंत्रात्मक राज्य के वायुमण्डल में पले हुए थे, इसलिए उन्हें कोई अगुआ पसन्द नहीं था और वे नियम-कानून के सहारे ही मार्ग पर बढ़नेवाले थे। दूसरी तरफ गोपक और वर्णकार राजतंत्र के वातावरण में रहनेवाले थे, इसलिए बिना अगुआ के किसी संघ की कल्पना ये कर ही नहीं सकते थे। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि उस समय भी बौद्धसंघ में दो गुट अवश्य हो गये थे, जिनमें एक तो नेतृत्व का समर्थक था और दूसरा किसी व्यक्ति का नेतृत्व नहीं मानता था। निश्चित रूप से भिक्षुओं में भी गणतंत्रोपासक शाक्यों का एक गुट था और दूसरा राजतंत्रोपासक मागधों का। इन दोनों गुटों में श्रेष्ठता का संघर्ष जारी था, जिसे हम शीत-संघर्ष कहेंगे।

मगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद राजगृह के इसी ‘कलन्दक निवाप वेणुवन’ की एक दूसरी कथा भी ‘मज्झिम निकाय’ में मिलती है, जिसमें ‘वकुल’ भिक्षु की चर्चा है। उस समय सारे बौद्धसंघ में वकुल-जैसा निष्काम और छागी भिक्षु एक भी नहीं था। इनके-जैसा शरीर और मन से स्वस्थ भी कोई नहीं था। ये अपनी उपसंपदा के बाद अस्सी वर्षों तक जीवित रहे, पर उपसंपदा के दिन से मृत्यु की घड़ी तक इन्होंने किसी से भी शारीरिक सेवा नहीं कराई। उपसंपदा के बाद से जीवन-व्यस्त न तो रत्नानुसूत में रत्न किया और न कमी, तथा ऋतु में भी, किसी गाँव में निवास किया। ये क्षण-भर के लिए भी कमी



અજાતશત્રુ દ્વારા નિર્મિત પાષાણ-પ્રાકાર  
( પૃ. ૧૫૭ )





नालन्दा के प्रधान स्तूप का एक दृश्य  
( पृ० २५६ )

न बीमार हुए और न इन्होंने औषध के रूप में हरे का एक टुकड़ा भी मुँह में दिया। जीवन में कभी खाट पर नहीं सोये और न किसी भिक्षुणी के साथ चण-भर के लिए बैठे और न कभी बोले। इन्होंने किसी भी पुष्प या स्त्री को न तो उपसंपदा दी और न शिष्य बनाया। उपसंपदा के अस्सी वर्षों के बाद, सभी भिक्षुओं को इकट्ठा कर सबके बीच में, बैठे-बैठे परलोक गमन किया। ये एक अद्भुत बौद्ध योगी थे। इन्होंने सभी विषय-वासनाओं पर विजय पाई थी।

‘कलन्दक निवाप वेणुवन’ में इनके साथ घटनेवाली घटना बड़ी ही दिलचस्प है। वकुल के वचन का एक साथी, जो उस समय संन्यासी हो गया था, ‘वकुल’ के अन्तिम दिनों में एक दिन इनके पास ‘कलन्दक निवाप’ में आया। वह भंगा रहा करता था, इसीलिए सभी उसे अचेल काश्यप कहा करते थे। उसने बातों के सिलसिले में अपने लंगोटिया मित्र वकुल से पूछा—‘आहुस, आपको प्रवर्णित हुए कितने वर्ष हुए?’ वकुल ने कहा—‘अस्सी वर्ष’। इस पर अचेल काश्यप ने पूछा—‘अच्छा आहुस, यह तो बताइए कि इतने वर्षों में आपने कितनी बार मैथुन-कर्म किया?’ सहजभाव से वकुल ने कहा—‘आहुस, आपको इस तरह नहीं पूछना चाहिए। आपको पूछना चाहिए था कि इतने वर्षों में आपके मन में कितनी बार काम-वासना जगी? किन्तु, मैं आपको बतलाना चाहूँगा कि इन अस्सी वर्षों के भीतर मेरे मन में एक बार भी काम-वासना जगी हो, ऐसा मैं नहीं जानता; और आप तो प्रश्न करते हैं कि कितनी बार मैथुन-कर्म किया?’ वकुल की ऐसी बात सुनकर अचेल काश्यप दंग रह गया। इसके बाद उसने दूसरा प्रश्न भी किया—‘अच्छा, तो इन अस्सी वर्षों के अन्दर आपके मन में कितनी बार द्वेष-भावना जगी?’ वकुल ने कहा—‘एक बार भी जगी हो, ऐसा तो मैं नहीं जानता।’ इसी तरह उस अचेल संन्यासी ने हिंसा, चोरी आदि के लिए भी प्रश्न किया, उन सबके विषय में वकुल ने वैसा ही उत्तर दिया। इसी ‘कलन्दक निवाप’ में वकुल ने बाद में स्वेच्छा से परलोक-गमन किया था।

बुद्ध की मृत्यु के बाद की एक और कथा ‘मग्गिम निकाय’<sup>१</sup> में मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि अजातशत्रु के राज्य में ‘अष्टक’ अथवा ‘अट्टक’ नाम का एक नगर था, जहाँ का एक सेठ एक बार अपने किसी काम से पाटलिपुत्र आया। राज्य के सेठों में इसका दसवाँ स्थान था। पाटलिपुत्र में इसने आनन्द से मिलने की उत्कण्ठा प्रकट की। लोगों ने बतलाया कि आजकल आनन्द वैशाली के वेलुगाँव में हैं। अट्टकनगर-ग्रहपति पाटलिपुत्र में अपना कार्य सम्पादन कर वैशाली के ‘वेलुग्राम’ में गया और वहाँ उसने आनन्द से भेंट की। आनन्द के साथ कई दिन वहाँ ठहरकर उसने बौद्धधर्म के मर्मों को समझा। बाद में उसने पाटलिपुत्र में आकर वैशाली और पाटलिपुत्र के समस्त बौद्ध भिक्षुओं को आमंत्रित किया और उन्हें भोजन दिया। भोजनोपरान्त उसने सभी भिक्षुओं को एक-एक पुस्ता (कम्बल) देकर विदाई की थी। आनन्द को उसने तीनों चीवरों को देकर पूर्ण सम्मानित किया था।

'मग्गिम निकाय'<sup>१</sup> में बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद की एक और कथा मिलती है, जिसका सम्बन्ध पाटलिपुत्र से है। कथा बतलाती है कि 'उदयन' नाम के बौद्ध भिक्षु वाराणसी के 'स्वमिष' ब्राह्मण ने ठहरे हुए थे। अंग-देश का घोटमुख नामक ब्राह्मण, जो अपने किसी काम से वाराणसी गया था, उस समय उदयन के पास गया। कुराल-क्षेम के बाद धर्म-चर्चा चली, पर इस धर्म-चर्चा में उदयन ने अपने बौद्धधर्म और ज्ञान का ऐसा सिका जमाया कि घोटमुख ब्राह्मण ने घुटने टेक दिये। इसने कहा—'भगवन्, आज से मैं बौद्धधर्म का उपासक हुआ।' यह कथा भी अजातशत्रु के शासन-काल की ही बात होती है।

घोटमुख ब्राह्मण को अपने देश (अंग-देश, बिहार) के राजा से पाँच सौ कार्पाण्ण का सुवर्ण दान में मिलता था। उसने इच्छा प्रकट की कि महाराज, उस दान के धन में से आप भी एक अंश हम से लें। पर उदयन ने कहा—'ब्राह्मण, हम भिक्षुओं को तो सोना-चाँदी छूना भी मना है, हम आपका दान कैसे लेंगे?' इसपर 'घोटमुख' ने उन पैसों से उनके रहने के लिए एक निवासस्थान बना देना चाहा। इसपर उदयन ने कहा—'ब्राह्मण, यदि तुम्हारी यही इच्छा है, तो तुम पाटलिपुत्र में बौद्ध भिक्षुओं के लिए एक सभागृह का निर्माण करा दो।' घोटमुख राजी हो गया और उसने पाटलिपुत्र के कुष्कुटाराम में एक सभागृह बनवा दिया, जो आज भी घोटमुखी के नाम से प्रसिद्ध है<sup>२</sup>, ऐसा 'मग्गिम निकाय' में लिखा है।

उस समय का घोटमुखी सभागृह पता नहीं अब कहाँ है; पर इससे इतना तो स्पष्ट है कि तथापि अंग-देश अजातशत्रु के राज्य के अन्तर्गत था, तथापि उसकी सत्ता मिटाई नहीं गई थी। उस समय भी अंग में ऐसा राजा था, जो ब्राह्मण को ५०० कार्पाण्ण का सोना नित्य दान में देता था। पता चलता है कि यह जरूर कोई राजा 'कश' का वंशधर होगा, जो दान की महत्ता को कायम रखे हुए था।

लुंका के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ महावंस<sup>३</sup> के अनुसार मगध-राज अजातशत्रु की छठी पीढ़ी में 'कालाशोक' हुआ, जिसे भारतीय इतिहास में कोई-कोई नन्दिवर्द्धन कहते हैं। किंतु भारतीय पुराणों के अनुसार नन्दिवर्द्धन अजातशत्रु की चौथी पीढ़ी में हुआ। यह क्रम इस प्रकार था—अजातशत्रु, दशक, उदायी और नन्दिवर्द्धन। नन्दिवर्द्धन ४५८ ई० पूर्व मगध की गद्दी पर बैठा। यह जैनधर्मावलम्बी था<sup>४</sup>। एक बार जब इसने कलिंग

द्वितीय संगीति को बीता, तब वहाँ से यह महावीर तीर्थंकर की 'जिन-मूर्ति' उठा लाया था, जिसे 'खारवेल' ने १८० ई० पूर्व मौर्यराजा 'धृष्टद्रुप' को हराकर पुनः वापस ले गया। इस 'नन्दिवर्द्धन' के समय में मगध की राजधानी राजगृह से हटकर 'पाटलि-

१. घोटमुख सुत्त—१, ४, ४

२. इस कथा से पता चलता है कि 'मग्गिम निकाय' का यह सुत्त अशोक के समय में बना और उसी समय मग्गिम निकाय में जोड़ा गया।—ले०

३. महावंस—तौषा परिच्छेद १-७ तक।

४. बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—५०-७४।



पूर्व' में आ गई थी, जिसे अजातशत्रु के लड़के उदायी ने विधिवत् बसाया था। मगध-साम्राज्य के पूर्ण विस्तार के कारण वैशाली अपना वैभव-वैपुल्य खो चुकी थी, फिर भी उसका प्राचीन गौरव अक्षुण्ण था। इसी वैशाली में बौद्धधर्म की आन्तरिक स्थिति में एक भूकम्भोर पैदा हुई, जिसके कारण धर्म ने एक दूसरा मोड़ लिया। यह घटना मगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के एक ती वर्ष बाद, बिहार-प्रदेश के वैशाली नगर में हुई, जो दुनिया में दूसरी संगीति के नाम से प्रसिद्ध है<sup>१</sup> और जो मगधसम्राट् नन्दिबर्द्धन के राज्यारोहण के दसवें वर्ष में घटी<sup>२</sup>।

बात यह हुई कि उस समय अपने प्राचीन गौरव के अनुसार वैशाली बौद्धधर्म का गढ़ बन गई थी। दूर-दूर के बहुत-से भिक्षु उस समय वैशाली में वास करते थे। 'जहाँ डेर घोंगी, तहाँ मूठ उजार'—इस भोजपुरी कहावत के अनुसार उस समय भिक्षुओं में धर्म के कुछ विषयों पर विवाद छिड़ गया। विवाद के तिस्र दस थे, जो इस प्रकार हैं—

(१) शृङ्खीलचरण कल्प—(जानवरों के सींग की खोल में, आवश्यकता पड़ने पर उपयोग के लिए, नमक का संचय किया जाय या नहीं ?)

(२) द्वि-श्रंगुल कल्प—(दिन के दो पहर के बाद, दो श्रंगुली तक छाया आ जाने पर भोजन करना चाहिए या नहीं ?)

(३) ग्रामान्तर कल्प—(भोजन कर लेने पर फिर दूसरे गाँव में जाकर भोजन के लिए भिक्षा माँगी जाय अथवा नहीं ?)

(४) आवास कल्प—(एक ही सीमा के अनेक आवासों में रहकर उपोसथ-कर्म किया जाय या नहीं ?)

(५) अनुमति कल्प—(एक वर्ग के संघ का इसलिए विनय-कर्म करना, जिससे हमारे वर्ग में पीछे भी जो भिक्षु आ जायें, उन्हें अनुमति मिल जाय ; ऐसा हो अथवा नहीं ?)

(६) आचीर्णकल्प—(मेरे उपाध्याय या आचार्य ने ऐसा किया है, मुझे भी वैसा करना चाहिए, ऐसा हो या नहीं ?)

(७) अमथित कल्प—(दूध न तो जमकर बही बना है, और दूध की अवस्था में ही है, ऐसी अवस्था में उसे ग्रहण किया जाय या नहीं ?)

८) जलोगिपान—(जो सुरा अभी ठीक तरह से सुरा नहीं बनी है, उसका पान किया जाय अथवा नहीं ?)

(९) अदसक निसदन—( बिना किनारीवाला आसन बिछाया जाय कि नहीं ?)

(१०) जातरूप कल्प—( सोना-चाँदी का दान ग्रहण किया जाय या नहीं ?)

वैशाली में इन्हीं उपर्युक्त दस विषयों पर भिक्षुओं के बीच विवाद छिड़ा। वज्जि-संघ के भिक्षु कहते, ये दस विषय विहित हैं और बाहर के भिक्षु कहते, नहीं विहित हैं। विवाद ने संघर्ष का रूप धारण कर लिया।

१. चुल्लवग्ग—१२, १, १

२. महावंस—४, १०

पश्चिम भारत के भिच्छु-संघ के सदस्य काकंडक-पुत्र 'यश' थे, जो उस समय वैशाली में ही थे और जो पश्चिम-संघ के भिच्छुओं के अगुआ थे। भिच्छु-संघ में इनका बड़ा ही प्रभाव था और वे एक ओजस्वी वक्ता थे। इन्होंने वज्जि-संघ के भिच्छुओं के विरोध में प्रचार करना शुरू किया<sup>१</sup>। यश के प्रचार से वज्जि-संघ के भिच्छु घबरा उठे। फल यह हुआ कि वज्जि-संघवाले भिच्छुओं ने बिगड़कर, यश को संघ से बाहर निकालने के लिए, उनके आश्रम को घेर लिया<sup>२</sup>। यश किसी तरह वैशाली से भाग निकले और कौशाम्बी पहुँचे। कौशाम्बी में इन्होंने वज्जि-संघ के भिच्छुओं की मनमानी के विरोध में भाषण किया और उन्हें संघवद्ध किया। विचार हुआ कि सहजाति<sup>३</sup> स्थान में पश्चिम के सारे भिच्छुओं को बुलाया जाय और वज्जि-संघ के भिच्छुओं की अनैतिकता के विरोध में कदम उठाया जाय। यश ने संदेशवाहकों को भेजकर पावा, अवन्ती और दक्षिण के भिच्छुओं को सहजाति में बुलाया और वे स्वयं 'साण्वासी सम्भूत' भिच्छु को बुला लाने के लिए 'अहोमांग'<sup>४</sup> पर्वत पर गये तथा 'रेवत' को बुलाने के लिए 'सोरो'<sup>५</sup> भी गये। 'साण्वासी सम्भूत' और 'रेवत' ने यश के पक्ष को उचित ठहराया और समा में सम्मिलित होने के लिए वे सहजाति आये। कौशाम्बी, पावा, अवन्ती और दक्षिण के भिच्छु भी सहजाति में इकट्ठे हुए। सहजाति में जो समा हुई, उसके अल्पसंख्यक रेवत चुने गये, जिनका प्रभाव दक्षिण-पश्चिम के भिच्छुओं पर अच्छा था। समा ने एकमत से निर्णय किया कि पूर्ववाले भिच्छु गलत रास्ते पर धर्म को ले चलना चाहते हैं, पर इसका फैसला पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के भिच्छुओं की सम्मिलित समा में होना चाहिए और यह समा चलकर वैशाली में ही हो। हम लोगों को यहाँ बैठकर फैसला करना गलत होगा।

वज्जि-संघ के भिच्छुओं को जब यह मालूम हुआ कि यश हमारे विरोध में जाकर पश्चिम-दक्षिण के भिच्छुओं को भड़का रहे हैं, तब इन्होंने भी पूर्वीय भारत के भिच्छुओं को संघ-वद्ध किया, जिसमें नैपाल आदि जगहों के भी भिच्छु थे। एक तरह से यह भगड़ा पूर्व और पश्चिम भारत के बौद्धसंघों के बीच का हो गया। वैशालीवालों ने इस अवसर पर अपनी विजय के लिए दो पदपुष्पो के जाल फैलाये। एक तो पश्चिम संघ के नेता रेवत को अपने पक्ष में कर लेना था और दूसरा यह था कि किसी तरह सम्राट् नन्दवर्द्धन को अपने पक्ष में मिलाकर पश्चिमवालों के विरुद्ध राजनीतिक दबाव डाला जाय। इन्होंने बहुत-से उपहार देकर, गंगा के रास्ते, नाव पर कुछ भिच्छुओं को सहजाति भेजा और घूल देकर रेवत को मिला लेने का प्रयत्न किया। किन्तु रेवत साधारण भिच्छु नहीं थे,

१. महावंस—४, १४

२. तज्जैव—४, १६

३. मोटा—(इलाहाबाद)

४. हरद्वार के पास का एक पर्वत।

५. सोरो—(बि० पटा)

जो इनके लोभ में फँस जाते। वैशालीवालों ने मामला बिगड़ता देख एक दूसरी चाल चली। इन्होंने 'रेवत' के शिष्य 'उत्तर' नामक भिक्षु को उपहार का सारा सामान देकर उसे मिला लिया। सोचा, शिष्य के अनुराग से गुरु भी हमारे पक्ष में आ जायेंगे। किन्तु, जब रेवत को पता चला कि मेरे शिष्य ने उपहार ग्रहण कर लिया है, तब उत्तर को उन्होंने अपने संघ से निष्कासित कर दिया<sup>१</sup>। वैशालीवालों का यह जाल छिन्न-भिन्न हो गया और ये अपना-सा मुँह लिये लौट आये। इधर इनका दूसरा पाशा तो ठीक बैठे और मगधराज नन्दिबर्द्धन इनके पक्ष में मिल गया। पर बाद, जब नन्दिबर्द्धन को भी यथार्थ स्थिति का ज्ञान हुआ, तब उसने भी वैशालीवालों के पक्ष-ग्रहण करने से अपना हाथ खींच लिया, और तटस्थ हो गया। इस तरह वैशालीवालों का यह दाँव भी उलट गया।

मगड़े को शांत करने के लिए वैशाली में जो यह सभा हुई, उसमें सभी त्थानों से चुने हुए सात सौ भिक्षु सम्मिलित हुए। यह द्वितीय संगीति के नाम से अभिहित होती है। यह वैशाली के 'वालुकाराम विहार' में बैठे थी और इसमें आये अतिथियों के भोजन और शयन का प्रबन्ध वैशाली के 'अणित' नामक एक नवयुवक भिक्षु ने किया था। यह संगीति कालाशोक नन्दिबर्द्धन की संरक्षकता में हुई<sup>२</sup>। इस संगीति में सम्मिलित होनेवाले भिक्षुओं की जो संख्या महावंस में दी गई है, वह अतिशयोक्ति-पूर्ण और कपोल-कल्पित है।

सभा जब बैठे, तब परस्पर के 'तू-तू, मैं-मैं' से और भी विवाद बढ़ चला। इस पर रेवत ने प्रस्ताव किया कि मगड़े को निपटाने का भार इस सभा के द्वारा चुने गये पंचों के ऊपर दे दिया जाय। रेवत के इस प्रस्ताव को सभा ने सहर्ष और सर्वसम्मति से स्वीकृत कर लिया। पंचों का जो चुनाव हुआ, उसमें चार पूर्व के भिक्षु और चार पश्चिम के भिक्षु रखे गये। पूर्व के संघ से जो भिक्षु चुने गये, उनमें थे—आचार्य सर्वकामी, साल्ह, क्षुद्रशोभित और वार्पभग्नामिक तथा पश्चिमी संघ से—रेवत, साण्वासी सम्भूत, काकंडकपुत्र यश और सुमन<sup>३</sup>। इन सभी पंचों में महास्थविर सर्वकामी श्रेष्ठ थे, जो वैशाली में १२० वर्षों से रह रहे थे। उस समय पृथ्वी के समस्त बौद्धों में इनसे बड़ा कोई नहीं था<sup>४</sup>। ये आनन्द के शिष्य थे। इसलिए उस संगीति के ये ही अध्यक्ष चुने गये। विहार-प्रदेश का यह भी एक सौभाग्य ही कहा जायगा कि दूसरी संगीति के नेतृत्व का भार भी यहीं के भिक्षु को मिला। इन आठ भिक्षुओं में महास्थविर सर्वकामी, साल्ह, रेवत, क्षुद्रशोभित, यश और सम्भूत साण्वासी—ये ती छह तो आनन्द के शिष्य थे; पर इनमें दो—वार्पभग्नामिक और सुमन 'अनिद्ध' के शिष्य थे।

जब इन आठ व्यक्तियों की संगीति बैठे, तब रेवत ने दसों विवादग्रस्त विषयों में से, बारी-बारी से—एक-एक पर, आचार्य सर्वकामी से निश्चय माँगा। सर्वकामी ने एक छठे

१. महावंस—४, १४

२. त्तैव—४, १६

३. महावंस—४, ४०-४०

४. चुल्लवग्ग—१२, २, ४

क०—२१



पश्चिम भारत के भिच्छुसंघ के सदस्य काकंडक-पुत्र 'यश' थे, जो उस समय वैशाली में ही थे और जो पश्चिम-संघ के भिच्छुओं के अगुआ थे। भिच्छु-संघ में इनका बड़ा ही प्रभाव था और ये एक ओजस्वी बक्ता थे। इन्होंने वज्जि-संघ के भिच्छुओं के विरोध में प्रचार करना शुरू किया<sup>१</sup>। यश के प्रचार से वज्जि-संघ के भिच्छु घबरा उठे। फल यह हुआ कि वज्जि-संघवाले भिच्छुओं ने बिगड़कर, यश को संघ से बाहर निकालने के लिए, उनके आश्रम को घेर लिया<sup>२</sup>। यश किसी तरह वैशाली से भाग निकले और कौशाम्बी पहुँचे। कौशाम्बी में इन्होंने वज्जि-संघ के भिच्छुओं की मनमानी के विरोध में भाषण किया और उन्हें संघबद्ध किया। विचार हुआ कि सहजाति<sup>३</sup> स्थान में पश्चिम के सारे भिच्छुओं को बुलाया जाय और वज्जि-संघ के भिच्छुओं की अनैतिकता के विरोध में कदम उठाया जाय। यश ने संदेशवाहकों को भेजकर पावा, अश्वन्ती और दक्षिण के भिच्छुओं को सहजाति में बुलाया और वे स्वयं 'साणुवासी सम्भूत' भिच्छु को बुला लाने के लिए 'अहोमंग'<sup>४</sup> पर्वत पर गये तथा 'रेवत' को बुलाने के लिए 'सीरो'<sup>५</sup> भी गये। 'साणुवासी सम्भूत' और 'रेवत' ने यश के पक्ष को उचित ठहराया और सभा में सम्मिलित होने के लिए वे सहजाति आये। कौशाम्बी, पावा, अश्वन्ती और दक्षिण के भिच्छु भी सहजाति में इकट्ठे हुए। सहजाति में जो सभा हुई, उसके अन्त्यक्ष रेवत चुने गये, जिनका प्रभाव दक्षिण-पश्चिम के भिच्छुओं पर अच्छा था। सभा ने एकमत से निर्णय किया कि पूर्ववाले भिच्छु गलत रास्ते पर धर्म को ले चलना चाहते हैं; पर इसका फैसला पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के भिच्छुओं की सम्मिलित सभा में होना चाहिए और यह सभा चलकर वैशाली में ही हो। हम लोगों को यहाँ बैठकर फैसला करना गलत होगा।

वज्जि-संघ के भिच्छुओं को जब यह मालूम हुआ कि यश हमारे विरोध में जाकर पश्चिम-दक्षिण के भिच्छुओं को भड़का रहे हैं, तब इन्होंने भी पूर्वीय भारत के भिच्छुओं को संघ-बद्ध किया, जिसमें नेपाल आदि जगहों के भी भिच्छु थे। एक तरह से यह भगड़ा पूर्व और पश्चिम भारत के बौद्धसंघों के बीच का हो गया। वैशालीवालों ने इस अवसर पर अपनी विजय के लिए दो पदार्थों के जाल फैलाये। एक तो पश्चिम संघ के नेता रेवत को अपने पक्ष में कर लेना था और दूसरा यह था कि किसी तरह सम्राट् नन्दिवर्द्धन को अपने पक्ष में मिलाकर पश्चिमवालों के विरुद्ध राजनीतिक दबाव डाला जाय। इन्होंने बहुत-से उपहार देकर, गंगा के रास्ते, नाव पर कुछ भिच्छुओं को सहजाति भेजा और घूस देकर रेवत को मिला लेने का प्रयत्न किया। किन्तु रेवत साधारण भिच्छु नहीं थे,

१. महावंस—४, १४

२. तज्जैव—४, १६

३. मोटा—(इलाहाबाद)

४. हरद्वार के पास का एक पर्वत।

५. सीरो—(त्रि० पटा)

जो इनके लोभ में फँस जाते। वैशालीवालों ने मामला बिगड़ता देख एक दूसरी चाल चली। इन्होंने 'रेवत' के शिष्य 'उत्तर' नामक भिक्षु को उपहार का सारा सामान देकर उसे मिला लिया। सोचा, शिष्य के अनुराग से गुरु भी हमारे पक्ष में आ जायेंगे। किन्तु, जब रेवत को पता चला कि मेरे शिष्य ने उपहार ग्रहण कर लिया है, तब उत्तर को उन्होंने अपने संघ से निष्कासित कर दिया। वैशालीवालों का यह जाल छिन्न-भिन्न हो गया और ये अपना-सा मुँह लिये लौट आये। इधर इनका दूसरा पाशा तो ठीक बैठे और मगधराज नन्दिबर्द्धन इनके पक्ष में मिल गया। पर बाद, जब नन्दिबर्द्धन को भी यथार्थ स्थिति का ज्ञान हुआ, तब उसने भी वैशालीवालों के पक्ष-ग्रहण करने से अपना हाथ खींच लिया, और तटस्थ हो गया। इस तरह वैशालीवालों का यह दाँव भी उलट गया।

मगड़े को शांत करने के लिए, वैशाली में जो यह समा हुई, उसमें सभी स्थानों से चुने हुए सात सौ भिक्षु सम्मिलित हुए। यह द्वितीय संगीति के नाम से अभिहित होती है। यह वैशाली के 'बालुकाराम विहार' में बैठे थे और इसमें आये अतिथियों के भोजन और शयन का प्रबन्ध वैशाली के 'अजित' नामक एक नवयुवक भिक्षु ने किया था। यह संगीति कालाशोक नन्दिबर्द्धन की संरक्षकता में हुई<sup>१</sup>। इस संगीति में सम्मिलित होनेवाले भिक्षुओं की जो संख्या महावर्ष में दी गई है, वह अतिशयोक्ति-पूर्ण और कपोल-कल्पित है।

सभा जब बैठे, तब परस्पर के 'तू-तू, मैं-मैं' से और भी विवाद बढ़ चला। इस पर रेवत ने प्रस्ताव किया कि मगड़े को निपटाने का भार इस सभा के द्वारा चुने गये पंचों के ऊपर दे दिया जाय। रेवत के इस प्रस्ताव की सभा ने सहर्ष और सर्वसम्मति से स्वीकृत कर लिया। पंचों का जो चुनाव हुआ, उसमें चार पूर्व के भिक्षु और चार पश्चिम के भिक्षु रखे गये। पूर्व के संघ से जो भिक्षु चुने गये, उनमें थे—आचार्य सर्वकामी, साल्ह, क्षुद्रशोभित और वार्षभग्रामिक तथा पश्चिमी संघ से—रेवत, साण्वासी सम्भूत, काकंडकपुत्र यश और सुमन<sup>२</sup>। इन सभी पंचों में महास्थविर सर्वकामी श्रेष्ठ थे, जो वैशाली में १२० वर्षों से रह रहे थे। उस समय पृथ्वी के समस्त बौद्धों में इनसे बड़ा कोई नहीं था<sup>३</sup>। ये आनन्द के शिष्य थे। इसलिए उस संगीति के ये ही अभ्यस्त चुने गये। विहार-प्रदेश का यह भी एक सौभाग्य ही कहा जायगा कि दूसरी संगीति के नेतृत्व का भार भी यहीं के भिक्षु को मिला। इन आठ भिक्षुओं में महास्थविर सर्वकामी, साल्ह, रेवत, क्षुद्रशोभित, यश और सम्भूत साण्वासी—ये तो छह तो आनन्द के शिष्य थे; पर इनमें दो—वार्षभग्रामिक और सुमन 'अनिरुद्ध' के शिष्य थे।

जब इन आठ व्यक्तियों की संगीति बैठे, तब रेवत ने दसों विवादग्रस्त विषयों में से, बारी-बारी से—एक-एक पर, आचार्य सर्वकामी से निश्चय माँगा। सर्वकामी ने एक छठे

१. महावर्ष—४, १४

२. तत्त्व—४, १६

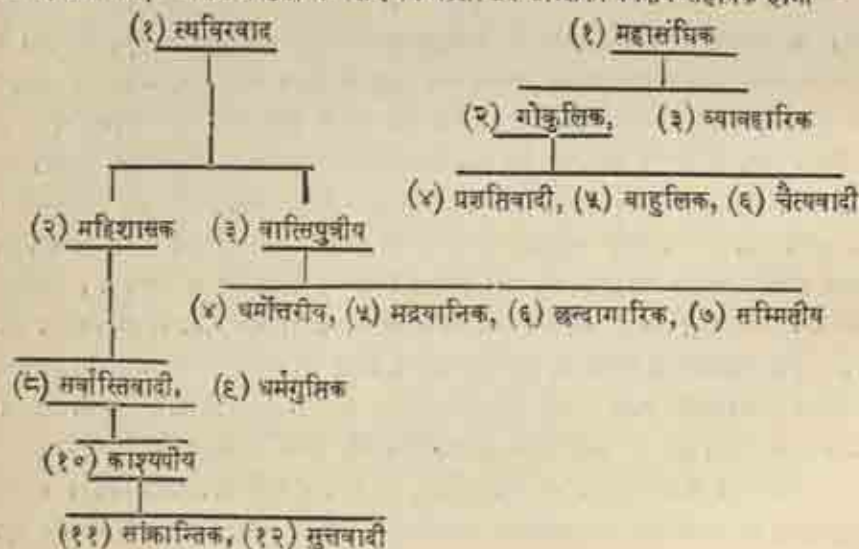
३. महावर्ष—४, ४८-४९

४. चुल्लवग्ग—१२, २, ४

फ०—२१

( आचीर्ण कला ) विषय को छोड़कर शेष नौ विषयों को अविविहित बतलाया। उस समय स्थविरवाद को शुद्ध करने के विचार से बौद्ध नियमों को दुहराया गया। इस तरह वज्जि-संघ के भिक्षुओं की उस संगीति में हार हो गई।

यह संगीति आठ महीनों तक चली<sup>१</sup>। इसमें सात सौ भिक्षुओं ने भाग लिया, इसलिए इसका नाम 'सप्तशतिका' पड़ा<sup>२</sup>। पंचों के द्वारा निर्मित सिद्धान्त जब बड़ी संगीति में उपस्थित हुआ, तब संघ में स्पष्ट दो दल हो गये। एक में दक्षिण-पश्चिम के भिक्षु और दूसरे में पूर्व भारत के भिक्षु। पहले दल का नाम 'स्थविर सम्प्रदाय' और दूसरे का 'महासंघिक' रखा गया। पूर्वीय दल में पश्चिमीय दल से ज्यादा भिक्षु थे—यानी इसमें दस हजार भिक्षु सम्मिलित थे<sup>३</sup>, इसलिए यह दल महासंघिक कहलाया। महासंघिक से ही गोकुलिक और व्यावहारिक निकले। फिर गोकुलिक से प्रशस्तिवादी, बाहुलिक तथा चैत्यवादी हुए। इस तरह महासंघिक में छह सम्प्रदाय हो गये। इधर स्थविरवाद से महिशासक और वात्सिपुत्रीय दो हुए। वात्सिपुत्रीय से धर्मोत्तरीय, भद्रयानिक, छन्दागारिक और सम्मितीय निकले। फिर, महिशासको से सर्वास्तिवादी और धर्मगुप्तिक आविर्भूत हुए। दूसरी ओर सर्वास्तिवाद से काश्यपीय और काश्यपीय से सांक्रान्तिक तथा सांक्रान्तिक से सुत्तवाद सम्प्रदाय निकला। इस तरह स्थविरवाद में कुल बारह सम्प्रदाय हो गये और महासंघिक के छह—दोनों मिलकर अठारह बन गये। अधिक स्पष्टता के लिए निम्नलिखित तालिका विशेष सहायक होगी—



१. महावंस—४, २४

२. इत्यादि श्री पन-विनय-सङ्गीतिया सत्त भिक्षुसत्ताणि अनुमानि अनधिकानि कहेसु। —मुल्लवग्गो, १२, ४, २२

३. महावंस—४, ५५



वैशाली में होनेवाली इस द्वितीय संगीति के कारण ही उपर्युक्त दल बने, जिनसे बौद्धधर्म में इतने सम्प्रदाय बने गये। एक स्थविरवाद से ही ये सभी प्रकट हुए। इन्हीं की आधारशिला पर बौद्धधर्म में अनेक ज्ञान-विज्ञान तथा सुदृढ़ दर्शनों का गढ़ कायम हुआ, जिसके निर्माण में देश के बड़े-बड़े उद्भट विद्वानों ने अपना जीवन लगाया।

## पाँचवाँ परिच्छेद

### मौर्यकाल में बौद्धधर्म का विकास

नन्दिबर्द्धन के बाद मगध का सम्राट् महानन्दी और उसके बाद महापद्म हुआ। इसकी सेना की संख्या 'पद्म' की गिनती तक पहुँची थी अथवा इसके खजाने में पद्म संख्या तक मुद्राएँ सुरक्षित रहती थीं, इसलिए इसका नाम 'महापद्म' पड़ा था, कुछ विद्वानों का ऐसा कहना है। मगध के इस प्रतापी सम्राट् का दबदबा समस्त भारत में फैला था। किन्तु जैन अनुश्रुतियों के अनुसार यह सृत्रिय नहीं था, नाई द्वारा उत्पन्न वेश्यापुत्र था<sup>१</sup>। किन्तु 'विष्णुपुराण' के अनुसार महानन्दी के द्वारा यह शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। यह परशुराम की तरह सृत्रियों के लिए कराल काल था और सर्वतंत्र स्वतंत्र एकराट् था<sup>२</sup>। अपने ब्राह्मण-मंत्री 'चाणक्य' की सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य ने ऐसे प्रतापी महापद्म अथवा उसके वंश का समूल नाश कर मगध की गद्दी छीन ली। इसी मौर्य चन्द्रगुप्त की तीसरी पीढ़ी में 'अशोक' नामक सम्राट् हुआ, जो संसार के धर्म-सम्राटों में अद्वितीय माना गया है। किन्तु, बौद्धधर्म ग्रहण करने के पहले 'महावंस' ने इसे कुरकमां खतलाया है।

अशोक के पिता का नाम 'विन्दुसार' और माता का नाम 'सुमद्रांगी' अथवा 'धर्मा' था। सुमद्रांगी चम्पानगर (भागलपुर) के एक ब्राह्मण की रूपवती कन्या थी। किन्तु 'धर्मा' के सम्बन्ध में लिखा है कि वह मौर्यवंश की थी। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के विचारानुसार तो 'चाणक्य' विन्दुसार के समय तक मंत्रित्व का भार वहन करता था<sup>३</sup>। जो हो, विन्दुसार की मृत्यु २७६ ई० पूर्व हुई और 'अशोक' २७२ ई० पूर्व मगध की गद्दी पर बैठा<sup>४</sup>। किन्तु, भगवतशरण उपाध्याय ने २७२ ई० पूर्व विन्दुसार की मृत्यु और २६८ या २६६ ई० पूर्व अशोक का राज्यारोहण माना है। पर दोनों मतों में पिता की मृत्यु के बाद पुत्र का राज्यारोहण चार वर्ष बाद हुआ, ऐतिहासिकों की ऐसी ही मान्यता है। अपने पिता की जीवितावस्था में अशोक उज्जैन का शासक था। लंका के इतिहास-ग्रन्थ 'महावंस' के

१. प्राचीन भारत का इतिहास (भगवतशरण उपाध्याय) — पृ० १०७

२. महानन्दिमस्ततः शूद्रगर्भोऽबोऽतिबली महापद्मनामा नन्दः परशुराम इवापरोऽपिलखनास्तकारी भविष्यति। स चैकच्छत्रममुलक्षितशासनी महापद्मोऽवनीं भोजयति—विष्णुपुराण : ४, २४, १६-२१

३. पाटलिपुत्र की कथा—पृ० १२१

४. प्राचीन भारत (वीरगंगाप्रसाद मेहता, सन् १९४८ ई० का संस्करण) — पृ० १३६

अनुसार इसने अपने २६ भाइयों को मारकर मगध की गद्दी ली थी<sup>१</sup>। किन्तु बाद के इतिहासकारों ने इसे गलत बताया है। फिर भी, लंकावासी अतिशयोक्ति में सचाई का कुछ अंश तो जरूर मालूम पड़ता है; क्योंकि अपने पिता के मरने के चार वर्ष बाद अशोक का राज्यारोहण होता है। इस अवधि में यह निश्चित रूप से गद्दी के लिए अपने भाइयों से संघर्ष-रत रहा होगा<sup>२</sup>। बिन्दुसार के बड़े पुत्र का नाम 'सुपीम' अथवा सुमन था<sup>३</sup>, जो इसका शायद सौतेला भाई और कश्मीर का शासक था। बिन्दुसार की मृत्यु के समय सुपीम पाटलि-पुत्र से बहुत दूर कश्मीर में ही था और अशोक उज्जैन में। पिता की मृत्यु का समाचार पाते ही अशोक ने उज्जैन से जल्दी ही आकर मगध की गद्दी ले ली। जब सुपीम को यह घटना मालूम हुई, तब वह भी पाटलिपुत्र पहुँचा और गद्दी के लिए युद्ध करता हुआ अशोक के द्वारा मारा गया। निश्चय है कि सुपीम के पक्ष लेनेवाले उसके और भाई इस युद्ध में मारे गये होंगे अथवा मध्य एसिया की ओर भाग गये होंगे। इस तरह चार वर्षों के बाद मगध से मुक्त होकर अशोक राजगद्दी पर सम्राट् बन बैठा।

अशोक के पूर्वजों ने मगध-साम्राज्य को इतना सुदृढ़ तथा इसकी सीमा को इतना विस्तृत कर लिया था कि अशोक को इसके लिए कोई विशेष चिन्ता करने की जरूरत नहीं थी। किन्तु अशोक के राज्य में बंगाल और अश्मक (आन्ध्र) के बीच कलिंग स्वतंत्र था, जो मौर्य साम्राज्य के लिए एक खटका बना हुआ था। उस कलिंग को अपने अधीन करने के लिए अशोक ने उस पर चढ़ाई कर दी। दोनों ओर से घनघोर युद्ध हुआ। अन्त में मारी नर-संहार कराकर कलिंग ने घुटने टेके। इस युद्ध में डेढ़ लाख कलिंग-निवासियों को मगध की सेना ने बन्दी बनाया, एक लाख के लगभग कलिंगवासी घायल होकर पंगु बन गये और उनका जीवन नष्ट हो गया। एक लाख से भी ज्यादा मार डाले गये<sup>४</sup>। यद्यपि अशोक की विजय हुई थी, तथापि इस भीषण नर-संहार से उसका कलेशा दहल उठा। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि आगे से युद्ध नहीं करूँगा और उसके हृदय में जीवों के प्रति करुणा की भावना जागरित हुई तथा अहिंसाप्रती बौद्धों की ओर उसका मुकाब हुआ। इसके अतिरिक्त भी एक और ऐसी घटना घटी, जिससे अशोक ने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया।

यह पहले कहा गया है कि अशोक के बड़े भाई का नाम सुपीम था, जो राज्य के लिए

१. महावंस—परि० ५, श्लोक २०

२. डॉ० वासुदेव उपाध्याय (पटना-विश्वविद्यालय) का मत है कि बिन्दुसार की मृत्यु के बाद अशोक के राज्याभिषेक में जो चार वर्ष का समय लगा, उसका कारण यह था कि वह २४ वर्ष की उम्र तक नहीं पहुँच सका था और अभिषेक उस समय इससे कम आयुवालों का नहीं होता था। ऐसा उस समय का धार्मिक विधान था।—ले०

३. महावंस, परि० ५, श्लोक ३८

४. अशोक की धर्म-लिपियाँ—पृ० १९१

५. महावंस—५, ४३



लड़ाई करता हुआ अशोक के द्वारा मारा गया था। जिस समय सुषीम मारा गया उस समय उसकी विधवा पत्नी 'सुमना' गर्भवती थी। पति के मारे जाने पर उसने एक चाण्डाल के घर जाकर शरण ली और अपनी तथा अपने गर्भ की रक्षा की। वही सुमना ने समय पूरा होने पर पुत्र-प्रसव किया। इस पुत्र का नाम उसने 'न्यग्रोध' रखा। कुछ बड़ा होने पर वह बालक बौद्ध भिक्षु बन गया। 'महावग्ग' नामक स्थविर ने न्यग्रोध की वीक्षा दी थी।

एक दिन भिक्षु न्यग्रोध भिक्षाटन करता हुआ अशोक के राजप्रासाद के पास से जा रहा था कि अपने प्रासाद-कक्ष से उसपर सम्राट् अशोक की दृष्टि पड़ी। यद्यपि अशोक को उस भिक्षु का किसी तरह का परिचय प्राप्त नहीं था, तथापि उसकी सौम्य आकृति तथा शांत-गंभीर प्रकृति को देखकर सम्राट् मुग्ध हो गया और उसने उसे अपने निकट बुलवाया। पता नहीं, किस स्नेह के कारण अशोक ने उसे राज्य-सिंहासन पर बैठने के लिए कहा। महार्थस (पाँचवाँ परिच्छेद) कहता है कि न्यग्रोध सहज भाव से और निर्विकार चित्त होकर सम्राट् के कहते ही उस सिंहासन पर जाकर बैठ गया। सम्राट् को भिक्षु की इस निर्भयता से अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उसने बाद में भिक्षु न्यग्रोध की परीक्षा के लिए कुछ प्रश्न भी किये। अशोक के प्रश्नों के उत्तर में न्यग्रोध ने अणुमाद वगैरह का उपदेश किया। कहते हैं कि भिक्षु के उपदेशों की अशोक के हृदय पर ऐसी गहरी छाप पड़ी कि वहाँ अशोक ने अपने को 'शील' तथा 'शरण' में प्रतिष्ठित करने के लिए न्यग्रोध से प्रार्थना की तथा भिक्षु ने अशोक को शील और शरण में प्रतिष्ठित भी किया। कलिंग के नर-संहार के बाद वह एक दूसरी घटना थी, जिससे अशोक बौद्धधर्म की ओर उन्मुख हुआ।

अशोक के बौद्धधर्म के प्रति ऐसे उत्कट प्रेम में एक तीसरा संयोग भी था और वह था—सम्राट् के गुरु मोग्गलिपुत्र तिष्य का सान्निध्य। मोग्गलिपुत्र तिष्य भी सारिपुत्त-महामौद्गल्यायन एवं महाकाश्यप की तरह ही ब्राह्मण-पुत्र थे। उन्होंने लोगों की तरह ये सभी धर्मों और दर्शनों के प्रगाढ़ विद्वान् थे। सम्राट् अशोक के सम्पूर्ण धर्म-पराक्रम तिष्य के प्रभाव तथा प्रेरणा के ही परिणाम हैं। सच पूछिए, तो बौद्धधर्म को स्थायी रूप देने में प्रथम संगीति के आचार्य 'महाकाश्यप' का ही सारा श्रेय है; पर संसार में बौद्धधर्म का झंडा उड़ाने में तो इसी मोग्गलिपुत्र तिष्य का हाथ है, जिसका साधन सम्राट् अशोक था।

तिष्य का जन्म पाटलिपुत्र नगर के एक ब्राह्मण-गृह में हुआ था। कुछ विद्वानों की राय में इनके पिता का नाम 'मोग्गलि' था और कुछ की राय में 'मोम्मलि' इनकी माता का नाम था। ब्राह्मण-पुत्र तिष्य अपनी अठारह वर्ष की आयु में ही तीनों वेदों के पारंगत विद्वान् हो गये थे। वेदों के अतिरिक्त इन्होंने दूसरे शास्त्रों का भी गम्भीर अध्ययन किया था।

१. धम्मपद का द्वितीय सर्ग।

२. शील पाँच है—अहिंसा, असत्य, काम-मिथ्याचार का त्याग, सत्य और मादक पदार्थों का त्याग।

३. शरण तीन है—बुद्ध-शरण, धर्म-शरण और संघ-शरण।

जिस समय मोग्गलि-पुत्र तिष्य ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे थे, उस समय 'सिग्गव' नामक बौद्ध स्थविर सात वर्षों से तिष्य के घर पिण्डपात के लिए आया करते थे। सिग्गव का इतने दिनों से निरन्तर पिण्डपात के लिए तिष्य के यहाँ आने में एक ही कारण था कि तिष्य-जैसे प्रतिभाशाली छात्र को बौद्धधर्म में लाया जाय। सिग्गव परिचय-प्रभाव की प्रगाढता तथा अनुकूल अवसर की ही ताक लगाये चुप थे। एक दिन वह अवसर आ ही गया। तिष्य विद्याध्ययन के लिए अपने गुरु के घर गये थे। ऐसा जानकर ही सिग्गव उनके घर आये। अकस्मात् तथा अनवसर बौद्धभिन्नु को उपरिस्थ हो जाने पर तिष्य के पिता ने जल्दी में, तिष्य का ही आसन 'सिग्गव' के लिए बैठने को दे दिया। सिग्गव उसी आसन पर बैठकर तिष्य के पिता से बातचीत करने लगे। इसी बीच तिष्य घर आ गये। कहते हैं कि आगे आसन पर बैठे बौद्ध भिन्नु को देखकर तिष्य का चेहरा समझमा आया, जिसे सिग्गव ने अच्छी तरह भाँप लिया। 'सिग्गव' ने अनुकूल अवसर देखकर तिष्य से पूछा—'क्या तुम शास्त्र जानते हो?' तिष्य ने भी सिग्गव से ऐसा ही प्रश्न किया। इसपर स्थविर सिग्गव ने कहा—'हाँ, मैं तो शास्त्र जानता हूँ।' सिग्गव का इतना कहना था कि समतमाये तिष्य ने तुरत वेद-मंत्रों की व्याख्या पूछ दी। किन्तु, सिग्गव साधारण भिन्नु तो थे नहीं, उन्होंने उन मंत्रों की सुन्दर और विस्तृत व्याख्या कर दी।

सिग्गव स्वयं वेदज्ञ थे और पाटलिपुत्र के किसी ब्राह्मण-श्रमाल के पुत्र थे। ब्राह्मण-ग्रंथ का अध्ययन कर लेने के बाद उन्होंने बुद्ध-धर्म में प्रव्रज्या ली थी।

तिष्य के प्रश्नों के उत्तर दे लेने के बाद सिग्गव ने तिष्य से अभिधर्मपिटक के 'चित्तपमक' प्रकरण की कुछ बातें पूछीं, जिनका उत्तर तिष्य नहीं दे सके। सिग्गव के अपार ज्ञान को देखकर तिष्य ने उनसे शिक्षा लेने की प्रार्थना की, जिसे सिग्गव ने स्वीकार कर लिया और तिष्य को शिष्य बनाया। तिष्य ने सिग्गव के अतिरिक्त पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध दूसरे भिन्नु 'चण्डवज्जि' से बौद्धधर्म-ग्रन्थों की भी शिक्षा ली। चण्डवज्जि भी पाटलिपुत्र के एक ब्राह्मण-श्रमाल के ही पुत्र थे और सिग्गव के साथी थे। दोनों ने साथ-साथ ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। वह सारी कथा 'महावंस' के पाँचवें परिच्छेद में मिलती है। उसके अनुसार अशोक तक की शिष्य-परम्परा क्रमशः इस तरह थी—(१) बुद्ध, (२) उपासि, (३) दासक (वैशाली-निवासी), (४) सोणक (काशी-निवासी), (५) सिग्गव और चण्डवज्जि, (६) मोग्गलिपुत्र तिष्य और (७) अशोक।

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है कि 'ललितविस्तर' और 'महावस्तु' नामक दोनों बौद्धग्रंथ अशोक के गुरु का नाम 'उपगुप्त' बतलाते हैं। किन्तु, वह नितान्त भ्रामक है। उपगुप्त को आनन्द के शिष्य 'माध्वन्दिन' का शिष्य कहा गया है। इसके अतिरिक्त साणक-वासी का शिष्य भी उन्हें कहा गया है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि उपगुप्त सर्वास्तिवादी सिद्धान्त के उच्चापकों में से थे। किन्तु, ये सारी बातें ऐतिहासिक पद्धति तथा अशोक के विचारों के प्रतिकूल हैं। आनन्द से लगभग २५० वर्ष बाद सम्राट् अशोक हुए, इसलिए

आनन्द के प्रशिष्य उपगुप्त अशोक के गुरु नहीं हो सकते। इसी तरह यदि वे सायकवासी के भी शिष्य थे, तब भी अशोक के गुरु नहीं हो सकते; क्योंकि सायकवासी का अस्तित्व हम दूसरी संगीति के समय देखते हैं, जो नान्दिवर्द्धन के समय में हुई थी और जो अशोक से लगभग १५० वर्ष पहले हुई थी। इसी तरह अशोक के संरक्षण में होनेवाली तीसरी संगीति के अवसर पर हम देखते हैं कि अशोक ने संघ से सारे सर्वास्तिवादियों को निकाल दिया था, तब भला कैसे समझा जाय कि सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के उन्नायक उपगुप्त अशोक के गुरु थे।

मोग्गलिपुत्र के शिष्यत्व ग्रहण कर लेने पर अपने गुरु से अशोक ने पूछा—‘मगध, बुद्ध-उपदेशों की संख्या कितनी है?’ इसपर तिष्य ने कहा—‘चौरासी हजार।’ अशोक ने तब इसी संख्या के आधार पर चौरासी हजार बौद्ध बिहार बनवाये, जो कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण लगता है। यद्यपि पुरातत्त्ववेत्ताओं की राय में मौर्यकाल में बुद्ध की मूर्ति नहीं बनती थी,

तथापि कहा गया है कि अशोक ने ‘नागराज महाकाल’ से बुद्ध की मूर्ति भी बनवाई थी। उपर्युक्त बिहारों में ही पाटलिपुत्र के ‘अशोकाराम’ धर्मनिष्ठा और ‘कुक्कुटाराम’ बिहार भी थे, जिनका निर्माण ‘इन्द्रगुप्त’ नामक व्यक्ति की देख-रेख में हुआ था। अशोक की बौद्धधर्म में ऐसी निष्ठा जगी कि

अपने साथ सारे परिवार को बौद्धधर्म में उसने प्रवर्जित कराया। अशोक के सहोदर भाई तिष्य, ‘महाधर्मरक्षित’ स्थविर से प्रवर्जित हुए थे। अशोक का भानजा अग्निव्रदा भी, जो अशोक की पुत्री ‘संघमित्रा’ का पति था, तिष्य के साथ ही प्रवर्जित हुआ। इन दोनों की प्रकृष्टा अशोक के राज्वारोहण के चौथे वर्ष में हुई, ऐसा ‘महावंस’ कहता है। किन्तु, यह यथार्थ नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि राज्वारोहण के आठवें वर्ष में कलिंग-विजय हुई थी। उसके पहले अशोक तथा उसके परिवार का बौद्धधर्म ग्रहण करना युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता।

बाद, अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने भी विशरण्या में प्रतिष्ठित होकर प्रकृष्टा ले ली। महेन्द्र ने ‘महादेव’ नामक स्थविर से प्रकृष्टा ली और उपाध्याय का कार्य स्वयं मोग्गलिपुत्र तिष्य ने किया। इस अवसर पर ‘माध्यमिक’ स्थविर ने ‘कर्मवाचा’ पढ़ी थी। इसी तरह संघमित्रा की आचार्या ‘आयुपाला’ हुई थी और उपाध्याय का कर्म प्रतिष्ठ मित्रुणी धर्मपाला ने किया था।

सम्राट् अशोक ने जहाँ अपनेको और अपने परिवार को बौद्धधर्म में प्रतिष्ठित करके उसे राजधर्म बनाया, जिससे सर्वसाधारण जनता की अभिरुचि इस धर्म की ओर प्रवृत्त हुई, वहाँ इसने बौद्धधर्म के विकास के लिए राज के खजाने को भी धर्म-कार्य में लगाया। दान के नाम पर खजाने का भी उपयोग इसने बौद्धधर्म के विकास में खूब किया।

तृतीय संगीति दान देने में और भिक्षुओं को भोजन कराने में अपनी उदारता के कारण ही यह ‘अनाथपिण्डक’ की तरह वाचक कहलाने लगा। पाटलिपुत्र के बिहारों में हजारों-हजार भिक्षु भोजन पाते और चैन का जीवन बिताते थे। उन्हें चीवर भी भरपूर मिलता और आवास के लिए तो बिहार बन ही गये थे। फल यह हुआ कि



भोजन आदि के लोभ से अनेक दूसरे धर्म के लोग भी सिर मुड़ाकर बौद्ध भिक्षु बन गये। ऐसे भिक्षुओं की संख्या हजारों तक पहुँच गई। संघ में हजारों नकली भिक्षुओं के आ जाने से धर्म की दुर्दशा होने लगी। इस तरह भोजनमय भिक्षुओं के द्वारा 'विनय' की अवहेलना देखकर 'मोग्गलिपुत्र तिष्य' को बहुत दुःख हुआ और उन्होंने सम्राट् के दान का दुस्रयोग होते देखकर उसे दान करने से रोकना चाहा। पर धर्मोन्मादी सम्राट् अपने दायकत्व के अहंभाव को नहीं छोड़ सका। अन्त में दुःखी होकर मोग्गलिपुत्र तिष्य ने पाटलिपुत्र छोड़ दिया, और वे 'अहोमंग' पर्वत पर चले गये।

कुछ दिनों बाद पाटलिपुत्र के विहार में कुछ धर्मानिष्ठ बौद्धों और नकली बौद्धों में झगड़ा खड़ा हो गया। झगड़ा ऐसा बढ़ा कि संघ में उपोसथ-कर्म तक बन्द हो गया और चार वर्षों तक बन्द रहा। बात यह हुई कि सभी भिक्षु एक साथ मिलकर 'उपोसथ' करने की राजी नहीं होते थे और एक विहार में बौद्ध नियम के अनुसार उपोसथ-कर्म अलग-अलग हो नहीं सकता था। ऐसा करना विहित नहीं है। यह बात सम्राट् तक पहुँची। सम्राट् अशोक ने भिक्षुओं के झगड़े की शान्त करने के लिए 'अशोकाराम विहार' में अपने एक अमात्य को भेजा। उस बेवकुफ् अमात्य ने झगड़ा शान्त होते न देखकर जबरदस्ती उनसे उपोसथ-कर्म कराना चाहा। पर जब उसने देखा कि राजभय से भी ये भिक्षु नहीं डरते, तब उसने क्रोध में आकर कई भिक्षुओं के सिर काट डाले<sup>१</sup>। वह ऐसा क्रोधोन्मादी हो गया था कि तबतक वह भिक्षुओं का संहार करता रहा, जबतक अशोक का छोटा भाई 'तिष्य', जो बौद्ध भिक्षु हो गया था, उस हत्यारे के सामने आकर बैठ न गया। तिष्य ने सामने आकर कहा— 'अब तुम जब हमारा सिर काट लोगे, तभी किसी का काट सकते हो।' सामने तिष्य को देखकर उस अमात्य का क्रोध शान्त हुआ।

इस अप्रत्याशित दुर्घटना का समाचार जब सम्राट् अशोक को मालूम हुआ, तब वह माथा पीटकर रह गया। इस हत्या-जनित पाप की शान्ति के लिए तथा संघ के झगड़े की शान्त करने के निमित्त अशोक ने 'अहोमंग' पर्वत पर, मोग्गलिपुत्र तिष्य को बुला लाने के लिए, आदमी भेजा। मोग्गलिपुत्र ने आने से इनकार कर दिया। आदमी जब लौट आया, तब सम्राट् ने अनेक प्रार्थनाओं के साथ फिर मोग्गलिपुत्र के पास राज्य के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति को भेजा। दूसरी बार मोग्गलिपुत्र ने आना स्वीकार कर लिया। जब 'अहोमंग' से गंगा के मार्ग द्वारा नाव पर तिष्य आये, तब गंगा के घाट पर स्वयं सम्राट् आया और गर्दन-भर पानी में जाकर अति सत्कारपूर्वक, हाथ पकड़कर, मोग्गलिपुत्र को उसने नाव से उतारा। पाटलिपुत्र में आकर मोग्गलिपुत्र ने संघ को शुद्ध करने के लिए सम्राट् के साथ मंत्रणा की और नकली भिक्षुओं को संघ से निष्कासित करने की कहा, जिसे अशोक ने मान लिया।

मोग्गलिपुत्र तिष्य ने अशोकाराम में इसके लिए एक बहुत बड़ी सभा की, जिसे

१. इस पुस्तक के पृ० १६२ की टिप्पणी द्रष्टव्य।

२. महावंस—५, २२०

तृतीय संगीति कहते हैं। इस संगीति में सम्राट् स्वयं उपरिष्ठ था। इस संगीति की चर्चा प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में नहीं मिलती है; पर लंका के इतिहास-ग्रन्थ 'महावंस' में प्राप्त होती है। उसके अनुसार इस तृतीय संगीति में चुने हुए इस हजार भिन्नु सम्मिलित हुए, ये और यह संगीति नौ महीनों में सम्पन्न हुई थी। अशोक ने मोग्गलिपुत्र की आज्ञा से 'शाश्वतवादियों' और 'आत्मानन्दिकों' को ( जो भेरवाद के सिद्धान्त और उसके विनय को नहीं मानते थे ) संघ से बाहर करके उसे शुद्ध किया। किन्तु जो भिन्नु बाहर निकाले गये, वे कुछ थोड़े नहीं थे, उनकी संख्या ६० हजार थी। ये भिन्नु पाटलिपुत्र से जाकर 'नालन्दा' में जमे और तभी से नालन्दा सर्वास्तिवादियों का गढ़ बना। ये सर्वास्तिवादी नालन्दा से ही दक्षिण में गये और वहाँ से कश्मीर, मध्य-एशिया तथा चीन में फैले। एक शाखा मथुरा में भी यहीं से गई। तृतीय संगीति में मोग्गलिपुत्र ने 'कथावत्थु' की रचना की<sup>२</sup>, जो बौद्ध ग्रन्थों में अत्यन्त मान्य एवं 'अभिधम्म' ग्रन्थ है।

अशोक ने अपने गुरु मोग्गलिपुत्र तिष्य की प्रेरणा और धर्म-श्रद्धा से बौद्ध तीर्थों का भ्रमण किया। इसने अनेक बौद्ध तीर्थों तथा अन्य स्थानों में भी धर्म के स्मारक-स्वरूप अनेक स्तूप बनवाये, स्तम्भ खड़े कराये एवं शिला-लेख लिखवाये। इन अनेक स्मारकों में से कई को चीनी यात्री फाहियान ने ( पाँचवीं सदी में ) और ह्वेनसांग ने ( सातवीं सदी में ) भी देखा था। अशोक के शिला-लेख और स्तम्भ-लेख हमारे प्राचीन इतिहास तथा सम्राट् की महत्ता के जीवित साक्ष्य हैं।

अशोक के पितामह तथा पिता ( चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार ) ने विजय का प्रयाण कर मौर्य साम्राज्य का भरपूर विस्तार किया था; पर अशोक ने विहार-यात्रा, मृगया-यात्रा तथा विजय-यात्रा का निषेध कर धर्म-यात्रा का विधान किया था<sup>३</sup>। इन धर्म-यात्राओं में अशोक बुद्ध-प्रयाण की तरह, बड़ी ही शान-बान से, सम्राट् की यात्रा के अनुरूप, प्रयाण करता था। साथ में बड़े सामन्तों, विशालकाय हाथियों, घोड़ों तथा भिन्नुओं का मुँड होता था। रनिवास भी साथ में चलता था। निश्चय रूप से सम्राट् ने धर्म-यात्रा की प्रेरणा भगवान् बुद्ध की चारिकाओं से ली थी, जिनमें बुद्ध के साथ भिन्नुओं का मुँड होता था।

सम्राट् अशोक की धर्म-यात्राएँ २४६ ई० पूर्व, राज्याभिषेक के बीसवें वर्ष में, आरम्भ हुई थी। मोग्गलिपुत्र तिष्य की प्रेरणा से सम्राट् अशोक प्रथम-प्रथम भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान लुम्बिनी गया। पर कुछ विद्वानों की ऐसी भी राय है कि अशोक सर्वप्रथम 'बोधगया' गया था। लुम्बिनी में अशोक ने धर्म के स्मारक-स्वरूप एक स्तम्भ की स्थापना कराई, जिसपर

१. बुद्धचर्या, भूमिका-भाग—पृ० २

२. अभिधम्म पिठक का मुख्य ग्रन्थ।

३. अविकारं अन्तरं राजानो विहारयातो अवाप्तु पत्त मग्गवा अजानि च पतारिसानि अभिरमकानि अद्भुतं सी दिवानं पिवी पियदसि राजा-दसवत्तमिसितो संतो अयाप संकोधि तेनेसा धम्मयाता पत्त वं होति .....।—= वीं प्रकाशन, गिरनार-शिलालेख।

यह वाक्य खुदवाया—हिंद बुधे जाते साक्यमुनि, हिंद भगवं जातेति लुम्बिनी ग्रामे । अर्थात्, इस लुम्बिनी ग्राम में शाक्यमुनि भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था । सम्राट् अशोक धर्मयात्रा करता हुआ लुम्बिनी से 'कपिलवस्तु' गया । बाद में श्रावस्ती, सारनाथ, कुसीनारा बोधगया होता हुआ पाटलिपुत्र लौटा । निश्चित है कि इन तीर्थों के भ्रमण के सिलसिले में अन्य अनेक बुद्ध भूमियों में सम्राट् अशोक गया, और सब जगह उसने स्तम्भ गड़वाकर उनपर लेख खुदवाये थे । इन स्थानों के अशोक-स्तम्भों का उल्लेख करते हुए 'ह्वेनसांग' ने और जगहों के स्तम्भों का भी बयान लिखा है । उसने तक्षशिला में भी अशोक के बनवाये तीन बड़े स्तूपों का वर्णन किया है, जो सौ-सौ फुट ऊँचे थे । 'नगरद्वार' (कन्दहार) के स्तूप के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि वह तीन सौ फुट ऊँचा बना था । इनके अतिरिक्त उसने मधुरा, धानेश्वर, कज्जल, अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, धीनगर, कपिलवस्तु, कुसीनारा, काशी, सारनाथ, मसाढ़ (शाहाबाद), आठवीं, वैशाली, श्वेतपुर (हाजीपुर), राजगृह, गया, हिरण्यपर्वत, ताम्रलिति, महाराष्ट्र आदि जगहों के स्तूपों के सम्बन्ध में भी वर्णन किया है । उसने कहा है कि ये सभी स्तूप और स्तम्भ अशोक के द्वारा बनवाये गये थे । उसने पाटलिपुत्र के सम्बन्ध में भी लिखा है कि यहाँ सैकड़ों संधाराम और विहार थे, जिनमें से मेरे समय तक दो बचे हुए हैं । वह लिखता है—“नगर के उत्तर भाग में एक स्तम्भ है, जहाँ अशोक राजा का काटक बना था । उस जगह से दक्षिण दिशा में एक स्तूप है और उसके पास ही एक विहार है, जिसमें भगवान् बुद्ध का पदचिह्न था । वह एक फुट आठ इंच लम्बा तथा छह इंच चौड़ा था । इसमें चक्र, कमल, स्वस्तिका आदि के चिह्न बने थे । उस विहार के उत्तर भी एक स्तम्भ है, जिस पर लिखा है—‘अशोक ने तीन बार समस्त जम्बूद्वीप को बुद्धधर्म तथा संघ को दान दिया है ।’ राजधानी से दक्षिण-पूर्व में कुक्कुटाराम विहार है । उसी जगह अशोक श्रमणों को चतुर्विध दान देता था ।”

भगवान् बुद्ध के समय में बौद्धधर्म का प्रचार मगध, अंग, वज्जि, मल्ल, कोसल, वत्स तथा अवन्तिराज्य तक ही सीमित रहा । भगवान् बुद्ध की शिष्य-मंडली की वास्तविक संख्या १२५० से ऊपर नहीं गई । किन्तु, सम्राट् अशोक ने बौद्धधर्म को अन्तर-राष्ट्रीय धर्म बनाया और भारत में राष्ट्र-धर्म बनाकर संसार के गौरव-गिरि के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित किया । बौद्धधर्म को यदि अशोक-जैसा सम्राट् नहीं मिला होता, तो संसार में ऐसा गौरव इसे प्राप्त होता कि नहीं, वह कहना कठिन है । बौद्धधर्म के लिए अशोक ने कितना बड़ा और विस्तृत कार्य किया, उसका लेखा-जोखा करना किसी लेखक के लिए असंभव है ।

सम्राट् अशोक के राज्य-विस्तार की सीमा कहाँ तक थी, इसपर उसने स्वयं प्रकाश डाला है । उसके द्वारा लिखवाये गये शिलालेख के दूसरे प्रज्ञापन में, उसके विजित प्रदेशों तथा प्रयत्न देशों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है<sup>१</sup> । इस लेख में उसने प्रयत्न देशों में चौड़

१. सुपेनच्चांग (जगन्नीहन् बर्मा)—पृ० १४३

२. सर्वत्र विजितम् देवानं पिबसः पिबदसिनो राज्ञो ध्वजपि - - - चतस्रु यथा चोडा पाञ्च सतिषपुत्री



( चोल, जिसकी राजधानी 'चिन्ननायल्ली' के पास 'उडैयूर' थी ), पाण्ड्य ( मदुरा ), सत्यमित्र ( सत्यव्रत-मण्डल = कांचीवरम् ), केरलपुत्र ( मलाबार ), ताम्रपर्णी ( सिंहल ), अन्तियोक ( सिरिया-चैकिट्ट्या ), और इसके सामन्त-राज्यों को गिनाया है। शेष भारत के सभी राज्य अशोक के अधीन अधवा करद थे। इन सभी प्रदेशों में अशोक ने एक से अधिक बौद्ध विहार बनवाये, धर्म-लेख खुदवाये, स्तम्भ गड़वाये और धर्म-प्रचार के लिए विद्वानों को नियुक्त किया। किन्तु, ये सभी उद्योग गुरु 'तिथ्य' के योजनानुसार हुए थे, इस बात का स्मरण रखना चाहिए।

अशोक के धर्मोद्योगों की चर्चा उसके धर्मलेखों के अतिरिक्त लंका के इतिहास-ग्रंथ 'दीपवंस' तथा 'महावंस' के द्वादश परिच्छेद में विस्तार से मिलता है। उन ग्रन्थों के उल्लेख के अनुसार मोगालिपुत्त तिथ्य ने तृतीय संगीति समाप्त कर लेने पर प्रयत्न देशों में धर्म की स्थापना के लिए, कार्तिक-पूर्णिमा को, निम्नांकित स्थानों में, जिन विद्वानों को भेजा था, उनके नाम इस प्रकार हैं—

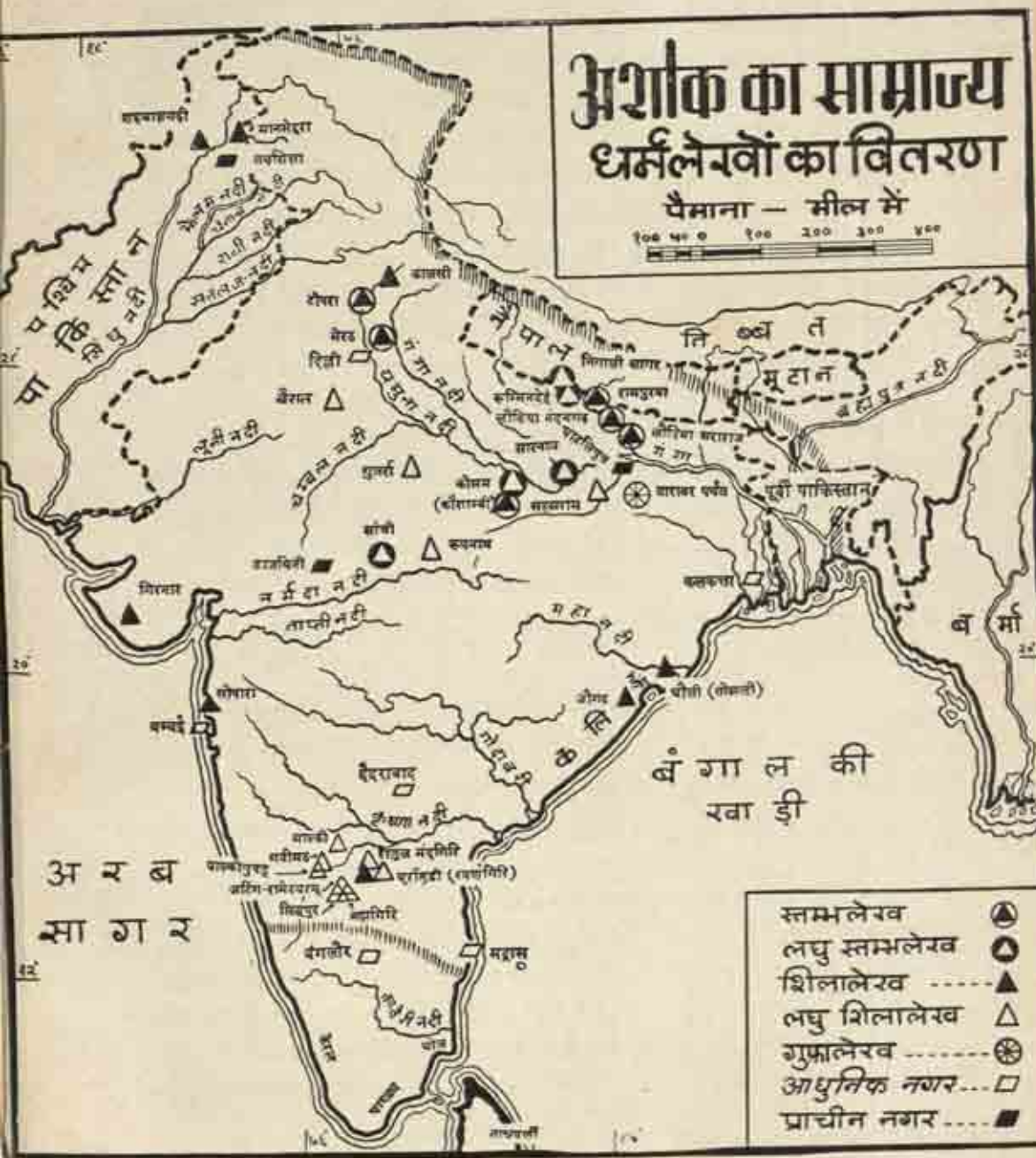
१. कश्मीर और गंधार में...	...	स्थविर माण्यमिक
२. महिष्यमंडल में...	( आधुनिक खानदेश, नर्मदा से दक्षिण )	स्थविर महादेव
३. घनवास में...	( मैसूर के उत्तरी भाग )	स्थविररक्षित
४. अपरात में...	( बंबई से सूरत तक )	यवनधर्मरक्षित
५. महाराष्ट्र में...	...	महाधर्मरक्षित
६. यवन ( चैकिट्ट्या ) में...	...	महारक्षित
७. हिमालय-प्रदेश में...	...	प्रविग्गम
८. सुवर्ण-भूमि ( यसां ) में...	...	स्थविर सोण और उत्तर
९. सिंहल द्वीप में...	इहिय, उत्तीय, सम्बल और भद्रशाल के साथ महेंद्र ; बाद में संघमित्रा <sup>२</sup> ।	

इन कार्यों के अतिरिक्त अशोक के धर्म-शिलालेख भी हिमालय से मैसूर तक और पश्चिम में काठियावाड़ से पूर्व में उड़ीसा तक के पहाड़ों की चट्टानों पर विभिन्न भाषाओं में खुदे हैं। इतिहासकारों ने तिथिक्रम के अनुसार इन अभिलेखों को आठ भागों<sup>३</sup> में विभक्त किया है, जो इस प्रकार हैं—(१) लघु शिला-लेख, (२) भाज-शिलालेख, (३) चतुर्दश शिला-लेख, (४) कलिंग-लेख, (५) गुहामिलेख, (६) तराई स्तम्भ-लेख, (७) प्रधान स्तम्भ-लेख और (८) गौण स्तम्भ-लेख।

केवलपूर्वी भाग पश्चि अन्तियोक की सीमावा ये बापि तस्स अन्तियकस सामीप राजानो सर्वस देवानं पियस पियसिनी राज्ञो द्वे विकील कता—गिरनार-शिलालेख।

—अशोक की धर्मलिपियाँ ( म० म० गौरीशंकर हीराचन्द्र शोभा )—पृ० १५-१६

१. अन्तियोक के अधीन राज्य—(१) तुरमय, (२) अन्तिजिन, (३) मग और (४) असिकतुन्दर।
२. संघमित्रा के धर्मप्रयाण का इरव 'अजन्ता' की एक गुफा में भी उत्कीर्ण है।—ले०
३. आकनकोट बिस्टी आम्बु इन्धिया (विसेंट रिमथ)—पृ० १०३-१०४







१—लघु शिला-लेख बारह हैं—(क) सिद्धपुर (मैसूर); (ख) ब्रह्मगिरि-मैसूर में ही; (ग) जतिंग रामेश्वर—मैसूर में ही; (घ) भास्की—रायचूर जिला ( मध्यप्रदेश ); (च) स्यानाम (जबलपुर); (छ) वैराट (जयपुर-राज्य), (ज) साताराम ( शाहाबाद जिला, बिहार ); (झ) गुर्जरा (दतिषा); (ट) राजुल (मंदगिरि); (ठ) येरांगुडी ( कर्नूल ); (ड) गभीमठ (रायचूर) और (ढ) पाल्कीगुण्ड (रायचूर)। गुर्जरा और भास्क्रीवाले लेख पर अशोक का नाम भी खुदा है। अन्य लेखों में कहीं नाम नहीं है।

२—मात्र-शिला-लेख वैराट (जयपुर) में ही प्राप्त हुआ है।

३—चतुर्दश शिला-लेख, प्रधान शिला-लेख के नाम से प्रसिद्ध हैं और जो लगभग २५६ ई० पूर्व लिखे गये हैं। इनमें चौदह प्रज्ञापन होने के कारण ये चतुर्दश शिला-लेख कहलाते हैं। ये निम्नलिखित स्थानों में मिलते हैं—(क) कालसी ( देहरादून के पास ); (ख) गिरनार (जूनागढ़, काठियावाड़); (ग) सहवान-गढ़ी (पेशावर की सुसुफजई तहसील); (घ) मानसेरा ( अबटाबाद, हजारा ); (च) येरांगुडी (कर्नूल, मद्रास); (छ) सोपारा ( संवई, थाना जिला); (ज) धौली (उड़ीसा) तथा (झ) जौगढ़ (गंजाम, उड़ीसा)। इनमें प्रथम पाँच स्थानों में चौदहों शिला-लेख प्राप्त हुए हैं। सोपारा में केवल अष्टम और नवम अभिलेखों के कुछ अंश मिले हैं। धौली और जौगढ़ में प्रथम से दशम शिला-लेख तथा चौदहवाँ अभिलेख मिलते हैं। इनमें एकादश, द्वादश और त्रयोदश अभिलेख नहीं हैं। येरांगुडीवाले अभिलेखों का पता १६२८-२६ ई० में लगा है, जो सबसे पहले लिखे गये थे।

४—कलिंग-लेख भी दो हैं—जो धौली की प्रधान लेखोंवाली शिला पर ही खुदे हैं। ये भी २५६ ई० पूर्व के ही हैं।

५—गुहाभिलेख तीन हैं। तीनों बिहार-प्रदेश के गया जिले के 'बराबर' पहाड़ी की गुफाओं में उत्कीर्ण हैं। इनका समय २५७ ई० पूर्व से २५० ई० पूर्व है।

६—तराई स्तम्भ-लेख भी दो प्राप्त हुए हैं। ये नैपाल की तराई-स्थित 'रुम्मिनी देई' और 'निलिवा' ग्राम में हैं। इनका समय २४६ ई० पूर्व माना गया है।

७—प्रधान स्तम्भ-लेख सात हैं, जो छह स्थानों में स्थित हैं। इनकी खुदाई का समय २४३-२४२ ई० पूर्व है। सातों इस प्रकार से हैं—(क) अम्बाली के पास 'टोपरा' नामक स्थान में और (ख) मेरठ में। इन दोनों की 'फिरोजशाह तुगलक' उन स्थानों से उठवाकर दिल्ली में लाया था, जो आज भी दिल्ली में ही हैं। (ग) प्रयाग का स्तम्भ, जो पहले कौशाम्बी में था, उसे भी फिरोजशाह तुगलक ने ही कौशाम्बी से प्रयाग में मँगाया होगा, ऐसा अनुमान है। इसी स्तम्भ पर दो लेख अशोक ने खुदवाये थे। (घ) लौरिपा अरेराज, (च) लौरिपा नन्दनगढ़ तथा (छ) रामपुरवा। ये तीनों स्तम्भ तथा इनपर के तीनों अभिलेख

१. इसी जगह पर चन्द्रगुप्त मौर्य ने 'सुदर्शन' नामक मील, अपने परिवर्ती प्रदेश के राज्याधिकारी पुष्यगुप्त की देख-रेख में, खुदवाई थी, जहाँ से अशोक ने सिन्धु के लिए नहर निकलवाई थी।—ले०

बिहार-प्रान्त के चम्पारन जिले में है। इस तरह इन छह स्थानों में—छह स्तम्भों पर—सात स्तम्भ-लेख अशोक के मिलते हैं।

८—गीण स्तम्भामिलेख चार हैं। एक साँची में है और दूसरा सारनाथ (बनारस) में। ये गीण लेख प्रयाग के स्तम्भ पर भी हैं, जो पीछे खोदे गये हैं। इनका समय २४२ ई० पूर्व से २३२ ई० पूर्व माना गया है।

उपयुक्त आठ प्रकार के अभिलेखों में तीसरा प्रकार चतुर्दश शिला-लेख का है। ये अशोक के प्रधान शिला-लेख के नाम से अभिहित होते हैं, जिनमें चौदह प्रज्ञापन हैं। प्रथम प्रज्ञापन में पशुओं का वध निषिद्ध है, जिससे अहिंसा-धर्म का बोध होता है। दूसरे में मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सा के प्रवन्ध करने का उल्लेख है, जो अशोक के दयाशील हृदय का सूचक है। तीसरे में, हर पाँचवें वर्ष, बड़ी धूम-धाम से धार्मिक कृत्य का विधान है, जिसके द्वारा चिरन्तों में से धर्म-रत्न में प्रतिष्ठित होने का अनुराग प्रकट होता है। चौथे में धर्म का बखान है, जिसमें जीवदया, ब्राह्मण-श्रमण-सत्कार और माता-पिता के प्रति भक्ति प्रकट करने का संदेश है। पाँचवें प्रज्ञापन में सम्राट् ने जिन धर्ममहाभावी तथा उपदेशकों को नियत किया है, उसका वर्णन है। छठे में सर्वसाधारण लोगों तथा समाज में सुधार के लिए जो आचार-शिक्षक नियुक्त हुए थे, उनकी चर्चा है। ये सभी शील को प्रतिष्ठित करते हैं। सातवें प्रज्ञापन में सब के लिए धार्मिक अप्रतिरोध प्रकट किया गया है, जिससे बौद्धधर्म के विस्तार के लिए सम्राट् की आकुलता प्रकट होती है। आठवें में प्राचीन समय से प्रचलित आखेट आदि की निंदा की गई है और उसके स्थान पर धार्मिक यात्रा की स्थापित किया गया है। नवें में धार्मिक शिक्षा तथा सदुपदेश की चर्चा है। दसवें में सत्यधर्म के प्रचार तथा सत्यवीरता की प्रशंसा है। बारहवें में सभी दानों से श्रेष्ठ 'धार्मिक शिक्षा-दान' को बतलाया गया है। बारहवें प्रज्ञापन में सार्वजनिक वैभव की तरह, आचार के प्रभाव से अन्य धर्मवालों को अपने धर्म में सम्मिलित करने की बात है। तेरहवें में कलिंग-विजय के साथ सीमाप्रान्तों का उल्लेख है, जहाँ अशोक ने बौद्धधर्म के उपदेशक भेजे थे। इसी तरह चौदहवें प्रज्ञापन में उपयुक्त सभी लेखों का सारांश है और सूचना के उद्देश्य के सम्बन्ध में चर्चा है।

अभिलेखों के सम्बन्ध में यह छोटी-सी व्याख्या से स्पष्ट किया गया है कि लोगों में ऐसा भ्रम नहीं रहे कि अशोक सामान्य मानव-धर्म का उच्चायक था, केवल बौद्धधर्म का नहीं। अभिलेख खुदवाने का बहुत-कुछ तात्पर्य भी स्पष्ट किया गया है। सम्राट् ने तो अपने शिला-लेखों के उद्देश्य के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—'इतिहास की चिरस्थिति के लिए इस धर्मलिपि को खुदवाया'।<sup>१</sup> इन सभी लेखों में बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्तों के आधार पर ही कार्यरूप का प्रज्ञापन है तथा पंचशील<sup>२</sup> का इनमें निरूपण है। इसलिए आप देखेंगे कि

१. धर्मलिपि लेखापिठा किति चिरं तिष्ठेय—गिरनार-शिलालेख।

२. प्राणातिपात-विरति, अदत्तादान-विरति, काममिष्याचार-विरति, मृषापवाद-विरति और सुरामेर्य-पान-अमादस्थान-विरति—ये पंचशील हैं, किन्तु प्रवृत्त्या के समय मिलु अपनाते थे।—ले०

अशोक के द्वारा लिखवाये अभिलेखों में अहिंसा, मृगया तथा विहार-यात्रा के निषेध गुरु-जनों की सेवा-शुश्रूषा, धार्मिक सहिष्णुता, दान-कर्म के प्रतिपादन, धर्म-मंगल के उपदेश, मत्कीर्त्ति के बखान, आदर्श राजा, अपनी राजनीति, शासन-पद्धति, पाण्डशालाओं, चिकित्सा तथा औषधालय के प्रबन्ध, धर्म महामात्रों की नियुक्ति, तीर्थाटन आदि की ही प्रधानता है। धर्म के प्रति ऐसा उद्योग करनेवाला सम्राट् इतिहास में दुर्लभ है, जिसने सम्पूर्ण देश में तथा पड़ोसी देशों में भी पाण्डशालाओं, औषधालयों<sup>१</sup> एवं नातायात का निर्माण कराया हो। सम्राट् का हृदय केवल मनुष्य-जाति के प्रति ही दया-द्रवित नहीं था, बल्कि उसने पशुओं तथा पक्षियों पर भी दया करके चिकित्सालय का प्रबन्ध कराया था।

कुछ विदेशी विद्वानों का कहना है कि अशोक ने धर्म के जो कार्य किये, वे बौद्ध धर्मानुयायी होने के कारण नहीं। वे सभी मानव-धर्म थे और वस्तुतः हिन्दू-धर्म के अंग थे तथा अन्य धर्मों की तरह सम्राट् अशोक बौद्धधर्म का भी संरक्षक-भात्र था। सभी धर्मों पर उसका अशोक के बौद्ध समान प्रेम था। अशोक वस्तुतः मानवधर्मोपासक था। इस तरह कहने-धर्मानुयायी होने वालों में 'जेम्स फ्लोड' जैसे पुरातत्त्वविद् भी हैं। किन्तु अशोक के धर्म-का प्रमाण प्रेम का स्पष्ट चित्र हमें भाबू-शिलालेख<sup>२</sup> में मिल जाता है, जिससे पता चलता है कि वह बौद्धधर्मानुयायी था। इस शिलालेख में बौद्धधर्म के त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म और संघ) का तथा बौद्धधर्म के अन्य सात प्रसंगों का उल्लेख प्राप्त होता है। इस बात के स्पष्टीकरण के लिए इन सात प्रसंगों की संक्षिप्त चर्चा यहाँ आवश्यक है।

शिला-लेख में जिन सात प्रसंगों का उल्लेख मिलता है, वे बौद्धधर्म के सात सूत्र हैं। इन सात सूत्रों का संदेश अशोक ने राजपुताने के भिच्छु-संघ के लिए भिजवाया था। वे सात संदेश ही भाबू-शिलालेख के रूप में उत्कीर्ण हैं। सूत्रों का रूप इस प्रकार है—

विनयसमुक्ते, अलियवसानि, अनागतमयानि, मुनिगाथा, मोनेय्यसुत्ते, उपतिसपसिने, राहुलोवादे। इन सात सूत्रों के लिए अशोक ने लिखवाया—“इन सूत्रों के सम्बन्ध में भवन्त ! मेरी इच्छा यह है कि बहुत-से भिच्छु और भिच्छुशिष्या इन्हें बार-बार सुनें और कण्ठस्थ करें। इसी प्रकार उपासक तथा उपासिकाएँ भी आचरण करें<sup>३</sup>।” अब हम स्पष्टीकरण के लिए उपयुक्त सातों सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) विनयसमुक्ते का अर्थ है—विनय-समुत्कर्ष, जिसे धर्मचक्र-प्रवर्त्तन भी कहते हैं। यह बुद्ध के द्वारा शृण्णपत्तन (सारनाथ) में पंचवर्गाय भिच्छुओं के लिए उपदिष्ट हुआ था। इसमें चार आर्यसत्य और अष्टांगिक मार्ग का उपदेश है। अशोक ने इन्हीं के आचरण के लिए “विनयसमुक्ते” का संदेश भिजवाया था।

१. रातो दवे चिकीछ कता मनुस चिकीछा च पसु चिकीछा च औसुदामि च ख्यति मनुसो पयमानि पसोपयमानि च...। —गिरनार-लेख (द्वितीय प्रकाशन)

२. भगवता बुधेन भासितं तवे से सुमासितं—भाबू-शिलालेख।

३. भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कोसम्बी)—पृ० ३२०



(२) अलियवसानि का अर्थ है—अरियवंसं सुत। यह 'अंगुत्तर निकाय' के 'चतुष्कनिपात' में वर्णित है। इसमें उन चार आर्यवंशों का प्रसंग है, जो सदा संतुष्ट और प्रविविक्त थे। उन्होंने सन्तुष्ट और प्रविविक्तों की तरह भिक्षुओं को सदा संतुष्ट और प्रविविक्त रहने का संदेश अशोक ने खुदवाया।

(३) अनागतमयानि—यह भी 'अंगुत्तर निकाय' के 'पंचकनिपात' में है। इन पाँच आनेवाले मरों (बुढ़ापा, रोग, दुर्मित्र, विप्लव और संघ-भेद) से भिक्षुओं को सदा सतर्क रहने के लिए कहा गया है।

(४) मुनिगाथा—यह 'सुत्तनिपात' का 'मुनिसुत्त' है, जो बारहवाँ सुत्त है और इसमें पन्द्रह गाथाएँ (श्लोक) हैं। इन गाथाओं में प्रथम और अन्तिम को छोड़कर तेरह गाथाओं में मुनि की परिभाषा कही गई है। इन्हीं परिभाषाओं के अनुसार भिक्षुओं को आचरण करने के लिए अशोक ने कहा है।

(५) मोनेय्यसुत्ते—इसका भी वर्णन 'सुत्तनिपात' में 'नालकसुत्त' के नाम से आया है। कथा में वर्णन है कि 'असित' शृष्टि के भगवाने 'नालक' ने भगवान् बुद्ध से प्रवृत्तियों के लिए धर्म पूछा है। उसके उत्तर में भगवान् बुद्ध ने जो उपदेश दिया है, उसमें क्रोध, स्त्री, हिंसा, लोभ, अधिक भोजन, समाज-संघर्ष, सम्भाषण आदि से बचने लिए कहा है। इसके साथ ही 'मोनेय्य' धर्म (मौन-धारण) की महिमा का बखान है। बुद्ध द्वारा दिये गये इन उपदेशों को भिक्षुओं तथा भिक्षुगणों को आचरण करने के लिए अशोक ने कहा है।

(६) उपतिसपसिने का तात्पर्य है—उपतिथ्य (सारिपुत्र) के 'पसिने' (प्रश्नों) के भगवान् बुद्ध ने जो उत्तर दिये हैं, उनके अनुसार आचरण करना। यह भी 'सुत्तनिपात' के 'सारिपुत्त-सुत्त' में आया है। यह 'सुत्तनिपात' का ५४वाँ सुत्त है और इसमें इक्कीस गाथाएँ (श्लोक) हैं, जिनमें प्रथम आठ सारिपुत्र के प्रश्न-रूप में हैं और शेष बुद्ध के उत्तर हैं। इनमें भिक्षुओं के लिए एकांत-सेवन, निर्भयता, उच्छेदन तथा आत्म-चिन्तन-गहन का उपदेश है। प्रविविक्त चित्त की महिमा का उल्लेख इसमें भी मिलता है।

(७) राहुलोवादे—इसकी चर्चा 'मज्झिम निकाय' में प्राप्त होती है। इसमें भिक्षुओं के लिए हँसी-मजाक का वर्जन किया गया है। इसके अतिरिक्त सत्य की महिमा गाई गई है और कायिक, वाचिक तथा मानसिक कार्यों में शुद्धता एवं एकरूपता बरतने को कहा गया है, जिसके आचरण के लिए अशोक का विशेष आग्रह था।

इस तरह हमने देखा कि बुद्ध के इन सात धर्म-सूत्रों का उल्लेख सम्राट् ने अपने मात्र-शिलालेख में कराया है। इससे स्पष्ट है कि अशोक बौद्ध-धर्मानुयायी था और बौद्ध-धर्म के ही प्रसार में व्यस्त था, जिसके एकमात्र उत्प्रेरक मोमालिपुत्र तिथ्य थे।

शीलनिष्ठ सम्राट् अशोक का चरित्र अत्यन्त उदात्त एवं धर्मपरायण था। उसको कुल, वैभव तथा अधिकार का मद तो छू सक नहीं गया था। संसार में ऐसा निरभिमान सम्राट्

एक भी उपलब्ध नहीं होता है। असत्य-प्रतिपादन तथा बौद्धों के साथ असहिष्णुता दिखानेवाले के प्रति अशोक की अत्यन्त दुःख होता था। बौद्धों के प्रति अशोक की कितनी निष्ठा थी, इसका एक उदाहरण 'दिव्यावदान' की एक कथा से प्रकट होता है। कथा में लिखा है कि अशोक का भाई 'वीताशोक' था। उसने किसी बौद्ध भिक्षु पर असंयमी तथा मर्यादा-हीन होने का दोष मढ़ दिया। सम्राट् अशोक को अपने भाई की दुष्टता का जब समाचार मिला, तब उसने एक पङ्क्ति रचा और उस पङ्क्ति के चक्र में पड़कर वीताशोक एक दिन सिंहासन पर बैठ गया। उसी समय अशोक ने पदार्पण किया और वीताशोक पर सिंहासन-अपहरण का दोष लगाया। दोष साबित हो गया और वीताशोक को सिंहासनापहरण के अपराध में फाँसी की सजा दी गई। फाँसी की तिथि भी एक सप्ताह बाद निश्चित कर दी गई। इस बीच अशोक वीताशोक के पास अनेक प्रकार के उपभोग के सामान भेजता रहा; जिसकी ओर वीताशोक की जरा भी अभिरुचि नहीं रहती थी। सांसारिक उपभोगों की ओर भाई की वितृष्णा की बात सुनकर एक दिन अशोक उसके पास गया और बड़े प्यार से बोला—'देखो जी, तुम्हारी ही तरह कोई भी बौद्ध, जिसे मृत्यु और जन्म का भय है, सांसारिक भोगों और ऐश्वर्यों में नहीं फँस सकता।' वीताशोक ने अपनी करनी पर पश्चात्ताप प्रकट किया और अशोक ने उसे मुक्त कर दिया। बौद्धों के प्रति कितना उत्कट प्रेम सम्राट् के हृदय में था, इससे बहुत-कुछ अनुमान किया जा सकता है।

अशोक ने अहिंसा, मैत्री तथा सेवा का जो मार्ग प्रशस्त किया, उसपर चलकर अनेक राजा सन्ध्याकीर्ति हुए। इतना बड़ा धर्म-प्रचारक और प्रजा-वत्सल अधिपति इतिहास में दुर्लभ पर भी नहीं मिलता है। इसके लिए अपनी ओर से कुछ नहीं लिखकर अशोक के शिला-लेख की ही कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत कर देना उचित होगा। शिला-लेख का हिन्दी-रूपान्तर म० म० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओम्का ने किया है, जिसका सार इस प्रकार है—

"मैं खाता हूँ, अन्तःपुर में हूँ या शयनागार में—प्रतिवेदक लोग प्रजा-कार्य मुझे सर्वत्र सूचित करें, मैं सब समय प्रजा का कार्य करूँगा। जो कुछ आज्ञा मैं जबानी दूँ या अमात्यो को आत्ययिक कार्य सौंपूँ, उस सम्बन्ध में विवाद या एतराज मुझे सूचित किया जाय। कितना ही उद्योग करूँ, कार्य में लगा रहूँ, मुझे संतोष नहीं होता। सब प्राणियों का हित करना ही मैंने अपना कर्तव्य माना है और उसका मूल है—उद्योग और कार्य-तत्परता।" "लोगों के लिए काम करने के अतिरिक्त, मेरा अपना कोई काम नहीं है। जो कुछ प्रक्रम मैं करता हूँ—इसलिए कि जीवों के अश्रु से तृप्ति होऊँ।" "विना उत्कट प्रक्रम के यह दुष्कर है।"

इन पंक्तियों के हर वाक्य पर ध्यान दीजिए और अशोक-जैसे सम्राट् के उदार व्यक्तित्व का मूल्य आकिए। सचमुच ऐसा सम्राट् पृथ्वी पर दुर्लभ रहा है!

मिहिली बौद्ध ग्रन्थों में अशोक का नाम 'धर्माशोक' मिलता है। अशोक के कल्याण का पात्र मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्र था। वह प्राणिमात्र के दुःख से द्रवित होता था। वह संसार के जीवों को दुःख से छुड़कारा दिलाने का प्रयास करता था, जिसके लिए मगवान् बुद्ध ने उद्योग आरम्भ किया था। अशोक की यह उत्कट लालसा थी कि मैं अपने प्रथम से जीवों का उद्धार करूँगा और मगवान् बुद्ध के अधूरे काम को पूरा करूँगा। किन्तु, इन सबके मूल में अशोक के गुरु मोम्मलिपुत्र तिष्य की ही योजना तथा प्रेरणा थी।

यह पहले लिखा गया है कि अशोक ने बौद्धधर्म की सेवा में अपने समस्त परिवार को लगा दिया था। इसके अतिरिक्त यह भी लिखा गया है कि अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को धर्म-प्रचार के लिए लंका भेजा था। दोनों भाई-बहन का जीवन धर्म-प्रचार में ही उत्तर्जित था।

महेन्द्र की माता का नाम 'देवी' या 'महादेवी' था और वह 'विदिशा' में रहती थी। अशोक जब राजकुमार था, तभी बिन्दुसार ने उसे युवराज बनाकर विदिशा की निगरानी करने के लिए वहाँ भेज दिया था। वहीं अशोक ने एक 'देवध्रेणी' नाम के व्यक्ति की कन्या से विवाह कर लिया, जिसका नाम 'देवी' था। इसी रानी से महेन्द्र और संघमित्रा का जन्म हुआ था। संघमित्रा महेन्द्र की सगी और छोटी बहन थी। महेन्द्र की आयु जब चौदह साल की थी, तब अशोक ने पाटलिपुत्र की गद्दी पाई थी। इसके बाद अशोक पाटलिपुत्र में रहने लगा; पर उसकी रानी, जो महेन्द्र की माता थी, अपने मायके विदिशा में ही रहती थी।

अशोक के राजवारोहण के सातवें वर्ष में, महेन्द्र ने 'महादेव' स्थविर से, प्रव्रज्या ली थी। उस समय महेन्द्र की आयु इक्कीस वर्ष की हो चुकी थी। प्रव्रज्या लेने के बाद अशोक ने लंका में धर्म-प्रचार के लिए कुछ भिक्षुओं के साथ उसे भेजा। लंका जाने के पहले छह मास तक महेन्द्र राजगृह के आस-पास के बौद्ध विहारों में घूमता रहा और बौद्धों से मिलकर अपने ज्ञान में वृद्धि करता रहा। इसके बाद लंका जाते समय रास्ते में वह अपनी माता से विदिशा में आकर मिला। महेन्द्र की माता को जब समाचार मिला कि मेरा पुत्र भिक्षु हो गया है और धर्म-प्रचार के लिए लंका जा रहा है, तब उसने पुत्र का भारी सत्कार कराया और अलग एक विहार में ठहरवाया। देवी ने पुत्र की तरह नहीं, बल्कि साधुजनोचित स्वागत का प्रबन्ध अपने पुत्र के लिए किया था। माता का अत्यधिक प्रेम देखकर ही महेन्द्र विदिशा में एक मास तक रुक गया।

जिस समय की यह घटना है, उस समय लंका में 'देवानां पिय तिस्र' नाम का राजा राज्य करता था। सम्राट् अशोक से उसकी गद्दी मैत्री थी। अशोक ने जब अपने पुत्र को, भिक्षुओं के साथ, लंका के लिए रवाना किया, तब उसने दूत भेजकर लंका के राजा को सूचित कर दिया कि जम्बूद्वीप से धर्म-प्रचार के लिए भिक्षु भेजे जा रहे हैं, इनका यथोचित



स्वागत होना चाहिए। महेन्द्र को मालूम था कि पिताजी ने सूचना पहले दे दी है। अशोक २७२ ई० पूर्व राज्य-सिंहासन पर बैठा और उसके छठारहवें वर्ष में—यानी २५४ ई० पूर्व महेन्द्र ने संदल-बल सिंहल में पदार्पण किया। महेन्द्र की आयु उस समय ३२ वर्ष की थी।

‘महावंस’ लिखता है कि जिस दिन ‘महेन्द्र’ ताम्रपर्णी पहुँचा, उसी दिन वहाँ ज्येष्ठा मूल नक्षत्र का उत्सव था—यानी ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा तिथि थी। सारा देश उत्सव मना रहा था। स्वयं राजा ‘देवानां पिय तिस्र’ ४४ हजार पुरुषों के साथ उत्सव मनाने और आखेट करने ‘मिश्रक’ पर्वत पर गया था। महेन्द्र को जब मालूम हुआ कि राजा पर्वत पर उत्सव मना रहा है, तब वह भी भिच्छु-संघ के साथ मिश्रक पर्वत पर ही पहुँचा। तिष्य से साक्षात्कार होने पर महेन्द्र ने परिचय में कहा—‘मैं जम्बू-द्वीप से अशोक के द्वारा भेजा गया धर्म-प्रचारक हूँ।’ राजा को पहले ही सूचना मिल चुकी थी कि सम्राट् अशोक ने धर्म-प्रचार के लिए भिच्छुओं को भेजा है, इसलिए वही उसने महेन्द्र का बड़ा ही उत्तम स्वागत-सत्कार किया। वहीं महेन्द्र ने अपना धर्म-कार्य आरंभ कर दिया—स्वयं राजा को ही ‘हस्तिपादोपमसुत्त’ का उपदेश किया, जिसे सारिपुत्र ने श्रावस्ती में भिच्छु-संघ के सामने दिया था। उसी जगह ‘देवानां पिय तिस्र’ ने उन ४४ हजार व्यक्तियों के साथ विशरण में प्रतिष्ठित हुआ। बाद में राजा की सहायता से अपने साथियों के साथ महेन्द्र ने लंका में धर्म-प्रचार का कार्य पूर्ण किया<sup>१</sup>।

देवाना पिय तिस्र की भगिनी का नाम ‘अनुलोमा’ या ‘अनुला’ था। देश में धर्म का वातावरण देखकर अनुलोमा ने बुद्ध-धर्म में दीक्षित होने के लिए राजा से आज्ञा माँगी। तिस्र ने खुशी-खुशी आज्ञा दे दी; पर महेन्द्र ने कहा—‘मैं श्री को दीक्षा नहीं दे सकता; पर धर्म के वित्तार को रोकना भी ठीक नहीं है।’ इसलिए तिष्य से उसने कहा—‘मैं तो पिताजी के पास संदेश भेजूँगा ही; आप भी संदेश भेजिए कि कृपा कर धर्म के उद्योग के लिए अपनी कन्या (मेरी बहन) संघमित्रा को यहाँ भेज दें, ताकि नारिचों में भी यथोचित धर्म-प्रचार हो। संदेश में यह भी भिजवाइए कि संघमित्रा साथ में बोधि-वृक्ष की शाखा लेती आवे। जिस तरह जम्बू-द्वीप से धर्म की शाखा लंका में आई, उसी तरह बोधि-वृक्ष की शाखा भी, धर्म-शाखा के प्रतीक रूप में, यहाँ लगाई जाय।’

देवाना पिय तिस्र ने शीघ्र ही उपर्युक्त संदेश के साथ अपना दूत पाटलिपुत्र भेजा। जिस समय राजदूत ने लंका के राजा का संदेश अशोक को दिया, उस समय अशोक अपने पुत्र की सफलता सुनकर मारे खुशी के नाच उठा। उसने तुरत ‘बोधगया’ से बोधिवृक्ष की शाखा बड़े सम्मान तथा उत्सव के साथ मँगवाई और संघमित्रा को गंगा में नाव पर बिठाकर तथा बड़ी धूमधाम से अपने हाथों से शाखा उसे देकर, लंका के लिए रवाना किया। लंका में आज तक वह पीपल-वृक्ष वर्त्तमान है, जो संसार का सबसे पुराना वृक्ष है।

१. विशेष जानकारी के लिए ‘महावंस’ देखिए।

बोधि-वृक्ष की शाखा लेकर संघमित्रा जब लंका पहुँची, तब उसका तथा शाखा का शाही स्वागत हुआ। संघमित्रा के जाने पर राजा की भगिनी अनुलोमा देवी पाँच सौ अन्तर्पुर की रमणियों के साथ उससे प्रव्रजित हुई। 'देवानो पिय तिस' का मानवा, जिसका नाम 'अरिष्ट' था, अपने पाँच सौ मित्रों के साथ महेन्द्र से प्रव्रजित हुआ। महेन्द्र जिस बिहार में रहता था, उसका नाम अनुराधापुर-बिहार है, जो आज भी बौद्धों के लिए तीर्थ-स्थान बना हुआ है। लंका में महेन्द्र ने ३८ वर्षों तक धर्म का प्रचार किया और बौद्धधर्म को राज-धर्म एवं राष्ट्रीय धर्म बना दिया। वह अपनी ३२ वर्ष की आयु में लंका गया था और ६० वर्ष की आयु में वहाँ उसका निर्वाण हुआ। इस तरह २२२ ई० पूर्व महेन्द्र का देहान्त हुआ। जिस जगह उनका परिनिर्वाण हुआ, उस पवित्र स्थान को आज भी लंकावासी पूजते हैं और उसका नाम 'श्रुपिन्नुमि-अंगन' है। महेन्द्र के परिनिर्वाण के दो वर्ष बाद ही संघमित्रा का भी निर्वाण लंका में ही हुआ। सम्राट् की इन दोनों सन्तानों ने अपने देश से दूर जाकर बौद्धधर्म के प्रचार और प्रसार में अपनेको उत्सर्जित किया और सम्राट् अशोक ने भी अपने कलेजे के इन दोनों टुकड़ों को, आँखों से दूर भेजकर, धर्म की सेवा में, न्योछावर कर दिया। कैसा था वह महात्मा का धर्मप्रिय सम्राट् !

प्रियदर्शी महाराज अशोक के द्वारा प्रशस्त किये गये धर्म-पथ पर उसके उत्तराधिकारी भी चलते रहे। अशोक के पुत्र 'दशरथ' ने भिक्षुओं के निवास के लिए गया जिले (बिहार) अशोक के अन्व की 'बराबर पहाड़ी' में, जहाँ उसके पितामह अशोक ने भिक्षुओं के लिए उत्तराधिकारी गुफा बनवाई थी, गुफाओं का निर्माण कराया था। इस बात का उल्लेख उस पहाड़ी के एक गुफा-लेख में ही है। यह बौद्धों तथा अन्य सम्प्रदाय के साधुओं के लिए बड़ा ही उदार तथा दानशील राजा था।

सम्राट् अशोक की छठी पीढ़ी में बृहद्रथ नाम का राजा हुआ। यह भी बौद्धधर्म का आचरण करता था। पर इसका सारा धर्माचरण दिखावटी था, निष्ठा का उसमें लेश नहीं था। इसलिए धर्म के दोग के कारण वह आलसी तथा कायर कहा जाता था। इतिहास में इसके लिए 'धर्मवादी अपार्थिक' तथा 'मोहात्मा' (महात्मा का अपभ्रंश = मुट्ठ) — जैसे शब्द व्यवहृत हैं। इसका थोड़ा इतिहास जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि अशोक की तीसरी-चौथी पीढ़ी से ही, मौर्य साम्राज्य पर यवनों का अभियान आरंभ हो गया था तथा ये अभियान बृहद्रथ (१६१ से १८४ ई० पूर्व) तक होते रहे। इसी बृहद्रथ के बाद मौर्य साम्राज्य का सूर्य अस्त हो गया। 'खारवेल' के शिला-लेख में 'वहसति मित्र' नाम के राजा का जो उल्लेख मिलता है, वह यही बृहद्रथ था, जिसका प्रमाण 'पुण्यमित्र' के सिक्कों में भी मिला है<sup>१</sup>। इसी बृहद्रथ के समय में 'दिमित्रिय' यवन 'माध्यमिका'<sup>२</sup> और 'साकेत'<sup>३</sup> को

१. बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० ११४ की पाद-टिप्पणी।

२-३. अश्वमेध यवनो माध्यमिकाम्, अश्वमेध यवनः साकेतम्—प्रातजल महाभाष्य।

घेरता हुआ पाटलिपुत्र तक पहुँच गया था<sup>१</sup>। कहते हैं कि उस समय पाटलिपुत्र के बचने का एकमात्र कारण यह हुआ कि देमित्रिय के आक्रमण का समाचार सुनकर कलिंग के राजा खारवेल अपनी भारी सेना के साथ पाटलिपुत्र पहुँच गया। जब खारवेल की सेना पाटलिपुत्र से कुछ दूर ही थी कि देमित्रिय पीछे की ओर हट गया। किन्तु खारवेल ने देमित्रिय का पीछा करते हुए उसे पाटलिपुत्र से बहुत दूर पश्चिम खदेड़ दिया और तब वह पाटलिपुत्र की ओर लौटा। पाटलिपुत्र पहुँचकर उसने अपनी हस्ति-सेना मगधराज बृहद्रथ के 'सुगामेय' प्रसाद में भिड़ा दी<sup>२</sup>। बृहद्रथ पकड़ा गया। खारवेल ने उसे अपने पैरों पर गिरवाया और उससे लाखों की सम्पत्ति उपहार में ली। जिस जिन-मूर्ति को मगध-सम्राट् नन्दिवर्द्धन कलिंग जीतकर पाटलिपुत्र उठा लाया था, उस मूर्ति को भी खारवेल ले गया। इस तरह बृहद्रथ को पद-दलित कर उसने अशोक की कलिंग-विजय का पूरा-पूरा बदला चुका लिया।

बृहद्रथ ने मौर्य साम्राज्य के गौरव को, अपनी नपुंसक-प्रवृत्ति के कारण, मिट्टी में मिला दिया, जिससे अपनी सेना और मगध की जनता की दृष्टि में वह बिलकुल गिर गया। प्रजा ने मगध-साम्राज्य का अपमान समझा, और वह बृहद्रथ से पूर्ण असंतुष्ट हो गई। बृहद्रथ का सेनापति 'पुष्यमित्र' नामक एक ब्राह्मण था, जो उसका पुरोहित भी था। वह राजा की नपुंसक-नीति से तंग आ गया था। उसने मगध की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए, एक दिन सेना के प्रदर्शन-काल में, सेना के समक्ष ही तलवार के एक ही बार में बृहद्रथ के शरीर के दो टुकड़े कर दिये<sup>३</sup>। इसके बाद मगध की गद्दी उसने हथिया ली और इस प्रकार मौर्यवंश का सितारा उसी समय डूब गया। बृहद्रथ की हत्या १८४ ई० पूर्व में हुई थी।

१. ततः साकेतमाक्रम्य पाञ्चालान् मयुरस्तिषा।

यवना दुष्टविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमपुष्पजम् ॥—युग-पुराण

२. विहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० ११३-११४

३. प्रतिष्ठादुर्बलं च बलदर्शनं व्यपदेशादसिताशेषतैव्यः सेनाजीरनार्थं मौर्यं बृहद्रथं विषेण पुष्यमित्रः स्वामिनम् ।—इष्यचरितम्, लघुभाषा ६।



## छठा परिच्छेद

### मौर्यकाल और गुप्तकाल के बीच

मौर्य राजाओं और गुप्त राजाओं के काल में बौद्धधर्म के लिए जैसा और जितना उद्योग हुआ, वह 'न भूतो न भविष्यति'। यानी, बिहार-प्रदेश ने इन राजाओं के काल में ऐसा धर्मोद्योग किया, जिसका सानी, संसार के इतिहास में, किसी भी एक प्रदेश को नसीब नहीं है। पर, इनके बीच के समय में, अनेक वर्षों तक, बौद्धधर्म का वैसा पराक्रम इस प्रदेश में नहीं दिखाई देता। फिर भी, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इस काल में बिहार-प्रदेश ने बौद्धधर्म के लिए कुछ किया ही नहीं। इस काल में भी बिहार के राजाओं, ज्ञानियों और अन्य लोगों ने भी जितना उद्योग किया, वह कुछ कम नहीं है। इतिहास के पन्नों में उसका अपना स्थान है और उस पर भी बिहार-प्रदेश की अपनी खाप है, जो आज तक गौरव-चिह्न के रूप में है। बौद्ध इतिहासकारों ने बिहार के शुंग राजाओं को अत्यन्त बौद्धधर्म-विरोधी कहा है और कहा है कि शुंग राजा पुष्यमित्र ने बौद्धधर्म की बहुत बड़ी हानि की; पर यह इतिहास का एक भ्रामक पृष्ठ है, जिस पर विद्वानों को विचारना चाहिए।

इसमें किसी भी इतिहासवेत्ता की दो राय नहीं है कि मौर्यवंश का अन्त करनेवाला ब्राह्मण पुष्यमित्र ब्राह्मण-धर्म का उन्नायक तथा संस्कृत-भाषा और उसके साहित्य का पोषक था। पुष्यमित्र शुंग-वंश का था, इसलिए वह तथा इसके वंशज शुंग राजा कहलाते थे। शुंग राजाओं के काल में संस्कृत-भाषा के साहित्य का सर्वाङ्गीण और परमोत्कृष्ट विकास हुआ। इस काल में दर्शन, व्याकरण, काव्य, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, वैश्व आदि शास्त्रों का मोड़ार लूब मरा गया। पतञ्जलि-जैसा व्याकरण, योगशास्त्र और भिषग् इसी काल में पैदा हुआ, जो पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ का पुरोहित था<sup>१</sup>। 'मनुस्मृति' का परिवर्द्धन भी इसी काल में हुआ, जो पहले मानव-धर्मशास्त्र के नाम से प्रचलित था। अनेक पुराणों की रचना तथा परिवर्द्धन शुंग-काल में ही हुआ<sup>२</sup>। महाकवि 'कालिदास' को बहुत-से लोग गुप्तकाल का कवि मानते हैं, पर वास्तव में ये शुंग राजा 'भागवत' के समकालीन थे, जिसकी दूसरी राजधानी उज्जैन थी। 'अश्वघोष' की कृतियों के अनुकृतिकार कालिदास नहीं थे, बल्कि कालिदास की रचनाओं का अनुकृतिकार अश्वघोष था। विषयान्तर-भय के कारण इस प्रसंग को छेड़ना उचित नहीं है।

तिब्बती इतिहासकार 'तारानाथ' के अनुसार पुष्यमित्र बौद्धधर्म का नाशक था।

१. इह पुष्यमित्रः याज्ञवामः—पार्लेजल महाभाष्य।

२. प्राचीन भारत का इतिहास (भगवतशरण उपाध्याय)—पृ० १८१

तारानाथ 'दिव्यावदान' ग्रन्थ की कथा के अनुसार कहते हैं कि 'मिनान्दर' को पराजित कर जब पुष्यमित्र उसकी राजधानी 'साकल' ( स्यालकोट ) में पहुँचा, तब उसने एक-एक बौद्ध-भिक्षु के मस्तक के लिए सौन्दी दीनार पुरस्कार देने की घोषणा कर दी<sup>१</sup>। और, इसने इस तरह अनेक बौद्ध भिक्षुओं के सिर कटवाकर बौद्धधर्म का मूलोन्नेद किया। बौद्ध इतिहासकारों का कहना है कि इसने हूँ-हूँ-हूँ कर तमाम उत्तर-भारत के बौद्ध भिक्षुओं के सिर कटवाये। मैं समझता हूँ कि तारानाथ ने अथवा अन्य बौद्धों ने धार्मिक असहिष्णुता के कारण ही ऐसा लिखा है। इसका प्रधान कारण यह था कि एक तो पुष्यमित्र ब्राह्मण-धर्म का उन्नायक था और दूसरे मिनान्दर और बृहद्रथ-जैसे बौद्ध राजाओं का संहारक था। इतना निश्चित है कि मौर्य राजा बृहद्रथ के 'धर्मवादी अधार्मिक' प्रवृत्ति के कारण बौद्धधर्म के प्रति इसका वैसा प्रेम नहीं था, जैसा ब्राह्मण-धर्म के प्रति। बृहद्रथ ने बौद्धों की अहिंसामूलक नीति के ढोंग के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र को अपमानित किया था, जिससे पुष्यमित्र को चिढ़ हो गई थी। इसी तरह बौद्ध राजा मिनान्दर तो मगध-साम्राज्य को मिगलना ही चाहता था। इसलिए अपने शत्रु मिनान्दर को मार डालने पर जब पुष्यमित्र, विजय के उन्माद में, उसकी राजधानी में पहुँचा होगा, तब विजयी राजाओं की तरह आचरण किया होगा और विरोधी फिर सिर न उठावें, इसलिए एक कुशल राजनीतिज्ञ की तरह, उनका नाश किया होगा। इसी बात की अतिशयोक्ति 'दिव्यावदान' ने की है, जिससे सम्पूर्ण बौद्धधर्म के नाशक के रूप में पुष्यमित्र को चित्रित किया जाता रहा है।

पुष्यमित्र के काल में और उसके पहले यवनों की चढ़ाई बार-बार होती रही, जिससे पूर्वी भारत सदा और पूर्णतः संव्रत था। बृहद्रथ के समय में देमित्रिय ने आक्रमण किया था और पुष्यमित्र के समय में उसका दामाद मिनान्दर ( मिलिन्द ) ने। इसी यवन-राजा मिनान्दर को पुष्यमित्र ने गंगा की घाटी में युद्ध करते हुए, १५२ ई० पू०, मार डाला<sup>२</sup>। इसने सिन्धु की घाटी तक अधिकार कर के, विजय के उन्माद में, अश्वमेध यज्ञ किया, जिसका पौरोहित्व कर्म पतंजलि ने किया था। अश्वमेध यज्ञ में छोड़े अश्व की रक्षा के लिए इसने अपने किशोर पौत्र 'वसुमित्र' को नियुक्त किया था, जिसने ग्रीक सेना को सिन्धु-तट पर पछाड़ा था<sup>३</sup> तथा जिसकी सूचना अपने एक पत्र में स्वयं पुष्यमित्र ने पाटलिपुत्र से बिदिशा नगरी में स्थित अपने पुत्र अग्निमित्र के पास दी थी।

१. स यावच्छाकलमनुप्राप्तसेतामिहिथो यी मै अमणसिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।

—दिव्यावदान, पृ० ४३३-४३४

२. दि ग्रीक इन वैविद्रया एण्ड इंडिया ( टार्न )—पृ० २२८

३. ततः परान् पराजित्य वसुमित्रेण पत्विना।

प्रसन्न स्थिमानी में बाहिराकी निवर्तितः ॥—मालाविकाम्निमित्र, ५, १५

अर्थात्—वनपक्षारी वसुमित्र ने शत्रुओं ( यवनों ) को पराजित कर उनके द्वारा हरण किये हुए अश्वराज को लौटा लिया।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि पुष्यमित्र बौद्ध भिक्षुओं के मस्तक के लिए सी-सी दीनार देता चलता था, तो वह निश्चित तौर पर मिनान्दर ( मिलिन्द ) के गुरु और प्रसिद्ध बौद्ध संन्यासी 'नागसेन' के सिर के लिए एक लाख दीनार देता । नागसेन-जैसे बौद्ध विद्वान् के कारण सैकड़ों लोग बौद्ध होते थे, फलतः पहले उन्हीं का शीर्षच्छेद पुष्यमित्र कराता । इसी नागसेन के साथ मिलिन्द ( मिनान्दर ) का प्रश्नोत्तर हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप 'मिलिन्द पञ्च' नामक प्रसिद्ध पुस्तक की रचना हुई है ।

'मिलिन्द पञ्च' से पता चलता है कि नागसेन का जन्म बिहार-प्रदेश के 'कज्जगल' क्षेत्र (सताल-परगना) में हुआ था । इनके पिता का नाम 'सोणुत्तर' था । इसके अतिरिक्त नागसेन की शिक्षा पुष्यमित्र की प्रमुख राजधानी पाटलिपुत्र के अशोकराम विहार में हुई थी, जहाँ पुष्यमित्र सेनापति के पद पर था । इसके अतिरिक्त नागसेन के गुरु का नाम 'धर्मरक्षित' था । वे अशोकराम विहार के प्राचार्य थे, जहाँ बौद्ध भिक्षुओं का ठठू लगा रहता होगा ।

नागसेन अपनी बौद्धधर्म की प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर जब पाटलिपुत्र में शिक्षा लेने आ रहे थे, तब रास्ते में उनसे पाटलिपुत्र का एक व्यापारी मिला, जो इन्हें बौद्ध भिक्षु जानकर भी अपनी बैलगाड़ी पर बिठाकर लाया और अशोकराम विहार में उसने इन्हें पहुँचाया । पुष्यमित्र के नगर में ही बौद्धों की देशविक्रयत शिक्षा-संस्था अशोकराम विहार का अस्तित्व कैसे संभव था ? धर्मरक्षित-जैसे बौद्धधर्म के प्राचार्य पाटलिपुत्र में बौद्धधर्म की शिक्षा क्या देते, उनके तो प्राणों के लाले पड़े होते ? इसके अतिरिक्त भी उस काल के अनेक बौद्ध विद्वानों का पता चलता है, जो पूर्ण स्वच्छन्द होकर बौद्धधर्म का प्रचार करते चलते थे । इन विद्वानों में सोणगुप्त, अश्वगुप्त, महाउपासिका ( भिक्षुणी ), आयुपाल आदि प्रमुख और बौद्धधर्म-प्रचारक थे । इनके अस्तित्व और धर्माचार का पता हमें 'मिलिन्द पञ्च' जैसे बौद्ध ग्रन्थ से ही प्राप्त होता है । तब प्रश्न है कि इन बौद्ध धर्माचार्यों को वैसे क्रूर पुष्यमित्र ने कैसे छोड़ा ? मिलिन्द पञ्च ( बौद्ध ग्रन्थ ) तो उलटे मिनान्दर को ही असहिष्णु तथा उजड़ू कहता है । इस पुस्तक के अनुसार मिनान्दर परिव्राजकों, ब्राह्मणों, श्रमणों और अन्य तपस्वियों को डूँढ़-डूँढ़कर उनसे तर्क करता था और जो लोग उसके प्रश्नों के उत्तर नहीं देते या उसके तर्कों के आगे मूक हो जाते थे, उन्हें 'साकल' से निकाल बाहर करता था<sup>१</sup> । उस बौद्ध पुस्तक में लिखा है कि 'साकल बारह वर्षों तक श्रमण, ब्राह्मण तथा परिव्राजकों से खाली पड़ा हुआ था—एक-एक कर सभी को मिनान्दर ने साकल से निष्कासित कर दिया था । इससे इतना तो निश्चित है कि जब मिनान्दर बौद्ध हो गया, तब साकल में सिर्फ बौद्ध भिक्षु ही रहते होंगे, ब्राह्मणों को तो उसने आने ही नहीं दिया होगा । वह बौद्ध राजा था, इसलिए उसके ऐसे कारनामों के प्रति 'दिव्यावदान' ने कोई आक्रोश नहीं प्रकट किया है ; किन्तु उसने पुष्यमित्र को जली-कटी सुनाई है ।

१. मिलिन्द पञ्च—१, १, ६, ७

२. मिलिन्द पञ्च, १, १, ३ और १, १, ४

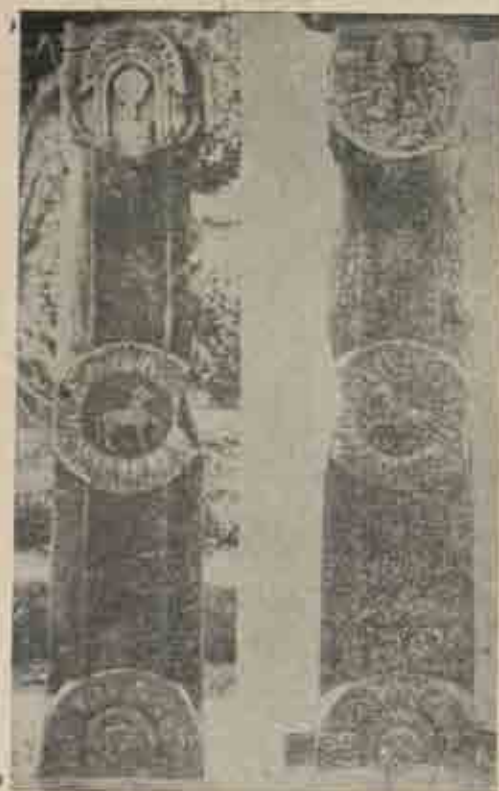




घोरकटोरा ग्राम ( राजयह ) में मिली नाग-नागिन की मूर्ति



अष्टादशभुजी तारा ( कांस्थ-मूर्ति ) मालन्दा



राशि-चक्र ( बोधगया-रैलिंग )  
( पृ० २५० )



बोधगया-रैलिंग का कमल-नाल  
( पृ० २५० )



जैतवन का क्रय-दृश्य—बोधगया-रैलिंग  
( पृ० २५० )

शुङ्गों के समय में बौद्धधर्म के स्मारक-रूप में तथा धर्म के स्थायित्व के लिए जो काम हुए, वे अपने ढंग के अद्वितीय हैं। पाटलिपुत्र के बाद शुङ्गों की दूसरी राजधानी 'विदिशा' नगरी थी। इसी विदिशा के पास साँची स्तूप के द्वार की अद्भुत कारीगरी इसी शुंग-काल की है<sup>१</sup>। इनमें जातकों की कहानियों के आधार पर कई दृश्य उत्कीर्ण

शुङ्गकाल में  
बौद्धधर्म के  
कार्य

हुए हैं। अनायपिएडक<sup>२</sup> (आवस्ती-निवासी सेठ) के द्वारा आवस्ती के 'जैतवन'-कथ का जैसा भावपूर्ण स्पष्ट दृश्य अंकित है, किसी बौद्धधर्म-संहारक राजा के समय यह कभी संभव नहीं था। निश्चित रूप से बौद्ध जातकों

की कहानियों का शुंगकाल में सम्मान था और घर-घर में ये कहानियाँ प्रचलित थीं, जिससे स्मारकों में उनके चित्र अंकित किये जाते थे। स्तूप के निर्माण में तथा उसपर कला के चित्रण में शुंग राजाओं की सहानुभूति तथा प्रत्यक्ष साहाय्य कलाकारों को अवश्य प्राप्त था, अन्यथा ये संसार-प्रसिद्ध स्मारक तथा उनपर अंकित दृश्य कभी नहीं बन सकते थे। केवल सहानुभूति ही नहीं, वरन् साँची और भरहुत-जैसे विशाल स्मारकों में राजा की ओर से आर्थिक सहयोग भी अवश्य प्राप्त होगा। यदि उस काल का राजा बौद्धधर्म का संहारक होता, तो किसी बौद्ध दायक सेठ का ऐसा साहस नहीं होता कि वह इस तरह के अविस्मरणीय बौद्ध-स्मारकों का निर्माण कराता। दोनों स्तूप और उनपर की कलाएँ बौद्धधर्म का जीवित इतिहास हैं, जो पुष्यमित्र के शासन-काल में बने थे।

बोधगया के वज्रासन और उसकी पाषाण-वेष्टिका-वेदी का निर्माण भी इसी शुंगकाल में हुआ, जो साँची और भरहुत के बाद की कृति है। बोधगया की पाषाण-वेष्टिका-वेदी की कला का आधार स्पष्ट रूप से साँची और भरहुत की कला है। बोधगया की पाषाण-वेष्टिका-वेदी (रैलिंग) का निर्माण एक स्त्री ने कराया था, जिसका नाम 'आर्या कुरंगी' था और जो शुंगों के अमात्य 'इन्द्रामित्र' की पत्नी थी। इसमें भाग लेनेवाली दूसरी नारी का नाम 'नागदेवा' था, जो शुंगों के ही एक दूसरे अमात्य 'ब्रह्ममित्र' की पत्नी थी। अभिलेखों से पता चलता है कि आर्या कुरंगी ने बोधगया में भिन्नुओं और भिन्नुणियों के लिए विहार का भी निर्माण कराया था, जो प्रसिद्ध मंदिर के समीप ही स्थित था<sup>३</sup>। इस विहार को चीनी यात्री फाहियान ने भी देखा था। शुंग राजाओं के अमात्यों की पत्नियों ने बौद्धधर्म के लिए ऐसा काम किया, यह प्रमाणित करता है कि शुंग राजा बौद्धधर्म के प्रति भी उदार थे।

बोधगया की रैलिंग की कृति शुंगकाल की है, इसके लिए सबसे बड़ा ज्वलन्त प्रमाण यह है कि जातकों की कहानियों के साथ-साथ उसपर सूर्य भगवान् का चित्र भी उत्कीर्ण है, जो शुंगकालीन धर्म-भावना के समन्वय का उदाहरण है। यह पाषाण-वेष्टनी आज भी मंदिर के पश्चिम-उत्तर कोण में स्थित है। ऐसा समन्वय शुंगकाल की संस्कृति का विवरण उपस्थित

१. प्राचीन भारत का इतिहास (भगवतशरण व्याख्याय) — पृ० १७०

२. भगवान् बुद्ध का दायक।

३. भारतीय कला को बिहार को देन (डॉ० विजयेश्वरीप्रसाद सिंह) — पृ० ७७



करता है। इनके अतिरिक्त खास पाटलिपुत्र के कुम्हारार स्थान की खुदाई में विहारों के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, वे कुपाणकालीन विहार-निर्माण-कला से भिन्न तथा पूर्वकालिक बतलाये गये हैं<sup>१</sup>। साथ ही पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इन्हें मौर्यकाल का नहीं, शुंगकाल का कहा है।

शुंगकाल के कला-केन्द्र आवरती, भीटा, कोसम्बी, मथुरा, बोधगया, पाटलिपुत्र, भरहुत, साँची, अशोला आदि स्थानों में अवस्थित थे<sup>२</sup>, जो बौद्धधर्म के भी केन्द्र थे। मथुरा में शुंगकाल की उत्कीर्ण अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। शुंगकाल में सारनाथ में भी वेदिका का निर्माण हुआ था, जिसके अवशेष सारनाथ के संग्रहालय में आज भी सुरक्षित हैं।

इस तरह हमने देखा कि शुंगकाल में भी, जो बौद्धधर्म के लिए दक्षित काल कहा गया है, बौद्धधर्म के कई महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। नागसेन-जैसा बौद्धधर्म का विद्वान् इसी काल में हुआ, जिसके तर्कों के आगे मिनान्दर मुका और बौद्धधर्म का प्रचारक बना। इस काल में भी बौद्ध विहारों में धर्म की शिक्षा तथा प्रचार-कार्य निरन्तर होता रहा तथा बड़े-बड़े स्मारक तैयार हुए एवं बुद्ध की मूर्तियाँ बनीं।

शुंगवंश का अन्त होने पर मगध में कण्ववंश का राज्य स्थापित हुआ, जिसका इतिहास ग्रंथकार में पड़ा हुआ है। कण्ववंश और गुप्त सम्राटों के बीच का समय भी विहार-

### अश्वघोष

प्रदेश के वास्तविक इतिहास के लिए सुँघला-सा है। अतः अन्य कार्यों की तरह बौद्धधर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी इतिहास का सम्बन्ध ज्ञान नहीं हो पाता। इस काल में पेशावर के 'कनिष्क' नामक सम्राट ने भारत में बौद्धधर्म की रक्षा तथा विकास के लिए बहुत बड़ा उद्योग किया। कनिष्क के उद्योग में अश्वघोष नामक विद्वान् का बहुत बड़ा हाथ था, जिसके ज्ञान-निर्माण का श्रेय मगध के पाटलिपुत्र नगर को ही है।

महायान का उन्नायक अश्वघोष साकेत का रहनेवाला था या पाटलिपुत्र का, इसमें विवाद है। किन्तु, अश्वघोष ने पाटलिपुत्र के 'अशोकाराम विहार' में बौद्धधर्म की दीक्षा ली थी और वहीं के किसी राजा के दरबार में रहकर बौद्धधर्म के विकास में दत्तचित्त था, इस सम्बन्ध में किसी की दो राय नहीं है। इस तरह अश्वघोष को ज्ञान तथा कर्म के क्षेत्र में प्रवेश कराने का श्रेय मगध को ही है। इसका पता नहीं चला कि पाटलिपुत्र का वह कौन राजा था, जिसके पास अश्वघोष रहता था<sup>३</sup>। कनिष्क जब उत्तर-भारत की विजय करता पाटलिपुत्र आया, तब यहाँ से वह उपहार-रत्न में दो रत्न ले गया<sup>४</sup>। एक रत्न था—भगवान् बुद्ध का कमण्डल, जो अशोकाराम विहार में था और दूसरा था—अश्वघोष वार्षनिक, जो

१. भारतीय कला को बिहार की देन—पृ० ८१

२. हिन्दी-साहित्य का प्रुप्त इतिहास (नागरी-व्यचारिणी सभा, काशी), खण्ड ४, अध्याय २, पृ० ६२७

३. इस समय पाटलिपुत्र पर 'सुपुष्य' या उसके वंशज लिच्छवियों का शासन था। द्रष्टव्य—'ग्रंथकार युगीन भारत' ( ५०-६० काशीप्रसाद आशुसवाल )—पृ० २४४

४. पाटलिपुत्र की कथा—पृ० १४७

पाटलिपुत्र के राजा के यहाँ था। अशोक के समय में जो स्थान 'मोग्गलिपुत्र तिथ्य' का था, वही स्थान कनिष्क के समय में अश्वघोष का था। बौद्धधर्म के प्रचार में कनिष्क ने सम्राट् अशोक का अनुसरण किया और अश्वघोष ने मोग्गलिपुत्र तिथ्य का स्थान लिया। अश्वघोष की विद्वत्ता का प्रभाव कनिष्क के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर रहा गया था। इसीलिए कनिष्क ने एक शिला-लेख पर 'अश्वघोष राज इति' वाक्य उत्कीर्ण कराया। अश्वघोष के पिता के नाम का पता नहीं चलता; पर उसकी माता का नाम 'सुवर्णाक्षी' था।

मगध के अन्य बौद्ध विद्वानों की तरह अश्वघोष ने भी पहले ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन किया और दर्शन तथा साहित्य में पारंगत होकर बौद्धधर्म में प्रवेश किया था। यद्यपि बौद्ध सम्प्रदाय में 'पालि' भाषा का बहुत आदर था, तथापि अश्वघोष ने बौद्ध साहित्य संस्कृत-भाषा में लिखा। वह शुंगकालीन संस्कृत-भाषा के उत्थान का ही अश्वघोष की प्रभाव था। यद्यपि अश्वघोष दर्शन-शास्त्र का प्रगाढ़ विद्वान् था, तथापि उसने नाटक और काव्य भी लिखे। सौन्दरनन्द, बुद्धचरित, वज्रसूची, सारिपुत्र-प्रकरण, जातक-माला, सूत्रालंकार, महायानश्रद्धोत्पाद और गरुडस्तोत्र उसके मुख्य ग्रन्थ हैं। सूत्रालंकार का दूसरा नाम 'कल्पनामडतिका' भी है। इस ग्रन्थ का पता चीनी अनुवाद से चला था। चीन देश में इसका अनुवाद ४०५ ई० में हुआ था। इसी तरह 'बुद्धचरित' का चीनी भाषा में अनुवाद पाँचवीं सदी में 'धर्मरक्ष' ने किया और तिब्बती अनुवाद आठवीं सदी में हुआ था। बुद्धचरित की मूल संस्कृत की पाण्डुलिपि नेपाल में मिली थी, जिसकी खण्डित प्रति को, अमृतानन्द नामक विद्वान् ने १८३० ई० में चार सगं और कई श्लोक जोड़कर, पूर्ण किया था। बुद्धचरित का चीनी अनुवाद सारमात्र है, किन्तु तिब्बती अनुवाद पूर्णरूप में है, ऐसा 'डॉ० बेंजल' का कथन है। 'नन्दार्गिकर' ने इसके पाँच सगं का एक प्रामाणिक संस्करण छपवाया है, जो पंजाब के 'बेतिवा' नगर से उन्हें प्राप्त हुआ था।

सातवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में (६७१ ई० से ६८५ ई०) चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत आया था। उसने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है—'अश्वघोष बौद्धधर्म का एक महान् आचार्य था। उसके विरचित ग्रन्थों का अध्ययन वहाँ बड़े मनोयोग-पूर्वक चलता है।' अश्वघोष अपनी विपुल विद्वत्ता के लिए तो प्रसिद्ध था ही, वह एक प्रभावोत्पादक विख्यात वक्ता भी था। उसके भाषणों के मन्द्रघोष सुनकर अश्व (घोड़े) भी शान्त हो जाते थे, इसलिए उसका नाम 'अश्वघोष' था—ऐसी किंवदन्ती ह्वेनसांग ने भारत में सुनी थी। अश्वघोष बौद्धधर्म में सर्वातिवादी शाखा के महायान पंथ का उन्नायक था, जिसका समर्थक कनिष्क भी था।

बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि बौद्धधर्म में अनेक सम्प्रदाय होने के कारण सम्राट् कनिष्क स्थिर नहीं कर पाता था कि धर्म की किस शाखा में अपने की लगाऊँ तथा

किसकी सेवा के लिए उद्योग करें। इसलिए उसने अपने धर्मगुरु 'पार्श्व' की अनुमति से सर्वास्तिवादी शाखा के पाँच सौ भिक्षुओं की एक सभा बुलवाई। इस सभा को कुछ लोग बौद्ध धर्म की चौथी संगीति मानते हैं और कुछ लोग इसे संगीति नहीं मानते।

**अश्वघोष का दर्शन** यह सभा कश्मीर-प्रदेश के 'कुण्डवन विहार' में हुई। यह १४० ई० के आस-पास हुई थी। सभा के आचार्य वसुमित्र और अश्वघोष थे। पहले की संगीतियों की तरह इसमें बुद्ध-वचनों तथा नियमों को शुद्ध नहीं किया गया, इसीलिए बहुत-से विद्वान् इसे संगीति की संज्ञा नहीं देते। बल्कि इस सभा में अश्वघोष द्वारा लिखी एक पुस्तक पढ़ सुनाई गई और विद्वानों की सम्मति की मुहर उसपर लगाई गई। यह पुस्तक एक भाष्य थी, जिसका नाम 'विभाषा' है और जो 'आर्य कात्यायनी-पुत्र' द्वारा निर्मित 'ज्ञानप्रस्थान-शास्त्र' नामक ग्रन्थ की व्याख्या है। ज्ञानप्रस्थानशास्त्र, सर्वास्तिवाद-सम्प्रदाय के 'अभिधर्म-पिटक' का सर्वप्रथम मुख्य ग्रन्थ है। सम्राट् कनिष्क ने अश्वघोष द्वारा रचित 'विभाषा' नामक भाष्य को ताम्र-पत्र पर खुदवाकर स्वर्ण-मंजूषा में बन्द करवाया था<sup>१</sup>। इसी विभाषा भाष्य को लेकर बौद्धधर्म में वैभाषिक सम्प्रदाय की स्थापना हुई। इसी चौथी संगीति तथा विभाषा नामक भाष्य के लिखने के बाद बौद्धधर्म की सर्वास्तिवादी शाखा में महायान और हीनयान नाम के दो सम्प्रदाय हो गये।

यहाँ थोड़ा स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि हीनयान और महायान का तात्पर्य क्या है। अपने धर्म में भगवान् बुद्ध ने सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाने के लिए तीन यानों का विधान किया था। वे तीन यान हैं—अर्हतयान, प्रत्येक बुद्धयान और बुद्धयान। इन तीनों में अश्वघोष ने अपने 'विभाषा' भाष्य में केवल बुद्धयान<sup>२</sup> पर ही जोर दिया, जिसके अनुयायी 'महायानी' कहलाये। तीनों यानों को माननेवालों को वे लोग 'हीन' मानते थे, अतः वे 'हीनयानी' कहलाने लगे<sup>३</sup>। महायानवाले महासांघिक भी कहे जाते हैं और हीनयानवाले स्थविरवादी हैं। हीनयान बौद्धधर्म का प्राचीन सम्प्रदाय 'स्थविरवाद' है।

ह्वेनसांग ने नालन्दा-विश्वविद्यालय के वर्गान के प्रसंग में लिखा है कि नालन्दा का विद्यापीठ सात सौ वर्षों से स्थापित है<sup>४</sup>—यानी ह्वेनसांग के भारत-आगमन से सात सौ वर्ष पूर्व काल से ही। ह्वेनसांग सातवीं शताब्दी के मध्य में नालन्दा आया था, उससे ७०० वर्ष पूर्व के आस-पास सातवाहन के सुहृद् 'नागार्जुन' का अथवा उससे कुछ पूर्व का काल ठहरता है। हमने देखा है कि नालन्दा नगर अशोक के समय में ही सर्वास्तिवादियों का गढ़ हो गया था

१. ह्वेनसांग (बील का संस्करण), भाग १, पृ० १५१

२. प्राचीन भारत का इतिहास—पृ० २१६

३. एकं हि यानं दिवतियं न विषते तृतियं हि नैवास्ति कदापि लोकं।

एकं हि कार्यं दिवतियं न विषते न हीनयानेन नयन्ति बुद्धाः ॥—सद्धर्म पुस्तकरीक—१, ५५

४. बुद्धचर्या (भूमिका-भाग) —पृ० ४

५. ह्वेनसांग (जगन्मोहन वर्मा) —पृ० ११८



तथा तीसरी संगीति में निकाले गये सर्वास्तिवादियों ने नालन्दा में ही अपनी सभा की थी। अतः ह्वेनसांग के कथनानुसार नालन्दा में बौद्ध विद्यापीठ की स्थापना शुंगों के शासन के अन्तिम समय में ही हुई थी, जिसका पूर्ण विकास पाँचवीं सदी में गुप्त सम्राटों ने किया। ज्ञात होता है, नागार्जुन ने इसी विद्यापीठ में महायान सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त कर उसके प्रचार का आन्दोलन आरंभ किया। सर्वास्तिवाद-प्रेम के चलते जिस किसी ने भी उस काल में नालन्दा में विद्यापीठ का निर्माण कराया हो, तो आश्चर्य नहीं, और तभी ह्वेनसांग के कथन की सार्थकता भी सिद्ध होती है।

इस तरह हम देखते हैं कि पहली सदी में भी मगध के बौद्ध-शिक्षालय क्रियाशील थे तथा बौद्ध भिक्षु बौद्धधर्म की रक्षा तथा विकास में दत्तचित्त थे। इन भिक्षुओं में अश्वघोष जैसा विद्वान् एक प्रमुख मानदण्ड था।

## सातवाँ परिच्छेद

### बौद्धधर्म के विकास का स्वर्णिम काल

शुंगों और काल्वों के पश्चात्—( लगभग ३०० वर्ष बाद ) २७५ ई० के आस-पास पुनः मगध-राज्य का वह तेजोदीप्त काल आता है, जिसका उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता । यह समय गुप्तकाल के नाम से प्रसिद्ध है । पाटलिपुत्र के गुप्त राजाओं का काल २७५ ई० से आरम्भ होकर लगभग छठी सदी के अन्त तक चलता रहता है । यह सवा तीन सौ वर्षों का लम्बा समय, बिहार-प्रदेश का ही नहीं, प्रत्युत समस्त भारत का स्वर्णिम काल माना गया है । इस काल में गुप्त सम्राटों ने बौद्धधर्म के लिए बड़े-बड़े उद्योग किये ।

गुप्तकाल अपनी शासन-नीति, साम्राज्य-विस्तार, बहादुरी, पालि एवं संस्कृत-साहित्य के उत्कर्ष, सभी धर्मों के अभ्युत्थान, स्थापत्य तथा मूर्त्तिकला के विकास, नृत्य-संगीत, वाद्य, अनेक ललित कलाओं के संरक्षण आदि के लिए अपना सानी नहीं रखता । इस काल में भी,

सांस्कृतिक  
पृष्ठभूमि

शुंगकाल की तरह, यद्यपि विशेष रूप से संस्कृत-साहित्य एवं भागवत धर्म का असामान्य उत्कर्ष हुआ, तथापि पालि-साहित्य और बौद्धधर्म का भी उत्थान अभूतपूर्व था । इस स्वर्णयुग में एक ओर जहाँ हिन्दू-

शास्त्र एवं संस्कृत-ग्रन्थों के प्रणेता—ईश्वर कृष्ण, उद्योतकर, प्रशस्तपाद, शबररत्नामी, हरिप्रेक्ष, वीरसेन, वत्समहर्षि, मातृगुप्त, भक्त मेण्ड, धन्वन्तरि, शूद्रक, विशाखदत्त, भामह, अमरक, आर्यभट्ट, ब्राह्ममिहिर, सिद्धसेन दिवाकर, दण्डी, मुकधु आदि हुए, वहाँ दूसरी ओर बौद्धधर्म के भी कुमारजीव, बुद्धभद्र, बुद्धघोष, धर्मपाल, गुणवर्मन्, गुणभद्र, आर्यसूर, असंग, वसुबन्धु, बोधिधर्म-विन्ध्यवासी, कोपकार अमरसिंह, संधपाल, परमार्थ, भद्रवर्चि, दिङ्नाग, स्थिरमति, शीलभद्र आदि जैसे विद्वानों ने धर्म के ऊँचे को जरा भी झुकने नहीं दिया, बल्कि आकाश में और ऊँचाई तक फहराया । इस काल में बौद्धधर्म अपने पूर्ण प्रकाश के साथ दूर-दूर तक फैला ।

प्रथम गुप्त राजा 'श्रीगुप्त' सन् २७५ ई० में पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठा । इसके बाद भट्टोत्तचगुप्त, चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (द्वितीय) क्रमशः मगध के राज्य-सिंहासन पर आसीन हुए । द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में ही (सन् ३६६ ई० से ४१२ ई० तक) चीनी यात्री 'फाहियान' भारत आया था । उसने पाटलिपुत्र के सम्बन्ध में लिखा है—'यद्यपि यहाँ का राजा परम भागवत था, तथापि धार्मिक मतभेद के कारण किसी को उसके राज्य में क्लेश नहीं उठाना पड़ता ।' इसी धर्म-सहिष्णुता के कारण परम भागवत गुप्त

राजाओं के काल में बौद्धधर्म की परम उन्नति हुई। जिस हीनयान-सम्प्रदाय की भित्ति कनिष्क के काल में खोखली हो गई थी, उसकी नींव चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में फिर से सुदृढ़ की गई और 'वसुधन्वु' ने सौत्रान्तिकवाद के ऊपर 'अभिधर्मकोश' जैसा ग्रन्थ तैयार किया। वसुधन्वु के भाई असंग ने भी 'विज्ञानवाद' या योगाचार-सम्प्रदाय पर कई ग्रन्थों की रचना की, जिसमें मगध के राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का पूरा प्रोत्साहन प्राप्त था। इस काल में बौद्ध दर्शन में वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और मान्वाभिक—ये चारों सम्प्रदाय सर्वाङ्गपूर्ण होकर स्थिर हुए। यही समय था, जब सर्वास्तिवादी, स्थविरवादी और महासांघिक—तीनों सम्प्रदाय साथ-साथ विकसित हुए। सम्राट् अशोक के समय में जिस तरह बौद्धधर्म के प्रचार के लिए अनेक धर्म-महामाल्य विभिन्न देशों और नगरों में गये, उसी तरह गुप्तकाल में भी लंका, वर्मा, चम्पा, सुमात्रा, चीन, तिब्बत आदि देशों में भी धर्म के प्रचारार्थ मगध के विद्वान् मिले फैले। ये राजा यद्यपि परम भागवत थे, तथापि बौद्धधर्म के विकास का जो मूल स्रोत था, वह इन उदार राजाओं के मानस-सर के अन्तराल से ही प्रवाहित था। इसके अतिरिक्त उनके कुछ ऐसे जीवन्त-ज्वलन्त कार्य थे, जहाँ से धर्म का उल्लस निस्सृत था। इन सभी विषयों का दिग्दर्शन कराना यहाँ आवश्यक है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (द्वितीय) के बाद उसका पुत्र 'कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य' पाटलिपुत्र के राज्य-सिंहासन पर बैठा। यह काल सन् ४१३ ई० का है। इस समय तक चीनी यात्री फाहियान अपने देश चीन जाने के लिए भारत छोड़ चुका था। कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य ने बौद्धधर्म के विकास तथा स्थायित्व के लिए एक ऐसा काम किया, जिसे सम्राट् अशोक ने भी नहीं किया था। यह काम था—नालन्दा में बौद्धधर्म की शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय की स्थापना। यद्यपि नालन्दा स्थान बहुत पहले से—अर्थात् बुद्ध के समय से ही बौद्धधर्म का केन्द्र रहा था और समय-समय पर उसके केन्द्र का विकास भी हुआ था, तथापि संसार-प्रसिद्ध विश्वविद्यालय की स्थापना इसी गुप्त राजा कुमारगुप्त के समय में ही हुई, जिसका विकास गुप्तवंश के सम्राट् करते ही गये।

कुमारगुप्त के ४३ वर्षों का राज्यकाल परम सुख-शान्ति का तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक उत्थान का काल रहा है। इसके पूर्वजों के बलाढ्य प्रभुत्व के कारण आस-पास के सभी राजा क्षीणवीर्य और हतप्रभ होकर इसकी प्रभुता स्वीकार कर चुके थे और इसकी उदारता एवं स्नेहवसलता के कारण प्रजा परम संतुष्ट होकर सुखमय जीवन बिता रही थी। इसीलिए हम देखते हैं कि अपने सम्पूर्ण शासन-काल में कुमारगुप्त का चक्रवर्तित्व बिलकुल अच्युत बना रहा। साथ ही इसके सिक्कों में 'अजित महेन्द्र', 'महेन्द्रादित्य' और 'परमराजाधिराज' का भी उल्लेख मिलता है<sup>१</sup>। इस तरह कुमारगुप्त ने कला तथा धार्मिक उत्थान के द्वारा अपने

१. चतुः समुद्रान्तर्जितोलमेखलान् मुमेष्कैतासमुद्रतपोधरान्।

वन्नान्तवातरपुत्रपुत्रादिसिनी कुमारगुप्ते पृथिवीं यशासति ॥—मन्दसौर-शिलालेख, पत्ती ८, १८

२. गुप्तकालीन मुद्राएँ ( डॉ० अल्लेकर )—पृ० १२४-१२८



शान्तिमय काल का परम सदुपयोग किया। ऐसे ही सदुपयोग के परिणाम-स्वरूप नालन्दा-विश्वविद्यालय की स्थापना हुई।

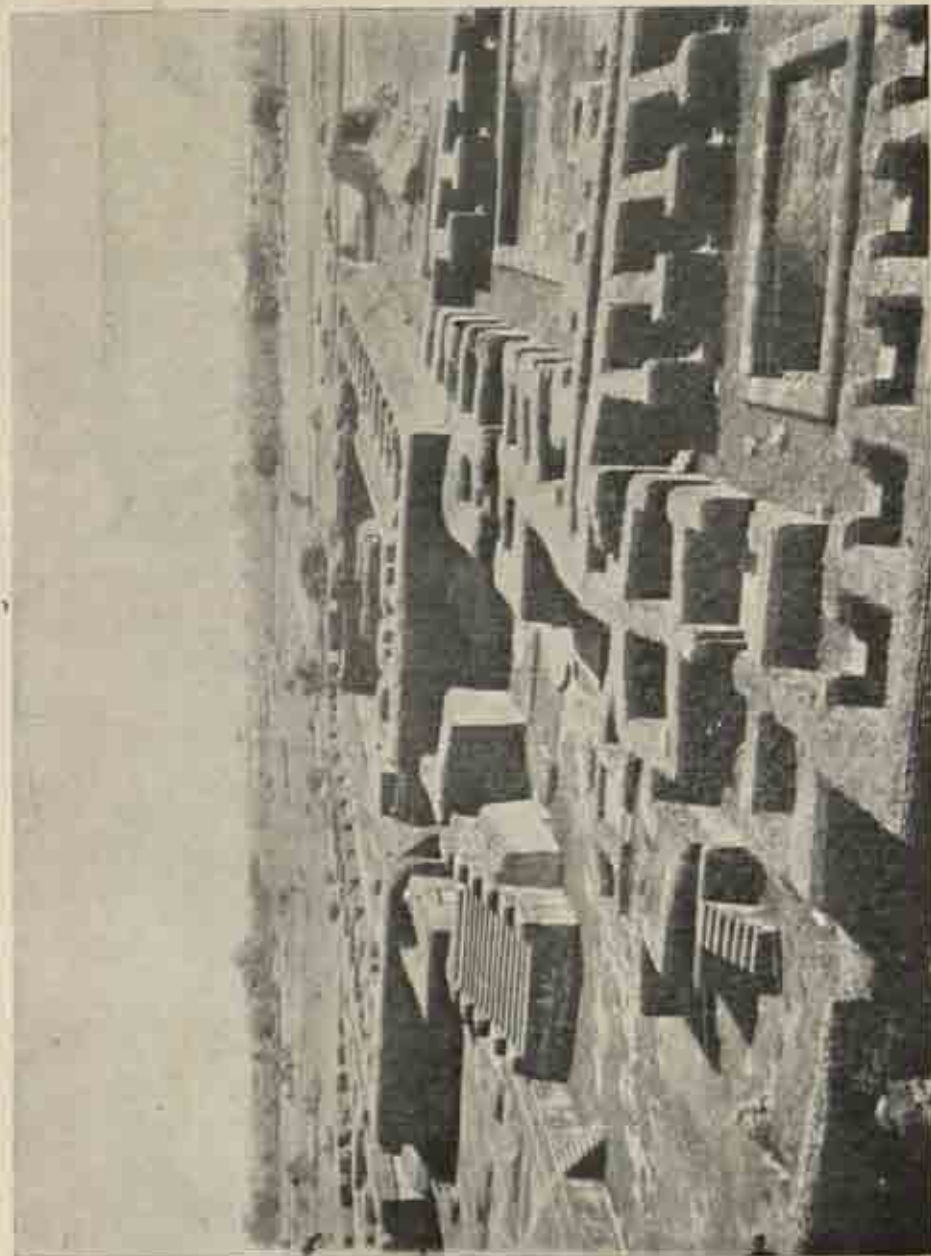
नालन्दा-विश्वविद्यालय कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के समय में निर्मित हुआ, इसका सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि चीनी यात्री फाहियान जब भारत आया था, तब नालन्दा-विश्वविद्यालय का अस्तित्व नहीं था। फाहियान के भारत-आगमन का समय महेन्द्रादित्य के पिता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (द्वितीय) का काल था; क्योंकि कोई कारण नहीं था कि फाहियान अपने यात्रा-विवरण में नालन्दा-विश्वविद्यालय-जैसी संस्था की चर्चा नहीं करता। उसने पाटलिपुत्र में रहकर तीन वर्षों तक बौद्धधर्म का अध्ययन किया। ऐसी स्थिति में यदि नालन्दा-विश्वविद्यालय का अस्तित्व होता, तो वह वहीं अपना अध्ययन समाप्त करता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसने जान-बूझकर छोड़ दिया; क्योंकि विश्वविद्यालय उस समय तक अपनी प्रतिष्ठा पर नहीं पहुँचा था। उसने नालन्दा नगर का नाम, 'नाल' नामक ग्राम के रूप में, अवश्य लिया है, किन्तु, वहाँ के किसी मैत्र, विहार या विद्यालय का जिक्र नहीं किया है<sup>१</sup>। उसके समय तक बौद्धधर्म की मुख्य शिक्षा-संस्था पाटलिपुत्र में थी। उसने पाटलिपुत्र के सम्बन्ध में लिखा है—“पाटलिपुत्र धनाढ्य नगर था। वहाँ हीनयान और महायान की शिक्षा दो विहारों में होती थी। प्रत्येक विहार में लगभग ७०० बौद्ध भिक्षु धर्म की शिक्षा लेते थे। वहाँ के विद्वानों की कीर्ति से आकृष्ट होकर, देश के हर कोने से, विद्यार्थियों के मुँह उनके पास अध्ययन करने आते थे<sup>२</sup>।”

ये पाटलिपुत्र के दो विहार कौन थे? निश्चित रूप से कहा जायगा कि ये दो विहार अशोकाराम और कुकुटाराम ही थे, जो फाहियान के भारत आने के ६५० वर्ष पूर्व स्थापित हुए थे। सम्राट् अशोक ने इनकी स्थापना की थी, जो मौर्य शासन-काल तक तो अक्षुण्ण रहे ही। इसके बाद भी पुष्यमित्र शुंग के समय में भी हमने देखा है कि मिनान्दर के गुरु नागसेन की भी शिक्षा अशोकाराम विहार में ही हुई थी। उसके बाद कनिष्क के काल में भी हम अश्वघोष को इनी विहार में शिक्षा पाते देखते हैं। अतः, मगध में नये-नये साम्राज्य तथा धर्म बने और विगड़े; पर शिक्षा-संस्थाओं पर जरा भी आँच नहीं आई। वे ही विहार इस गुप्तकाल में भी अवस्थित थे, जिनकी चर्चा फाहियान करता है। इसी समय मगध का अति प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् 'बुद्धघोष' धर्म-उद्योग के लिए लंका गया। इसकी शिक्षा भी उन्हीं विहारों में हुई होगी, इसकी बहुत-कुछ संभावना है।

किन्तु, अब प्रश्न होता है कि कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में, वहाँ पहले से ही बौद्धों की दो शिक्षण-संस्थाएँ थीं, विश्वविद्यालय का निर्माण न कराकर नालन्दा में क्यों कराया? इसलिए नालन्दा की प्राचीनता और पवित्रता के सम्बन्ध में यहाँ हमें थोड़ा दृष्टिपात करना होगा।

१. नालन्दा (डॉ० होराकन्द शास्त्री; मैनेजर ऑफ् पब्लिकेशन्स, देहली १९१८)—पृ० ५४

२. प्राचीन भारत (गंगाप्रसाद मेहता)—पृ० २२०



नौवयसमें और बिलार



नौवयस में प्राप्त बुद्ध-मूर्ति

नौवयस में प्राप्त बुद्ध-मूर्ति



बीजधर्म और विहार



मालिन्दा की मत्थरकाटी की खररियों पर का एक दृश्य  
( पृ० २५७ )



मालिन्दा की मत्थरकाटी की खररियों का दूसरा दृश्य  
( पृ० २५७ )

श्रीकृष्ण की स्त्री विराट



नागलक्ष्मी की एक दृश्य



नागलक्ष्मी से प्राप्त बुद्ध-मूर्ति





बीरधर्म और विद्वर



नालन्दा में प्राप्त बुद्ध-मूर्ति



नालन्दा के वैशेषा-मठारनाली बुद्ध-मूर्ति

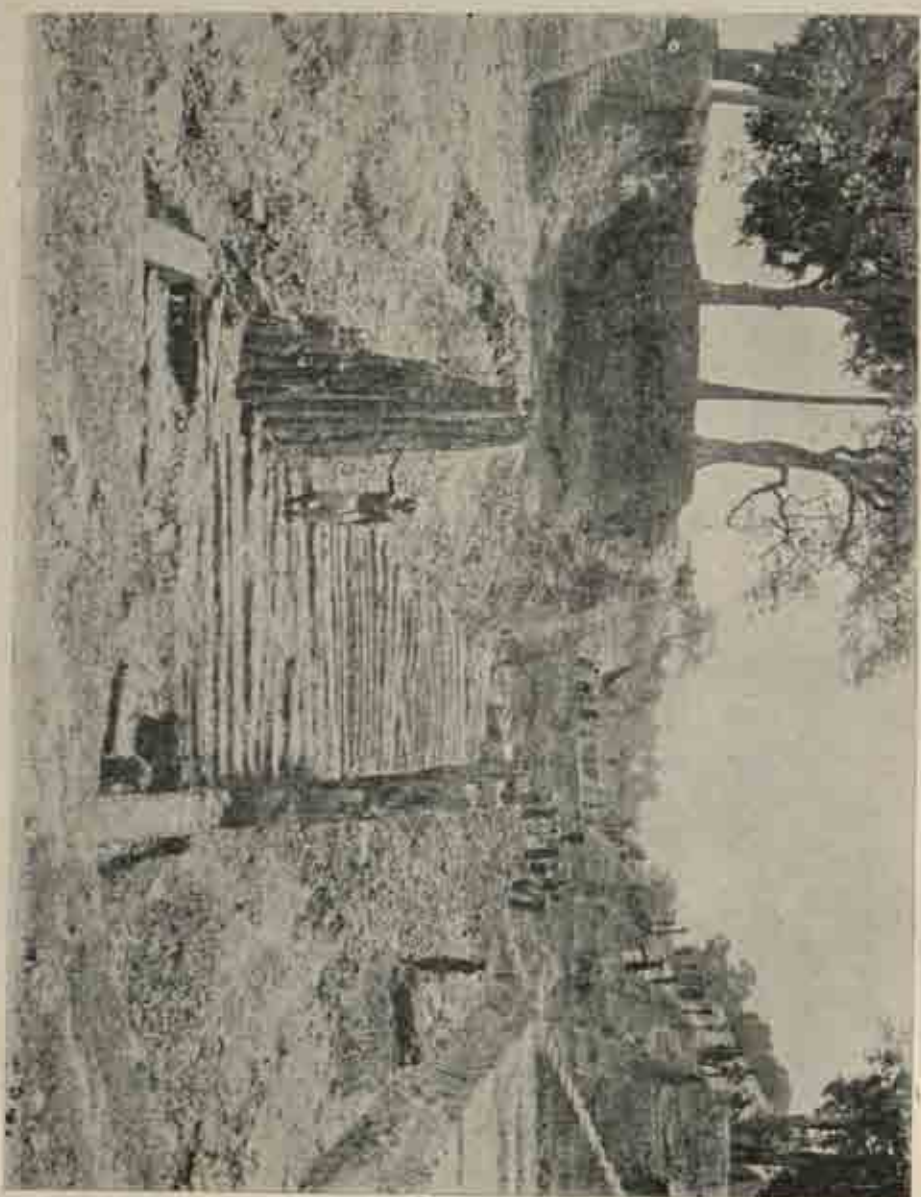


बोधिसत्वा के एक चैत्य का दृश्य (पृ० २५०)



बिजुमपुर (मया) से प्राप्त बुद्ध-प्रतिमा (पृ० २६७)

बीकानेर और पाली



मुल्तानी (पटना), गौरी गंगाधर और गोप ने खुदाई कराई थी

(पृ. २६६)



नालन्दा नगर भगवान् बुद्ध के समय में ही प्रसिद्ध स्थान था, जहाँ वे कई बार गये। साथ ही यह जैन तीर्थंकर महावीर का भी केन्द्र-स्थान था, इसके सम्बन्ध में हमने पहले भी लिखा है<sup>१</sup>। भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्र का जन्म इसी नालन्दा के पास हुआ था। इसके अति-

नालन्दा की  
प्राचीनता

रिक्त ह्वेनसांग ने लिखा है कि नालन्दा को पाँच सौ सौदागरों ने दस कोटि मुद्रा में खरीदकर भगवान् बुद्ध को दिया था<sup>२</sup>। इसके बाद हम अशोक के समय में भी देखते हैं कि तृतीय संश्लोक के अवतर पर जिन सर्वास्ति-

वादियों को अशोक ने संघ से निकाल दिया, उन्होंने नालन्दा में ही जाकर अपनी समा की और सभी से यह सर्वास्तिवादियों का गढ़ बना। इतना ही नहीं, बाद में भी नालन्दा की प्रतिष्ठा नहीं मिटी। शुद्ध राजा पुष्यमित्र तारानाथ के कथनानुसार अपनी एक सम्बन्धिनी महिला से नालन्दा में ही जाकर मिला था<sup>३</sup>। यदि नालन्दा की ऐसी प्रतिष्ठा उस समय नहीं होती, तो तारानाथ इसका उल्लेख नहीं करता। ईसवी-सन् के आरंभ में सर्वास्तिवाद के उन्नायक कनिष्क का यह तीर्थधाम ही होगा, और जिसने सर्वास्तिवाद के विस्तार के लिए नालन्दा का विशेष सम्मान प्रकट किया होगा। अतः ह्वेनसांग सर्वास्तिवादियों के काल से इसे शिष्टा का केन्द्र मानता है। इसके अतिरिक्त महेन्द्रादित्य ने यहाँ विश्वविद्यालय की स्थापना ह्वेनसांग के कथनानुसार इसलिए की कि किसी ज्योतिषी ने उसे बतलाया था कि यदि नालन्दा में विद्या का केन्द्र स्थापित होगा, तो वह एक हजार वर्षों तक स्थायी रहेगा। इस तरह ऐसी अनेक बातें थीं, जिनके कारण कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य ने नालन्दा में विद्या-केन्द्र स्थापित किया।

महेन्द्रादित्य ने विद्या-केन्द्र के रूप में जिस धर्म-चीज का रोपण किया, उसका प्ररोहण होने पर उस विरचे का सिंचन और संवर्द्धन उसके वंशज मली भाँति करते रहे। इस विद्या-केन्द्र का समुचित इतिहास हमें चीनी यात्री ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण में प्राप्त होता है, जो ६३० ई० में भारत पहुँचा और ६४४ ई० के लगभग भारत से विदा हुआ।

ह्वेनसांग का जन्म ६०० ई० में चीन देश के 'काउसी' प्रांत के 'चिनलू' नामक ग्राम में हुआ था। बौद्धधर्म की शिष्टा प्राप्त करने के लिए, उसने अपने देश में, उनतीस वर्ष की आयु में, भारत के लिए प्रस्थान किया। भगवान् बुद्ध ने अपनी उनतीस वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण कर यह का त्याग किया था। जान पड़ता है, ह्वेनसांग ने उन्हीं का अनुसरण किया। यह हर्षवर्द्धन के राज्य-काल (सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध) में भारत आया और उसी के दरबार में अपने देश के लिए ससम्मान विदा हुआ। भारत में आने पर हर्षवर्द्धन से मिलने जब वह 'धानेश्वर' गया, तब हर्षवर्द्धन यात्रा पर गया था और वह पूर्वी देश में था। ह्वेनसांग वहाँ से चलकर मथुरा, भावस्ती होते हुए बिहार-प्रदेश में आया। बिहार में वह सर्वप्रथम महाशाल (मसाढ़, शाहाबाद) आया। वहाँ से आरा नगर का चैत्य देखते हुए उसने गंगा को पार किया और आटवी, वैशाली, श्वेतपुर होते हुए वह

१. देखिए—इस पुस्तक का—५० =०

२-३. देखिए—नालन्दा ( डॉ० हीरानन्द शास्त्री )—५० ४

पुनः गंगा पार कर पटना पहुँचा। इसके बाद बोधगया आदि स्थानों का भ्रमण करके वह नालन्दा गया। वहीं 'शीलभद्र' प्राचार्य से उसकी भेंट हुई। किन्तु थोड़े दिनों बाद ही वह भारत-भ्रमण के लिए नालन्दा से भी चले पड़ा। समस्त भारत के प्राचीन नगरों और बौद्ध-तीर्थों का भ्रमण कर जब वह दुबारे नालन्दा आया, तब पाटलिपुत्र पर मालवा के राजा माधवसेन के पुत्र 'माधवगुप्त' का शासन था, जिसे हर्षवर्द्धन ने बैठाया था। यह माधवसेन पाटलिपुत्र के गुप्त राजाओं का ही वंशज था, जो मालवा का शासन-भार वहन करता था और जो गुप्तों के अस्त होते हुए प्रतापादित्य के तेजोहीन धूमिल प्रभा का प्रतीक-मात्र था। नालन्दा में होनेवाले जब शिक्षा प्राप्त करने की जिज्ञासा प्रकट की, तब प्राचार्य शीलभद्र ने उसे पहले-पहल योग-दर्शन और न्याय-दर्शन पढ़ने के लिए एक क्षत्रिय विद्वान् के पास भेज दिया। वह विद्वान् कौन था और उस समय बिहार-प्रदेश में विद्वत्ता का गौरव कैसा था, इसका वर्णन स्वयं होनेवाले ने ही किया है। उसी के द्वारा लिखी थोड़ी बात पढ़ें—

“राजगृह के पश्चिम बिहार ( आजकल का जेठियन<sup>१</sup> गाँव ) में 'सुरथ जयसेन' नामक एक क्षत्रिय था। वह दर्शन और शब्द-शास्त्र का महान् विद्वान् था। उसीके पास योग-दर्शन और न्याय-दर्शन पढ़ने के लिए 'शीलभद्र' ने हमें भेजा। उसके पास जाकर दो वर्षों तक मैंने 'विद्यामात्र सिद्धि' आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। होनेवाले का प्रथम गुरु 'सुरथ जयसेन' फिर उसके बाद योग-शास्त्र और हेतुविद्या के कठिन स्थलों का विधिवत् अध्ययन-मन्त्रन किया। जयसेन बचपन में नालन्दा के आचार्य भद्ररुचि से पढ़ता था और वहीं पढ़कर न्याय-शास्त्र का वह सम्भीर विद्वान् बना था। इसके बाद जयसेन ने 'बोधिसत्त्व स्थिरमति' से शब्द-विद्या का अध्ययन किया। पश्चात् उसने हीनयान, महायान आदि अनेक शास्त्रों का अध्ययन समाप्त किया। इसके बाद उसने शीलभद्र से योग-शास्त्र का अध्ययन किया था। फिर वेद, वेदाङ्ग, उपवेद, तन्त्रशास्त्रादि का पण्डित होकर पश्चिम बिहार में रहता था। वह अत्यन्त आचारवान् था तथा लोक में उसकी अतिशय प्रतिष्ठा थी। मगध के राजा 'वृरुणवर्मा' ने उसकी विद्वत्ता तथा आचार की कीर्ति श्रवण कर एक बार उसे अपने पास बुलाया तथा बीस गाँवों की जागीर देनी चाही; पर जयसेन ने अस्वीकार कर दिया। इसके बाद उसकी कीर्ति हर्षवर्द्धन तक पहुँची, और उसने भी उसे उड़ीसा के बीस बड़े-बड़े गाँवों का मालिक बनाना चाहा; पर जयसेन ने कहला भेजा कि जयसेन भली भाँति जानता है कि दान लेने से मनुष्य राग में पँस जाता है। जयसेन को ऐसी बातों के लिए अवकाश नहीं है।”

जयसेन जीवन-भर स्वयं अध्ययन करता हुआ विद्यार्थियों को पढ़ाता रहा। अध्ययन और अभ्यास के अतिरिक्त उसका दूसरा कोई काम नहीं था। होनेवाले अपने इसी गुरु के

१. बिहार: एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १६२

२. जेठियन, राजगृह के मुख्य नगर से ६ मील पश्चिम और राजगृह के पश्चिमी द्वार पर अवस्थित है।



साथ महाबोधि विहार ( बोधगया ) का उत्सव देखने गया था, जहाँ उसने भगवान् की धातुओं को, रात्रि में, सूर्य की तरह प्रकाश करते देखा था। इसने जयतेन के पास अभयपन समाप्त कर नालन्दा-विश्वविद्यालय में प्रवेश किया और शीलभद्र से बौद्ध ग्रन्थों को पढ़ा।

बिहार-प्रदेश के नालन्दा-विश्वविद्यालय के इतिहास और व्यवस्था के परिचय के सम्बन्ध में भी विभिन्न उल्लेखों के अनुसार न कुछ कहकर प्रत्यक्षदर्शी होनेसांग का ही विवरण देना अधिक युक्तियुक्त होगा, जिससे पता चलेगा कि बौद्धधर्म के स्थायित्व के लिए बिहार-प्रदेश ने कैसा कार्य किया था। विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में होनेसांग लिखता है—

“नालन्दा-विश्वविद्यालय में ( मेरे समय में) छह संघाराम थे, जिनमें एक गिर गया था और पाँच विद्यमान थे। इनमें से एक मगध के राजा शकादित्य ( महेन्द्रादित्य कुमारगुप्त ) का बनवाया हुआ था। इसके बीच में एक विहार भी बना है। यह विहार अबतक विद्यमान है।

यहाँ चालीस भ्रमणों को नित्य भोजन मिलता है। शकादित्य की समा में एक ज्योतिषी था, जिसने कहा था कि यह स्थान सर्वोत्तम है। यहाँ पर बना संघाराम विश्वविख्यात होगा और यह एक सहस्र वर्षों तक विद्या का केंद्र होगा। शकादित्य के बाद उसका पुत्र बुधगुप्त सिंहासन पर बैठा। उसने भी अपने पिता के संघाराम की दक्षिण दिशा में दूसरा संघाराम बनवाया। बुधगुप्त के बाद उसके पुत्र तथागतगुप्त ने तीसरा संघाराम शकादित्य के संघाराम से पूर्व दिशा में बनवाया। इसके बाद बालादित्य ( नरसिंहगुप्त ) मगध के राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ। उसने शकादित्य के संघाराम से उत्तर-पूर्व दिशा में चौथा संघाराम बनवाया। इस संघाराम में यह नियम था कि उपासकों में से जो गृहत्याग कर भिक्षु-संघ में रहेगा और जबतक प्रमत्त्या ग्रहण नहीं करेगा, आयु के अनुसार वह ज्येष्ठ माना जायगा। इस राजा ( बालादित्य ) की एषणा के कारण ही आयु से ज्येष्ठता मानी जाती थी।” इसके बाद वज्रादित्य नामक गुप्त राजा ने अपने पिता (बालादित्य) के विहार से पश्चिम और शकादित्य के विहार से उत्तर एक पाँचवाँ संघाराम बनवाया था। वज्रादित्य के बाद दक्षिण के एक राजा ने शकादित्य के संघाराम से पश्चिम की ओर एक छठे विहार का निर्माण कराया था।

“उपर्युक्त इन छह संघारामों का आवेष्टन करता हुआ एक सुदृढ़ प्राकार भी बना था। विद्यापीठ मध्य भाग में था। उसके किनारे-किनारे की दीवारों से सटी आठ बड़ी कच्चाई भी थीं। उनके कंगूरें आकाश से बातें करते थे। मुकीले पर्वत के समान मनोहर उत्सेध ( अट्टालिका ) शृङ्खला-बद्ध बने थे। वेधशालाएँ इतनी ऊँची थीं कि दृष्टि काम नहीं करती थी। उसके ऊपर का सिरा बादल को छूता हुआ जान पड़ता था। उनके ऊपर ऐसे संज्ञ स्थानित थे कि

१. नरसिंहगुप्त बालादित्य अपनी ३० वर्ष की आयु में प्रमत्त होकर भिक्षुसंघ में मिल गया। फिर भी वह ज्येष्ठ नहीं माना जाता था। अपने पुत्र की मृत्यु से पागल होकर ३६ वर्ष की आयु में इसने आत्महत्या कर ली थी। भिक्षुसंघ में रहने पर भी इसकी गृह-व्यवस्था नहीं गई थी।



उनसे वायु और वर्षा के आने का ज्ञान होता था। उनसे सूर्य, चन्द्रादि के ग्रहण तथा ग्रह-युद्ध का निरीक्षण होता था। बिहार से पृथक् एक छात्रावास था, जो चार तल्ले का था। उसमें मोती के समान श्वेतवर्णवाले स्तम्भों की पंक्ति थी। ऊपर पाँचवीं थी और छत्ते की कड़ियों के सिरे पर अद्भुत जन्तुओं के सिर बने हुए थे। सबसे ऊपर खण्डे की छातन थी। उसमें सर्वदा १०००० (दस हजार) भिक्षु वास करते थे तथा दूर-दूर से विद्याभ्ययन के लिए आते थे। विद्यापीठ में केवल हीनयान और महायान तथा उनके अठारह निकायों की ही शिक्षा नहीं दी जाती थी, अग्निव वेद, वेदाङ्ग, उपवेद, दर्शन आदि की भी शिक्षा मिलती थी। केवल त्रिपिटक जाननेवाले तो मुँह चुराये फिरते थे। विद्यापीठ में १५०० उपाध्याय थे, जिनमें एक हजार उपाध्याय ३० ग्रंथों की शिक्षा देते थे। उनमें पाँच सौ उपाध्याय जो बीस ग्रंथों के शिक्षक थे। इन सबके प्रधान (पीठस्थविर) उपाध्याय 'शीलभद्र' थे। वे सभी विद्यार्थियों में पारंगत तथा समस्त ग्रंथों की शिक्षा देने में दक्ष थे। यहाँ के भिक्षु बड़े गंभीर और शांत होते हैं। सात सौ वर्षों से—जबसे यह विद्यापीठ है—यह कभी नहीं सुनाई पड़ा कि कभी किसी ने (विद्याभ्ययन करनेवाले या यहाँ रहनेवाले ने) विनय के नियमों का उल्लंघन किया हो। बिहार के व्यय के लिए इस जनपद के राजा ने १०० गाँवों की आय दान में दे दी है। इस विद्यापीठ में बड़े-बड़े विद्वान् अध्यापक हो चुके हैं, जिनमें धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रमामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र, ज्ञानगर्भ, शीघ्रबुद्ध, भद्रसेन, शीलभद्र इत्यादि प्रमुख हैं। वे सब शास्त्रकार, व्याख्याता तथा भाष्यकार हैं<sup>२</sup>।

चीनी यात्री द्वारा वर्णित इस सम्बन्धे उद्धरण से नालन्दा-विश्वविद्यालय की गरिमा तथा अस्तित्व का पता अच्छी तरह चलता है। इसके साथ ही बौद्ध धर्म के विकास में गुप्त-कालीन बिहार की रैन भी एक विदेशी विद्वान् द्वारा प्रशंसित होती दीख पड़ती है। वह प्रशस्ति पञ्चास-रहित और प्रामाणिक समझी जानी चाहिए। गुप्तकाल में नालन्दा नगर ही बौद्धधर्म का सबसे बड़ा केन्द्र था, जिसके विद्वान् देश-देशान्तर में बौद्धधर्म के प्रसार तथा बौद्ध ग्रन्थों के प्रणयन में दक्षचित्त थे। इस विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के सम्बन्ध में चीनी यात्री 'ईत्सिंग' ने (जो 'ह्वेनसांग' के बाद ही भारत आया) भी नालन्दा के सम्बन्ध में लिखा है—'नालन्दा के धर्मगंज हिस्से में तीन विशालकाय पुस्तकालय थे, जिनका नाम था—रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरञ्जक।' इनमें रत्नोदधि भी खण्डों में स्थित था। सभी खण्डों में अगणित ग्रन्थ-रत्न भरे पड़े थे। केवल पाण्डुलिपियाँ तैयार करने के लिए अनेक भिक्षु नियुक्त किये गये थे। ह्वेनसांग भी यहाँ दो वर्षों तक बैठकर केवल प्रतिलिपि तैयार करता रहा। वह ६५७ ग्रन्थों की प्रतिलिपि तैयार कर चीन ले गया।

१. यह वाक्य ध्यान देने योग्य है। ह्वेनसांग अपने समय से ७०० वर्ष पहले नालन्दा-विद्यापीठ का अस्तित्व बतलाता है, जिससे पता चलता है कि विद्यापीठ गुप्त राजाओं से पहले ही स्थापित हुआ था। हिसाब लगाने से यह समय गुप्तकाल का अन्तिम चरण प्रमाणित होता है। —ले०

२. सुवेनचर्या ( जगन्नीहान वर्मा )—पृ० १३६ से १४० तक।

ईस्तिग ने भी बौद्धधर्म की शिक्षा नालन्दा में ही पाई थी, जिसके सहपाठियों में शान्तिरक्षित-जैसे विद्वान् थे। यह सातवीं सदी के अन्त में भारत आया था। इसने भी नालन्दा के 'रत्नोदधि' पुस्तकालय से ४०० (चार सौ) ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार की थीं। नालन्दा के कई हस्तलिखित ग्रन्थ कैम्ब्रिज तथा लन्दन के पुस्तकालयों में प्राप्त हुए हैं।

ह्वेनसांग ने लिखा है कि इस विश्वविद्यालय के नियम-आचार बड़े ही कठोर थे, जो सभी भिक्षु तथा विद्यार्थियों के द्वारा पूरी तत्परता के साथ पालन किये जाते थे। घंटों की आवाज पर शयन, जागरण, भोजन, अभ्ययन, पूजन-आराधन आदि होते थे। गुरुजनों के प्रति श्रद्धा तथा शिष्टता का वर्त्ताव यहाँ प्रशंसनीय था। प्रत्येक अभ्ययनार्थी का जीवन स्वच्छ, त्याग तथा तपस्वा का जीवन था। संघाराम की एक-एक कोठरी में, एक-एक छात्र के रहने का प्रवन्ध था, जिसमें पत्थर की पट्टियाँ का शयनासन बना था। सभा तथा सामूहिक गोष्ठी के लिए अलग प्रशस्त महडप था, जिसमें २००० (दो हजार) भिक्षु तक एक साथ बैठ सकते थे। विद्यापीठ में अभ्ययनार्थियों के लिए अन्न, वस्त्र, शय्या, औषध आदि का निःशुल्क प्रवन्ध था। स्वयं ह्वेनसांग को, जबतक वह नालन्दा में रहा, नित्य १२० जम्बीर, २० सुगारियाँ, आधा छटाँक कपूर और साढ़े तीन छटाँक बारीक बासमती अरवा चावल मिलता था, इनके अतिरिक्त नित्य उचित मात्रा में तेल तथा मक्खन भी मिलता था।

विश्वविद्यालय की आय, ह्वेनसांग के बाद और ईस्तिग के समय में, तो और बढ़ गई थी तथा व्यवस्था भी पहले से अच्छी हो गई थी। यहाँ विद्या प्राप्त करने के सभी साधन व्यवस्थित ढंग से पूर्ण मात्रा में उपलब्ध थे। इन सभी दृष्टिकोणों से देखने पर स्पष्ट पता चलता है कि गुप्तकाल में बौद्धधर्म के प्रवाहों का मूल स्रोत यह नालन्दा विश्वविद्यालय ही था, जहाँ से बौद्धधर्म की निर्मल जल-धारा देश-देशांतरी में प्रवाहित होती थी।

नालन्दा में जिन विदेशी विद्वानों ने आकर शिक्षा प्राप्त की, उनमें से कुछ व्यक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—

१. शर्मन-अनू-चिन (प्रकाशमति), यह सातवीं सदी में आया और तीन वर्षों तक नालन्दा में अभ्ययन करता रहा।
२. धौब्ही (श्रीदेव), इसने महायान-सम्प्रदाय के ग्रन्थों का अभ्ययन किया।
३. आर्यवर्मन् ने भी यहाँ शिक्षा प्राप्त की, वह एक कोरिया-निवासी भिक्षु था।
४. एक और कोरिया-निवासी भिक्षु शिक्षा लेने ६८८ ई० में यहाँ आया था।
५. स्वी-ह्वांग-सातवीं सदी में नालन्दा आया और इसने आठ वर्षों तक बौद्धधर्म-ग्रन्थों का अभ्ययन किया।
६. ओकोंग (चर्मदत्त), इसने यहाँ तीन वर्षों तक विविध ज्ञान प्राप्त किया।
७. ईस्तिग ने तो दस वर्षों तक, बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त, अन्य भारतीय शास्त्रों का विधिवत् अभ्ययन किया था।

८. तोफांग ( जन्द्रदेव ) ने भी यहीं शिक्षा पाई थी ।

९. तांग-तांग ने भी यहीं महापान-पंच के ग्रन्थों में निपुणता प्राप्त की ।

१०. ह्यून-सन, यह भी कोरिया का ही रहनेवाला था, जो इतिहास में प्रयाण चर्मा के नाम से प्रसिद्ध है ।

११. किंग-न् (शीलप्रम) ने नालन्दा में केवल शब्द-शास्त्र का ही अध्ययन किया ।

१२. ह्यून-तान, यह वस वर्षों तक नालन्दा में अध्ययन करता रहा ।

१३. वाने-होंग ( प्राज्ञदेव ), इसने नालन्दा में कोश-विद्या का कई वर्षों तक अध्ययन किया था ।

इनमें से कई पाल-काल में नालन्दा आये थे ।

गुप्तकाल में पूर्णतया स्थापित नालन्दा-विद्यापीठ लगभग ७०० वर्षों तक जगमगाता रहा और ज्ञान-केन्द्र के रूप में संसार में प्रसिद्ध बना रहा । पाल-काल में भी यह अपने उन्नत शिक्षर पर रहा । डॉ० हीरानन्द शास्त्री के सत्पावन में जो नालन्दा की खुदाई हुई थी, उसमें एक शिला-लेख मिला था, जो आठवीं सदी के कन्नौज राजा यशोधर्म का मतलाया गया है । इस शिला-लेख से नालन्दा के उन्नत गौरव का चित्र स्पष्ट मालूम होता है । शिला-लेख में संस्कृत के दो श्लोक हैं, जिन्हें डॉ० शास्त्री ने अपनी रिपोर्ट 'नालन्दा' पुस्तिका\* में उद्धृत की है । इन श्लोकों से नालन्दा की उत्कृष्टता कई विशेषताएँ सात होती हैं—

यासावृत्तिवैरिमुप्रविगलद्दानाम्बुपानोत्तलस—

ग्नाथदुम्भकरीन्द्रकुम्भदत्तप्रसादविद्याम्बुजाम् ।

नालन्दा हस्तोप सर्वेनगरीः शुभ्राभगौरस्फुर—

न्वैत्पाशुपकरैस्सदागमकलाविल्यातविद्वज्जना ॥

यस्यामम्बुधरावलेहिशिखरश्रेणीविहारावली—

माक्षेवोर्ध्वविराजनीविरचिता घात्रा मनोहा मुवः ।

नानारत्नमयुलजाललचितप्रसाददेवालय

सद्विद्याधरसहस्रव्यवसतिर्धैतो सुमेरोः श्रियम् ॥

अर्थात्—“ऊर्ध्वविवृत शरिरों की राज्य-भूमि में निरन्तर गिरनेवाले गामद-कणों जल को पीकर मतवाले बने मरिं जिन राजाओं के मस्तक पर मँझराते रहते हैं, ऐसे राजपुत्रियों के कुम्भ का दान करके जिन्होंने विजय-भी प्राप्त कर ली है, उन राजाओं की जितनी भी राजधानियाँ हैं, उन सबके प्रति यह नालन्दा नगरी अपने शुभ्र बादलों के समान ऊँचाई तक घनकनेवाले चैत्यों के किरण-समूह के बहाने मानीं हँस रही है । यह अनेक आगम-शास्त्रों तथा कलाओं के गर्भस्थ विद्वानों से सदा भरी रहती है । नालन्दा के ऊँचे-ऊँचे विहारों (मठों) की पंक्तिपं बादलों को छूनेवाली शिखर-पंक्तियों के सदृश हैं, जिनसे ज्ञान पड़ता है कि

\* मयाशाक—मैनेहर कोश प्रब्लिकेशन, देहली, सन् १९३२= ३० ।



विधाता ने मानी पृथ्वी के ऊपरी भाग में एक सुन्दर ( कुन्व की ) माला पैसा दी है । इतना ही नहीं, नाना मणि-मणिष्यकों के किरण-जाल से युक्त अष्टालिकाओंवाले देवालय भी हैं, जहाँ सद्-विद्याधरी ( सद्-विद्याओं के ज्ञानी-मानी पण्डितों ) के संघ विद्यमान हैं, जिस कारण यह नालन्दा सुमेरु पर्वत के ऐश्वर्य की धारण किये हुई है । क्योंकि सुमेरु के शिखर भी आकाश में चमकते हैं और उस पर्वत के ऊपर भी विद्याधरी ( देवगण विशेष ) का निवास रहता है । ”

इन श्लोकों के कुछ पद ध्यान देने योग्य हैं । जिस समय यह शिला-लेख लिखा गया, उस समय बिजयी राजाओं की अनेक राजधानियाँ यथ-तथ बन गई थीं । ( इससे पालकाल के पूर्वकालीन राजनीतिक उथल-पुथल का पता चलता है । ) इससे यह भी ज्ञात होता है कि इस शिला-लेख का प्रयत्ति-नायक विद्या और कला में पूरी अभिरुचि रखता था, जिसके कारण 'नालन्दा' में उसकी अमित भद्धा थी एवं नालन्दा के धर्मकार्य में पूरा हाथ बँटाता था । संभव है कि उस समय नालन्दा पर उसका अधिकार भी हो । उस समय नालन्दा में ऊँचे-ऊँचे विशाल जैत्र्य थे, जो बराबर चूने से पीते जाते एवं सजे रहते थे—उनपर राजा की पूरी निगरानी थी । नालन्दा में अनेक शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान् वास करते थे । जैत्र्यों के अतिरिक्त बौद्धों के अनेक तथा विशाल 'विहार' अवस्थित थे । उस समय नालन्दा में केवल बौद्धधर्म का ही भद्धा नहीं था, बल्कि वह हिन्दु-धर्म का भी केन्द्र बना हुआ था, जिससे वहाँ अनेक रम्य देवालय वर्तमान थे । वे देवालय बौद्धों के विहार की तरह ही विशाल और ऊँचे थे तथा उनके शिखरों में विविध रत्न जड़े थे । इन बातों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जनता और राजा की मनोवृत्ति हिन्दु-धर्म में पूरी भद्धा रखती थी । उन देवालयों में वेद-वेदाङ्ग के ज्ञाताओं का जमघट लगा रहता था । वे सारी बातें स्पष्ट करती हैं कि यह काल गुप्तकाल का अन्तिम समय था और अभी उसकी सारी व्यवस्था और उदारता नालन्दा पर लागू थी । कुछ लोग इस पद्योवर्मा की दसवीं सदी में मानते हैं, जो ठीक नहीं जैचता है ।

### गुप्तकाल में प्रचार-कार्य

गुप्तकाल में बौद्धधर्म की जड़ अत्यन्त दृढ़ हो गई थी । अब वह धर्म न तो लांछा हुआ था और न गतानुगतिक रह गया था; बल्कि लोगों की आन्तरिक भद्धा का धर्म हो गया था—उनके रोम-रोम में रम गया था । इस समय में धार्मिकजन मनुष्य की नैतिक ऊँचाई पर पहुँचकर ईर्ष्या-द्वेष तथा राग से रहित होकर धर्म का चिन्तन और उसका विस्तार करते थे । गुप्तकाल से पहले धर्म-प्रचार राजा की सहायता और प्रेरणा से होता था; पर इस काल में मित्रु खपनी आन्तरिक प्रेरणा और भद्धा से स्वयं पुनर्जातन के लिए धर्म-प्रचार करने लग गये थे । यह बौद्धधर्म की एक बहुत बड़ी विजय थी, जो गुप्तकाल में हुई थी और इसीलिए गुप्तकाल को मैंने संस्कृति और धर्म के लिए स्वर्णिम काल कहा है । इस काल में जिन धर्मपुरुषों ने विदेशों में जाकर बौद्धधर्म का विकास और प्रचार-कार्य किया, उनमें कुमारजीव, गुणवर्मन, रेवत, बुद्धरत्न, बुद्धदीप, धर्मपाल, गुणभद्र, धर्मजात वरा, धर्मर्षिच,

रत्नमति, बोधिरुचि, गौतम प्रज्ञार्थ, परमार्थ, जिनगुप्त, ज्ञानमन्द्र, जिनयश, धर्मज्ञान गौतम आदि प्रमुख थे। इन लोगों ने चीन, लंका, तिब्बत, बर्मा, चम्पा तथा जावा में धर्म-प्रचार का ऐसा कार्य किया, जो पहले कभी नहीं हुआ था। इनमें से जो विद्वान् मगध के रहनेवाले नहीं थे, वे या तो नालन्दा विद्यापीठ की देन थे अथवा गुप्त राजाओं के साहाय्य-सिंचन से उनकी धर्म-प्रवृत्ति पल्लवित-पुणित हुई थी। यों-तो उस समय प्रायः सम्पूर्ण भारत की ही संस्कृति मगध-साम्राज्य की संस्कृति ही गई थी।

यह पूर्व में ही बतलाया गया है कि 'चीनक' ( यवन ) देशों में; सम्राट् अशोक ने बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए, महारक्षित नामक स्थविर को भेजा था<sup>१</sup>। इन्हीं देशों में 'खोतन' था, जहाँ गुप्तकाल तक बौद्धधर्म चरमोन्नति पर पहुँच गया था। इसी खोतन-प्रदेश से व्यापक रूप में प्रथम-प्रथम चीन-देश में बौद्धधर्म गया<sup>२</sup>। बात यह हुई कि सन् ३८३ ई० में—जब भारत में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य का शासन था—जिसने शक-सम्राट् को मार-

कर<sup>३</sup> उसकी बेगवती वाट को पीछे की ओर ढकेल दिया था—चीन-देश

चीन में

के सम्राट् 'फू-चिएन' ने अपने सेनापति 'लू-कुआंग' को खोतन के 'कूची'-प्रदेश पर हमला करने के लिए भेजा। लू-कुआंग ने अपने ७० हजार सैनिकों

के साथ कूची ( कियन्सी ) पर घावा किया। कूची-प्रदेश चीन की विशाल सेना के सामने ठहर नहीं सका और उसे बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी। लू-कुआंग अपनी लूट के वैभवों के साथ वहाँ के प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक ( जिसका कूची में बड़ा नाम था ) कुमारजीव को भी अपने साथ चीन ले गया। कुमारजीव के पितामह मगध के रहनेवाले थे, जो खोतन में जाकर बस गये थे। कुमारजीव के पिता का नाम 'कुमार' था और माता का नाम 'जीवा'। माता-पिता के संयुक्त नाम पर ही इनका नाम कुमारजीव पड़ा था। जब कुमारजीव लू-कुआंग के साथ चीन पहुँचे, तब चीन के राजा फू-चिएन ने इनकी विद्वत्ता देखकर इनका यथोचित सत्कार किया। इसी कुमारजीव ने चीन-देश में बौद्धधर्म का पूर्ण प्रचार किया। अपनी २६-२७ वर्षों के परिश्रम से ( ४१० ई० तक इन्होंने १०६ ) भारतीय बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इन्होंने ही ४०५ ई० में प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन की जीवनी का स्थान्तर चीनी भाषा में किया। इसी समय चीनी यात्री फाहियान बौद्धधर्म के अध्ययन के लिए भारत आया और उसने पाटलिपुत्र के अशोकराम विहार में बौद्ध ग्रन्थों को पढ़ा था। कुमारजीव ने अपने तो स्वयं अनुवाद-कार्य तथा धर्म-प्रचार किया ही,

१. देखिए—इस पुस्तक का—पृ० १७४

२. किन्तु 'कात्थप-परिवर्त्त' का जो चीनी अनुवाद प्राप्त हुआ है, वह १७० ई० से २८४ ई० के बीच का अनुवाद माना गया है। इसी तरह 'सार्त्त कथावदान' का चीनी अनुवाद २९५ ई० में हुआ। —'बौद्धधर्म-दर्शन'—पृ० १४१ और पृ० १५५। इससे सिद्ध है कि चीन में ३८३ ई० के बहुत पूर्व बौद्धधर्म चला गया था। —ले०

३. अरिपुरे च परपल्लवकामुर्क कामिनीकेशगुप्तरत्नगुप्तः राक्षसिमरातवध—धर्मचरितम्।

साथ ही अनेक विद्वानों को भी उसमें नियोजित किया तथा बहुत-से लोगों को धर्म-प्रचारार्थ बाहर से बुलाकर उसे स्थायित्व प्रदान किया। कुमारजीव का निर्वाण उसी साल हुआ, जब भारत में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की मृत्यु ४१२ ई० में हुई।

गुणवर्मन् उन्हीं लोगों में से एक था, जो कुमारजीव के इच्छानुसार अनुवाद-कार्य के लिए बाहर से बुलाया गया था। उस समय गुणवर्मन् 'जावा' देश में था। यह पहले कश्मीर से लंका गया और तब वहाँ से जावा पहुँचा। इसके जावा पहुँचने पर इसकी विद्वत्ता तथा भारत के गुप्त सम्राटों से मैत्री की भावना से प्रभावित होकर ही जावा के राजा ने बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया। भिच्छु गुणवर्मन् के समय में ही जावा पर आक्रमण हुआ था, जिसे जावा के राजा ने गुणवर्मन् की मंत्रणा के अनुसार उचित कार्यवाही कर विफल कर दिया। जावा की इस सफलता के कारण बौद्ध भिच्छु गुणवर्मन् की क्रीति चीन तक पहुँच गई। चीन के सम्राट ने अपने वहाँ उसे आमंत्रित किया। पहले तो जावा के राजा ने उसको भेजने में कुछ आना-कानी की; पर चीन-जैसे विशाल देश के प्रभाव और शक्ति को जानकर वह गुणवर्मन् को चीन भेजने के लिए राजी हो गया। गुणवर्मन् जावा से चीन गया और ४२१ ई० में 'मानकिंग' बन्दरगाह पर पहुँचा। वह जिस जहाज से चीन गया, वह मगध के 'मन्दी' नामक एक व्यापारी का जहाज था, जो माल लेकर चीन जा रहा था। उस समय तक फाहियान भी भारत से अनेक पुस्तकों की पाण्डुलिपि लेकर चीन पहुँच गया था।

गुणवर्मन् जब चीन पहुँचा, तब उसे वहाँ 'कुमारजीव' के सहयोगी विद्वान् भी मिले। इसके बाद भारत से जो लोग धर्म-प्रचार के लिए चीन गये, उनके नाम इस प्रकार हैं—युग्यत्रात, बुद्धयश, संधर्षवर्मा, धर्मयश (धर्मक्षेम या धर्मरक्ष), गुणमद्र आदि। ये सभी मुख्य धर्माचार्य थे। इनमें द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ भिच्छु मगध के ही निवासी थे तथा पाटलिपुत्र के अशोकाराम विहार में इनकी शिक्षा हुई थी। इन विद्वानों ने चीन में जाकर बौद्धधर्म को स्थायी रूप दिया। उस समय इनका वहाँ राजोचित स्वागत हुआ था तथा आजतक भी इनके प्रति चीनवालों का आदर-भाव वर्तमान है। ये सभी वहाँ धर्माचार्य माने गये हैं। 'अश्वघोष' की कृतियों का चीनी भाषा में अनुवाद इसी काल में हुआ था। धर्मक्षेम या धर्मरक्ष ने 'सुवर्ण-प्रभाससूत्र' का चीनी अनुवाद ४१४ ई० से ४३३ ई० के बीच में किया था। धर्मरक्ष ने ही 'दशभूमिश्वर' का अनुवाद ४६७ ई० में किया था।

गुणमद्र मध्यदेश से ४२१ ई० में चीन गया। चीनी ग्रन्थों में मध्यदेश का तात्पर्य मगध और काशी के प्रदेश होता है। इस भिच्छु ने भी संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों के चीनी रूपान्तर का भारी प्रयत्न किया। यह महायान-सम्प्रदाय का प्रबल उपासक था, इसलिए इसका एक नाम 'महायान' भी था। इस विद्वान् भिच्छु ने बौद्धधर्म के ७८ संस्कृत-ग्रन्थों का चीनी अनुवाद प्रस्तुत किया, जिनमें अथावधि २८ अनूदित ग्रन्थ सुलभ हैं। 'लंकावतारसूत्र' का

१. पाटलिपुत्र की कथा—पृ० ५१४

२. बौद्धधर्म-दर्शन (आचार्य नरेन्द्रदेव)—पृ० १५६



अनुवाद इन्होंने ४४३ ई० में किया। इसके अतिरिक्त चीनी भाषा में कुछ प्रसिद्ध संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

१. संयुक्त आगम, जो हीनयान-मत का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।
२. सुद्रक अपरिमितायुष—यह महायान-मत का ग्रन्थ है।
३. रत्नकरण्डक व्यूहसूत्र।
४. अभिधर्मप्रकरणपदशास्त्र—यह वसुमित्र की रचना है, और वैभाषिक सम्प्रदाय का सर्वास्तिवादी ग्रन्थ है।
५. संततिसूत्र
६. मुक्तिसूत्र

} दोनों धर्मलक्षण-सम्प्रदाय के ग्रन्थ हैं।

७. वैपुल्यसूत्र—इसका अनुवाद गुणभद्र ने श्रीमालादेवी/सहनाद के नाम से किया है। इससे ज्ञात होता है कि गुणभद्र की माता का नाम मालादेवी था अथवा मालादेवी का यह उपासक था। इस प्रकार, बौद्धधर्म की सेवा करते हुए सन् ४६८ ई० में गुणभद्र का देशान्त चीन देश में ही हुआ। मृत्यु के समय इसकी आयु ७५ साल की थी।

धर्मजातयश नामक बौद्ध भिक्षु मगध से चीन ४८१ ई० में गया। इसके बाद छठी शताब्दी के आरंभ में धर्मरुचि, रत्नमति, बोधिरुचि तथा गौतम प्रज्ञारुचि मगध-देश से चीन गये। इनमें प्रज्ञारुचि वैशाली का रहनेवाला था। वे सभी नालन्दा-विश्वविद्यालय के माने-जाने आचार्य थे। 'लंकावतारसूत्र' का चीनी अनुवाद बोधिरुचि ने भी ५१३ ई० में किया। इसने 'चित्तविक्षुद्धि-प्रकरण' का अनुवाद भी किया था। इनके अतिरिक्त वसुबन्धु की लिखी 'सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रशास्त्र' की टीका का अनुवाद बोधिरुचि और रत्नमति—दोनों ने मिलकर ५०८ ई० में प्रस्तुत किया था।

परमार्थ नामक बौद्ध दार्शनिक सन् ५३६ ई० में, उपर्युक्त सभी विद्वानों के बाद, चीन गया। इसीने चीन में 'योगाचार'-सम्प्रदाय का प्रचार किया। इसने 'सुवर्णप्रभाससूत्र' का चीनी अनुवाद ५५२ ई० से ५५७ ई० के मध्य में किया था।

यद्यपि परमार्थ का जन्म ४६८ ई० में उज्जैन नगर में हुआ था, तथापि उसकी सम्पूर्ण शिक्षा-बीक्षा तथा कर्मभूमि मगध की ही भूमि थी। चीन-देश के 'लिशान्ग'-वंश के द्वारा एक सद्भाव-मण्डल, बौद्ध विद्वानों की खोज में, ५३६ ई० में मगध आया था। उस समय मगध की गद्दी पर जीवगुप्त (प्रथम) आसीन था<sup>१</sup>। चीनी सद्भाव-मण्डल जीवगुप्त से मिला और प्रार्थना की कि हमारे देश के राजा ने आपके पास इसलिए भेजा है कि कोई अच्छा बौद्ध विद्वान हमारे देश में आप भेजें। जीवगुप्त ने सद्भाव-मण्डल की प्रार्थना स्वीकार कर परमार्थ को ही अनेक पुस्तकों के साथ चीन-देश भेजा। चीन पहुँचने पर इसका शाही

१. चीनी बौद्धधर्म का इतिहास ( डॉ० चाउ-सिआंग-कुर्बांग )—पृ० ६४-६५

२. "कृष्णगुप्त, इर्षगुप्त और जीवगुप्त प्रथम—इन तीनों ने संभवतः ५१० ई० से ५५४ ई० के बीच राज्य किया।"—प्राचीन भारत का इतिहास ( भगवत्सरस्व उपपाध्याय )—पृ० २६०

सत्कार राजा की ओर से किया गया। इसने चीन में २४ वर्षों तक धर्म का प्रचार किया। परमार्थ ने केवल 'लिआंग-काल' में १६ बौद्ध ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी में अनुवाद किया। इसके बाद इसने 'चिन-काल' में तो ५१ ग्रन्थों का अनुवाद किया। परमार्थ ने कुल ३०० खण्डों में ७० संस्कृत-ग्रन्थों का चीनी रूपान्तर प्रस्तुत किया था। इसकी भी मृत्यु चीन में ही, एकहत्तर वर्ष की अवस्था में, ५६६ ई० में हुई थी।

परमार्थ के बाद बौद्धधर्म के प्रचार के लिए, चीन-देश में, भारत से जो भिक्षु गये, उनमें जिनगुप्त, ज्ञानभद्र, जिनयश तथा धर्मज्ञान गौतम के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें जिनगुप्त पेशावर का रहनेवाला था, शेष सभी बौद्ध विद्वान् मगधवासी थे। इस समय वैशाली-निवासी प्रज्ञासूचि के ज्येष्ठ पुत्र धर्मप्रज्ञ ने 'कर्मफल-विभंगसूत्र' का चीनी अनुवाद किया था। धर्मप्रज्ञ ने भी पिता की तरह ही चीन में धर्म की सेवा की। एक अनुश्रुति के अनुसार इस काल में, चीन-देश में, भारतीय भिक्षुओं की संख्या तीन हजार तक पहुँच गई थी, जिसका बहुत बड़ा भ्रंश मगध के गुप्त राजाओं का था। इसी समय, सन् ५८५ ई० से ५६२ ई० के बीच 'राष्ट्रपाल परिरुद्धा' का चीनी अनुवाद प्रस्तुत हुआ था।

गुप्त-साम्राज्य के दुर्दिन के काल में भी नालन्दा-विश्वविद्यालय और मगध-देश की धर्मभूमि ने बौद्धधर्म के प्रसार और प्रचार से अपना मुँह नहीं मोड़ा था। सन् ७१६ ई० में, नालन्दा के आचार्य धर्मगुप्त का प्रसिद्ध शिष्य शुभाकरसिंह, अपनी ८० वर्ष की आयु में, चीन गया। वज्रमति के सहयोग से इसने चीन में 'गुह्य-सम्प्रदाय' की स्थापना की। वज्रमति ५८ वर्ष की अवस्था में चीन गया था, जो शुभाकरसिंह से छोटा था। वज्रमति का ही शिष्य अमोघवज्र था, जो अपनी २१ वर्ष की अवस्था में, अपने गुरु के साथ, चीन गया था। अपने गुरु के देहावसान के बाद 'अमोघवज्र' ने ही चीन में गुह्य-समाज की नींव दृढ़ की तथा उसका विस्तार किया। वज्रमति अपने शिष्य को तो ले ही गया, साथ में ५०० ऐसे बौद्धग्रन्थ भी ले गया था जो चीन-देश में उस समय तक नहीं पहुँचे थे। अमोघवज्र ने इन ग्रन्थों में से ७७ ग्रन्थों का चीनी अनुवाद, १३० खण्डों में, लगातार पचीस वर्षों के परिश्रम से, तैयार किया। इस तरह चीन में बौद्धधर्म को दृढ़ करने में बिहार-प्रदेश के भिक्षुओं ने जो घोर परिश्रम किया, वह स्वर्णाक्षरी में लिखने योग्य है।

गुप्तकाल में बौद्धधर्म-गगन के सबसे प्रखर देदीप्यमान नक्षत्र बुद्धघोष हैं। बिहार की भूमि ने बौद्धधर्म की गौरव-वृद्धि के लिए जिन विशिष्ट विभूतियों को संसार के सामने उपस्थित किया, उनमें बुद्धघोष विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बुद्ध के लंका में बौद्ध साहित्य का विकास 'बुद्धघोष' समय में तारिपुत्र-मौद्गल्यायन, प्रथम संगीति के अवसर पर महाकाश्यप, नन्दिवर्द्धन के समय में द्वितीय संगीति के अध्यक्ष सर्वकामी स्थविर, सम्राट् अशोक के समय में तृतीय संगीति के निवामक मोग्गल्लिपुत्र तिथ्य, कुषाण-काल में महायान-सम्प्रदाय के संस्थापक अश्वघोष और पुनः गुप्तकाल में भी

बुद्धघोष-जैसे महाविद्वान् को बिहार-प्रदेश ने बौद्धधर्म के लिए समर्पित किया, जिसकी विद्वत्ता और लेखनी से पालि-साहित्य अच्छी तरह समृद्धि हुआ। बुद्धघोष का समय गुप्त-सम्राट् कुमार-गुप्त महेन्द्रादित्य का, ४१३ ई० से ४५५ ई० तक का, है। ये पालि-साहित्य के पुन-विधायक आचार्य माने जाते हैं। पालि-साहित्य की समृद्धि के लिए जैसा विशाल उद्योग बुद्धघोष ने किया, वैसा अन्यत्र 'एक सौ व्यक्तियों के लिए, एक सौ वर्षों के परिश्रम के बाद भी, कठिन है।' इन्होंने सिलौनी (लंका की) भाषा से समस्त पिटकों का पालि-भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया तथा अनेक स्वतंत्र ग्रन्थों के साथ अट्टकषार्ण भी लिखी। लंका के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'महावंस' के परिवर्द्धित संस्करण 'चूलवंस' में, बुद्धघोष का जीवन-वृत्तान्त प्राप्त होता है, जो तेरहवीं सदी की रचना माना जाता है, उसी ग्रन्थ के आधार पर यहाँ हम बुद्धघोष का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं<sup>१</sup>।

बुद्धघोष का जन्म बिहार-प्रदेश के प्रसिद्ध स्थान बोधगया के पास, किसी गाँव में हुआ था। यह भी एक आश्चर्य का ही विषय है कि ऊपर प्रत्येक काल के जिन विद्वानों के नाम गिनाये गये हैं, जो सभी ब्राह्मण-वंश के थे, उन्हीं की तरह बुद्धघोष का भी जन्म ब्राह्मण-कुल में ही हुआ था। यह इसलिए कहना पड़ा कि भगवान् बुद्ध यद्यपि जाति में ब्राह्मण को धेछ नहीं मानते थे, और ब्राह्मण-धर्म के स्वर्ण विरोधी थे, तथापि स्वर्ण बौद्धधर्म जिन महाविद्वानों के कारण संसार में लब्धप्रतिष्ठ हुआ, वे सभी ब्राह्मण-वंश की ही उपज थे। अस्तु !

बुद्धघोष बाल्यवस्था से ही कुशाग्रबुद्धि छात्र थे। अल्पकाल में ही इन्होंने वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, शब्दविद्या आदि शास्त्रों में निपुणता प्राप्त कर ली। ये व्याकरण-शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् तथा ब्राह्मणधर्मानुयायी थे। इनके द्वारा विरचित बौद्ध ग्रन्थों में भी ब्राह्मण-धर्म की छाप दीख पड़ती है। इनकी शिक्षा बोधगया के बिहार में ही हुई थी। कहते हैं कि विद्या-भद्र के कारण ये घूम-घूमकर विद्वानों से शास्त्रार्थ करते चलते थे। इसी मिलसिले में एक रात मगध के किसी बौद्ध-बिहार में पहुँचे। रात्रि में बौद्ध विद्यार्थियों ने इनसे 'पार्तजल-योगसूत्र' पर कुछ चर्चा छेड़ दी। कहते हैं कि बौद्ध महास्थविर 'रेवत' की उपस्थिति में ही इन्होंने 'पार्तजल-योगसूत्र' पर जो प्रवचन किया, उससे सम्पूर्ण बौद्ध मगधली स्तब्ध रह गई। महास्थविर रेवत ने सोचा कि यदि यह ब्राह्मण किसी तरह बौद्धधर्म में आ जाता, तो धर्म का बहुत बड़ा कल्याण होता। रेवत स्वर्ण ब्राह्मण-दर्शन और बौद्ध दर्शन—दोनों के बहुत बड़े विद्वान् थे। महास्थविर ने जान-बूझकर दर्शन-शास्त्र की चर्चा छेड़ी, जिसके चक्कर में बुद्धघोष आ गये और स्थविर से झिड़ गये। पर इस विषय में महास्थविर रेवत ने तुरत इनका सारा विद्या-भद्र चूर कर दिया और इनकी बोलती बन्द कर दी, जिससे बुद्धघोष ने वहाँ रेवत का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। यहाँ से बुद्धघोष का नवीन जीवन आरम्भ हुआ। इन्होंने रेवत से विधिवत् बौद्धधर्म की दीक्षा लेकर बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया। बौद्ध शास्त्रों में ये शीघ्र ही पूर्ण पारंगत भो

१. विस्तार के लिए देखिए—'महावंस', परि० ३७—'बुद्धयानुत्पत्ति'।



हो गये। इनके घरेलू नाम का पता नहीं चलता। बुद्धघोष नाम तो बौद्ध सम्प्रदाय का दिया हुआ है। इनका कछ-घोष (वाणी) भगवान् बुद्ध के घोष के सदृश था, इसलिए इनका नाम बुद्धघोष बौद्धों ने दिया<sup>१</sup>।

बुद्धघोष ने अपनी विद्वत्ता का परिचय रेवत के शिष्यत्व में ही आरम्भ कर दिया। इन्होंने धम्मसंगिणि नामक ग्रन्थ पर 'अट्ठसालिनी' नाम की अट्ठकथा लिखी। अट्ठसालिनी एक तरह का भाष्य है, जिसे देखकर 'रेवत' को बड़ा ही आश्चर्य हुआ, किन्तु साथ ही शिष्य की प्रतिभा देखकर उनकी प्रसन्नता का भी ठिकाना नहीं रहा। गुप्त की सराहना से बुद्धघोष को और भी प्रोत्साहन मिला और ये 'त्रिपिटक' पर अट्ठकथा लिखने के लिए उद्यत हो गये। शिष्य का ऐसा महाप्रयत्न देखकर रेवत ने बड़े आग्रह से कहा—“बुद्धघोष, यहाँ तो त्रिपिटक मूलमात्र है। अट्ठकथाएँ तो लंका में हैं। यदि तुम वास्तविक अट्ठकथा लिखना चाहते हो, तो लंका जाकर मिलोनी भाषा से मागधी में अनुवाद कर लाओ<sup>२</sup>।” कहते हैं, बुद्धघोष ने गुप्त की शीश नवाकर और उनका आशीर्वाद प्राप्त कर उसी दिन लंका के लिए प्रस्थान कर दिया। जब बुद्धघोष की नाव समुद्र के रास्ते लंका जा रही थी, तब किसी एक पड़ाव पर 'बुद्धदत्त' स्थविर से इनकी भेंट हुई। वे लंका से लौटकर भारत आ रहे थे। बातों के मिल-मिले में जब बुद्धदत्त को पता चला की यह युवक अट्ठकथाएँ लिख लाने लंका जा रहा है, तब उनकी नाव छूट रही थी। बुद्धदत्त ने कहा—“ठीक है, आबुस ! जाओ। मैं भी भगवान् के शासन को सिंहली भाषा से, मागधी में लिख लाने के लिए लंका गया था। किन्तु, अब मेरी आयु थोड़ी रह गई है, मैं इस बड़े कार्य को पूरा नहीं कर सकूँगा<sup>३</sup>।”

लंका के राजा महानाम के शासन-काल में बुद्धघोष वहाँ पहुँचे। वहाँ ये अनुराधापुर विहार में ठहरे, जो सम्राट् अशोक के पुत्र महेन्द्र का निवास-मठ था। अनुवाद-कार्य के लिए बुद्धघोष ने सिंहली भाषा का अध्ययन किया। पीछे इन्होंने महाविहार के भिक्षुओं के सम्मुख अपने लंका-आगमन का जब उद्देश्य बतलाया, तब भिक्षुओं ने पहले-पहल, परीक्षार्थ, दो गाथाएँ अनुवाद के लिए इन्हें दीं। बुद्धघोष ने उन्हीं दो गाथाओं के आधार पर विमुद्धिमग्ग नामक ग्रन्थ का निर्माण कर डाला। विमुद्धिमग्ग-जैसी पुस्तक को देखकर लंका के भिक्षुओं ने इन्हें मैत्रेय (भावी बुद्धावतार) ही मान लिया और वे उसी तरह इनका आदर करने लगे। अब क्या था, वे जो ग्रन्थ चाहते, लंका के भिक्षु इनके सामने ला उपस्थित कर देते थे। फलस्वरूप,

१. बुद्धस्य विषयं गंभीरं संसत्तानं विद्या करं ।

बुद्धघोषः त्रि सो सोमि बुद्धो विषयं मधीतले ॥—महावंस, परि० ३७

२. पालिपुत्तं इधानीतं नत्थि अट्ठकथा इव । तथा चरितं कादा च भिन्नं रूपं न विवज्जरे ॥  
कता सीहल भासाय सीहलेसु पक्कत्ति । तं तत्त्वं गन्त्वा सुत्वा त्वं मागधानां निकत्तिथा ॥  
—महावंस, तथैव ।

३. 'आबुसो बुद्धघोस अहं तथा पुक्खे लंका दीपे भगवतो सासनं कातुं भागतीन्दि त्रि क्खं अट्ठ अप्पायुक्को ।'—सासन-वंस (मेविल बौद्ध-संस्करण) —पृ० २६-३०

बुद्धघोष ने सम्पूर्ण पिटक का तथा अष्टकथाओं का सिंहली भाषा से पालि में अनुवाद कर डाला। इस तरह एक विशाल पालि-साहित्य तैयार कर इन्होंने भारत से लुप्तप्राय बौद्धधर्म-साहित्य का उद्धार कर पुनः अपने देश को दिया, जिससे न केवल भारत का, बल्कि समस्त संसार का गौरव बढ़ा। बुद्धघोष-जैसे विद्वान् को पैदाकर और शिक्षा देकर बिहार-प्रदेश कितना गौरवान्वित हुआ है, इसकी कल्पनामात्र से गौरव होता है।

बुद्धघोष लंका में अपना कार्य समाप्त कर वहाँ से धर्म-प्रचार के लिए कम्बोडिया गये और वहीं इनका देहान्त हुआ। कम्बोडिया में बुद्धघोष-बिहार नाम का एक प्राचीन मठ, खँइहर के रूप में, आज भी विद्यमान है<sup>१</sup>।

बिहार-प्रदेश के इस महात्मा ने बौद्धधर्म की कितनी बड़ी सेवा की है, इसका कुछ अनुमान इनके द्वारा रचित पालि भाषा के ग्रन्थ ही बता सकते हैं। ये ग्रन्थ इस प्रकार हैं—  
(१) विमुद्धिमग्ग, (२) समन्तपासादिका, (३) कंखावितरणी, (४) सुमंगलविलासिनी, (५) पञ्चसूदनी, (६) सारथपकासिनी, (७) मनोरथपूरणी, (८) परमत्तजोतिका, (९) अट्टसालिनी, (१०) सम्मोहविनोदिनी, (११ से १५ तक) पञ्चपकरणट्टकया (धर्मसंगणि और विमंग को छोड़कर शेष पाँच अभिधम्म ग्रन्थों की अष्टकथाएँ) (१६) जातकट्टवण्णना और (१७) धम्मपदट्टकया।

इन ग्रन्थों में बौद्धधर्म के विनय, नियम, दर्शन तथा अन्य कथाओं के अतिरिक्त विशाल भारत की संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, भूगोल, प्राकृतिक दृश्य, धर्म, आचार आदि भरे पड़े हैं<sup>२</sup>। बुद्धघोष के ग्रन्थ तत्कालीन 'महाभारत' हैं, इसलिए यदि इन्हें बौद्ध साहित्य का 'व्यास' कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी। बौद्धधर्म के इतिहास में इनका नाम अजर-अमर है। इनकी रची अकेली समन्तपासादिका कई दृष्टियों से, महाभारत की तरह, विविध ज्ञान का कोश-ग्रन्थ है।

धर्मपाल का स्थान भी पालि-साहित्यकारों में विशिष्ट है। इनका समय बुद्धघोष के बाद तो है ही, वसुबन्धु और असंग के बाद का भी है। ये यद्यपि दक्षिण के रहनेवाले थे, तथापि इनका कार्यक्षेत्र बिहार-प्रदेश ही था। ये नालन्दा में कुलपति भी रह चुके थे। ये जैनसांग के गुरु शीलभद्र के भी गुरु थे। इनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों में (१) परमत्वदीपनी, (२) विमानवत्थु टीका, (३) पेतवत्थु टीका, (४) थेरीगाथा टीका, (५) थेरगाथा टीका, (६) इतिवृत्तक, (७) उदान टीका और (८) चारियापिटक की टीका मुख्य हैं।

इनके अतिरिक्त गुप्तकाल में चान्द्र व्याकरण के प्रणेता चन्द्रगोमिन, बुद्धपालित, भावविवेक, चन्द्रकीर्त्ति, कमलबुद्धि, वसुबन्धु, असंग आदि बौद्ध विद्वान् इस युग के चमकते रत्न हैं। इन सभी विद्वानों का कार्यक्षेत्र पाटलिपुत्र और नालन्दा का विद्यापीठ रहा है।

१. दि लाइफ एण्ड वर्क बुद्धघोष (विमलचरण लाहा)—पृ० ४२

२. इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में विरोध जानकारी के लिए पालि-साहित्य का इतिहास (ले० भरतसिंह उपाध्याय) के पृ० ५१४ से ५२२ तक देखना चाहिए।—ले०

चन्द्रगोमिन और चन्द्रकीर्ति का प्रसिद्ध शास्त्रार्थ यहीं नालन्दा-विद्यापीठ में हुआ था। चन्द्रकीर्ति ही मध्यमकाव्यतार और प्रसन्नपदा जैसे ग्रन्थों के रचयिता हैं।

स्कन्दगुप्त ने वसुवन्धु को अपने पुत्र नरसिंहगुप्त बालादित्य का शिक्षक नियुक्त किया था। वसुवन्धु के सत्संग के कारण ही नरसिंहगुप्त बौद्धभिक्कु हो गया था और नालन्दा महाविहार में रहता था।

पाटलिपुत्र के गुप्त राजा बौद्धधर्म में कितनी अधिक भ्रष्टा रखते थे और वे बौद्धधर्म के प्रति कैसे उदार थे, इसका प्रमाण इसी से मिलता है कि वसुवन्धु की परमार्थसप्तिका रचना पर मुग्ध होकर स्कन्दगुप्त ने उन्हें तीन लाख स्वर्णमुद्राएँ भेट में दी थीं। इन्हीं स्वर्णमुद्राओं से वसुवन्धु ने अयोध्या में महायान-सम्प्रदाय और हीनयान-सम्प्रदाय के भिक्कुओं तथा भिक्कुणियों के निवास के लिए तीन विहार बनवाये थे। बालादित्य के साले वसुरात्र ने एक बार वसुवन्धु के व्याकरण की तीव्र आलोचना की और बहुत-सी त्रुटियों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। इस प्रतिक्रिया में वसुवन्धु ने भी वसुरात्र के व्याकरण के ३२ अध्यायों का एक बृहत् आलोचना-ग्रन्थ ही तैयार कर दिया। विद्वानों ने इस ग्रन्थ की बड़ी सराहना की। इस पुस्तक के लिए बालादित्य ने और उसकी माता ने वसुवन्धु को अलग-अलग अपार धन दिया था। पुनः वसुवन्धु ने इस धन से पेशावर, कश्मीर और अयोध्या में एक-एक बौद्ध विहार का निर्माण कराया था।

तिब्बत में बौद्धधर्म का आरम्भिक काल तो अशोक का समय होगा, जब सम्राट् ने मज्झिम नामक स्थविर को हिमालय-प्रदेश में धर्म-प्रचार के लिए भेजा था। पर यथार्थ रूप में बौद्धधर्म का विकास वहाँ गुप्तकाल में ही हुआ। इस गुप्तकाल में भी, उसके अन्तिम समय में, वहाँ यह धर्म अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा। ईसा की चौथी शताब्दी में 'स्रोड्-सेन-गम्' नाम का राजा तिब्बत में हुआ था। इसकी दो पत्नियाँ थीं, जिनमें एक तो चीन की राजकुमारी थी और दूसरी नैपाल-नरेश 'अंशुवर्मन्' की कन्या। अंशुवर्मन् की कन्या का नाम 'मृकुटी' देवी था। संयोग से तिब्बत की ये दोनों रानियाँ बौद्धधर्मावलम्बिनी थीं। अपनी इन दोनों पत्नियों के प्रभाव से तिब्बत का राजा स्रोड्-सेन-गम् भी बौद्धधर्मानुयायी हो गया। तभी से परम्परानुगत तिब्बत राज-वंश बौद्धधर्म का अनुयायी रहता आया है। इस राजा की पाँचवीं पीढ़ी में 'ति-सोड्-दे-सेन्' नाम का राजा हुआ, जिसका काल सातवीं सदी का अन्तिम भाग और आठवीं सदी का आरम्भिक चरण है। इसके पहले ही ६१६ ई० में 'गच्छकरसङ्ख्यूह' नामक ग्रन्थ का तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ था<sup>१</sup>।

उक्त काल बिहार-प्रदेश के लिए राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल का युग था, फिर भी बिहार में इस समय तक गुप्त राजाओं की परम्परा चली आ रही थी। सातवीं सदी में भी जब उत्तर-भारत पर हर्षवर्द्धन का प्रभुत्व था, तब भी दक्षिण-बिहार में गुप्तों का प्रभाव रक्षित था।



इसी वंश का नरेन्द्रगुप्त, जिसका दूसरा नाम शशांक था, गौडाधिपति था। गुप्तवंश की दूसरी शाखा मालवा में शासन करती थी, जिसके राजा का नाम उस समय महासेनगुप्त था। इसी महासेन के दो पुत्र, जिनका नाम कुमारगुप्त और माधवगुप्त था, हर्षवर्द्धन की सेवा में नियुक्त थे। गौडाधिपति शशांक का प्रताप उस समय कुछ कम नहीं था। इसने हर्षवर्द्धन-जैसे प्रतापी सम्राट् के भाई को मार डाला था<sup>१</sup> और इसके पक्ष की प्रतिष्ठा करनेवाले हर्ष की प्रतिष्ठा कभी पूरी नहीं होने दी। देश में बौद्धोत्तर राजाओं को राजा नहीं माननेवाले बौद्ध भिक्षुओं का यह परम शत्रु था। यह एक महाशैव राजा था। इसकी एक छावनी सोन नदी के किनारे 'रोहतास' पर सर्वदा निवास करती थी। रोहतास की पहाड़ी की एक चट्टान पर सिक्का ढालनेवाला एक मूर्ति मिला है, जिसमें खुदा हुआ है—**श्रीमहासामन्त शशांक देव**<sup>२</sup>। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक यह अधिपति नहीं हुआ था। गुप्त-सामन्त ही था अथवा अधिपति होकर भी अपने को गुप्तों का सामन्त ही कहता था। शशांक का दक्षिणी विहार में पूरा दबदबा था। लड़ाई में लड़ते-लड़ते थककर पीछे जब शशांक दक्षिण की ओर चला गया, तब हर्षवर्द्धन ने मगध पर स्वयं शासन न करके गुप्तवंश के ही एक राज-कुमार माधवगुप्त को गद्दी पर बैठाया। मालूम होता है, शशांक की मृत्यु के बाद भी गंगा के दक्षिण विहार में गुप्तों का प्रभुत्व बना रहा। इसीलिए हर्षवर्द्धन शंकाशील होकर जब-जब पूर्व दिशा की ओर गया, दक्षिण-विहार होकर नहीं गया, बल्कि उत्तर-विहार होते हुए उसने प्रयाण किया। क्योंकि, इसके एक पड़ाव का पता 'हर्षचरित' से चलता है कि यह 'अचिरावती' नदी के तट पर मणितार नामक गाँव के पास पड़ा हुआ था। यह दक्षिण-विहार के प्रसिद्ध कवि वाणभट्ट को बुलाकर उससे यहाँ मिला था<sup>३</sup>। गुप्तवंश का अन्तिम राजा जीवितगुप्त है, जिसे ७३३ ई० में कश्मीर के राजा मुक्तापीड ने मारा और इसके बाद अन्तिम रूप से गुप्त-राजवंश की समाप्ति हुई।

उपयुक्त ऐतिहासिक भूमिका देने का यहाँ केवल इतना ही तात्पर्य है कि ७३३ ई० तक मगध पर किसी-न-किसी तरह गुप्त-राजवंश का प्रभाव रहा और इस काल तक मगध की ओर से धर्म-प्रचार के जो भी कार्य हुए, वे गुप्त-राजवंश के प्रभाव से ही हुए। गुप्तों की धार्मिक संस्कृति का इतना बड़ा प्रभाव था कि जब गुप्त-साम्राज्य शत्रुओं के प्रबल धपेड़ों से डगमगा रहा था, तब भी मगध का नालन्दा-विश्वविद्यालय शान्तिपूर्वक अध्ययन, अन्यापन तथा ज्ञान-प्रचार में लगा हुआ था। यह विशेषता विहार-प्रदेश की थी, जहाँ शत्रु भी इन पवित्र कार्यों में बाधा नहीं डालते थे। इसी काल में तिब्बत के राजा ति-सोङ्-दे-सेन ने अपने यहाँ धर्म-प्रचार के लिए नालन्दा से शान्तिरक्षित नामक भिक्षु को आमंत्रित किया। संभवतः इस समय मगध का राजा देवगुप्त था, जिसकी चर्चा चीनी यात्री 'हुन-सुन' ने की है।

१. हर्षचरितम्, उच्छ्रवास—६

२. विहारः एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १५६

३. हर्षचरितम्, उच्छ्रवास—२



काश्यपमूर्ति—जमेल, नालन्दा ( पृ० २६३ )



अशोक द्वारा निर्मित लोमश श्रृंग-गुफा, बराबर पहाड़ ( सपा )  
( पृ० १७५ और २३४ )

बौद्धधर्म और बिहार



भिक्षु शान्तिरक्षित ( पृ० २११ )



लौरियानन्दनगढ़ ( चम्पारन ) का दृश्य ( पृ० १७५ )



वह ६६० ई० के बाद नालन्दा में आया था। इसने लिखा है कि देवगुप्त के पिता आदित्यसेन ने नालन्दा के पास एक मन्दिर बनवाया था, जिसमें दक्षिण-भारत के भिक्षु रहते थे<sup>१</sup>। इसी देवगुप्त के नाम पर शाहाबाद जिले का गाँव 'देववर्षाक' था, जो आजकल 'देचना' और 'घरौव' इन दो गाँवों में विभक्त है। यहाँ पर जीवितगुप्त द्वितीय का वह सिक्का मिला है, जिसपर गोमती के किनारे उसकी सेना की एक छावनी का उल्लेख है।

**शान्तिरक्षित**—का जन्म ६५० ई० के लगभग, भागलपुर जिले के पूर्वी भाग में, एक ब्राह्मण-कुल में हुआ। अन्य बौद्ध विद्वानों की तरह इन्होंने भी पहले-पहल ब्राह्मण-ग्रन्थों का ही अध्ययन किया था। 'ईसिम' ने इनका एक नाम 'भगल' भी लिखा है, जो संभवतः भागलपुर के निवासी होने के कारण ही पड़ा था। ये भागलपुर जिले के 'सहोर' ग्राम के निवासी थे, ऐसा विचार पं० राहुल सांकृत्यायन का भी है। जयचन्द्र चिन्तालंकार ने भी इन्हें भागलपुर के पूर्वी इलाके का ही माना है<sup>२</sup>। इनकी बौद्धधर्म की शिक्षा नालन्दा में ही हुई और ६७५ ई० में इन्होंने 'आचार्य ज्ञानगर्भ' से प्रव्रज्या ली। प्रव्रज्या के बाद इनका नाम शान्तिरक्षित पड़ा। जिस समय शान्तिरक्षित नालन्दा में बौद्धधर्म की शिक्षा पा रहे थे, उसी समय चीनी यात्री ईसिम भी वहाँ बौद्धधर्म की पुस्तकों का अध्ययन तथा पाण्डुलिपि तैयार कर रहा था—लगभग ६७५ ई० से ६८५ ई० तक। ये दोनों नालन्दा के प्रमुख विद्यार्थियों में से थे।

तिब्बतीय राजा 'ति-सोङ्-दे-सेन' की ओर से तिब्बत आने का आग्रह जब नालन्दा में शान्तिरक्षित को मिला, तब इनकी आयु ७५ साल की थी। फिर भी धर्म-उत्पीम के नाम पर शान्तिरक्षित ने जरा भी आलस्य नहीं दिखाया और ये उस झुट्टपे में भी नैपाल के रास्ते से तिब्बत के लिए चल पड़े। बड़ी कठिन यातना भेलते हुए अत्यन्त दुर्गम मार्ग से ये (७२४ ई० में) तिब्बत पहुँचे। वहाँ पहुँचकर राजा की सहायता से इन्होंने धर्मोपदेश का काम आरंभ कर दिया। 'ल्हासा' में तो बहुत-से लोगो ने धर्म स्वीकार कर लिया और इनके प्रचार का वहाँ गहरा असर पड़ा। किन्तु दुर्भाग्यवश उसी समय वहाँ महामारी का रोग फैल गया। तिब्बत के भूत-प्रेत-पूजकों ने इस बीमारी को भूतों का प्रकोप बतलाया और प्रचार किया कि राजा आगन्तुक भारतीय भिक्षु द्वारा नया धर्म फैला रहा है, इसी कारण वहाँ भूतों का प्रकोप बढ़ गया है। इस प्रचार से जनता में राजा के प्रति बड़ा ही असंतोष फैला और विद्रोह की स्थिति आ गई। राजा की सलाह से शान्तिरक्षित उस समय नैपाल लौट आये। किन्तु, तिब्बत के बौद्धधर्म-प्रेमी राजा ने, दो वर्ष बाद, उचित अवसर जानकर शान्तिरक्षित को पुनः बुलाया। शान्तिरक्षित इस बार अकेले नहीं गये। तिब्बत में भूतों का उपद्रव रोकने के लिए नालन्दा के प्रसिद्ध तांत्रिक 'पद्मसंभव' को भी बुलाकर साथ लेते गये। वाद में इन्होंने नालन्दा से कुछ और विद्वानों को भी तिब्बत में बुलाया। शान्तिरक्षित ने इन सभी विद्वानों की सहायता से लगभग २५ वर्षों तक, दर्जनों भारतीय बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में

१. विहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १३३

२. सर्वेक—पृ० १६५

अनुवाद किया और कराया। इन्हीं अनूदित पुस्तकों में 'दिङ्नाग' की 'हेतुचक्र' भी है। इन्होंने ५००० श्लोकोंवाला 'तत्त्वसंग्रह' नाम का एक दार्शनिक ग्रन्थ भी लिखा। तिब्बत के राजा ने इनके निवास के लिए 'लुहासा' के दक्खिन, उदयपुरी के विहार के नमूने पर, 'साम्ये' नामक विहार का निर्माण कराया था। इनकी मृत्यु तिब्बत में ही, धर्म-प्रचार करते-करते, एक सौ वर्ष की आयु में हुई। आचार्य नरेन्द्रदेव की 'बौद्धधर्म-दर्शन' पुस्तक के अनुसार शान्तिरक्षित का देहावसान ७६२ ई० में हुआ और साम्ये-विहार का स्थापना-काल ७४६ ई० है। पीढ़े के पैर की टाप से घायल होकर इनकी मृत्यु हुई। इनके शव की हड्डी साम्ये-विहार की पहाड़ी के शिखर पर एक स्तूप में रखी गई थी। वह स्तूप साढ़े सवारह सौ वर्षों तक रहा। आज से लगभग आधी शताब्दी पहले वह जीर्ण स्तूप टूट गया और शव की हड्डी नीचे गिर पड़ी। उसके बाद शान्तिरक्षित की खोपड़ी, पात्र, चीवर आदि आज तक साम्ये-विहार में सुरक्षित है, जिनके दर्शन से आज भी अनेक बौद्ध अपनी आत्मा को पवित्र करते हैं।

**पद्मसंभव**—शान्तिरक्षित के साथ तिब्बत गये। फल यह हुआ कि जहाँ शान्तिरक्षित के उपदेशों से तिब्बत में बौद्धधर्म स्थायी हुआ, वहीं तिब्बत में पद्मसंभव की तंत्र-विद्या का भी पूरा प्रचार हुआ। एक तरफ जहाँ तिब्बत के गढ़े-लिखे तथा सुसंस्कृत लोग शान्तिरक्षित के प्रभाव में आये, वहीं दूसरी तरफ भूत-प्रेत में विश्वास रखनेवाले साधारण लोग पद्मसंभव की तंत्र-विद्या के कायल हुए। पद्मसंभव के कारण ही जहाँ तान्त्रिकवाद और बौद्धवाद के सम्मिश्रण से बौद्धधर्म ने एक नया रूप ग्रहण कर लिया। इस नये रूप के कारण ही तिब्बत में लामा-धर्म की नींव पड़ी<sup>१</sup>, जो आज तक वहाँ का प्रमुख धर्म है।

पद्मसंभव के सम्बन्ध में तिब्बती साहित्य कहता है कि ये लंकापुर (उड़ीसा) के राजा इन्द्रभूति के पुत्र थे और इनका विवाह कुमारदेवी नाम की स्त्री से हुआ था। कुछ लोग इन्हें कमलशील का साला भी कहते हैं। जो हो, पर पद्मसंभव की शिक्षा नालन्दा में हुई थी। ये नालन्दा-विश्वविद्यालय में तन्त्र-विभाग के प्रमुख आचार्य थे। इनके दायाँ हाथ में वज्र और बायाँ हाथ में खोपड़ी अंकित है। इनके दोनों और दो रमणियाँ मांस और मदिरा अर्पित करती दिखाई गई हैं। तिब्बती प्रणाली में इनका इसी तरह का चित्र अंकित मिलता है। इनकी लिखी पुस्तक का नाम साम्य-यन-क्रासिक है, जिसका अनुवाद भिक्षु आनन्दभद्र ने किया था।

शान्तिरक्षित के सहायक बनकर तिब्बत में नालन्दा से जो विद्वान् गये, उनमें पद्मसंभव के अतिरिक्त सुमतिसेन और कमलशील के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी विद्वानों के सम्मिलित उद्योग का ही फल है कि उस समय तिब्बत में जिस बौद्धधर्म की नींव पड़ी, वह आज तक अचल-अडिग है। ऐसा था, गुप्तकालीन मगध का धर्म-उद्योग।

**कमलशील**—जो शान्तिरक्षित ने खास तौर पर नालन्दा से तिब्बत में बुलाया था। कारण यह था कि नालन्दा उस समय सर्वास्तिवाद और माध्यमिक सम्प्रदाय का गढ़ बना

हुआ था। पर, तिब्बत में उस समय चीन देश का एक बौद्ध भिक्षु शन्यवाद का प्रचार कर रहा था। इसी चीनी भिक्षु का नाम 'ह्वा-संग' कहा जाता है। इसी भिक्षु से शास्त्रार्थ करने के लिए शान्तिरक्षित ने कमलशील को तिब्बत में खास तौर पर बुलाया। जब कमलशील पहुँचे, तब वहाँ शान्तिरक्षित के साथ ही साम्पे-विहार में ठहरे। तिब्बत के राजा ने 'ह्वा-संग' के पास शास्त्रार्थ करने का निमंत्रण भेजा। उसने भी चुनौती स्वीकार कर ली और शास्त्रार्थ का दिन नियत हो गया। एक बड़ी सभा के बीच, राजा की उपस्थिति में ही, शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। किन्तु, मगध के ज्ञान-गौरव के अनुरूप ही कमलशील ने उस भरी सभा के सामने ही ह्वा-संग को परास्त कर भूक बना दिया। कहते हैं कि पराजित ह्वा-संग ने उसके बाद अपने हाथों से कमलशील के गले में विजय-माला पहनाई और तिब्बत की जनता ने कमलशील के जयकार का घोष किया। इसके बाद तो वहाँ कमलशील को साक्षात् बुद्ध का अवतार कहा गया। किन्तु, अत्यन्त मार्मिक दुःख का विषय हुआ कि ह्वा-संग के अनुयायियों के हृदय में, उसकी हार से, बड़ा भारी घाव पैदा हो गया। अन्त में एक दिन इन्हीं लोगों ने उस अत्यन्त प्रतिभाशील कमलशील को, अँधेरी रात में, हत्या कर दी। आज उसी साम्पे-विहार में अन्य तुपितवाती भ्रमणों की तरह कमलशील की भी धातु, चीवर और पात्र सुरक्षित पड़े हैं।

कमलशील द्वारा निर्मित ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—(१) आर्यसप्तशतीक प्रज्ञा-पारमिता टीका, (२) आर्यवज्रकाचिदिक प्रज्ञापारमिता टीका, (३) प्रज्ञापारमिता हृदय नाम टीका, (४) न्यायचिन्दुपूर्वसारसामसौवत्य और शान्तिरक्षित द्वारा लिखित तरव-संग्रह की टीका। मूलग्रन्थ और टीका-ग्रन्थ—दोनों बड़ीदा की गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज में मुद्रित हो चुके हैं।

इस काल में संस्कृत-पुस्तकों से तिब्बती भाषा में अनुवाद का कार्य मगध के जिन विद्वानों ने किया, उनके नाम हैं—जिनमित्र, शालेन्द्रबोधि, दानशील, प्रज्ञावर्मन और सुरेन्द्रबोधि। इन लोगों ने समस्त पिढकों का अनुवाद भी तिब्बती में किया। जिनमित्र और दानशील ने एक तिब्बती परिष्ठ के साथ, जिसका नाम था ज्ञानसेन, शान्तिदेव-लिखित शिञ्जासमुच्चय का चीनी अनुवाद ८१६ ई० से ८३८ ई० के मध्य में किया था।

उपर्युक्त शान्तिरक्षित आदि विद्वानों को भारत से तिब्बत में बुला ले जाने का सारा श्रेय ज्ञानेन्द्र नामक एक तिब्बती संन्यासी को है, जिसका तिब्बती नाम 'म्यल्-नन्ड' था। कमलशील की हत्या से इसके हृदय पर इतनी गहरी चोट लगी कि इसने अनशन करके प्राण त्याग दिया।

१. "ह्वा-संग चीनी शब्द है, जिसका अर्थ भिक्षु होता है। इसके वास्तविक नाम का पता नहीं चलता।"—तिब्बत में बौद्धधर्म—पृ० २०



# आठवाँ परिच्छेद

## पालकाल में बौद्धधर्म

बिहार-प्रदेश में गुप्तों का काल गिरते-पड़ते-लड़खड़ाते—किसी-न-किसी तरह आठवीं सदी के मध्य तक चलता रहा—अर्थात् सम्राट् हर्षवर्द्धन के समय में और उसके बाद भी। इसपर थोड़ा प्रकाश पहले डाला गया है<sup>१</sup>। किन्तु हर्षवर्द्धन के बाद समस्त बिहार-बंगाल

पालवंश

में अराजकता फैल गई थी। इतिहासकारों का कहना है कि जनता की अवस्था मत्स्य-न्याय की हो गई थी—जैसे बड़ी मछली छोटी और निर्बल मछली को निगल जाती है, उसी तरह समाज का बली पुरुष अपने प्रभुत्व से निर्बल को पीस देता था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' कहावत चरितार्थ हो रही थी। परिस्थिति से ऊबकर प्रजा ने अपनी रक्षा के लिए अपना एक राजा चुना और उसके माथे पर राज्य का मुकुट अपने हाथों से पहनाया। उस व्यक्ति का नाम 'गोपाल' था।

गौड़-देश में दण्डिविष्णु नाम का एक विद्वान् पुरुष था। इसके लड़के का नाम वाप्पट था। वाप्पट अपने पिता की तरह ही अनेक शास्त्रों में निष्णात था। पर समाज में घोर अव्यवस्था देखकर इसने शास्त्र को कुछ दिनों के लिए हटा दिया और उसकी जगह शस्त्र धारण कर लिया। वाप्पट ने शास्त्र की तरह ही शस्त्र-विद्या में भी पूरी निपुणता दिखाई और समाज में अव्यवस्था फैलानेवाले बहुत-से आततायियों को ठिकाने लगाया, और बहुतों को रास्ते पर ले आया। इसी वाप्पट का पुत्र गोपाल था, जो अपने पिता की तरह ही वीर और धीर था। इसलिए प्रजा ने वाप्पट-जैसे न्यायी व्यक्ति के पुत्र को राजा का ताज दिया। इसी गोपाल ने प्रजा की सहायता से समस्त बिहार और बंगाल को एक सूत्र में पिरोया और शासन को सुव्यवस्थित कर प्रजा को चैन की नींद सुलाया। इसने शासन की सुव्यवस्था के लिए राज्य के केन्द्र-भाग में अपनी राजधानी बनाई। यह राजधानी पटना जिले के उदयगढ़पुर (आधुनिक बिहारशरीफ) नगर में कायम हुई थी। इसने अपनी राजधानी के पास मालन्दा में एक बौद्ध विहार का भी निर्माण कराया<sup>२</sup>। यह त्वर्य बौद्धधर्म का उपासक था। इसके उत्तराधिकारी भी बौद्धधर्म के प्रति पूर्ण उदार बने रहे। वे सभी बौद्धधर्म के संरक्षण और परिवर्द्धन में निरन्तर वृत्तचित्त रहे।

पालवंश के राजाओं ने बौद्धधर्म का विकास किया, इसके लिए इस वंश के प्रधान राजाओं की एक तालिका दे देना उचित होगा। इन राजाओं के काल की धार्मिक

१. इस पुस्तक के पृ० २०६-२१० इष्टव्य

२. बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १६८

कृतियाँ तथा अन्य कला-कृतियाँ पालकाल की कहलाती हैं। चूँकि राजा के रूप में, इस वंश में, प्रथम-प्रथम गोपाल ही प्रसिद्ध हुआ, इसलिए इस वंश की तालिका' इसी से आरम्भ करनी उचित होगी।

१. गोपाल	( ७४३ - ७६८ ई० )
२. धर्मपाल	( ७६६ - ८०६ ई० )
३. देवपाल	( ८१० - ८५१ ई० )
४. विग्रहपाल	( ८५१ - ८५३ ई० )
५. नारायणपाल	( ८५४ - ९०८ ई० )
६. राज्यपाल	( ९०८ - ९३२ ई० )
७. गोपाल द्वितीय	( ९३२ - ९४६ ई० )
८. विग्रहपाल द्वितीय	( ९४६ - ९७५ ई० )
९. महीपाल प्रथम	( ९७५ - १०२६ ई० )
१०. नवपाल	( १०२६ - १०४१ ई० )
११. विग्रहपाल तृतीय	( १०४१ - १०५४ ई० )
१२. महीपाल द्वितीय	( १०५४ - १०५६ ई० )
१३. शूरपाल	
१४. रामपाल	( १०५७ - ११०३ ई० )
१५. कुमारपाल	( ११०३ - ११६० ई० )
१६. मदनपाल	
१७. गोविन्दपाल	( ११६१ - ११८० ई० )

अन्तिम तीन राजा नाममात्र के थे, जो कन्नौज राजाओं के अधीन सामन्तमात्र थे। इन कन्नौज राजाओं की राजधानी उस समय काशी में थी।

गोपाल का पुत्र धर्मपाल ७६६ ई० में राज्य-सिंहासन पर आरुढ़ हुआ। इसने चालीस वर्षों तक राज्य किया। इसके काल में बंगाल के इस पालवंश ने पाटलिपुत्र को ही अपना केन्द्र बना लिया था। अतः फिर एक बार बिहार-प्रदेश के इस राजा की तलवार के साथे में समस्त उत्तर-भारत ने अपना सत्तक मुका दिया। यद्यपि अपने शासन की लगभग ३०० वर्षों की अवधि में पालवंश सर्वदा राजनीतिक कोलाहल एवं युद्ध के मैदान में व्यस्त रहा, तथापि इसने बौद्धधर्म के विकास और संरक्षण में जो कार्य किया, वह चिरस्मरणीय है। धर्मपाल ने भी मौर्यों तथा गुप्तों का मार्गानुसरण करके बौद्धधर्म के लिए एक अतीव महान् कार्य किया। वह कार्य था—नालन्दा के ढंग पर विक्रमशिला-विश्वविद्यालय की स्थापना।

विक्रमशिला-विश्वविद्यालय बिहार-प्रदेश के भागलपुर जिले में, पूर्व की ओर,

१. यह वंशावली और तिथि-क्रम श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार के विचारानुसार दिये गये हैं। देखिए—  
बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १६७ से १६०

‘कहलगाँव’ के आस-पास संगातद पर अवस्थित था। महामहोपाध्याय काशीप्रसाद जायसवाल और पण्डित राहुल सांकृत्यायन ने विक्रमशिला का स्थान उक्त जिले के मुलतानगंज के पास, जो भागलपुर से पश्चिम है, माना है; पर अब विलकुल सिद्ध हो गया है कि यह विश्वविद्यालय कहलगाँव के पास ही था। धर्मपाल द्वारा स्थापित विक्रमशिला-विश्वविद्यालय नालन्दा-विश्वविद्यालय की तरह ही विश्व-विभूत हुआ। यद्यपि नालन्दा की समकक्षता में ही इस विद्यालय की स्थापना हुई थी, तथापि उदारचेता पाल-नरेशों की देख-रेख में नालन्दा के गौरव में भी किसी तरह की कमी नहीं आने पाई थी। विक्रमशिला-विश्वविद्यालय की स्थापना किस ईसवी सन् में हुई, इसका पता तो नहीं लगा है; पर इतना निश्चित है कि इसकी स्थापना ७६६ ई० से ८०६ ई० के बीच हुई थी, जो धर्मपाल का शासनकाल था। धर्मपाल ने ही इसकी स्थापना कराई थी।

इस शिक्षा-केन्द्र में १०८ अध्यापक अध्यापन-कार्य में नियुक्त थे। दसवीं सदी में तो यह नालन्दा से भी बड़ा और समस्त भारत का बृहत्तर शिक्षा-केन्द्र बन गया था। विश्वविद्यालय के चारों ओर दृढ़ और ऊँचे प्राचीर खड़े थे, जिसके मध्य में शिक्षा-केन्द्र अवस्थित था। सम्पूर्ण विश्वविद्यालय में छह विहार (कालेज) थे। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ लामा ने लिखा है कि शिक्षा-केन्द्र के दक्षिणी द्वार के द्वार-बंधित का नाम प्रज्ञाकरमति था। इसी तरह पूर्वी द्वार के द्वार-बंधित का नाम रत्नाकरशान्ति, पश्चिमी द्वार के वागीश्वरकीर्ति और उत्तरी द्वार के द्वार-बंधित का नाम नरोपन्त था। इन द्वारों से प्रवेश करने के बाद भी दो देवदियाँ मिलती थीं। जिन्हें पार कर ही मुख्य शिक्षा-केन्द्र में कोई जा सकता था। इन देवदियों के द्वार पर भी दो दिग्गज विद्वान् रहते थे, जिनके प्रश्नों के उत्तर देने पर ही कोई प्रवेश पा सकता था। प्रथम देवद्वी के पण्डित का नाम रत्नवज्र था, जो प्रसिद्ध बौद्ध संन्यासी थे और दूसरी देवद्वी के पण्डित शानभ्रीमित्र थे, जो बौद्धभिक्कु थे। विश्वविद्यालय में एक विशाल समा-भवन भी था, जिसमें एक साथ ८००० मनुष्य बैठ सकते थे। विद्यार्थियों के आवास तथा भोजन की निःशुल्क व्यवस्था थी। इसकी व्यवस्था के लिए पालराजाओं ने जागीरें दे रखी थीं। विश्वविद्यालय के मुख्य केन्द्र-द्वार पर एक ओर भिक्षु नागार्जुन की मूर्ति और दूसरी ओर विश्वविद्यालय के प्राचार्य ‘श्रीशान दीपङ्कर अतिश’ की मूर्ति स्थापित थी। शिक्षा-केन्द्र के द्वार के पास एक सर्व-सुविधा-सम्पन्न धर्मशाला भी थी, जिसमें बाहर से आये अतिथि विश्राम करते थे। नालन्दा-विश्वविद्यालय की तरह यहाँ वेद, वेदाङ्ग, उपवेद, हेतुविद्या, सांख्य-योग तथा बौद्धों के होनमान और महायान के ग्रन्थों का अध्यापन-कार्य चलता था। किन्तु, इस विश्वविद्यालय की एक बड़ी विशेषता यह थी कि यहाँ तंत्र-शास्त्र के अध्ययन के लिए भी समुचित प्रवन्ध था।

१. विक्रमशिला-विश्वविद्यालय में शिवान और वज्रवान-सम्प्रदाय का मुख्य शिक्षा-केन्द्र था। इसलिए इसके द्वार पर महायान के प्रवर्तक ‘नागार्जुन’ की मूर्ति और इस सम्प्रदाय के तात्कालिक अनुयायी ‘अतिश’ की भी मूर्ति स्थापित थी।—ले०



तंत्र-शास्त्र के विद्यार्थियों के सम्यक् ज्ञान के लिए शास्त्रीय शिक्षा के अतिरिक्त व्यावहारिक शिक्षा का भी पूर्ण प्रबन्ध था। यद्यपि नालन्दा में भी तंत्रशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी; तथापि इस विश्वविद्यालय में इसका बृहत् प्रबन्ध, खास तौर पर, किया गया था। जिस तरह नालन्दा के विद्यार्थी बौद्धधर्म के प्रचार के लिए भारत से बाहर जाते थे, उसी तरह विक्रमशिला के विद्वान् भी इस कार्य में पूर्ण हाथ बटाते थे। इस काल में तान्त्रिक सिद्धों की परम्परा अपनी उठान पर थी।

विक्रमशिला-विश्वविद्यालय की प्रसिद्धि कुछ ही वर्षों में देश-विदेश में फैल गई। यहाँ के विद्वानों की कीर्ति सुनकर ही तिब्बत के तत्कालीन राजा व्यङ्-छूप-ओद् ( भारतीय नाम बोधिप्रम ) ने बौद्धधर्म को अपने यहाँ दृढ़ करने के लिए इस शिक्षा-केन्द्र में एक तिब्बती शिष्ट-मंडल भेजा। इस शिष्ट-मंडल का, विक्रमशिला में आने का, उद्देश्य यह था कि वह भीज्ञान दीपङ्कर अतिश को जैसे भी हो, तिब्बत बुला ले जाय। इस शिष्ट-मंडल के आने के पहले भी अतिश को बुलाने के लिए तिब्बत से दूत आया था; पर भीज्ञान ने जाने से अस्वीकार कर दिया था। तिब्बती राजा को जब मालूम हुआ कि भीज्ञान दीपङ्कर नहीं आये, तब पुनः दूत के हाथों अतिश को उपहार भेजने के लिए, सुवर्ण इकट्ठा करने के उद्देश्य से, वह सीमान्त देश में चला गया और वहाँ के राजा द्वारा पकड़ा गया। इसका नाम 'खोरल्दे' था। खोरल्दे के पुत्र व्यङ्-छूप-ओद् ( बोधिप्रम ) अपने पिता को छुड़ा लाने के लिए बहुत-सा धन भेजा; पर पिता ने कहा—'मुझे छुड़ाकर क्या करोगे, इस धन से धर्म-प्रचार के लिए किसी भारतीय पण्डित को बुला लाओ।' वही हुआ। खोरल्दे ने बन्धन की अवस्था में ही अपना प्राण-त्वाग किया। पिता की अन्तिम अमिलाषा की पूर्ति के लिए ही व्यङ्-छूप-ओद् ने नानाविध उपहारों को देकर विक्रमशिला में अपना शिष्ट-मंडल भेजा।

विक्रमशिला-विश्वविद्यालय में तिब्बती शिष्ट-मंडल ने जिन विद्वानों को अपनी आँखों देखा, उनके नाम थे—( १ ) रत्नाकर, ( २ ) विद्याकोकिल, ( ३ ) नरोपन्त, ( ४ ) वीरवज्र और ( ५ ) भीज्ञान दीपङ्कर अतिश। विद्याकोकिल चन्द्रकीर्ति की शिष्य-परम्परा में थे और अतिश के गुरु रह चुके थे। नरोपन्त तत्कालीन भिक्षुओं में विनय के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता थे। ये भी अतिश के गुरु थे। रत्नाकर इनमें सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे और अतिश के प्रधान आचार्य रह चुके थे। वीरवज्र विश्वविद्यालय में तंत्र-शास्त्र के प्राचार्य थे। ये अपने युग के सर्वश्रेष्ठ तान्त्रिक विद्वान् थे।

अतिश के तिब्बत जाने पर विक्रमशिला के आचार्य-पद पर ज्ञानभूमिन्न आसीन हुए, जो अतिश के समय में द्वार-पण्डित थे। यहाँ के विद्वानों में रत्नवज्र, जेतारि, रत्नकीर्ति, ज्ञानभूमिन्न और शाक्यभूमिन्न समस्त बौद्ध संसार में अपनी विद्वत्ता के लिए प्रख्यात थे। इस विश्वविद्यालय से जो छात्र उत्तीर्ण होते थे, राजा की ओर से उन्हें 'पण्डित' की उपाधि मिलती थी। नालन्दा-विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की तरह यहाँ के विद्यार्थी भी राजकीय उच्च पदों पर नियुक्त होते थे। सारे देश में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।

धर्मपाल ने विक्रमशिला-विश्वविद्यालय की स्थापना की और कई बौद्ध विहार भी बनवाये। इस धर्मपाल के उत्तराधिकारी देवपाल के सम्बन्ध में नालन्दा के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि इसने राजगृह के विहारों के लिए चार, और गया के विहारों के लिए एक-अर्धात् पाँच गाँव दान में दिये थे। इसी देवपाल के समय, इसीकी आज्ञा से जावा-

देवपाल

मुमाथा के तात्कालिक राजा ने, जिसका नाम 'बलपुत्र देव' था, नालन्दा के समीप एक बौद्ध विहार बनवाया था। स्वयं देवपाल ने इस विहार के भरण-पोषण के लिए प्रचुर वैभव दान किया था। प्रमाण से ज्ञात होता है कि इसने बहुत-से बौद्ध विहारों के साथ मन्दिर भी बनवाये और इन सब के व्यवस्था के लिए प्रचुर धन दान किया।

धर्मपाल के एक भाई का नाम वावपाल था। वावपाल के पुत्र का नाम जयपाल था, जिसका पुत्र प्रथम विग्रहपाल था। विग्रहपाल के भाई अथवा उसके वंश के किसी अमृतपाल नामक व्यक्ति ने जयपाल आदि की स्मृति में 'सारनाथ' में दश चैत्यो का निर्माण कराया था। इस बात के प्रमाण का एक शिला-लेख सारनाथ में मिला था,

अमृतपाल

जिसकी संख्या, सारनाथ के संग्रहालय में डी० (एफ०) ५६ है<sup>१</sup>। उसमें लिखा है—विश्वपालः । दश चैत्यास्तु यत् पुण्यं कारयित्वाजित्तु मया । (।) सर्वलोको भवे । [त्तेन] सर्वज्ञः कारुण्यमयः ॥ श्रीजयपाल एतनुद्दिश्य कारित-ममृतपाले [न] ।

पालराजाओं में नारायणपाल ( ८५४-६० ई० ) के बाद राजपाल का शासन आरंभ हुआ। इसके पिता के समय में प्रतिहारों ने इसके राज्य की जो भूमि ले ली थी, उसे इसने पुनः अपने बाहु-बल से हस्तगत कर लिया। श्रीभगवतशरण उपाध्याय ने राजपाल का

राजपाल और  
भिन्नु धर्मदेव

काल ६१२ ई० से ६३६ माना है; पर 'चीनी बौद्धधर्म का इतिहास' नामक पुस्तक के लेखक 'चाउ-सिआंग कुआंग' ने राजपाल का समय ६५७ ई० से ६८० ई० तक का माना है। किन्तु, जयचन्द्रजी ने ६०८ से ६३२ ई० ही माना है। इसी राजपाल के समय में नालन्दा का 'धर्मदेव' नामक भिक्षु उज्जैन के भ्रमण दानपाल ( जो ६८० ई० में चीन गया ) से पहले ही सन् ६७१ ई० में चीन गया<sup>२</sup>। उस समय चीन में तुंग्वशीय सम्राट् 'ताउ-त्सु' का शासन चल रहा था। नालन्दा का धर्मदेव नामक भिक्षु 'ताउ-त्सु' के शासनकाल से आरम्भ करके 'ताइ-त्सुंग' ( ६७६ ई० ६६७ ई० ) के शासनकाल को पार करता हुआ 'चिन-त्सुंग' के शासनकाल में भी बौद्ध-धर्म का प्रचार करता रहा। चीनी भाषा में धर्मदेव का नाम 'फा-तिएन' है। इसने आगे चलकर अपना नाम 'फा-हिएन' भी रखा, जिसका अर्थ होता है—धर्म-विख्यात। यह नाम उसके मूल नाम के अनुरूप ही था। नालन्दा के इस बौद्ध भिक्षु ने ६७१ ई० से १००१ ई० तक

१. प्राचीन भारत का इतिहास—पृ० ३२५

२. सारनाथ का इतिहास—(बृन्दावन भट्टाचार्य, वानमंटल-कार्यालय, काशी-सं० १६७६) पृ० १५२

३. प्राचीन भारत का इतिहास—पृ० ३२६

४. जयचन्द्रजी के अनुसार यह काल विग्रहपाल द्वितीय का समय पड़ता है।—ले०

चीनी भाषा में अनेक बौद्ध ग्रन्थों का रूपान्तर उपस्थित किया। बौद्धधर्म के प्रति इसकी ऐसी निष्ठा देखकर तात्कालिक चीनी सम्राट् 'ताई-सुंग' ने इसे 'बुद्धधर्म-प्रचारक महागुरु' की उपाधि से विभूषित किया। चीनी त्रिपिटकों में इसके लिये ११८ ग्रन्थों की चर्चा मिलती है। इसने फा-तिएन ( धर्मदेव ) के नाम से ४६ ग्रन्थों का चीनी अनुवाद किया था और फा-तिएन ( धर्म-विख्यात ) के नाम से शेष ७२ ग्रन्थों का चीनी रूपान्तर सम्पन्न किया<sup>१</sup>। धर्मदेव भिक्षु की मृत्यु चीन में ही, 'चिन-सुंग' के शासन-काल में, सन् ६०० ई० में हुई।

राजपाल के बाद द्वितीय 'विग्रहपाल' का शासन मगध पर हुआ। इसके समय में, सन् ६०४ ईसवी में 'धर्मरक्ष' नामक बिहार-प्रदेशनिवासी भिक्षु चीन गया। यह अपने साथ 'सूर्ययशस्' नामक भिक्षु को भी चीन ले गया। धर्मरक्ष का जन्म सन् ६६० ई० में मगध-प्रदेश के एक गाँव में हुआ था। शिवा मालन्दा-विश्वविद्यालय में हुई थी। यह जब चीन पहुँचा, तब इसकी आयु ४४ वर्ष की थी। वह अपनी ६६ वर्ष की आयु तक चीन-देश में धर्म-प्रचार और भारतीय बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य करता रहा। तत्कालीन चीन-सम्राट् जेन-सुंग ने इसे 'व्यापक प्रकाश', 'करुणामय जामरस' और 'धर्मोपदेश का महागुरु' की उपाधियों से विभूषित किया था।

धर्मरक्ष का चीनी नाम 'फा-हू' है। इसके द्वारा किये गये अनुवादों में से ४० खण्डों में 'बोधिसत्त्व-पिटक'; २० खण्डों में 'तथागत चित्त्य गुण-निर्देश' तथा २० परिच्छेदवाले पाँच खण्डों में 'देवावर्तव' आज भी उपलब्ध हैं। सूर्ययशस् ने भी 'अश्वघोष' के दो संस्कृत-ग्रन्थों का चीनी में रूपान्तर किया था। इनमें एक का नाम 'गुरुसेवा-पंचशतगाथा' और दूसरे का नाम 'दशदुष्टकर्ममार्गसूत्र' है<sup>२</sup>।

पालवंश में विग्रहपाल ( द्वितीय ) के बाद महीपाल नामक राजा सामर्थ्यवान् हुआ। यद्यपि इसे भी शत्रुओं से भयंकर लोहा लेना पड़ा, फिर भी शोगुनद से पूर्व के भागों पर शत्रुओं के दाँत नहीं गड़ सके। सारनाथ के शिला-लेख से तो प्रमाणित होता है कि काशी भी इसके अधीन थी। बौद्धधर्म में इसकी भी पूर्ण आस्था थी, जिसके चलते इसके बौद्धधर्म के मक्त भाइयों ने सारनाथ में 'धर्मराजिक्रास्तु' और 'सांगधर्मचक्र' का संस्कार कराया था<sup>३</sup>—उनके जीर्णोद्धार कराने के साथ ही गन्धकुटी को भी फिर से बनवाया था। महीपाल ने श्रद्धावुक्त होकर अपने भाइयों की इस कीर्ति को अनुसृत्य रखने के लिए शिला-लेख लिखवाकर सारनाथ में स्थापित कराया था। वह शिला-लेख आज भी सारनाथ के संग्रहालय में सुरक्षित है, जिसकी संख्या बी० ( सी० ) आई० है। इस लेख से स्पष्ट पता चलता है कि महीपाल ब्राह्मण-धर्म के साथ बौद्धधर्म के प्रति भी श्रद्धालु था और काशी के मन्त्रियों में स्वज, चित्र, पण्डा आदि का प्रबन्ध कराया था। इसी लेख से

१. चीनी बौद्धधर्म का इतिहास—पृ० १८७

२. तत्रैव—पृ० १८६

३. प्राचीन भारत ( श्रीगंगाप्रसाद मेहता, पृ० ९० )—पृ० २५६



इसरी बात यह भी प्रमाणित होती है कि सन् १०२६ ई० के आस-पास काशी पर इसका शासन था। उस लेख को यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

ओं नमो बुद्धाय<sup>१</sup>

वरान ( ग ) शी ( सी ) सरस्यां गुरुव श्रीवामराशिपदाब्जं आराध्य नमित-  
भूपतिशिरोरुहैः शैवालाभीशं इ ( ई ) शानचित्रघण्टादिकीर्तिरत्नशतानि यो  
गौडाविषो महीपालः काश्यां श्रीमानकार ( यत् ) ।

सफलीकृतपाण्डुरयौ बोधावविनिवर्तिनी ।

तौ धर्म्मरात्रिकौ साङ्गं धर्म्मचक्रं पुनर्नवं ॥

कृतवन्तौ च नवोनामष्टमहास्थानशैलगन्धकुटी ।

एतौ श्रीस्थिरपालो वसन्तपालोऽनुजः श्रीमान् ॥

संवत् १०८३ पौष दिने ११<sup>२</sup>

इससे स्पष्ट है कि महीपाल के गुरु वाराणसी में रहते थे, जिनका नाम 'वामराशि' था और उनकी प्रेरणा से ही काशी के मन्दिरों में महीपाल ने चित्र, चित्र, घंटे आदि लगवाये थे। इसके दो भाई, स्थिरपाल और वसन्तपाल ने, जो पूर्ण बौद्ध थे, सारनाथ के बौद्ध स्थानों का जीर्णोद्धार कराया था, जिनके बरा की चिरस्थिति के लिए महीपाल ने शिला-लेख लिखवाया।

श्रीशान दीपद्वार अतिथ के तिब्बत जाने के पहले, बिहार-प्रदेश के जिन विद्वान् संपूर्णों ने वहाँ बौद्धधर्म के विकास के लिए कार्य किये, उनमें स्मृतिज्ञान, धर्मपाल, सिद्धपाल, गुणपाल, सुभूति और श्रीशान्ति प्रमुख थे<sup>३</sup>। इन धर्म-नेताओं ने बौद्धधर्म के अनेक ग्रन्थों का तिब्बती अनुवाद प्रस्तुत किया था। ये अनुवादित पुस्तकें भारतीय संस्कृति और इतिहास के लिए प्रकाश-स्तम्भ-सदृश हैं, अतः हम भारतवासी इनके श्रेष्ठ को कभी भुला नहीं सकते। इन विद्वानों में स्मृतिज्ञान मुख्य थे।

स्मृतिज्ञान

स्मृतिज्ञान, महीपाल के शासन की समाप्ति पर और 'नयपाल' के द्वारा शासनसूत्र

१. सारनाथ का इतिहास—पृ० १५३

२. हिन्दी-रूपान्तर—“बुद्ध को नमस्कार। वाराणसी-रूपी सरली में गुरु 'श्रीवामराशि' के चरण पद्म की तरफ शोभते हैं, जिनके ऊपर सुके भूपतिवीरों के शिरीष शैवाल की तरह झाने रहते हैं। उसी चरण-कमल की आराधना काके श्रीमान् 'महीपाल' ने काशी में चित्र, चित्र, घण्टादि-रूपी अनेक कीर्ति-रत्न स्थापित किये। दो अनुज—स्थिरपाल और वसन्तपाल—जिन्होंने अपने पाण्डित्य को सफल किया और नहीं दूर होमवाली ( स्थिर ) सम्बोधि को प्राप्त किया तथा जिन्होंने 'धर्म-रात्रिका' और 'साङ्गधर्मचक्र' ( जहाँ बुद्ध ने पंचकायि मिलुषों को अप्रासंगिक मार्ग का उपदेश दिया था ) स्थान का नवीनीकरण कराया एवं आठ महास्थानों की शिलाओं से गन्धकुटी का जीर्णोद्धार कराया। ( उनकी स्मृति में )—संवत् १०८३, पौष, दिन ११।”

३. पाटलिपुत्र की वधा—पृ० ६२३

संभाल लेने पर सन् १०३० ई० में, 'सूक्ष्मदीर्घ' नामक पण्डित के साथ, तिब्बत गये<sup>१</sup>। इनके साथ एक दुभाषिया भी था, जो भारत आया था और उसी के साथ ये तिब्बत जा रहे थे। अमात्यवश बेचारा दुभाषिया नेपाल पहुँचने पर मर गया। उसके मर जाने पर भी स्मृतिज्ञान और सूक्ष्मदीर्घ ने हिम्मत नहीं हारी और ये तिब्बत गये। तिब्बत में सूक्ष्मदीर्घ को तो किसी व्यक्ति का अच्छा आश्रय मिल गया; पर स्मृतिज्ञान के लिए व्यवस्था नहीं हो सकी। इन्होंने एक पशुपालक के यहाँ भेड़ चराने की नौकरी कर ली। पशुपालक ब्राह्मपुत्र काठे का निवासी था। उसकी स्त्री स्मृतिज्ञान के प्रति बड़ी ही कर्कश सिद्ध हुई। जब स्मृतिज्ञान भेड़ें लेकर घर लौटते, तब घर की मालकिन इन्हें एक चुन्नी भी आराम नहीं करने देती। वह रात में भी इनसे सत्तू पिसवाने का काम लेती थी। कई रात तो ये भूखे ही रह जाते और उस हालत में भी वह इनसे सत्तू पिसवाने का काम कराती थी। इतने पर भी ये बराबर उस स्त्री की फटकार सुनते थे। फिर भी इन्होंने साहस नहीं छोड़ा। ये अपने उद्देश्य-पथ पर बढ़ते ही गये। भेड़ की चरवाही से इन्हें फायदा वह हुआ कि चरवाही के संग में विशुद्ध मोट भाषा के बोलने-समझने का ज्ञान हो गया। बाद में लिपि का ज्ञान प्राप्त करके ये मोट लिपि को पढ़ना भी जान गये। भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर इन्होंने नौकरी छोड़ दी और भारतीय ग्रंथों के अनुवाद में हाथ लगाया। स्मृतिज्ञान और विमृतिचन्द्र (१२०४ ई०) ये दो ऐसे भारतीय पण्डित हुए, जिन्होंने दुभाषिये के बिना ही स्वयं अनुवाद का कार्य किया था<sup>२</sup>। तिब्बती अनुवाद करनेवाले ऐसे भारतीय पंडित कम हुए हैं।

स्मृतिज्ञान ने 'स्मन्-लुंग' स्थान में 'बोद्-नम्स-ग्यल्-म्छन्' नामक व्यक्ति को बौद्ध ग्रंथों को पढ़ाने का काम किया था। इसके बाद पूर्वीय तिब्बत-प्रदेश में जाकर इन्होंने 'उद्-न्-क्लोङ्-यङ्' स्थान में 'अभिधर्मकोश' पढ़ाने के लिए एक विद्यालय भी खोला। इनके द्वारा अनूदित ग्रंथों में 'चतुष्पाठ-टीका', 'वचन-मुख' आदि ग्रन्थ हैं, जिनके मूलरूप भी इन्हीं के लिखे हैं। जीवन भर इन्होंने तिब्बत में बौद्धधर्म का कार्य किया और वहीं इनकी मृत्यु भी हुई। इनके शरीर के अवशेष तिब्बत के उन्नी पूर्वी प्रदेश के एक स्थान में आज भी वर्तमान हैं।

इसी काल के आस-पास 'रिन्-छेन्-त्सन्' नामक एक तिब्बती ने अपने भारतीय साथियों की सहायता से कई दर्शन तथा तंत्र-ग्रन्थों का अनुवाद प्रस्तुत किया और कराया था। इन भारतीय पंडितों में श्रद्धाकर वर्मा, पद्माकरगुप्त, बुद्ध भीशान्त, बुद्धपाल और कमलगुप्त थे। जिन ग्रन्थों के तिब्बती रूपान्तर हुए, उनमें आप्तदेव का 'हस्तलापन-प्रकरण', हरिभद्र का 'अभिधर्मपालकारालोक', नागार्जुन की 'वैश्विक अष्टांगहृदयसंहिता', मातृचेत की 'चतुर्विपर्यय-कथा', वसुबन्धु की 'सप्तगुणपरिवर्णन-कथा' और 'सुमागधावदान' आदि मुख्य हैं।

पालराजा 'नेपपाल' के समय तिब्बत से दीपकर अतिश की बुलाहट आई थी। तिब्बत में जब स्मृतिज्ञान बौद्धधर्म के प्रचार के लिए, अपने साथियों के साथ उद्योग कर

१. विशार : एक ऐतिहासिक हिमदर्शन—पृ० १०२

२. तिब्बत में बौद्धधर्म ( महापण्डित राजुल साकुत्पावन )—७० : ८

रहे थे, सभी दीपङ्कर अतिश तिब्बत जाने के लिए विक्रमशिला से रवाना हुए थे। अतिश के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में विक्रमशिला में आये तिब्बती शिष्ट-मंडल का उद्गार पठनीय है—

“अतिश को देखने से शक्ति तुम नहीं होती। समस्त उपस्थित जनसमूह उनके मुस्कान-भरे मुखमण्डल को देखकर विमुरव था—सभी उसी ओर दृष्टि गड़ाये, एकटक देख रहे थे। उपस्थित जनसमूह में भारतीय, नेपाली तथा तिब्बती लोग थे। अतिश की बगल में चावियों के गुच्छे लटक रहे थे। उनकी आकृति पर ऐसी तेजस्विता और सरलता खेल रही थी कि देखनेवाले पर एक अजीब जादू छा जाता था।”

अतिश का जन्म, ईस्वी के सहस्राब्दी शान्तिरक्षित के गाँव ‘सहोर’ (भागलपुर) में, उन्होंने वंश में ही हुआ था। उन्हीं के इलाके में विक्रमशिला-विश्वविद्यालय भी स्थित था। अतिश का जन्म ६८१ ई० में हुआ था<sup>१</sup>। इनका समय द्वितीय विग्रहपाल, महीपाल और नयपाल नामक राजाओं का शासन-काल रहा। किन्तु, तिब्बत में जब ये बौद्धधर्म का कार्य कर रहे थे, तब मंगव में तृतीय विग्रहपाल का शासन चल रहा था। विक्रमशिला में इन्हें लेने के लिए तिब्बती शिष्ट-मंडल १०४१ ई० में आया था।

अतिश के पिता का नाम ‘कल्याणशी’ और माता का नाम ‘प्रभावती’ था। कल्याणशी अत्यन्त वैभव-सम्पन्न तथा अपने प्रदेश के सम्मानित ब्राह्मण थे। उनके तीन पुत्र थे, जिनका नाम पद्मगर्भ, चन्द्रगर्भ और श्रीगर्भ था। इनमें मँझला पुत्र चन्द्रगर्भ ही आगे चलकर भीज्ञान दीपङ्कर अतिश के नाम से बौद्ध जगत में विभूत हुआ। कल्याणशी ने अपने पुत्रों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया था। ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही चन्द्रगर्भ संस्कृत भाषा का पूर्ण शास्त्र हो गया। इसकी मेधाशक्ति विलक्षण थी, जो इसके किसी भाई को प्राप्त नहीं थी।

एक दिन चन्द्रगर्भ घूमता-फिरता पड़ोस के आश्रम में गया, जो परम प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् ‘जेतारि’ का आश्रम था। जेतारि ने चन्द्रगर्भ की आकृति पर तेजस्विता की झलक देखकर इसका परिचय पूछा। चन्द्रगर्भ ने अपने परिचय में कुछ ऐसी बात कही, जिसमें राजकुमार होने का अभिमान भरा था। जेतारि ने कहा—“वहाँ राजा-प्रजा कोई नहीं होता। तुम राजा के लड़के हो, तो वहाँ क्यों आये हो? जाओ, वहाँ तुम्हारा कुछ काम नहीं।” चन्द्रगर्भ बालक इस अवमान से लो तिलमिला गया; पर यह जेतारि का कर ही क्या सकता था। जेतारि कोई साधारण सन्त नहीं थे। वे बड़े भारी त्यागी और सिद्ध पुरुष थे। समाज में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। अन्त में चन्द्रगर्भ ने अपने अज्ञान के लिए क्षमा माँगी और प्रार्थना की कि मुझे अपना विद्याभी बना लिया जाय। अद्भुत बालक को योग्य पात्र समझकर जेतारि ने इसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। बाद में इसे उन्होंने नालन्दा-विश्व-विद्यालय में पढ़ने के लिए भिजवा दिया।

चन्द्रगर्भ जब माता-पिता से आज्ञा लेकर नालन्दा गया, तब इसकी आयु सिर्फ बारह

१. तुद्ध और उनके अनुचर (भद्रत आनन्द कौसल्यावत) — पृ० ७०-७१

२. पाटलिपुत्र की कथा — पृ० ६१४



साल की थी। बीस वर्ष से कम उस के व्यक्ति को उपसभादा नहीं दी जाती थी, अतः चन्द्रगर्भ को प्रतीक्षा करनी पड़ी। किन्तु, अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न बालक को देखकर तथा जेतारि द्वारा मेजा जानकर नालन्दा के प्रधान आचार्य 'बोधिमद्र' ने इसे श्रमणों की दीक्षा देकर साथ रख लिया। बोधिमद्र ने चन्द्रगर्भ का नाम 'श्रीज्ञान दीपकर' रखा। बोधिमद्र के गुरु 'मैत्रीगुप्त' उस समय जीवित थे और वे राजगृह में रहते थे। वे परम विरूपाक्ष सिद्ध हो गये थे। इसलिए अब उनका नाम मैत्रीपा, अद्वयवज्र तथा अवधूतिपा ( व ) भी पड़ गया था। बोधिमद्र अपने प्रिय शिष्य श्रीज्ञान दीपकर को उनके समीप राजगृह ले गये, तथा गुरु से निवेदन किया कि यह बड़ा ही होनहार विद्यार्थी है, इसकी कुछ काल तक अपने पास रखकर शिक्षा दें। मैत्रीपा ने भी योग्य पात्र देखकर बोधिमद्र की प्रार्थना मान ली। श्रीज्ञान दीपकर ने मैत्रीपा के पास रहकर शुभ्रप्रापूर्वक बौद्धधर्म-ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन किया। उन दिनों बौद्ध समाज में मंत्रयान और वज्रयान का खूब प्रचार था। श्रीज्ञान दीपकर ने मंत्रयान और वज्रयान के ग्रन्थों का 'नारोपा' नामक सिद्ध से अध्ययन किया, जो बाद में विक्रमशिला-विश्वविद्यालय के उत्तरी द्वार के पण्डित हुए थे। इसी नारोपा सिद्ध का नाम 'नाडपाद' या 'नरोत्तमपाद' था। तिब्बती विद्वानों ने 'नारोपा' का नाम 'नरोपन्त' भी लिखा है। नारोपा के शिष्यों में श्रीज्ञान दीपकर के अतिरिक्त प्रज्ञारक्षित, कनकभी और माणकश्री परम प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् हुए हैं।

श्रीज्ञान दीपकर ने यद्यपि अपने घर, नालन्दा, राजगृह, विक्रमशिला आदि विद्या के केन्द्रों में रहकर परिश्रमपूर्वक संस्कृत तथा बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया, तथापि उन दिनों बोधगया के 'वज्रासन-महाविहार' में जबतक कुछ वर्षों रहकर बौद्धधर्म-ग्रन्थों का अध्ययन नहीं कोई करता, तबतक बौद्ध समाज में उसकी पूरी प्रतिष्ठा नहीं होती थी। इसलिए दीपकर वज्रासन के 'मति-विहार' में अध्ययन के लिए गये और वहाँ इन्होंने महाविनयधर 'शीलरक्षित' से विनय-ग्रन्थों का अध्ययन किया। अब श्रीज्ञान दीपकर की आयु ३१ वर्ष की हो चुकी थी और इस तरह इन्होंने गृहत्याग के बाद १६ वर्षों तक विविध स्थानों में जा-जाकर अनेक बौद्ध विषयों का अध्ययन-मनन किया।

अपनी ३१ वर्ष की आयु के बाद श्रीज्ञान दीपकर दर्शन-शास्त्र के अध्ययन के लिए 'सुमात्रा' द्वीप में चले गये। इन्होंने बौद्धधर्म का अध्ययन सुमात्रा में भी 'धर्मपाल' नामक भारतीय विद्वान् से किया। सुमात्रा में वर्षों दर्शन-शास्त्र का मनन-चिंतन समाप्त कर ये लंका चले गये। इस तरह बारह वर्षों तक प्रयास करके श्रीज्ञान अपनी ४३ वर्ष की आयु में पुनः अपने गाँव सहार ( भागलपुर ) लौटे।

दीपकर की ख्याति बहुत पहले से ही फैल चुकी थी। जब वे अपने गाँव आये, तब पाल-राजा महीपाल ने ( जिसने सारनाथ में प्रशस्ति लिखवाई थी ) इन्हें विक्रमशिला-विश्वविद्यालय का प्रधान आचार्य नियुक्त किया। इसके बाद इनकी प्रतिष्ठा इस तरह बढ़ी

कि देश के श्रुतिपियों के समकक्ष इनकी गणना होने लगी। भारत में इनकी प्रतिष्ठा कितनी थी, इसका अनुमान एक ऐतिहासिक घटना से लगाया जा सकता है।

'डाहला' के कलचुरि राजा मंगियदेव के पुत्र 'कण' ने जब मगध पर आक्रमण किया, तब इनके बीच-बचाव करने से ही 'नयपाल' और 'कण' में सन्धि हुई थी। दीपकर ने इन्हें समझाया कि 'सौमान्त पर जब तुम्हें का आतंक फैला है, तब इस तरह आपस में लड़ना तुम लोगों के लिए उचित नहीं है।' यह ऐतिहासिक घटना सन् १०४१ ई० में घटी थी। इसके बाद ही सन् १०४२ ई० में दीपकर धर्म-प्रचार के लिए तिब्बत चले गये। तिब्बत के लिए रवाना होते समय इनकी आयु ६१ वर्ष की हो चुकी थी।

ये जब तिब्बत गये, तब पहले-पहल मानस-सरोवर के पश्चिमवाले प्रदेश में 'थो-गलिङ्' बिहार में ठहरें। इसी जगह दीपकर ने अपना 'बोधियथ प्रदीप' नामक ग्रन्थ तैयार किया। इसके बाद जब ये तिब्बत की राजधानी में पहुँचे, तब इनका जैसा शाही स्वागत हुआ, वह अचर्यानीय है। तिब्बती ग्रन्थों में इस स्वागत का जैसा वर्णन मिलता है और श्रीराहुल सांकृत्यायन ने जिसका उल्लेख अपनी पुस्तक 'तिब्बत में बौद्धधर्म' में किया है, वह पठनीय है। कहा जाता है कि राजा की ओर से १०० घुड़सवारों का प्रस्थ था, जो चार सेनापतियों की देख रेख में मुख्यस्थित दंग से चल रहे थे। सभी घुड़सवारों की बर्तियाँ सफेद थीं। स्वागत में फौजी बाजे बज रहे थे और उनमें 'ॐ मणिपद्मे हुं' का गान हो रहा था। राजा के प्रतिनिधि ने, जिसका नाम 'नारि-त्सो-सुम-पने' था, दाईं छटाँक सोना दीपकर को भेंट में दिया और तिब्बती चाय का एक प्याला भी अपने हाथों भेंट किया। एक भारी जनसमूह के सामने देश के सेनापति ने कहा—“भारत के सर्वश्रेष्ठ पण्डित! इस देश में आपका आगमन किसी देवता के आगमन-तुल्य है। हम पर जो आपकी यह कृपा हुई है, उसके लिए हम सम्पूर्ण तिब्बतवासी आपके कृतज्ञ हैं। आप तिब्बत के लिए चिन्तामणि के समान हैं। सम्पूर्ण तिब्बत हर तरह से आपकी आज्ञा का पालन करेगा, आपके लिए हम सब न्यौछावर कर देंगे।”

श्रीशान दीपकर के साथ उस समय राजा भूमिर्तिह, पण्डित परहितभद्र, वीर्यचन्द्र आदि वर्तमान थे। इनके साथ उस समय कुल ३५ विद्वान्, विक्रमशिला-विश्वविद्यालय से तिब्बत गये थे। जिस घोड़े पर वे चल रहे थे, जनसमूह के दर्शनार्थ, अपने योगबल से, कभी-कभी उस घोड़े की पीठ से कई हाथ ऊपर उठ जाते थे। ये राजा के अतिथि के रूप में 'लिन्-सेर्-ग्यो-ल-खड्' बिहार में ठहराये गये।

दीपकर ने तिब्बत में तेरह वर्षों तक अपने साथियों के साथ, सांगीपांग बौद्धधर्म का कार्य सम्पादन किया। प्रचार के साथ भारतीय ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद-कार्य भी होता रहा। इस काल में २०० ग्रन्थों का अनुवाद-कार्य हुआ। स्वयं दीपकर के द्वारा तिब्बती भाषा में अनुवाद और रचित ग्रंथों के कुछ नाम इस प्रकार हैं—

(१) बोधियथप्रदीप, (२) चर्चासंग्रहप्रदीप, (३) सत्यवहार, (४) मध्यमोपदेश,

(५) संग्रहगर्भ, (६) बोधिसत्त्वमन्यावलि, (७) हृदय-निश्चित, (८) बोधिसत्त्वकर्मादिमार्गावतार, (९) शरणागतदेश, (१०) महायानपथ-साधनवर्णसंग्रह, (११) महायानपथ-साधनसंग्रह, (१२) सूत्ररथ-समुच्चयोपदेश, (१३) दशकुशलकर्मोपदेश, (१४) कर्मविभंग, (१५) संधिसंवर-परिवर्त्त, (१६) लोकोत्तरसप्तकविधि, (१७) गुरुक्रियाकर्म, (१८) त्रिचोत्पाद-संवर-विधिकर्म, (१९) शिष्टान्तमुच्यमानिसमय, (२०) विमलरत्नलेखन आदि ।

अन्तिम पुस्तक मगध के राजा 'नयपाल' के अतिश द्वारा नाम लिखा एक बृहत् पत्र है । इस तरह तिब्बत में तेरह वर्षों तक बौद्धधर्म की सुदृढ़ करके श्रीमान दीपकर अतिश, अपनी इकहत्तर वर्ष की आयु में, तिब्बत के 'ने-थन' नामक स्थान में तुपितलोक की प्राप्ति हुई । 'ल्हासा' के रास्ते के एक बौद्ध मंदिर में, आज भी 'अतिश' का भिक्षुपात्र, कमण्डल और खदिर-दण्ड—तीनों सुरक्षित रखे हुए हैं ।

मैथीला के शिष्यों में 'गयाधर' नाम का एक व्यक्ति था, जो जाति का कायस्थ और वैशाली (भुजपुरपुर) का रहनेवाला था । गयाधर मी १०७५ ई० के लगभग तिब्बत गया । तिब्बत में पाँच वर्षों तक रहकर इमने तंत्र-ग्रन्थों का अनुवाद किया । बाद में यह अपने ग्राम वैशाली लौट आया । तिब्बत से आते समय वहाँ के राजा ने मंड में इसे पाँच सौ तोले सोना दिया था । गयाधर ने 'बुद्धकपालतंत्र' और 'वज्रहाकतंत्र' का अनुवाद किया था । यह स्वयं अपभ्रंश-भाषा का कवि भी था । इसके पुत्र का नाम 'तित्रूपा' था, जो एक प्रसिद्ध बौद्ध सिद्ध था ।

उत्पुक्त विहारी विद्वानों के अतिरिक्त, बारहवीं सदी के प्रारंभिक काल में भी, विहार के बौद्ध विद्वानों ने तिब्बत में जाकर बौद्धधर्म का कार्य किया था । इस काल में बुद्धकीर्त्ति ने अभयंकरगुप्त ( अभयाकर गुप्त ) के द्वारा लिखी कई तांत्रिक पुस्तकों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया । अभयंकरगुप्त का जन्म, मारखण्ड ( देवघर के आस-पास ) प्रदेश में, क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी माता से हुआ था<sup>२</sup> । इन्होंने 'सौरीपा' से सिद्धिचर्चा की दीक्षा ली थी और वे 'अवधूतिपा' के प्रधान शिष्य थे । ये मगध-नरेश 'रामपाल' के गुप्त थे, जिसका काल १०५७ ई० से ११०२ ई० माना गया है । नालन्दा और विक्रमशिला के विशिष्ट पण्डितों में इनकी गणना थी । ये बोधगया के बज्जसन-विहार के प्रधान आचार्य थे । इनकी मृत्यु ११२५ ई० में हुई थी<sup>३</sup> । बुद्धकीर्त्ति इनके सहपाठी रह चुके थे । 'वज्रवानापत्तिमंजरी' नामक पुस्तक के निर्माण करने में बुद्धकीर्त्ति ने अभयंकरगुप्त की भी सहायता ली थी ।

इसी समय विहार-प्रदेश-निवासी कुमारश्री नामक बौद्ध विद्वान की पुस्तकों का भी तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ । बौद्ध पण्डित 'कर्णवति' ने भी इस काल में महायान-सम्प्रदाय के

१. तिब्बत में बौद्धधर्म—पृ० १७

२. तत्रैव—पृ० ४२

३. तत्रैव—पृ० ४२



कई ग्रन्थों के तिब्बती भाषा में अनुवाद किये। कर्णपति नालन्दा के उपाध्याय थे और वही से इन्हें 'पण्डित' की पदवी प्राप्त हुई थी। नालन्दा में ये तिब्बती भाषा पढ़ाने के लिए अध्यापक भी रह चुके थे। कर्णेश्री और सूर्यध्वज नामक विद्वानों ने भी इस काल में तिब्बत जाकर कई संस्कृत-ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद प्रस्तुत किये। 'सुमतिसेन' ने 'कर्मसिद्धटीका' नामक पुस्तक संस्कृत-भाषा में लिखी थी, जिसका तिब्बती अनुवाद इसी काल में भिक्षु विशुद्धसिंह ने किया।

मिश्रयोगी का जन्म वर्यपि 'राड़' देश में हुआ था, तथापि इनके अध्ययन-अध्यापन तथा कर्म का क्षेत्र बिहार-प्रदेश था। इनका गुरा नाम जगन्मित्रानन्द था। ये बिहार-प्रदेश के प्रसिद्ध सिद्ध तिलोपा के शिष्य थे और इन्होंने सिद्धिचर्या की दीक्षा ललितवज्र से ली थी। ये उदयपुरी बिहार (बिहारशरीफ) के प्रधान आचार्य भी कुछ दिनों तक रहे थे। इनका कार्य-क्षेत्र बिहार-प्रदेश था, तब भी इनकी प्रसिद्धि काशी तक थी। इसीलिए सत्कालीन काशीश्वर जयचन्द इनके प्रधान शिष्यों में से थे।

बिहार-प्रदेश पर जिस समय मुहम्मद बिन बख्तियार-इल्तियार खिलजी का हमला बार-बार हो रहा था, उसी समय तिब्बत-निवासी 'उखो-कु' नामक व्यक्ति, सन् ११६८ ई० में, मिश्रयोगी को तिब्बत बुला ले गया<sup>१</sup>। मिश्रयोगी की पुस्तक का नाम 'चतुरंग-धर्मचर्या' है, जिसका अनुवाद इसी तिब्बती विद्वान ने किया।

राक्य श्रीमद्र का जन्म भी बिहार-प्रदेश में नहीं हुआ था, पर विद्याध्ययन-काल से तिब्बत जाने के पहले तक; इनका जीवन बिहार में ही व्यतीत हुआ था। इनका जन्म ११२७ ई० में कश्मीर-प्रदेश में हुआ था। बचपन में ही घूमते-घामते ये बिहार-प्रान्त में आये और बोधगया, नालन्दा तथा विक्रमशिला में इन्होंने अध्ययन किया। इन्होंने विविध ग्रन्थों का अध्ययन कई विद्वानों के शिष्यत्व में किया था। ये पालवंश के अन्तिम राजा गोविन्दपाल के गुरु थे और विक्रमशिला-विश्वविद्यालय के शायद ये ही अन्तिम प्राचार्य हुए। मुहम्मद-बिन बख्तियार-इल्तियार ने जब बिहार-प्रदेश को निगलकर विक्रमशिला-विश्वविद्यालय को क्षय कर दिया, तब ये बंगाल भाग गये और वहाँ भी खतरा देखकर नेपाल चले गये। मिश्रयोगी को तिब्बत ले जानेवाला 'उखो-कु' नामक तिब्बती इन्हें भी नेपाल से तिब्बत ले गया<sup>२</sup>। ये १२०० ई० में तिब्बत पहुँचे थे। इन्होंने १० वर्षों तक तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रचार-कार्य किया था। ये विद्वत्ता में तो आगाय थे, पर लेखनी के घनी नहीं थे। पीछे ये तिब्बत से अपनी जन्मभूमि लौट गये और वहाँ १२२५ ई० में इनकी मृत्यु हुई।

वर्यपि उदयपुर का बिहार विक्रमशिला-बिहार से पहले ही स्थापित हुआ था, तथापि विक्रमशिला की तरह इसका विकास चरम सीमा तक नहीं पहुँच सका। फिर भी देश के

१. इंदियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, मार्च, १९२५ ई०।

२. तिब्बत में बौद्धधर्म—पृ० ४४

३. तत्र व—पृ० ४४



मद्रासन में बुद्ध, नालन्दा ( कांस्य-मूर्ति )



मैत्रेय, नालन्दा



पीपलगुहा ( राजग्रह )



अमप मुद्रावाली बुद्ध-मूर्ति, लखीसराय (मुं गेर)  
( पृ० २६७ )



विद्या-केन्द्रों में इसका भी अपना एक स्थान था। इसका निर्माण पालराजा गोपाल के काल में ही हुआ था और यह १२वीं सदी के अन्ततक प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र रहा। यहाँ भी बड़े-बड़े विद्वान् आचार्य-पद पर रहे तथा यहाँ के विद्यार्थी भी देश-विदेश में कीर्तिमान् उपार्जित कर चुके थे। अरब के लेखकों ने उदन्तपुर का नाम 'अदध' लिखा है। इस विहार का उल्लेख किसी भी राजा की प्रशस्ति-शिला में अभी तक नहीं मिला है। यही कारण है कि कुछ इतिहासकार इसका संचालन-भार भिक्षु-संघ के हाथ में था, किसी राजा के हाथ में नहीं, ऐसा मानते हैं। ज्ञात होता है कि उदन्तपुर का भिक्षु-संघ नालन्दा और विक्रमशिला के बौद्धसंघों से भिन्न मत या सम्प्रदाय का था, जिसने अपने मत के प्रचार के लिए अलग विद्या-केन्द्र संचालित किया था। यह विद्या-केन्द्र ११६६ ई० में, मुहम्मद-बिन-बख्तियार-इल्तियार के आक्रमण-काल में, नालन्दा और विक्रमशिला—दोनों से उन्नत अवस्था में था। देश के बनी-मानियों का इसके साथ अच्छा सहयोग था।

मुहम्मद-बिन-बख्तियार इल्तियार ने उदन्तपुर पर केवल २०० सवारों को लेकर हमला किया था, फिर भी विहार-प्रदेश में कोई ऐसी शक्ति नहीं थी कि इन मुद्दी-भर सवारों का मुकाबला कर सके। उसने पूर्ण निःशंक होकर उदन्तपुर के विहार को घेर लिया। कोई उपाय न देखकर विहार के भिक्षुओं ने स्वयं लड़ने का निश्चय किया और इनमें अधिकांश लड़ते हुए उन तुर्क सवारों की तलवार की पाट उतरे। यहाँ तक कि जो लुके-छिपे भी थे, उनमें से भी अधिकांश हँद-हँदकर मार डाले गये। कुछ भिक्षु बंगाल और उड़ीसा की ओर भाग गये। कहते हैं कि मुहम्मद-बिन-बख्तियार-इल्तियार जब भिक्षुओं को मारकर विहार के अन्दर गया, तब वहाँ एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं था, जो उसे बतलावे कि विहार में अम्बार-सी लगी पुस्तकों में क्या लिखा है। वह भिक्षुओं का विहार था—वहाँ सोना-चाँदी या अन्य प्रकार का ऐश्वर्य तो था नहीं, केवल पुस्तकें थी। इल्तियार खिलजी के काम की कोई चीज वहाँ नजर नहीं आई, इसलिए वह और क्रुद्ध हुआ। उसने विहार की पुस्तकों में आग लगवा दी। उस अग्नि-कांड में सदियों से अर्जित ग्रन्थ जलकर खाक हो गये। मुहम्मद-बिन-बख्तियार-इल्तियार खिलजी अब इस तरह वहाँ भी विहार देखता, आग लगवा देता। इसी तरह उसने नालन्दा और विक्रमशिला के विहारों को भी अग्नि की भेंट चढ़ा दिया। अन्य दुश्मन राजधानी पर हमला करते थे और वहाँ से धन-धान्य लूटकर ले जाते थे। भारत सोना-चाँदी के लुट जाने पर भी खाली नहीं होता था, वह फिर भर जाता था। पर, इल्तियार ने तो भारतवर्ष का मस्तिष्क ही जला डाला। सभी धार्मिक स्थानों में सुरक्षित ज्ञान-विज्ञान तथा सभ्यता-संस्कृति को ही मस्मसात् कर दिया। सब पूछिए, तो मूल की ही काट डाला—स्रोत को ही सुखा डाला। इस तरह बारहवीं शताब्दी के अन्त होते-होते, इन शिक्षा-केन्द्रों के साथ-साथ, उसने भारत के प्राचीन गौरव, संस्कृति और इतिहास का भी अन्त कर दिया। देश का इतना बड़ा और इस तरह का सर्वनाश कभी नहीं हुआ था।

कुछ लोगों का कहना है कि मुहम्मद-बिन-बख्तियार-इस्लियार खिलजी के संबंध में इस तरह का दोष अतिशयोक्तिपूर्ण है। इस पर मैं अपनी ओर से विशेष कुछ नहीं कहना चाहूँगा। इस सम्बन्ध में डॉक्टर हीरानन्द शास्त्री ने अपनी 'नालन्दा' नामक विवरण-पुस्तिका के पृ० १४ में जो लिखा है, वह इस प्रकार है—“नालन्दा को ऊँची-ऊँची श्रद्धालिकाएँ, दिव्य बिहार और इनमें स्थित सामग्री अवश्य ही लुटेरों का शिकार बनी होगी, तभी तो वहाँ जो स्थान खोदकर निकाले गये हैं, वहाँ अग्नि-वाह के शीतक चिह्न पाये गये। एक बड़े बिहार के भग्नावशेषों की मिट्टी जली हुई, घरों की चौखटें कोयला हुई और ताम्रपत्र आग से जले निकले।” अग्नि-वाह के कारण ही बिहार में रखा चावल-भाँडार जल गया था, जो खुदाई के अवसर पर प्राप्त हुआ है। उस जले चावल में से लगभग आधा सेर चावल नालन्दा-संग्रहालय में आज भी सुरक्षित है।

## पालकाल में वज्रयान-सम्प्रदाय और बिहार के सिद्ध

बौद्धधर्म के नाश में पठानों के अमानुषिक आक्रमण के साथ-साथ बौद्धधर्म का 'वज्रयान-सम्प्रदाय' भी एक मुख्य कारण है। जिस समय मुहम्मद-बिन-बख्तियार-इल्तियार खिलजी ने बौद्ध विहारों पर हमला करना शुरू किया, उस समय प्रायः सारे बौद्ध वज्रयान-सम्प्रदाय के उपासक हो गये थे। इस सम्प्रदाय का सिद्धान्त हठयोग के साथ मंत्र, मैथुन और मद्य पर ही आधारित था, जो सभी भगवान् बुद्ध के विचारों के प्रतिकूल थे। यहाँ मैं वज्रयान के दर्शन, उसके गूढ़ रहस्य तथा उसकी उन्नत भाव-भूमि पर विचार नहीं करूँगा। वह हमारा विषय नहीं। वज्रयान की उत्पत्ति और विकास पर एक नजर डालते हुए उसके उपासक विहारों सिद्धों की चर्चा करूँगा, जिनका बौद्धधर्म के साथ गहरा सम्पर्क था और जो इस ग्रन्थ का सम्बद्ध विषय है।

भगवान् बुद्ध का एक नाम 'मारजित्' है, जिसका अर्थ है—कामदेव को जीतनेवाला। पर शात होता है कि यद्यपि काम भगवान् बुद्ध से परास्त हो गया था, तथापि वह एक चतुर सेनानी की तरह बराबर अवसर की ताक में लगा रहा। काम की अच्छी तरह यह अवसर तब मिला, जब बौद्धधर्म में 'तंत्रयान' का आविर्भाव हुआ, फिर भी वह सफल नहीं पहुँच सका। क्योंकि, तंत्रयान में सुन्दरी तो आ गई थी, पर मुरा का प्रवेश 'वज्रयान' द्वारा ही आया। अतः वज्रयानियों के समय में कामदेव ने भगवान् बुद्ध का सारा बदला उनके सम्प्रदाय से चुकाया और ऐसा चुकाया, जो कभी किसी से नहीं चुकाया था और अन्त में बौद्धधर्म को लेकर डुबो ही दिया।

मार ने वज्रयान के बीज का तो, वज्रयान-सम्प्रदाय की उत्पत्ति से लगभग न्याह-बारह सौ वर्ष पहले ही, भगवान् बुद्ध के समय में ही, बपन कर दिया था। वे बीज दो तरह के थे। पहला था—अन्ध-विश्वास, जिसमें श्रद्धा-प्रदर्शन अथवा अलौकिक चमत्कार-प्रदर्शन होता था और दूसरा था—बुद्ध-संघ में नारियों का प्रवेश। दोनों के मूल में लोभ के कीटाणु थे। एक के शिकार तो स्वयं बुद्ध ही हुए थे और दूसरे के उनके परमप्रिय शिष्य 'आनन्द'। बुद्धधर्म और बौद्धसंघ की वृद्धि किस तरह से हो—वही लोभ भगवान् के मन में कीटाणु बन कर घुसा। धर्म और संघ के विस्तार के लिए हम देखते हैं कि भगवान् बुद्ध ने कई जगह अलौकिक चमत्कार का प्रदर्शन किया और अन्धविश्वासियों पर अपनी प्रभुता जमाकर उन्हें अपने संघ में दाखिल कराया। हम 'गया' के काश्यप-बन्धुओं को देखते हैं कि बुद्ध के अलौकिक चमत्कार-प्रदर्शन के कारण ही वे उनके संघ में आये। श्रद्धा-प्रदर्शन का काम, राजगृह के ब्राह्मणों को नीचा दिखाने के लिए, उन्होंने कोसल में जाकर किया। साँकाश्य में तापतृप्तिश से उतरने की कथा भी उनका अलौकिक चमत्कार-प्रदर्शन ही है। स्वयं राजगृह में बुद्ध के एक शिष्य ने आकाश में उड़ने का चमत्कार दिखाकर वाँस में टँगे हुए चन्दन-पात्र को उतारा।



भगवान् बुद्ध ने एक राजनीतिज्ञ की तरह अपने संघ के विस्तार के लिए चमत्कार-प्रदर्शन से बार-बार काम लिया। उन्होंने अपने धर्म में सम्मिलित करने के लिए धर्माचार्यों, सम्प्रदायी, भेदियों, उच्च कुलवालों तथा बड़े-बड़े भ्रमण-ब्राह्मणों पर ही प्रभाव डाला और कई जगह अलौकिक चमत्कार का प्रदर्शन किया। वैशाली में एक बार जब अकाल पड़ा, तब मन्त्र का सहारा लिया गया। इस तरह इन सारी बातों ने ही आगे चलकर बढ़ते-बढ़ते मंत्रपान, तंत्रपान और वज्रपान का रूप ले लिया तथा यही वज्रपान बहुत बड़े अंश में बौद्धधर्म के नाश का कारण बना।

आनन्द ने बड़े ही आग्रह से संघ में नारियों को प्रवेश कराया। इसी अवसर पर मार ने अपनी पंचमांगी सेना ( कामिनियों ) को अपने शत्रु ( बुद्ध ) के संघ में प्रवेश करा दिया और अवसर की ताक में लगा रहा। जिस दिन मार की पंचमांगी सेना संघ में घुसी, उसी दिन भगवान् बुद्ध का माथा ठनका और उन्होंने आनन्द से स्पष्ट कह दिया—  
“आनन्द, हमारा धर्म जो एक सहस्र वर्ष टिकता, वह अब केवल पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा।”  
आनन्द ने भी निर्मांठों की देखा-देखी ही नारी-संघ की स्थापना कराई थी—बुद्ध-संघ और बौद्धधर्म की वृद्धि के लिए। संघ की वृद्धि की कामना का लोभ ही कीटाणु बनकर आनन्द के मन में प्रविष्ट हुआ, जो मार-सेना का एक असला दस्ता है। जिस तरह ‘आनन्द’ ने धर्म-विस्तार के लिए निर्मांठों का अनुसरण किया, उसी तरह भगवान् बुद्ध भी सत्कालीन ब्राह्मण-योगियों की देखा-देखी चमत्कार-प्रदर्शन के चक्कर में पड़ गये।

बुद्ध के समय में ही मार ने बार-बार अपनी सेना के दूसरे दस्ते को भी प्रहार के लिए भेजा, पर वह दस्ता बुद्ध के जीवन-काल में हारता ही रहा। इसका नाम द्वेष था। किन्तु बुद्ध के निर्माण के बाद वैशाली में, द्वितीय संगीति के अवसर पर, मार की द्वेष-सेना को भी सफलता मिल गई और संघ दो टुकड़ों में बँट गया। कुछ ही काल बाद तो बौद्धधर्म चौदह टुकड़ों में छिन्न-भिन्न हो गया। इन्हीं में से एक सम्प्रदाय का नाम ‘वैपुल्यवाद’ पड़ा, जो ईसा पूर्व प्रथम सदी में उत्पन्न हुआ। वैपुल्यवाद को ही ‘महायान’-सम्प्रदाय कहते हैं। पालि में इसका नाम ‘वैपुल्लवाद’ है। महायानियों के विशिष्ट सिद्धान्त शून्यवाद का पूर्ण समर्थक ‘वैपुल्यवाद’ है। इसके मतों का प्रतिपादन ‘कथावस्तु’ के सत्रहवें, अठारहवें और तेईसवें बर्गों में हुआ है। इसी वैपुल्यवाद से तंत्रपान की उत्पत्ति हुई, जिसकी आधारशिला रही—हठयोग, मंत्र और मैथुन।

इस बात को एक दूसरे पहलू से भी हमें देखना है। मौर्यवंश के बाद शुंगों, काश्यों तथा सातवाहनों का साम्राज्य देश पर स्थापित हम पाते हैं। ये सभी ब्राह्मण-धर्म के उलायक थे। उनके राज्य-काल में ब्राह्मण-धर्म चूड़ान्त शिखर पर पहुँचा और सबने शुंगों की देखा-देखी यज्ञों का प्रचार किया। इस प्रभाव की चपेट में बौद्धधर्म बच नहीं सका। बौद्धधर्म की महासाधक शाखा ने अपने बौद्ध-ग्रन्थों को संस्कृत-भाषा में लिखा और अपनी धार्मिक भाषा पालि को छोड़ दिया। अब बौद्धों को विवश होकर ब्राह्मण-संस्कृति और सभ्यता से अपने धर्म का समन्वय करना पड़ा; क्योंकि देश की जनता उनके प्रति अपना पूर्ण

सम्मान प्रकट करने लगी थी। इसी सातवाहन-काल में 'वैपुल्यवाद' ने जन्म लिया था अथवा अपनी शैशवावस्था से निकलकर किशोरावस्था में पहुँचा था। अब बौद्धों को, ब्राह्मण-धर्म की तरह, अपने बुद्ध को विष्णु, शिव तथा शक्ति के समान देवों की कोटि में रखने की आवश्यकता पड़ी। वहाँ भगवान् बुद्ध ने व्यक्ति की पूजा का निषेध किया था, वहाँ बौद्ध लोग स्वयं बुद्ध की ही पूजा करने लगे। उन्हें बुद्धदेव की मूर्ति की पूजा, मूर्ति और दर्शनमात्र से 'सुखावती' (परमपद) में रहने का सौभाग्य भी मिलने लगा। यहाँ तक कि बौद्धों ने मनुष्य बुद्ध को लुप्त करके, ब्राह्मण-देवताओं की तरह, बुद्ध की भी अनेक अलौकिक कहानियाँ गढ़ दीं। ऐसी अवस्था में बुद्धदेव की मूर्ति आवश्यक हो गई, जिसकी अर्चना-मात्र से निर्वाण-पद सुलभ बन गया। बौद्धों ने यहाँ तक भी कहने की हिम्मत की—“भगवान् बुद्ध इस लोक में आये ही नहीं, जो कुछ उनका उपदेश हुआ, 'आनन्द' के द्वारा हुआ।” इसी समय बौद्धों ने 'एकामिप्राय' से मैथुन-कर्म की छूट दे दी। एकामिप्राय का सिद्धान्त महाशक्त्यवाद है, जिसके उन्नायक दक्षिण-भारत के 'नागार्जुन' थे।

महायान का पूर्ण विकास दक्षिण-भारत में ही हुआ, जिसका गढ़ 'चान्यकेटक' नामक स्थान था। नागार्जुन का अस्तित्व सातवाहन-काल में मिलता है और पता चलता है कि नागार्जुन का सुहृद् साहवाहन राजा था। नागार्जुन ने अपने सुहृद् को पाताल-लोक से एकामिप्राय नामक हार लाकर दिया था। इसका उल्लेख 'बाणमट्ट' ने अपने 'हर्षचरितम्' ग्रन्थ के अष्टम उच्छ्वास में किया है<sup>१</sup>। 'सुहृल्लेख' नाम का एक पत्र भी नागार्जुन ने सातवाहन को लिखा था, जिसका भोटिया और चीनी-अनुवाद पं० राहुल सांकृत्यायन ने अपने तिब्बत-प्रवास के समय प्राप्त किया था<sup>२</sup>। दोनों उल्लेखों में सातवाहन के प्रति 'सुहृद्' शब्द का प्रयोग मिलता है और दोनों का समकालीन होना यह सिद्ध करता है कि सातवाहनकालीन ब्राह्मण-धर्म के प्रभाव से नागार्जुन पूर्ण प्रभावित हुए और उन्होंने बौद्धधर्म को उस ओर मोड़ा। इतना कहने का अभिप्राय यही है कि बौद्धधर्म किस तरह अन्धभक्ति के जाल में फँसता गया और मंत्रयान तथा तंत्रयान का विकास किस तरह संभव हुआ।

महाराज कनिष्क के काल में महायान का विकास चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। इसकी थोड़ी-सी चर्चा मैंने 'अश्वघोष' वाले अनुच्छेद में की है<sup>३</sup>। इसी महायान से, जो वैपुल्यवाद का पोषक था, मंत्रयान तथा वाय में वज्रयान निकला। पर महायान पर ही सारा दोष मढ़ना उचित नहीं है। इसके बीज तो 'स्थविरवाद' में ही प्रचुर हैं। स्थविरवादियों के 'दीप निकाय' में 'आटानादीय सुत्त' से पता चलता है कि स्थविरवादियों ने ही पञ्च-देवताओं का संवाद बुद्ध से

१. समलिकामति च क्रित्वपि काले कदाचिन्नामेकावर्तौ तस्माज्जगराबाज्जायानुनी नाम नामैरेवा-  
नीतः पातालतलं, भिक्षुरभिज्ञत लेभे च। निर्गत्य च रसातलात् त्रिसमुद्राधिपतये सातवाहननाम्ने  
नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्। —हर्षचरितम्, उच्छ्वास—८

२. अस्तगत मासिक पत्रिका 'गंगा' का 'पुरातत्त्विक', पृ० २१४ की टिप्पणी।

३. इतिहास पुस्तक का—पृ० १४०

कराया है। उसमें उल्लेख है कि वज्र देवताओं ने मगधान् बुद्ध से प्रतिष्ठा की है कि हमलोगों के नामों का यदि कोई स्मरण करेगा, तो उसे हमारे वंशधर ( भूत, वज्र आदि ) नहीं सतायेंगे। इसलिए मंत्र के सहस्र उन भूत-पक्षों के नामों का स्मरण करना चाहिए। महाभौदुगलयापन जब एक बार भग्न देश में थे, तब उनके पेट में दर्द हुआ था। उन्होंने भी उसे मार (भूत-वज्र) का ही प्रकोप कहा था और उसे पहचान करके मंत्र के द्वारा दूर भगाया था।

इन्हीं सब बातों के लिए तंत्रयान में ओ मुने-मुने महामुने स्वाहा; ओ आ हुं ; ओ तारे तूतारे तुरे स्वाहा जैसे मंत्रों की सृष्टि हुई और 'धारिणी' का विस्तार हुआ। 'मंजुश्रीमूलकल्प' धारिणी मंत्रों की प्रसिद्ध बौद्ध पुस्तक है। 'मंजुश्रीनामसंगीति' नामक ग्रन्थ में तो और भी तंत्र-मंत्रों का विस्तृत रूप दिखाई देता है। तंत्र तो भारतवर्ष की बहुत पुरानी चीज थी, जिसे बौद्धों ने उस समय तक अपने देव 'बुद्ध' के नाम पर अपना लिया। मंत्र की प्रतिष्ठा बौद्धों ने इतनी बढ़ाई कि निर्वाण-प्राप्ति के लिए ज्ञान और साधना की जगह पर केवल मंत्र को ही प्रतिष्ठित कर दिया। उनके विचार से मंत्र में ऐसी गुप्त शक्ति होती है, जिससे निर्वाण अत्यन्त सुलभ है। अब महायोगियों ने बुद्ध-वचन के सूत्रों को मंत्र के रूप में ढाल दिया, जिसे 'धारिणी' कहा गया। यह मंत्रयान कनिष्क के काल से गुप्तकाल तक लंब चलित-पुणित हुआ तथा हर्षवर्द्धन का काल बीतते-बीतते समाप्तप्राय भी हो गया।

मंत्रयान की भित्ति पर ही वज्रयान-सम्प्रदाय हर्षवर्द्धन के समय से आरंभ होकर भारत में तबतक रहा, जबतक भारत से बौद्धधर्म लुप्तप्राय न हो गया। वज्रयान किसके समय में और किसके द्वारा आरम्भ हुआ, इसका ठीक-ठीक पता तो नहीं मालूम है; पर सातवीं सदी का अन्त होते-होते यह प्राबुध्य हो गया, यह निश्चित है। क्योंकि, ८४६ ई० में यह लंका में पहुँच गया था, जब वहाँ 'मत्तवलसेन' का शासन था। इसकी चर्चा 'निकायसंग्रह' में है<sup>१</sup>। वज्रयान-सम्प्रदाय फूस की आग की तरह सुलगा और देखते-देखते उसकी लपटें चारों ओर व्याप्त हो गईं। मंत्रयान में जहाँ हठयोग, मंत्र और मैथुन था, वहाँ वज्रयान में मद्य भी जुड़ गया। मद्य के जुड़ जाने पर नवीं शताब्दी तक वज्रयान ने घोर रूप धारण कर लिया तथा मार ( कामदेव ) ने बुद्ध के अनुयायियों को पृथित और नारकीय कर्म में नाक तक डुबो दिया। वज्रयानियों के घोर रूप का अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है कि मैथुन-

१. महायान-पंथ का यह धार्मिक ग्रंथ ब्राह्मण-मिश्रित संस्कृत में है, जो बौद्ध सिद्धों की एक अपनी भाषा थी। इसमें १००० श्लोक हैं, जिनका सम्पादन पं० गणपति रामजी ने किया है। मूल पुस्तक ८०० ई० के आस-पास पालनरेशों की खज्जलाभा में मगध या गौड़-देश में लिखी गई। इसका तिब्बती अनुवाद 'कुमार-कलश' नामक व्यक्ति ने सन् १०६२ ई० में किया था। इसके एक खण्ड में ई० पूर्व २०० से ८०० ई० तक का संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास भी दिया गया है।

—भारतीय अनुसूचन ( हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, संवत् १९६० वि० ),

भाग २, पृ० १०

२. सिलोन-सरकार द्वारा सन् १९२२ ई० में मुद्रित-'गंगा' का पुरातत्त्वांक, पृ० २१८ की टिप्पणी।



कर्म में इन्होंने समोत्रा को छोड़ने की बात कौन कहे, समी-संबंधी स्त्रियों को भी वर्जित नहीं माना। ब्राह्मणी से चाण्डाली तक की ललनाओं के साथ गुहा साधना की बातें कहीं। जो जितना ही अधिक मैथुन-कर्म में लीन रहेगा, उसे उतनी ही जल्दी गुहा तथा वज्र की सिद्धि होगी, ऐसा विधान इन बौद्ध वज्रयानियों ने चलाया<sup>१</sup>। इन्होंने जीवहिंसा, असत्य-भाषण, चोरी और मैथुन को वज्र का मार्ग माना<sup>२</sup>। वहाँ तक कि मल, मूत्र, शुक्र और रक्त के भक्षण का भी विधान किया<sup>३</sup>। स्त्रीन्द्रिय को पद्म-तुल्य माना और पुरुषेन्द्रिय को वज्र-तुल्य<sup>४</sup>। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन भगवान् बुद्ध ने मानव-शरीर के वृक्षित रूपों से बचने के लिए, दुःख-समुदय को देखा और प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त कर जगत के कल्याणार्थ उसका प्रचार किया, उन्हीं के शिष्यों ने आचरण का जो लुगुभित रूप अपनाया, वह श्रन्वान्य मारतीय धर्मों के इतिहास में शायद ही मिले।

यद्यपि वज्रयान आदि की उत्पत्ति दक्षिण के 'पान्यकेटक' के 'श्रीपर्वत' पर हुई<sup>५</sup> और यह यान लंका तक भी गया, तथापि यह संस्कृत-भाषा का आश्रय लेकर भीतर-ही-भीतर भारत में गुप्त रीति से फैल रहा था। किन्तु, इसको लोक-विस्तृत रूप देनेवाले स्वनामधन्य बौद्ध सिद्ध कवि 'सरहपाद' थे, जो बिहार-प्रदेश के रहनेवाले थे। इन्होंने लोक-भाषा का आश्रय लेकर और अद्भुत रहस्य-सहन के माध्यम से वज्रयान की सार्वजनीन रूप दिया। ये चौरासी सिद्धों में आदि सिद्ध माने जाते हैं। इनका समय बिहार के पालराजा 'धर्मपाल' का शासन-काल (७६८ ई० से ८०६ ई० तक) है। सरहपाद की विलुप्त जीवनी महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपने 'बोहा-कोश' की भूमिका में लिखी है।

उपयुक्त वज्रयान की उत्पत्ति और उसके विस्तार में बिहार-प्रदेश के जिन बौद्ध सिद्धों ने हाथ बटाया, अब उनके सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा करना वहाँ आवश्यक है।

१. मातृपादिकुलोत्पन्ना मुद्रां वै अन्वतोद्वयाम ॥२४॥

जनयिवी स्वसारं च स्वपुत्रां भागिनेषिकाम्।

कासयन् तत्त्वदीयेन तपुसिद्धे हि साधकः ॥१५॥

—प्रसीपायविनिश्चय-सिद्धि ( सिद्ध पानह्वय, गायकवाड औरिगंटल सीरीज, बकौडा )

चामडालकुलसम्भूतां बोम्बिकां वा विरोधतः।

जुगुप्सितकुलीयत्रां सेवयन् सिद्धिमानुवात् ॥—ज्ञानसिद्धि ( सिद्ध इन्द्रभूति ),—पृ० ८२

२. प्राणिमश्च त्वया धार्या वक्तव्यं च मृषा वचः।

अदत्तं च त्वया धार्यं सेवनं बोधितामपि ॥

अनेन कज्जमार्गेण वनसत्त्वान् प्रचोदयेत् ।—गुहासमाजसंघ,—पृ० १२०

३. विमूत्रशुक्रवतानां जुगुप्सां नैव कारयेत्।

भक्षयेत् विधिना नित्यं र्द्धं गुहा-विवज्जतम् ।—तर्क-—पृ० १३६

४. स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा। ज्ञानसिद्धि—२, ४२

५. मंजुश्रीमूलकल्प,—पृ० ८८

१. सरहपाद—इनके कई नाम हैं—जैसे सरहपा, सरोजवज्र और राहुलमद्र। इनका जन्म पूर्व विहार की 'राष्ट्री' नामक नगरी में कहा जाता है; पर इनका अप्रत्यक्ष 'नालन्दा' में हुआ। इनका कार्यक्षेत्र भी विहार-प्रदेश ही रहा। ये ब्राह्मण-वंश के थे, और बौद्ध शास्त्रों में पारंगत हो जाने के बाद ये तान्त्रिक हुए। इन्होंने एक वाण विहार के सिद्ध (शर) बनानेवाले की कन्या को महामुद्रा के रूप में अपनाकर तंत्र की सिद्धि की। इन्होंने भी अपने श्वशुर-कुल का ही पेशा (शर बनाना) अपना लिया था और ये शर-शय्या पर ही सोने लगे थे। इसीलिए इनका नाम भी 'सरहपा' पड़ गया। ईसा के 'श्रीपर्वत' पर भी इन्होंने वास किया था और ज्ञात होता है कि वही ये तंत्र-विद्या के प्रति आकृष्ट हुए। श्रीपर्वत अति प्राचीनकाल से तान्त्रिकों का गढ़ बना हुआ था। सातवाहन-काल के प्रसिद्ध विद्वान् और तान्त्रिक नागार्जुन का सम्बन्ध इसी 'श्रीपर्वत' से कतलाया गया है।

सरहपा के प्रधान शिष्य का नाम 'शबरपा' था। नागार्जुन (द्वितीय) नाम के भी कोई तान्त्रिक इनके शिष्य माने गये हैं। केवल वज्रयान पर इनके लिखे हुए ३० ग्रन्थों का अनुवाद भोट-भाषा में प्राप्त है। इसी सरहपाद के मगही-भाषा के १६ काव्य-ग्रन्थों का अनुवाद भोट में मिलता है। ये संस्कृत-भाषा के भी कवि थे।

२. शबरपा—ऊपर कहा गया है कि ये 'सरहपा' के शिष्य थे। इनके दूसरे गुरु का नाम 'नागार्जुन' भी था। ये अधिकतर 'श्रीपर्वत' पर ही रहते थे। ये चा तो कोल-भील-वंश के थे अथवा इनका आचरण कोल-भीलों-जैसा था, इसी लिए इनका नाम 'शबरपा' पड़ा था। इस नाम के एक सिद्ध १०वीं सदी में भी हुए थे। अतः इस नाम के लेखक की लिखी २६ पुस्तकों का जो अनुवाद भोट में मिलता है, उसमें से कहा नहीं जा सकता कि कौन पुस्तक किस 'शबरपा' की लिखी हुई है। इनकी लिखी पुरानी मगही-भाषा की छह छोटी-छोटी कविता-पुस्तकें प्राप्त हैं।

३. कर्णारीपा—इनका दूसरा नाम आर्यदेव और कनरिपा था। इनके गुरु भी सरहपाद के शिष्य नागार्जुन तान्त्रिक थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा नालन्दा में ही हुई थी। इनके द्वारा लिखी २६ तंत्रशास्त्र की पुस्तकों का अनुवाद तन्-जूर में मिलता है।

४. लुहिपा—ये पहले पालवंश के राजा 'धर्मपाल' के लेखक (कायस्थ) थे। ये 'शबरपा' के शिष्य थे। शबरपा से इनकी भेंट 'वारीन्द्र' नगर (पश्चिम बंगाल) में हुई थी। उस समय ये धर्मपाल राजा के साथ 'वारीन्द्र' में ही थे। ये 'शबरपा' की सिद्धियों से बहुत प्रभावित हुए और उसी समय उनका शिष्यत्व ग्रहण कर उनके साथ हो गये।

१. (क) श्रीपर्वताश्चर्यवाचासहस्रामिथेन जरपद्मविडधामिकेन ।—कादम्बरी।

(ख) सकलप्रणयिमनोरमसिद्धिः श्रीपर्वतीर्षः ।—हर्षचरित, उच्छ्वास—२

(ग) दाक्षि सोधामिनी समासादिष्व अक्षरिभ्य मन्तसिद्धिपद्मावा सिरिपम्बरे कापालिकम्बर्धरिदि ।

—मालतीमाधव, अंक—१

यद्यपि आदि सिद्ध 'सरहपा' थे; तथापि सिद्धों की गणना में लूहिपा का नाम प्रथम पाया है। इससे प्रमाणित होता है कि सिद्ध-संप्रदाय में इनका महत्व सर्वोपरि था। इनके सिद्धि-लाम की महत्ता इसी से जानी जा सकती है कि उड़ीसा-प्रान्त के राजा और मंत्री—दोनों एक साथ ही इनका शिष्यत्व स्वीकार कर भिच्छु बन गये थे तथा दोनों की गणना चौरासी सिद्धों में हुई है। इन लोगों का नाम 'वारिकपा' और 'डोगिपा' था। इनके द्वारा लिखी सात पुस्तकों का अनुवाद 'तन्-जूर' में अब भी प्राप्त है, जिनमें पाँच पुस्तकें तो पुरानी मगही भाषा में थीं और दो संस्कृत में।

५. **भुसुक**—इनका जन्म 'नालन्दा' के पास के किसी गाँव में, क्षत्रिय-कुल में, हुआ था। बौद्धभिक्षु बनकर शिक्षा ग्रहण करने के लिए जब ये नालन्दा-विश्वविद्यालय में आये, तब बिहार-प्रदेश पर राजा 'देवपाल' का शासन था। इन्हीं का नाम 'शान्तिदेव' था। यह देखने में बुद्ध-से लगते थे। अतः, एक बार राजा 'देवपाल' ने इन्हें 'भुसुक' कह दिया और तभी से लोगों ने इनका नाम ही भुसुक रख दिया। किन्तु आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने 'बौद्ध-धर्म-दर्शन' ग्रन्थ (पृ० १७४) में भुसुक नाम के लिए लिखा है—“**भुजानोऽपि प्रमास्वरः, सुतोऽपि, कुटी ततोऽपि तदेवेति भुसुकसमाधि-समापन्नत्वात् भुसुकनामख्याति सङ्घोऽपि।**” अर्थात्—“भोजन कर लेने पर, सोने पर, कुटी में बैठने पर भी अपनी समाधि-सम्पन्न गुण के कारण ये मास्वर डीछ पड़ते थे; अतः इनका नाम 'भुसुक' पड़ा था।” इनके सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि 'नालन्दा' में एक बार ज्येष्ठ-पूर्णिमा के दिन विद्वानों की गोष्ठी बैठी। गोष्ठी के प्रधान आचार्य समय पर नहीं आये। उनके आने में कुछ देर थी। विनोदी विद्वानों को इसी बीच मजाक सुझा। उन्होंने कहा—आज का समापतित्व भुसुकजी ही करें। भुसुक वहाँ पहले से उपस्थित थे। उनके अस्वीकार करने पर भी विनोदी पंडितों ने जबरदस्ती इन्हें समापति के आसन पर लाकर बिठा दिया। भुसुक ने जब आसन-ग्रहण कर लिया, तब तो समापतित्व की मर्यादा निभाने के लिए इन्हें अपना पाणिडल्य प्रकट करना ही पड़ा। इन्होंने बड़े गम्भीर स्वर में कहा—“किमार्घं पठामि अर्थापे वा।” उपस्थित विद्वान् 'किमार्घ' और 'अर्थापे' का तात्पर्य नहीं समझ सके। उन्होंने इतने पर भी इन्हें भुसुकौल ही जाना और पूछा—“भुसुकजी, किमार्घ और अर्थापे क्या है?” भुसुक ने उसी तरह पाणिडल्यपूर्ण श्लोक का पाठ किया—

यदर्थं क्व धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिवर्हणं वचः।

भवे भवेच्छान्त्वनुशंसदर्शकं तद्वत् किमार्घं विपरीतमन्वया<sup>१</sup> ॥

अर्थात्—“धर्मपदों के युक्त होकर त्रिधातु-जनित क्लेशों को दूर करनेवाला और

१. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) के संतम वाचिकोत्सव के समापति आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का भाष्य द्रष्टव्य।—ले०

२. बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ०—१७४



संसार में शान्ति-शासन प्रदान करनेवाला जो अथयुक्त वचन है, वही 'अथापि' कहलाता है और इसके विपरीत वचन किमार्थ होता है।"

अब विद्वन्मण्डली ने समझा कि भुसुक कितने बड़े विद्वान् हैं। कहते हैं कि जब इनका धाराप्रवाह चर्मोपदेश होने लगा, तब भगवान् बुद्ध स्वयं उपस्थित होकर इन्हें गुपित-लोक (स्वर्ग) ले गये।

भुसुक माध्यमिक सम्प्रदाय के विद्वान् थे और वज्रयान-तंत्र के ग्रन्थों के प्रसिद्ध लेखक थे। इनके दर्शनों के छह और तंत्र के तीन ग्रंथ तन्-जूर में प्राप्त हैं। पुरानी मागधी में लिखी 'सहजगीति' का अनुवाद भी मोठ भाषा में है।

६. **विरूपा**—इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि पालवंशी देवपाल के देश 'त्रिउर' नगर में इनका जन्म हुआ। त्रिउर के सम्बन्ध में आज कुछ भी पता नहीं चलता है; पर इतना निश्चित है कि इनकी शिक्षा नालन्दा-महाविहार में हुई और यहाँ के विद्वानों में इनकी भी गिनती होने लगी थी। जब ये 'धीरवर्षत' गये, तब वहाँ इनकी 'नागबोधि' से भेंट हुई। ये वज्रयान के घोर उपासक 'नागबोधि' के शिष्यत्व में ही हुए। फिर लौटकर जब नालन्दा आये, तब इन्होंने देखा कि यहाँ सहजचार्याली वस्तुओं—मद्य, मांस और मैथुन—का उपयोग खुलकर नहीं किया जा सकता। नालन्दा के बौद्धों ने इसका विरोध किया। अपनी चलती न देखकर ये रांगा के किनारे चले गये और वहाँ सहजचार्याली वस्तुओं का सेवन कर रहने लगे। वाद, वहाँ से भी ये उड़ोसा चले गये। ज्ञात होता है, रांगा के किनारे की जनता ने भी इनकी प्रतिष्ठा नहीं बढ़ाई। ये 'यमारितंत्र' के सिद्ध कहे गये हैं।

इनकी शिष्य-मंडली में 'डोम्भिया' और 'कण्ठपा' प्रसिद्ध शिष्य हुए, जो चौरामी सिद्धों में अभिहित होते हैं। इनके द्वारा लिखे गये १८ तंत्र-ग्रन्थों का अनुवाद तन्-जूर में प्राप्त है, जिनमें से आठ ग्रन्थ तो पुरानी मगही भाषा में थे।

७. **डोम्भिया**—ये क्षत्रिय-कुल के थे और इनका जन्म मगध में ही हुआ था। उपयुक्त 'विरूपा' के अतिरिक्त इनके दूसरे गुरु का नाम 'वीणापा' था। सिद्धों में 'वीणापा' को १२वाँ स्थान प्राप्त है और वे गौड़-देश के रहनेवाले थे। राहुल सांकृत्यायनजी के कथनानुसार 'तारानाथ' ने लिखा है कि डोम्भिया 'विरूपा' के दस वर्ष बाद हुए; पर 'वज्रधंटापा' से ये १० वर्ष पूर्व ही सिद्ध हुए थे। ये कण्ठपा के भी गुरु और 'दिवज्रतंत्री' थे।

डोम्भिया के नाम से लिखे २१ ग्रंथों का जो अनुवाद तन्-जूर में प्राप्त है, उनमें से कौन ग्रन्थ इस डोम्भिया के हैं और कौन द्वितीय 'डोम्भिया' के, यह नहीं कहा जा सकता है। इनमें तीन ग्रंथ पुरानी मगही भाषा के थे।

८. **महीपा**—ये मगध-प्रदेश के एक राज्ञे थे। ये गृहस्थ होकर भी सिद्ध थे। इन्होंने सिद्धों के सत्संग में ही तंत्र का ज्ञान प्राप्त किया; पर बाद में ये 'कण्ठपा' के शिष्य बन गये। इनकी लिखी प्राचीन मगही की एक पुस्तक 'वायुतत्त्व-दोहा-गीतिका' तन्-जूर में प्राप्त है।

९. **कंकणपा**—इनके जन्म-स्थान का नाम 'विष्णुनगर' है। म० ध० राहुल सांकृत्यायन ने

विष्णुनगर को बिहार-प्रदेश में माना है। ये राज-परिवार के वंशज थे और सिद्ध 'कंबलपा' के वंश से सम्बन्ध रखते थे। इनकी एक पुस्तक 'चर्चादोहाकोपगीतिका' का अनुवाद तन्-जूर में मिलता है।

१०. जयानन्दपा—इन्हें कुछ लोग 'जयनंदीपा' भी कहते हैं। सिद्धों में इनका स्थान ५८वाँ है। ये भंगल (भागलपुर)—प्रदेश के राजा के मंत्री थे। ये ब्राह्मण थे। तन्-जूर में इनके लिखे दो ग्रन्थों का अनुवाद प्राप्त है।

११. तिलोपा—ये बिहार-प्रदेश के 'भगु' नगर के निवासी थे। ये भी किसी राजकुल में ही उत्पन्न हुए थे। इनका बौद्ध नाम पशामद्र था; पर सिद्धि के लिए इन्होंने तिल कूटने का पेशा अपनाया था, इसलिए 'तिलोपा' कहे जाते थे। इनके गुरु का नाम 'विजयपाद' था, जो 'गुह्यपा' के शिष्य थे। तिलोपा की विद्वत्ता तथा सिद्धि-प्रशंसा के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि विक्रमशिला-विश्वविद्यालय के महातांत्रिक प्राचार्य 'नरोपन्त' इनके शिष्य थे और जिस 'नरोपन्त' के शिष्य 'श्रीज्ञान दीपकर अतिश' थे। तन्-जूर में इनके स्मारक अनूदित ग्रन्थ प्राप्त हैं, जिनमें चार ग्रन्थ तो पुरानी मगही भाषा के थे।

१२. नरोपन्त—इनको 'नारोपा' और 'नाडपा' भी कहा जाता है। तिब्बत का प्रसिद्ध कवि और विख्यात विद्व 'जे-चुन् मिला-रे-पा' इन्हीं का शिष्य था, जिसने १०७६ ई० में इनसे दीक्षा प्राप्त की थी। यद्यपि नारोपा के पिता कश्मीर-निवासी ब्राह्मण थे; पर पाल-

१. मिला-रे-पा का नाम 'मोरेवी लेखको' में 'मर्प' या 'मरु-पा' लिखा है। यह बचपन में बड़ा उज्जु प्रकृति का बालक था। धर्म की शिक्षा के लिए पिता से भगवा कर और अपने दिरसे की संरक्षि लेकर भारत आया था। धर्म के मर्म प्राप्त करने के लिए वह तीन बार भारत आया। पहली बार १२ वर्ष, दूसरी बार २ वर्ष और तीसरी बार ६ वर्ष भारत में रहा। मिला-रे-पा ने नेपाल में ही 'नारोपा' की कीर्ति सुनी, और उससे 'कुलहरि' स्थान में जाकर मिला। अच्छे पात्र जानकर नारोपा ने पहले उसे 'ज्ञान-नर्म' के पास भेजा। बार इसे वहाँ ने 'कुलुरिपा' के पास दक्षिण-स्थित 'विष-सरोवर' प्रदेश में भेजा। १५ दिनों की कठिन यात्रा करके 'मर्प' विषसरोवर में कुलुरिपा से मिला। कुलुरिपा अपने हाथों से मुँह ढँककर बैठे थे। पछियों के परो को गूँथकर पहने हुए थे। उनका मुँह बन्दर-जैसा था। पहले तो कुलुरिपा ने मर्प की क्लिष्ट विद्या, पर नारोपा का विषपात्र जान कर कहा—'पंडित नारोपा की विद्या निस्सीम है। वे स्वयं महाभाषा का रहस्य जानते हैं। तुम्हें मेरे पास भेजने की आवश्यकता नहीं थी। पर सन्तों ने शुद्ध भावना से तुम्हें मेरे पास भेजा है। मैं तुम्हें अवश्य शिक्षा दूँगा।' कुलुरिपा से बहुत दिनों तक शिक्षा प्राप्त कर जब मर्प नारोपा के पास लौटा, तब उन्होंने स्वयं इसे महाभाषा का निर्विकल रहस्य बतलाया। इसपर मिला-रे-पा ने नारोपा से पूछा—'महाराज, जब आप महाभाषा का रहस्य स्वयं जानते थे, तब मुझे आपने विषसरोवर क्यों भेजा?' इसपर नारोपा ने कहा—'कुलुरिपा आज परम्परा के मुक्त हैं। वे अनादिकाल से मंत्र जानते हैं। इसलिए तुम्हें उनके पास भेजा था।'

दूसरी बार जब मिला-रे-पा भारत आया, तब नारोपा ने इसे वाकिनियो के हीरक-प्रासाद के भौतिक ऐश्वर्य की माध्य-सहित शिक्षा दी थी। इस बार जब मिला-रे-पा तिब्बत लौटने लगा, तब नारोपा ने कहा था—'अब इस बार वहाँ आओगे, तो तुम्हें मैं पूर्व-जन्म-स्मरण की शिक्षा दूँगा।' किन्तु जब तीसरी बार मर्प भारत आया, तब नारोपा परलोक सिंघार चुके थे।

—'आर्वाक्स' (पटना), ५ अप्रैल, १९५६ ई०।

राजाओं के सम्बन्ध के कारण वे विहार में आ गये थे। वहीं 'नारोपा' का जन्म हुआ था। ये अतिविभूत मेधाशक्ति-सम्पन्न छात्र थे। 'नालन्दा' में इन्होंने विद्या प्राप्त की और ये देखते-ही-देखते प्रकांड विद्वान् बन गये। अपनी प्रकांड विद्वत्ता की ख्याति के कारण ये विक्रमशिला-विद्यालय के पूर्वा द्वार के पंडित नियुक्त हुए। विष्णुनगर में जब तिलोपा एक बार आये, तब उनकी सिद्धि की प्रसिद्धि सुनकर उनसे मिलने ये वहाँ गये। नरोपन्त 'तिलोपा' से प्रभावित हुए और वहाँ उनके शिष्य बन गये। इनके लिखे तेईस अनूदित ग्रन्थ तन्-जूर में मिलते हैं, जिनमें दो ग्रन्थ मगही भाषा के हैं।

१३. शान्तिपा—इनका दूसरा नाम 'रत्नाकरशान्ति' था। इनका जन्म मगध के एक नगर में, ब्राह्मण-वंश में, हुआ था। इन्होंने उदन्तपुरी के विहार में शिक्षा प्राप्त की, और सर्वास्तिवादी-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। यहाँ चिपिटक आदि बौद्ध ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन करके ये विशेष शिक्षा के लिए विक्रमशिला के पास रहनेवाले 'जेतारि' नामक भिक्षु के समीप गये। वहाँ 'नरोपन्त' के सत्संग से भी इन्होंने लाभ उठाया। बाद में ये सोमपुर विहार (पहाड़पुर, पश्चिम बंगाल) के पीठस्थविर भी रहे। वहाँ से फिर मालवा चले गये और सात वर्षों तक चक्कर लगाते रहे। तब फिर विक्रमशिला पहुँचे। उसी समय सिंहल का राजा इन्हें अपने यहाँ ले जाने के लिए निर्मन्त्रण देने को उपस्थित हुआ। उसकी प्रार्थना पर ये सिंहल चले गये और वहाँ छह वर्षों तक इन्होंने बौद्धधर्म का काम किया। उसके बाद पुनः ये विक्रमशिला में आये और महीपाल नामक राजा की प्रार्थना पर विश्वविद्यालय के पूर्वा द्वार के पंडित बन गये। कहते हैं कि चौरासी सिद्धों में इतना बड़ा विद्वान् कोई नहीं हुआ, इसलिए इन्हें 'कलिकाल-सर्वज्ञ' की उपाधि मिली थी। इनके लिखे अनेक ग्रन्थों का पता मिलता है, जिनमें नौ ग्रन्थों का अनुवाद तन्-जूर में उपलब्ध है। छन्द-शास्त्र पर भी इनका 'छन्दोरत्नाकर' ग्रन्थ प्राप्त है।

१४. कंकालिपा—इनका जन्म मगध में हुआ था और ये जाति के शूद्र थे। इनको लोग 'कंकालिपा' भी कहते थे। इनके गुरु कौत थे, यह पता नहीं चलता। इनकी जित पुस्तक का अनुवाद तन्-जूर में मिला है, उसका नाम 'सहजानन्तस्वभाव' है।

१५. लीलापा—ये जाति के कायस्थ और मगध के रहनेवाले थे। ये 'सरहपा' के प्रशिष्य थे। इनका दूसरा नाम 'लीलावज्र' है। इनके लिखे ग्रन्थ का नाम 'विकल्पपरिवारगीति' है, जो तन्-जूर में प्राप्त है।

१६. तन्तिपा—ये जाति के ब्राह्मण और मगधवासी थे। ये भी राजा महीपाल के ही समय के थे। शान्तिपा के ये गुरुभाई और जालन्धर के शिष्य थे। इनके द्वारा लिखी किसी पुस्तक का पता नहीं चलता है।

१७. चमरिपा—इनका भी जन्म 'विष्णुनगर' (विहार) में ही हुआ था। ये जाति के चमार थे। ये भी महीपाल के समय में हुए और जालन्धर के शिष्यों में थे। इनकी लिखी 'प्रहोपायविनिश्चयसमुदय' नामक पुस्तक का अनुवाद तन्-जूर में उपलब्ध है।

१८. खड्गपा—इनका जन्म मगध में हुआ और ये जाति के शूद्र थे। ५६ वें सिद्ध



‘चर्पटी’ के ये शिष्य थे। ये दोनों हाथों में खड्ग धारण करते थे और बड़े ही कोपी स्वभाव के थे।

१६. शीलपा—इन्हें लोग ‘शलिपा’ भी कहते थे। ये मगध के रहनेवाले और जाति के शूद्र थे। इनका भी समय महीपाल का ही समय (६७४ ई० से १०२६ ई०) है। ‘श्रमालीपाद’ नाम से भी एक सिद्ध हो गये हैं, जो संभवतः ये ही हैं।

२०. धर्मपा—इनका जन्म ‘विक्रमशिला’ के आस-पास किसी गाँव में हुआ था। ये जाति के ब्राह्मण थे। ये ‘कण्ठपा’ और ‘जालन्धर’ के शिष्य थे। इनकी लिखी पुस्तक का नाम ‘कालिमावनामार्ग’ है, जिसका अनुवाद तन्-जूर में प्राप्त है। ये सदा धर्मोपदेश करते रहते थे। इनका मिर घुटा हुआ था और कानों तक ढकनेवाली टोपी पहनते थे।

२१. मेकोपा—ये भागलपुर-प्रदेश के निवासी और जाति के बनिया थे। ये ‘अनङ्गवज्र’ तथा ‘कम्बलपा’ के शिष्य थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ का नाम ‘चित्तनैतन्यशमनोपाय’ है, जिसका अनुवाद तन्-जूर में प्राप्त है।

२२. जोगीपा—इनका दूसरा नाम ‘अजोगिपा’ भी था। ये जाति के डोम थे। इनका निवासस्थान उदन्तपुरी (बिहारशरीफ) था। इनके गुरु का नाम ‘शबरीपा’ था। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ ‘चित्तसम्प्रदायव्यवस्थान’ तन्-जूर में प्राप्त है। इनका आसन ‘ललितासन’ था और मुद्रा ‘वरद’ थी।

२३. चेलुकपा—ये भी आधुनिक भागलपुर-प्रदेश के रहनेवाले थे। जाति के शूद्र थे। ये अवधूतिपा (मैत्रीपा) की शिष्यमंडली में प्रमुख थे। इनके द्वारा रचित ‘षडङ्गयोगोपदेश’ नामक ग्रन्थ तन्-जूर में मिलता है। ये एक हाथ में त्रिशूल और दूसरे में नर-कपाल धारण करते थे। आभूषण पहनने का इन्हें व्यसन था।

२४. लुचिकपा—ये भी भंगल-देश के ही निवासी थे। इनका जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनके गुरु तथा शिष्य के नाम प्राप्त नहीं हैं। इनकी लिखी पुस्तक का नाम ‘चण्डालिकाविन्दुप्रस्फुरण’ है, जो तन्-जूर में प्राप्त है। ये कपड़े से शरीर को ढके रहते थे; पर कटि-बन्ध नहीं पहनते थे। इनका आसन विचित्र था। ये सदा सर पर दोनों हाथ बाँधे, खड़े या चलते ही रहते थे।

२५. चर्पटीपा—इनका दूसरा नाम ‘पञ्चरीपा’ भी था। ये भार होनेवाले (कहार) जाति के थे। इनका जन्म-स्थान ‘चम्पा’ था। ये ‘मीनपा’ के गुरु थे। इनकी लिखी पुस्तक का नाम ‘चतुर्भुजमवाभिरासनकर्म’ था, जिसका अनुवाद तन्-जूर में प्राप्त है। ये बैल चराते, बैल की ही सवारी करते तथा बैल को ही देवता बनाकर पूजते थे।

२६. चम्पकपा—ये चम्पा-प्रदेश के रहनेवाले थे। इनकी जाति क्या थी, इसका उल्लेख नहीं मिलता। मीनपा के ये भी गुरु थे। ये सदा पुष्पयुक्त चम्पा की टहनियाँ साथ में रखते थे और जहाँ आसन लगाते, टहनियों को गाड़ देते थे। इनकी लिखी पुस्तक का नाम ‘आत्मपरिज्ञानदृष्ट्युपदेश’ था, जिसका अनुवाद तन्-जूर में प्राप्त है।

२७. चवरिपा—ये मगध के निवासी तथा जाति के बनिया थे। इनको लोग

‘जवरिपा’ और ‘अजपालिपा’ नाम से भी सम्बोधित करते थे। ये ‘कण्हपा’ के प्रशिष्य थे। इनकी रचना का पता नहीं है। इनका उपासना-स्थान मंदिर ही था। ये वरद-मुद्रा में रहते थे।

**२८. घंटापा**—‘चतुरशीतिसिद्धप्रवृत्ति’ नामक ग्रन्थ (तन्-जूर का ८६।१ ग्रन्थ) के अनुसार ये ‘नालन्दा’ के रहनेवाले थे। इन्हीं का दूसरा नाम ‘वज्रघंटापा’ था। वे जाति के क्षत्रिय थे। इनका स्थिति-काल राजा ‘देवपाल’ का समय (८१०-५१ ई०) है। इनकी लिखी पुस्तक का नाम ‘आलिकालिमंजवान’ है, जो तन्-जूर में है। ये शून्य में निराधार ही ललितामन में स्थित रहते थे। महामुद्रा साधनेवाली योगिनी सदा इनकी सेवा में खड़ी रहती थी, जो भद्रकुल की होती थी।

**२९. पुतुलीपा**—ये भागलपुर-क्षेत्र के निवासी थे। इनका जन्म शूद्र-कुल में हुआ था। इनकी रचना ‘बोधिचित्तवायुचरसमावतोपाय’ नामक पुस्तक है। इसका भी अनुवाद तन्-जूर में प्राप्त है। ये पौषल की शाखा के नीचे भगवान् बुद्ध की पुतली की पूजा करते थे। इन्हींलिए इनका नाम पुतुलीपा पड़ा था।

**३०. कोकालीपा**—ये चम्पारन जिले के एक राजकुमार थे। इनकी रचना ‘आयुःपरीक्षा’ नामक पुस्तक थी, जो तन्-जूर में प्राप्त है तथा जिसकी संख्या ४८॥६४ है। ये राजकुमार होने के कारण अत्यन्त सौम्य आकृतिवाले दिव्य पुरुष थे। सुन्दरी महामुद्राएँ इनकी सेवा में तैयार रहती थीं और ये सदा फल-फूलों की सुगंध छाया में ध्यानावस्थित रहते थे।<sup>१</sup>

उक्त वज्रयानी सिद्धों की परम्परा आठवीं सदी के अन्तिम भाग से बारहवीं सदी के अन्त तक बढ़ती ही गई। मुसलमानों के आक्रमण के बाद वज्रयान-सम्प्रदाय का पूर्ण ह्रास हुआ तथा १४वीं सदी के मध्य तक भारत से यह लुप्त हो गया। पीछे इसी की परम्परा में गोरखनाथ-परिधिषों की परम्परा बनी, जिनके आदिगुरु इन्हीं सिद्ध में एक थे।

वज्रयान और सिद्धों की ऐतिहासिक परम्परा में आधुनिक भारतीय संस्कृति के विविध रूप अन्तर्निहित हैं। बौद्धमूर्ति-निर्माण-कला का तो यह भंडार ही है। इसमें नाथ, कबीर, नानक, दरियादास, सरभंग आदि सन्त-संप्रदायों की परम्परा का उत्स निहित है। इसमें हठयोग, स्वरोदय, त्राटक, कामरूप की योगिनी विद्या, भूतावेश आदि का भी क्रम-विकास छिपा है। हमारी राजनीतिक पराजय का भी यह प्रमुख कारण है। हिन्दी-भाषा और हिन्दी-कविता के विकास का आदि बीज भी इसी वज्रयान-सम्प्रदाय में हमें मिलता है।

१. इन सभी सिद्धों का परिचय ‘सुलतानगंज’ (भागलपुर) से प्रकाशित अस्तंगत मासिक पत्रिका ‘गंगा’ के ‘पुरातत्त्वक’ विशेषांक में ज्येष्ठ पौन-राशुल साहित्य-वसन के लेख और चित्रों के आधार पर तैयार किया गया है।—ले०

# नवाँ परिच्छेद

## बौद्धधर्म का अंधकार-युग मुस्लिम-काल

( सन् १२०१—१७५० ई० )

यह पहले कहा गया है कि १२०० ई० में मुहम्मद-बिन-वसित्यार-इखित्यार खिलजी के आक्रमण के बाद उदन्तपुरी ( बिहारशरीफ ) से ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण बिहार-प्रदेश से, सैकड़ों वर्षों से पालित बौद्धधर्म-रूपी वृक्ष की जड़ उखड़ गई।<sup>१</sup> बंगाल के सेनवंशी और बिहार के पालवंशी तथा कन्नौज-राजाओं के शासन को मटियामेट करके बौद्ध प्रदेशों में मुस्लिम-राज्य की स्थापना हो गई। इसके बाद कुछ दिनों तक यह प्रताड़ित बौद्धधर्म उड़ीसा में दम

**बौद्धधर्म का  
अन्धकार-युग**

तोड़ता रहा, पर शीघ्र ही वहाँ भी इसका दम घुट गया। बिहार, बंगाल, उड़ीसा आदि के बौद्ध सिद्धों ने भागकर नेपाल, तिब्बत आदि देशों में अपने प्राण और धर्म जैसे-तैसे बचाये। निष्कण्ठ और निरंकुश होकर

कूर काल के समान मुसलमान, बौद्ध स्मारकों के चिह्नों तक का संहार करते रहे और इस देश में बौद्धधर्म की अस्तित्व-रहित करने के लिए उसके इतिहास पर स्थायी भी पीतते रहे। बौद्धधर्म की जड़ वहाँ भी जरा दिखाई पड़ती, ये खोदते चलते थे। यह क्रम निरन्तर चलता रहा। एक मुसलमान शासक के बाद जो भी दूसरा आया, वह बौद्धधर्म के विध्वंसन में अपने पूर्वज से आगे ही रहा। क्योंकि, उनका विश्वास था कि काफ़िरी के धर्म का जो जितना ही संहार करेगा, वह खुदा का उतना ही प्यारा मन्दा होगा। उनके इसी विश्वास के कारण बौद्धधर्म पर निरन्तर सर्वनाशी आघात होते रहे, जिसके फलस्वरूप कालक्रमानुसार बिहार-प्रदेशवासी जनता ने पहले तो नये शासकों के मय से बौद्धधर्म की भुलावा और फिर सांघजनिक उपेक्षा के कारण बौद्धधर्म की ओर से अपना ध्यान बिल्कुल हटा लिया।

बौद्धधर्म के विस्मृति के गर्त में गड़ जाने का एक दूसरा भी कारण रहा और वह था—ब्राह्मण-वर्ग का सामूहिक विरोध। उस समय भी ब्राह्मणों के हाथ में ही ज्ञान-दान और धर्म-शासन का सूत्र था। ब्राह्मण आरंभ से ही बौद्धधर्म के द्रोही थे; क्योंकि बौद्धों ने ब्राह्मणों की धर्मसत्ता पर प्रचल प्रहार किया था और समाज का शासन-सूत्र इनसे छीन लेना चाहा था। स्वयं बुद्ध ने भी ब्राह्मण-धर्म पर गहरी चोट की थी। इसलिए बौद्ध और ब्राह्मणों में पारस्परिक संघर्ष प्रारंभ से ही चला आता था। मुस्लिम-काल में ब्राह्मणों ने बौद्धधर्म की चर्चा तक करनी छोड़ दी। यहाँ तक कि कहानी के तौर पर भी यजमानों के सामने बौद्धधर्म की चर्चा करने की अपरम मानने लगे। इतना ही नहीं, बौद्धधर्म के तीर्थों और



देवताओं तक को भी उन्होंने हिन्दू-तीर्थ और हिन्दू-देवता के रूप में उदरस्थ कर लिया तथा इतिहास-ज्ञान-हीन जनसाधारण ने उन्हें सचमुच हिन्दू-तीर्थ और हिन्दू-देवता मान भी लिया। फिर तो बौद्ध देवी-देवताओं की जो तुर्दशा भारत में हुई, वह किसी देश में, किसी एक धर्म के देवताओं की नहीं हुई। फलस्वरूप, भगवान् बुद्ध की मूर्ति कहीं 'भीम' कहीं 'जरासंध', कहीं 'दिलुआ बाबा' और कहीं 'तेलिया भैरव' बन गई। कहीं-कहीं तो बुद्धदेव 'देवी मैया' बनकर सिन्दूर लगवाने और टिकुली सटवाने लगे। आज भी बुद्धदेव की ऐसी तुर्दशा कई जगहों में देखी जाती है। बेचारे अनेक 'बोधिसत्त्व' देवी बनकर चुनरी पहनते हैं। कई बोधिसत्त्व खास बोधगया-मंदिर के सामनेवाली कोठरियों में पंचपाण्डव बनकर अज्ञात वनवास का जीवन बिता रहे हैं। इसी तरह बौद्धों की 'तारा' और 'पारमिता' अनेक जगहों में हिन्दुओं की देवी बनकर अपनेको पुजवाती हैं। इस प्रकार, मुस्लिम-काल में सारे-के-सारे बौद्ध देवता हिन्दू-देवता बनकर नामशेष हो गये।

इस तरह मुस्लिम-शासन के लगभग साढ़े पाँच सौ वर्षों तक, जिसमें विभिन्न मुस्लिम-वंशों ने शासन किया, बौद्धधर्म के लिए घनघोर अंधकार का युग रहा। यह लम्बी अवधि धर्मोद्योग की नहीं, बल्कि बौद्धधर्म-विध्वंस की अवधि रही। ऐसी रीति में बौद्धधर्म की रक्षा की आशा करना भित्तान्त दुराशामात्र है। इन ५५० वर्षों में बिहार-प्रदेश में या समस्त भारत में अन्वेष भी कहीं बौद्धधर्म के लिए कोई उद्योग हुआ, इसका पता नहीं मिलता।

# दसवाँ परिच्छेद

## अँगरेजी शासन-काल के कार्य

( सन् १७५१ से १८४६ ई० )

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में अँगरेजों का पदार्पण हुआ। सन् १७७४ ई० में, कम-से-कम बंगाल में अँगरेजों का शासन-सूत्र दृढ़ हो गया। सत्ता दृढ़ हो जाने पर, पुरातत्त्व-प्रेम के कारण अँगरेजों का ध्यान भारतीय संस्कृति की ओर आकृष्ट हुआ।

भारत की प्राचीनता की ओर जब उनका ध्यान गया, तब उन्होंने यहाँ अँगरेजों का पुरा-  
तत्त्व-प्रेम के धार्मिक तथा ऐतिहासिक स्मारकों के उद्धार तथा संरक्षण का कार्य हाथ में लेने का संकल्प किया। अँगरेज भी विदेशी थे और उनका

धर्म ईसाई धर्म था, अतः भारत के सभी धर्म उनके लिए समान थे। किसी एक के प्रति उनका पक्षपात नहीं था और भारत के सभी धर्मों की जनता की सहायभूति के वे इच्छुक थे। इसलिए भारत में जितने प्रकार के प्राचीन स्मारक उन्हें ज्ञात हुए, सभी की रक्षा के लिए वे तत्पर दिखाई पड़े। यद्यपि स्मारकों के उद्धार और संरक्षण में, उनके भारतीय धर्म के प्रति प्रेम की प्रेरणा नहीं थी, बल्कि एकमात्र पुरातत्त्व-सम्बन्धी जिज्ञासा ही थी, तथापि उनके इस कार्य से अन्य भारतीय धर्मों के समान बौद्धधर्म की भी प्राचीनता और महत्ता प्रतिष्ठित हुई, जिससे भारत का गौरव बहुत बढ़ गया। यह कहने में मुझे जरा भी संकोच नहीं है कि अँगरेजों ने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दिशाओं में हमारा चाहे जितना भी शोषण किया हो, पर पुरातत्त्व-इतिहास के लिए उन्होंने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये और उनसे जो हमारे देश का गौरव संसार में बढ़ा, उसके लिए हम भारतीयों को उनका श्रेणी होना चाहिए।

अँगरेजों की ओर से, पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोजों के सिलसिले में, बौद्धधर्म के लिए, बिहार-प्रदेश में जो कार्य हुए, उनसे बिहार की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक गरिमा सातवें आसमान तक उठ गई। किन्तु बिहार-प्रदेश में, अँगरेजी शासन-काल में, बौद्धधर्म के लिए जिन संस्थाओं और व्यक्तियों ने कार्य किये, उनके नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेंगे।

गवर्नर जनरल 'बारेन हेस्टिंग्स' के समय में और उनकी सहायता और प्रेरणा से सर्वप्रथम 'सर विलियम जोन्स' नामक पुरातत्त्वज्ञ अँगरेज ने १५ जनवरी, सन् १७८४ ई० में, कलकत्ता में

‘एशियाटिक सोसाइटी’ नामक संस्था की स्थापना की। संस्था का मुख्य कार्य यह रखा गया कि यह संस्था एशिया-खण्ड के इतिहास, साहित्य, स्थापत्य, धर्म, समाज, विज्ञान आदि विषयों की खोज करेगी। इस तरह इसी संस्था ने सर्वप्रथम भारत में ऐतिहासिक अनुसंधान और पुरातत्त्व-ज्ञान का बीजारोपण किया, जिसके कारण बिहार में बौद्धधर्म के प्रति अभिरुचि पैदा हुई।

कलकत्ता की इस ‘एशियाटिक सोसाइटी’ ने ही ‘एशियाटिक रिसर्चेज’ नाम की एक पुस्तक-माला सन् १७८८ ई० में प्रकाशित की, जिसके पाँच भाग सन् १७९७ ई० तक प्रकाशित हो गये। उस समय के विद्वान् इतिहास-सम्बन्धी अन्वेषण करके जो विवरण प्रस्तुत करते, वे उक्त पुस्तक-माला में प्रकाशित होते थे। इस ‘माला’ का इंग्लैंड में बड़ा ही सम्मान हुआ और एशिया के सांस्कृतिक विषयों में वहाँ के लोगों की अभिरुचि बढ़ी। यह पुस्तक-माला सन् १८३६ ई० तक निरन्तर रूप से प्रकाशित होती रही।

सर विलियम जोन्स के बाद सन् १७९४ ई० में ‘हेनरी कोलब्रुक’ ने उनके द्वारा आरंभ किये गये इस शुभ अनुष्ठान को पूरा करने का बीड़ा उठाया। कोलब्रुक ने भारतीय पुरातत्त्व-विषयक अनेक अन्वेषण-कार्य किये तथा इस विषय पर नैरन्तर्य रूप से सैकड़ों लेख लिखे। हेनरी कोलब्रुक सन् १८०७ ई० में ‘एशियाटिक सोसाइटी’ के अध्यक्ष चुने गये थे। इन्होंने ही इंग्लैंड जापस होने पर वहाँ ‘रॉयल एशियाटिक सोसाइटी’ नामक संस्था की स्थापना की। इसी संस्था ने इंग्लैंडवासियों की वृहत् मात्रा में भारतीय पुरातत्त्व तथा संस्कृत-भाषा की महत्ता का परिचय कराया था।

हेनरी कोलब्रुक के समय में ही, अँगरेजी-सरकार ने सन् १८०७ ई० में प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ डॉ० युकानन को भारत में अन्वेषण-कार्य करने के लिए एक विशिष्ट पद पर प्रतिष्ठित किया। फलस्वरूप डॉ० युकानन ने बिहार, बंगाल और आसाम प्रान्तों में घूम-घूम कर पुरातत्त्व-विषयक कार्य करते हुए सभी प्रान्तों के कई जिलों के विस्तृत विवरण प्रस्तुत किये। डॉ० युकानन ने अपने बिहार-सम्बन्धी विवरण को सन् १८११-१३ ई० में ही तैयार कर दिया था, जिसका प्रकाशन अनेक वर्षों बाद ‘बिहार-उड़ीसा-रिसर्च-सोसाइटी’ (पटना) ने कई खण्डों में किया। इस प्रकाशन का व्यव इशुआ (सारन) के महाराज द्वारा दिये गये पाँच हजार रुपये से हुआ था।

किन्तु, अँगरेजों के शासन-काल में, भारतीय संस्कृति के उद्धार और संरक्षण का कार्य जैसा ‘जनरल कनिंघम’ ने किया, वैसा किसी व्यक्ति ने नहीं। उनका अथक परिश्रम और अदृष्ट उत्साह इतिहास में बेजोड़ है, जिसके लिए प्रत्येक भारतवासी उनका आभारी है। उन्होंने अपने पुरातत्त्व-प्रेम के कारण सन् १८३४ ई० में और १८५१ ई० में भी मेजर मारहम किट्टो के साथ बौद्ध तीर्थ ‘सारनाथ’ में खुदाई का काम किया था। उस समय ‘जनरल कनिंघम’ उत्तर-प्रदेश में मुख्य इंजीनियर के पद पर थे और सारनाथ की खुदाई उनके वैयक्तिक उत्साह के कारण हुई थी।



भारत में ऐतिहासिक स्थानों के उत्खनन-कार्य का श्रीगणेश-संघर्ष होकर 'लार्ड-कैनिंग' ने किया। इसीलिए 'लार्ड कैनिंग' भारतीय पुरातत्व के जन्मदाता कहे जाते हैं। इन्होंने ही सन् १८६० ई० में भारतीय पुरातत्व-सर्वेक्षण-विभाग (ऑर्कॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया) नाम की एक संस्था स्थापित की और सन् १८६२ ई० में जनरल कनिंगम को इस संस्था का निर्देशक (डाइरेक्टर) नियुक्त किया। संस्था के निर्देशक के पद पर प्रतिष्ठित होते ही जनरल कनिंगम ने घोर परिश्रम आरम्भ किया और सन् १८६२ ई० से सन् १८८४ ई० तक भारतीय पुरातत्व-अन्वेषण के विस्तृत विवरण २३ खंडों में प्रकाशित कर दिये। उस समय कनिंगम की देखा-देखी अन्वयान्विद्धानों ने भी विभिन्न प्रान्तों के पुरातत्व के विवरण प्रस्तुत किये थे। कुछ दिनों बाद सबसे बड़ी बात यह हुई कि लार्ड कर्जन ने कानून बनाकर भारतीय धर्म-स्मारकों की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया, जिससे सभी प्राचीन स्मारक गढ़ होते से बचा लिये गये। उक्त कनिंगम के उद्योग से ही बिहार-प्रदेश में बौद्धधर्म के स्मारकों के उद्धार-कार्य सम्पादित हुए थे।

### बोधगया का उत्खनन-इतिहास

सन् १८२० ई० के कुछ वर्ष पहले ही, अपने बौद्धधर्म-प्रेम के कारण, बर्मा-देश के तत्कालीन राजा ने, बोधिवृक्ष का पत्ता देनेवाले एक नक्षत्र के साथ, वास्तविक मंदिर का स्थान देख आने के लिए, अपना एक दूत बोधगया में भेजा। किन्तु वह व्यक्ति 'गया' नगर से ही लौट गया। गया के आगे घनघोर जंगलों को देखकर उसने थोड़ा और दक्षिण बढ़ने का साहस नहीं किया। फिर सन् १८२३ ई० में बर्मा के राजा 'वाजिदो' ने उत्साहित करके एक दूसरे बौद्ध भक्त को बोधगया के लिए रवाना किया। वाजिदो ने उसे आदेश दिया था कि बोधगया में जाकर बर्मा-राज्य की ओर से भगवान् बुद्ध की पूजा करना और सर्वदा पूजा-अर्चा होती रहे, इसका भी कुछ प्रबन्ध करके ही लौटना। इसका सारा व्यय बर्मा-राज्य वहन करेगा। उस बौद्धधर्म-भक्त ने ठीक वैसा ही किया। बोधगया पहुँचकर उसने बड़ी धूमधाम से बोधिवृक्ष और भगवान् बुद्ध की पूजा-अर्चा की और चढ़ावा चढ़ाया, और कुछ दिनों तक ठहरकर पूजा-अर्चा करता रहा। बुद्धमूर्ति की निरन्तर पूजा होती रहे, इसके लिए उसने स्थानीय महंत के एक शिष्य को बौद्ध-पूजा-प्रणाली की शिक्षा देकर और पूजा का प्रबन्ध महन्त के जिम्मे सौंपकर वह बर्मा-देश को लौट गया। पूजाअर्चा का सारा आर्थिक प्रबन्ध बर्मा की ओर से ही हुआ। उसी के बाद से बोधगया-मंदिर स्थानीय महन्त के अधिकार में रहने लगा। उस समय बोधगया में एक भी बौद्धधर्मावलम्बी व्यक्ति नहीं था और बोधगया का क्षेत्र जंगलों से भरा था।

वाजिदो के बाद बर्मा के राजा 'मिन्हुमिन' हुए। मिन्हुमिन ने सन् १८७४ ई० में बोधगया में एक धर्मशाला बनवाई, जो निरंजना नदी के किनारे और संन्यासी महन्त के गढ़ से दक्षिण में स्थित थी। संयोगवश आज वह धर्मशाला बोधगया के 'संन्यासी महन्त' के अधीन हो गई है और उनकी अतिथि-शाला (गेस्ट हाउस) बन गई है। इसे महन्त ने बाहर से

घेरकर अपनी चहारदीवारी के भीतर कर लिया है। इस धर्मशाला से सटे दक्षिण दिशा में जो दो छोटे-छोटे मन्दिर हैं, वे भी बर्मा के राजा मिहुमिन के ही बनवाये हुए हैं। वे मंदिर भी अब संन्यासी महन्त के ही अधिकार में हैं।

इससे बहुत पहले, सन् १८३२ ई० में ही, गया जिला के प्रधान न्यायाधीश मिस्टर 'हाउथोर्न' बोधगया के लूँइहर देखने आये थे। उस समय बोधगयावासियों ने हाउथोर्न से मुख्य मंदिर के संस्कार के लिए निवेदन किया था। हाउथोर्न ने बोधगया-मन्दिर की दुर्दशा पर काफी दुःख प्रकट किया; पर उन्होंने मंदिर के संस्कार के लिए कुछ किया-कराया नहीं।

हाउथोर्न के जाने के कुछ समय बाद बर्मा के राजा भी बोधगया आये थे। उन्होंने भगवान् बुद्ध की तथा बोधिवृक्ष की बड़े उत्सव-समारोह के साथ पूजा की थी तथा मंदिर के उद्धार के लिए नागरिकों को सान्त्वना दी और शायद भारत-सरकार से लिखा-पढ़ी भी की। पर, वे योड़े ही दिनों बाद बर्मा लौट गये।

सन् १८४६ ई० में जनरल कनिंघम के सहकर्मों मेजर 'मारहम किट्टो' बोधगया में पधारे और उन्होंने ही सर्वप्रथम भारत-सरकार के पास बोधगया का विवरण भेजा। किन्तु अँगरेजी-सरकार ने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। सन् १८६१ ई० में प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ जनरल कनिंघम भी बोधगया आये। इन्होंने भी अपनी विवरण-तालिका सरकार के पास भेजी; पर सरकार ने फिर कुछ नहीं किया। किन्तु, कनिंघम का व्यक्तित्व पुरातत्त्वज्ञों में पूर्ण प्रतिष्ठित था और वे अपनी धुन के धनी थे। जब ये सन् १८६२ ई० में 'ऑर्किलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया' नामक संस्था के निर्देशक (डाइरेक्टर) होकर बोधगया आये, तब पुनः भारत-सरकार के पास इन्होंने अपनी विवरणिका भेजी। इस बार इन्होंने सरकार को लिखा कि 'भारत के हित की हिमायती अँगरेजी-सरकार यदि इन कामों को नहीं करेगी, तो फ्रांसीसी और पुर्तगाली करेंगे, हमारी सरकार यह अच्छी तरह जान ले।' इस बार भारत-सरकार के कानों पर जूँ रेंगी और उसने डॉ० राजेन्द्रपाल मित्र को बोधगया के निरीक्षण-परीक्षण के लिए अपनी ओर से भेजा। डॉ० राजेन्द्रपाल मित्र ने बोधगया में एक वर्ष रहकर बड़े परिश्रम के साथ अपना विवरण तैयार किया और सरकार के समक्ष उसे प्रस्तुत किया। डॉ० राजेन्द्रपाल मित्र के विवरण भेजने के पहले गया के जिला-जज 'फर्गुसन' साहब ने भी बोधगया पर अपनी एक विशाल छपवाई थी और उन्होंने भी उसे भारत-सरकार के पास बोधगया-मंदिर के उद्धार के लिए लिखा था। इस तरह विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा, बोधगया-मंदिर के उद्धार के लिए, बार-बार भारत-सरकार पर दबाव डाला जाता रहा।

यह पहले कहा गया है कि बर्मा-देश की सरकार बोधगया-मंदिर के उद्धार के लिए पहले से ही आकांक्षी थी, इसलिए बर्मा-सरकार को भारत-सरकार ने बोधगया के उद्धार के लिए आदेश दे दिया। संस्कार-क्रम में भारत-सरकार की ओर से शर्त यह थी कि वहाँ मंदिर में बर्मा सरकार अपनी ओर से कोई नया काम नहीं करेगी। बर्मा सरकार की ओर से मंदिर का संस्कार-कार्य सन् १८७७ ई० के कुछ पहले ही आरम्भ हो गया था। किन्तु,







बोधगया के बोधि-मंदिर और बोधिवृक्ष का दृश्य

सन् १८७७ ई० में डॉ० राजेन्द्रपाल मिश्र अंगरेजी-सरकार की ओर से बोधगया का निरीक्षण करने के लिए भेजे गये। इनके निरीक्षण-विवरण-पत्र को देखकर भारत-सरकार ने वर्गी सरकार का संस्कार-कार्य बन्द करवा दिया और उनके कारीगरों को भी हटवा दिया। भारत-सरकार ने बोधगया की खुदाई का काम अब अपने हाथों में ले लिया और जनरल कनिंघम तथा डॉ० राजेन्द्रपाल की निगरानी में काम होने लगा। खुदाई करते समय ही मजदूरों की असावधानी से पीपल का वृक्ष गिर गया था, जहाँ कनिंघम ने अपने हाथों से एक मया वृक्ष लगा दिया। यह वृक्ष मंदिर से उत्तर की ओर है, जहाँ बोधिसत्व, गणेश, जम्भल आदि की मूर्तियाँ हैं और जहाँ हिन्दू पिण्डदान भी करते हैं।

मंदिर की खुदाई सुव्यवस्थित रीति से सन् १८७७ ई० में आरंभ हुई और तीन वर्षों की कड़ाचूर मिहनत के बाद सन् १८८० ई० में समाप्त हुई थी। इस उद्धार-कार्य में दो लाख रुपये व्यय हुए थे।

### उत्खनन में प्राप्त सामग्री

इस उत्खनन में प्रधान बुद्ध-मंदिर का तल-भाग जमीन की तत्कालीन सतह से २५ फुट नीचे में मिला। लगभग ६०० फुट समन्वृत्कोण वर्गाकार में मंदिर की खुदाई कराई गई। अब सतह से मंदिर की ऊँचाई १८० फुट है। खुदाई के पहले मंदिर तक आने का मार्ग केवल पूर्व भाग के द्वार के सामने से था, जो अब चारों ओर से हो गया है। चारों ओर की ऊँची जमीन से प्रस्तर के सोपान बनाये गये हैं, जिनसे मंदिर तक मार्ग निर्मित है। चारों तरफ से रास्ते इसलिए बनाये गये हैं कि पहले भी ये मार्ग थे, जिनका वर्णन चीनी यात्री 'ह्वेनसांग' ने ७वीं सदी में किया है। खुदाई के पहले बोधगया-मंदिर के दर्शनाधीन पूरव की ओर से आकर केवल मंदिर के ऊपरी भाग में ही पहुँचते थे, जहाँ बुद्ध की एक मूर्ति स्थापित है। इसी मूर्ति को लोग मंदिर की प्रधान मूर्ति समझते थे और इस ऊपरी गर्भगृह को ही मुख्य मंदिर का गर्भगृह मानते थे। खुदाई और संस्कार के पहले मंदिर घनघोर जंगलों और टूटे-फूटे खंड़हरो के बीच में अवस्थित था। शाम होते ही बोधगयानिवासी भी मंदिर तक नहीं जाते थे, बाहरी व्यक्ति की तो बात ही क्या है? मंदिर के पासवाली कँटीली झाड़ियों में भेड़िये और चीतों का स्वच्छन्द राज्य था।

उपर्युक्त खुदाई के समय बोधगया में जो बहुमूल्य पुरातत्त्व-सामग्री मिली, उससे बौद्धधर्म पर विशद और विस्तृत प्रकाश पड़ा तथा अंगरेजी शासन-काल का यह प्रपल्ल बौद्धधर्म के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। प्राप्त सामग्री में बौद्धधर्म की अनेक मूर्तियाँ मिलीं, जो कलकत्ता, पटना तथा मथुरा के संग्रहालयों में भेज दी गई हैं।

**मूर्तियाँ** अनेक स्तूप और मूर्तियाँ आज भी मंदिर के आँगन में स्थित हैं और कुछ सन् १६५६ ई० में बने बोधगया के नवीन संग्रहालय में रख दी गई हैं।

किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ बोधगया के संन्यासी महन्त के मठ के आँगन में भी चली गई हैं।

और कुछ तो उनकी चहारदीवारी की दीवारों में चुन दी गई हैं। यह अत्यन्त दुःखद दृश्य है। बोधगया-महन्त के आगमनवाली मूर्तियों में तीन मूर्तियाँ तो ऐसी हैं, जो अत्यन्त दुर्लभ हैं। इनमें से एक में भगवान् बुद्ध के गृह-स्वाग का दृश्य अंकित है, जो मर्म को छूनेवाला है। एक और यशोधरा अपने बालक 'राहुल' को गोद में लिये सोई है और बगल में थोड़ी दूर पर दीप जल रहा है। सिद्धार्थ चुपके से वबे पवित्र घर से निष्क्रमण करते हुए पीछे की ओर पत्नी और पुत्र को निहारते जा रहे हैं। निद्रित साध्वी यशोधरा के मुखमण्डल पर भोलापन का पवित्र भाव झलक रहा है और सिद्धार्थ की छलना, दर्शक के हृदय को, द्रवीभूत कर देती है। दूसरी मूर्ति महापरिनिर्वाण के दृश्य की है। इसमें एक बुद्धमूर्ति खड़ी है और ऊपर महापरिनिर्वाण का दृश्य अंकित है। वहाँ अगल-वगल देवताओं का दृश्य भी दर्शनीय है। तीसरी मूर्ति अवलोकितेश्वर की है, जिसकी त्रिसंगी आकृति और शरीर का गठन तथा तेजोदीप्त सुन्दर मुखमण्डल से कलाकार की अद्भुत कारीगरी का परिचय मिल रहा है। अनाड़ी भक्तों ने मूर्तियों पर सिन्दूर पोतकर इन्हें ऐसा चिद्रूप कर दिया है, जिससे हृदय को बड़ा कष्ट होता है। इन मूर्तियों का उद्धार होना अति आवश्यक है।

यहाँ मैं एक मूर्ति की चर्चा का लोभ संवरण नहीं कर सकता, जिसका विषय हमारे इस ग्रन्थ से सम्बन्धित नहीं है। पर वह मूर्ति ऐसी है, जिसके जोड़ की हिन्दुस्तान में बहुत कम मूर्तियाँ होंगी। यह मूर्ति मुण्डेश्वरी दुर्ग की मूर्ति है, जो संन्यासी-मठ की, फल्गु नदी की ओर की पूर्वी द्वार के सटे दक्षिण, चहारदीवारी के कोटर में स्थित है। मूर्ति की चार भुजाएँ दृढ़ गई हैं; पर और भुजाएँ तथा सम्पूर्ण मूर्ति सुरक्षित है। पता नहीं, कौन ऐसा कलाकार था, जिसने इस मूर्ति को गढ़ा और कहाँ से उसने इस मूर्ति में अमित सौन्दर्य तथा कोमलता का निखार भरा। फिर भी यह कैसी हृदयद्रावक घटना है कि ऐसी मूर्ति कुड़े-कचरी और मकड़ी के जालों से भरी रहती है। यह मूर्ति गुप्तकाल की पाँचवीं सदी से पूर्व की है; क्योंकि इसकी एक प्रतिच्छवि बोधगया मंदिर की ऊपरी दीवार में, पूर्व-उत्तर कोण में, स्थापित है। बौद्धमठ के संन्यासी साधुओं का कहना है कि जिन लोगों ने इस विशिष्ट मूर्ति की पूजा की है, वे सभी काल-कवलित हो गये हैं। पता नहीं, यह कैसा रहस्य है। लोगों का कहना है कि मठ के पुराने महन्त ने बुद्धेश्वरी पहाड़ से लाकर यहाँ इसे रखा है। अस्तु;

उक्त खुदाई में मूर्तियों और लुप्तों के अतिरिक्त प्रधान मंदिर के द्वार के सम्मुख तीन बड़े प्रकोष्ठ मिले हैं, जिनकी छतें मगध-गृह-निर्माण कला के अनुसार छज्जेदार हैं। इन कोठरियों के मध्यभाग में शिव-लिङ्ग स्थापित है और किनारों की दीवारों में बुद्ध और बोधि-सत्त्वों की खड़ी मूर्तियाँ हैं। आजकल इसका नाम 'पञ्च-पाण्डव-मन्दिर' है। यद्यपि बोधगया के प्रधान मंदिर पर से संन्यासी-मठ का अधिकार अब बिलकुल हट गया है, तथापि इस 'पञ्च-पाण्डव-मन्दिर' पर अभी तक उन्हीं का अधिकार है। इसका मुख्य कारण यही है कि इसमें शिव-लिङ्ग स्थापित है, जिससे शैव महन्त का अधिकार सरकार ने जापज मान लिया है। महन्त के शिष्य आगन्तुक भक्तों को इनमें स्थित



बुद्ध और बोधिसत्त्व की मूर्तियों को 'पञ्च-नामद्वय' बतलाते हैं, जो धृष्टता और मूर्खता की पराकाष्ठा है। कुछ लोगों का कहना है कि ये मन्दिर, खुदाई के बाद, महन्त द्वारा बनवाये गये हैं और इनमें महन्त ने ही शिव-लिंग स्थापित कर दिये हैं, पर यह बात भ्रमात्मक है; क्योंकि सन् १८८० ई० में खुदाई हुई और १८८१ ई० से ही इसकी देख-भाल जनकार्य-विभाग के अधिकार में आ गई। महन्त महाशय को ऐसा अवसर ही कब मिला होगा, जो यहाँ तीन कमरे बनवाकर शिव-लिंग स्थापित कर लेते। दूसरी बात ध्यान देने योग्य है कि जब बर्मा सरकार मंदिर का संस्कार कराने लगी, तब भारत-सरकार ने वही शर्त रखी थी कि वहाँ किसी तरह का नया काम नहीं हो सकता है। और, बर्मा कारीगरों ने जब थोड़ी-सी गड़बड़ी की, तब सरकार ने उनके कामों को शीघ्र ही बन्द करवा दिया। ऐसी स्थिति में महन्त किस तरह वहाँ कमरे बना सकते थे। इसके अतिरिक्त मैं चीनी यात्री 'ह्वेनसांग' की छन पंक्तियों की ओर भी ध्यान दिला रहा हूँ, जिनमें उसने मंदिर के साथ-साथ इन प्रकोष्ठों का भी वर्णन किया है। वह लिखता है—“मंदिर के पूरब भाग में तीन बड़े-बड़े प्रकोष्ठ सम्बद्ध थे, जिनकी लकड़ी की नक्काशी में सोने और चाँदी के तार आकर्षक ढंग से भड़े थे। मन्दिर की बाईं ओर अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की मूर्ति थी और दाहिनी ओर चाँदी की बनी मैत्रेय की मूर्ति स्थित थी। बंगाल के राजा 'शशांक' ने बुद्धमूर्ति को तोड़कर शिव-मूर्ति प्रतिष्ठित करने की आशा दी थी; पर जिसे यह काम सौंपा गया था, उस ब्राह्मण पुरोहित ने डरकर बुद्ध-मूर्ति को छिपा दिया।”

ह्वेनसांग के उपर्युक्त वाक्यों से ही प्रतीत होता है कि वहाँ शिव-लिंग की स्थापना हुई; क्योंकि ब्राह्मण-पुजारी द्वारा बुद्ध-मूर्ति को छिपा देने के कथन का अभिप्राय इतना ही है कि मंदिर की बुद्ध-मूर्ति नष्ट नहीं हुई, बच गई। पर 'शशांक' की आशा भी शिव-मूर्ति स्थापित करने की। इसलिए केवल बुद्ध-मूर्ति को छिपा देने से ही काम नहीं चलनेवाला था। पुजारी ने बुद्ध-मूर्ति को बचाने के लिए उसे छिपा तो दिया होगा; पर राजा की आशा का पालन हो, इसके लिए उसने इन्हीं कमरों में शिवलिंग स्थापित कर शशांक का आदेश-पालन भी किया होगा। निश्चित है कि खुदाई के समय में ही शिवलिंग-युक्त यह मंदिर मिला; जिससे सरकार ने भी इसपर शैव महन्त का अधिकार माना।

खुदाई में मौर्यकालीन सिंहद्वार और स्तम्भ भी मिले हैं, जो मंदिर के सामने पूर्वी द्वार की तरफ आज भी खड़े किये गये हैं। किन्तु, उस समय सबसे महत्वपूर्ण जो वस्तु मिली, वह है—बोधिवृक्ष की आषोढन-सूचियाँ। ये सूचियाँ 'अशोक-रलिंग' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

वेष्टन-वेदिकाएँ  
और चैत्य

इनमें कुछ तो मौर्यकालीन हैं और कुछ शुंग-कालीन तथा कुछ सातवीं सदी की हैं, जिन्हें 'पुरगवर्मा' ने बनवाया था। पुरगवर्मा द्वारा कराये गये प्राकार-संस्कार का वर्णन ह्वेनसांग ने भी किया है। आषोढन-सूचियों में जातक कहानियों के अनेक दृश्य उत्कीर्ण हैं और तत्कालीन भावना-बोधक कई अन्य चित्र भी

अंकित हैं। इन्हीं सूचियों में से एक पर सात गोड़ेवाले रथ पर आसीन सूर्य, किन्नर, जेतवन के कप, शालभंजिका, राशियों आदि के चित्र भली भाँति देखे जा सकते हैं। प्राप्त बौद्ध चैत्य तो वैसे ही हैं, जैसा कि बोधगया का प्रधान मन्दिर है। ये चैत्य समय-समय पर बुद्ध-मूर्तियों की ओर से बनवाकर दान में दिये गये हैं और जिन पर एक-से-एक बढ़कर कला की बारीकियाँ काढ़ी गई हैं। ऐसे चैत्य, मन्दिर के चारों ओर, समूह रूप में बिखरे पड़े हैं।

मुख्य मन्दिर के आँगन के तीन कोनों पर तीन छोटे-छोटे भग्न मंदिर प्रतीक-रूप में खाल भी हैं, जिन्हें 'रत्नगृह', 'राजापतन' और 'रानाउल' कहते हैं। ये उन्हीं जगहों पर खतलाये जाते हैं, जहाँ-जहाँ मार ने सिद्धार्थ को भ्रम में डाल देने के लिए बोधिवृक्ष की तरह के और अश्वत्थ-वृक्ष भी प्रकट कर दिये थे, जिससे सिद्धार्थ को असली बोधिवृक्ष का पता न लग सके और वे भटक जायें। पर, बात ऐसी नहीं है। ये वे स्थान हैं, जहाँ बुद्ध ने सात सप्ताहों तक विमुक्ति का आनन्द लिखा था। 'रत्नगृह' आँगन के पश्चिम-उत्तर कोण में स्थित है और 'राजापतन' पूरव-दक्षिण कोण में तथा 'रानाउल' दक्षिण-पश्चिम कोण में है। मंदिर की पूर्व दिशा में, थोड़ी दूर उत्तर हटकर 'अग्निमेघ चैत्य' है, जहाँ से भगवान् बुद्ध बुद्धत्व प्राप्त कर लेने पर एक सप्ताह तक खड़े होकर अग्निमेघ नयनों से बोधिवृक्ष को निहारते रह गये थे। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह चैत्य-प्रधान मंदिर से पहले बना था और स्वयं सम्राट् अशोक ने इसे ही बनवाया था। इसकी खुदाई अभी तक नहीं हुई है। निश्चित है कि खुदाई होने पर प्रधान मंदिर की तरह इसका भी निचला भाग प्राप्त होगा।

जिस तरह अग्निमेघ चैत्य के पास खड़ा होकर भगवान् बुद्ध एक सप्ताह तक बोधिवृक्ष को देखते रह गये थे, उसी तरह उन्होंने एक सप्ताह तक चंद्रमण करते हुए बोधिवृक्ष का निरीक्षण भी किया था। उसी चंद्रमण-स्थान पर प्रतीक रूप में भक्तों ने कमल-पुष्प बनवा दिये थे। ये कमल-पुष्प भी खुदाई के समय में प्राप्त हुए। स्वराज्य के बाद १०५६ ई० में, बुद्ध-परिनिर्वाण की २५००वीं जयन्ती के अवसर पर, जब काँग्रेसी सरकार ने मंदिर का संस्कार कराया, तब चंद्रमण के प्रतीक-स्वरूप इन कमल-पुष्पों का भी संस्कार हुआ। खुदाई के समय इन चरण-चिह्नों के सामने १६ नारी-मूर्तियाँ अर्द्ध-भग्न अवस्था में खड़ी पाई गई थीं। सभी नारी-मूर्तियों के हाथ में सनाल कमलपुष्प थे, जो भगवान् बुद्ध के पदों में अर्पित करने के भाव व्यक्त करते थे। ये सभी नारी-मूर्तियाँ मार-कन्याओं की प्रतीक थीं, जो पराजित होकर उनके चरणों के आगे खड़ी थीं। बाद में इनमें से अधिकांश मूर्तियाँ गायब या नष्ट हो गईं। बाकी जो दो बची थीं, वे सन् १९५६ ई० में 'बोधगया' के संग्रहालय में रख दी गई हैं।

बौद्धधर्म-सम्बन्धी उपर्युक्त सारी सामग्री अँगरेजों के पुरातत्व-उद्योग के कारण संसार को सुलभ हुई, अन्यथा सभी चीजें नष्ट हो गई थीं।

### मंदिर का आधुनिक इतिहास

पहले खतलाया गया है कि सन् १८२३ ई० में बर्मा के राजा द्वारा प्रेषित एक व्यक्ति ने



गजलक्ष्मी, बोधगया-रैलिग (पृ० १८७ और २४६-२५०)



सरस्वती की कांक्ष-मूर्ति, नालन्दा  
(पृ० २६३)



श्रीमा—बोधगया रैलिग  
(पृ० २४६ और २८७)





अवलोकितेश्वर ( सिमुनपुर, गया )  
( पृ० २६७ )



रंगी की काश्यप-मूर्ति, नालन्दा  
( पृ० २६३ )



सलिलासन में बैठी तारा की कांस्य-मूर्ति (कुकिहार, गया) — पृ० २६८



भूषण-भूषित बुद्ध, नालन्दा में प्राप्त



विक्रमशिला (भागलपुर) में प्राण सृष्टि (विवरण पृ० २१६-२१७ में)



तारा देवी, नालन्दा से प्राप्त (पृ० २६८)



बोधिमन्दिर की नित्य पूजा के लिए, संन्यासी-मठ के महन्त के एक शिष्य को नियुक्त कर दिया था और तभी से बोधिमन्दिर पर महन्त का अधिकार हो गया था। यह संन्यासी-मठ शंकर-सम्प्रदाय की कई गद्दियों में एक गद्दी मानी जाती है। इस मठ के आदि संस्थापक का नाम 'धमएडी गिरि' था, जो केवल कम्बल-लोटा लेकर सन् १५६० ई० में बोधगया आये थे। उस समय भारत पर सम्राट् 'अकबर' का शासन था। धमएडी गिरि ने प्रधान बोधिमन्दिर से थोड़ी दूर उत्तर में अपनी कुटिया बनाई, जो अब इस गद्दी का पुराना मठ है। आज भी यह मठ अपनी जीर्ण अवस्था में, उत्तर-दक्षिण लम्बाई लिये स्थित है। इस मठ के सामने ही तारादेवी की एक भव्य मूर्ति स्थापित है। पुराने मठ की नींव के कुछ ऊपर एक प्रस्तर-लिपि लगी है, जो पालकाल की प्रतीत होती है। मन्दिर के दोमंजिले ढालान में स्लेट-पत्थर की बनी एक 'गरुडमूर्ति' अत्यन्त मनोमोहक है, जो गुप्तकाल की बनी जान पड़ती है। उत्तर-पूरुब कोण में एक प्राचीन बड़ा-सा कूप है, जिसका पानी कभी नहीं सूखता है और न कभी उसकी सफाई ही होती है। यह स्थान 'धमंडी गिरि-बाग' के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। मठ से पहले इस स्थान पर एक प्रसिद्ध बौद्धविहार था।

इसी धमएडी गिरि के कई पीढ़ी बाद, सन् १७२७ ई० में, तत्कालीन संन्यासी-मठ के महन्त को, महमूदशाह ने दो गाँवों की जमीन्दारी दी थी। इसी जमीन्दारी से बढ़ते-बढ़ते महन्त की सालाना आय लाखों रुपये की हो गई। इसी मठ के अधीन बोधगया-मन्दिर था। किन्तु जब बर्मा के राजा 'मिहुमिन' हुए और उन्होंने बोधगया-मन्दिर का संस्कार कराया, तब नये सिरे से उन्होंने पूजा की व्यवस्था की और बौद्ध पुजारी रखा। सन् १८७८ ई० में मिहुमिन की मृत्यु हो गई और इनका उत्तराधिकारी 'थीवो' बर्मा-राज्य की गद्दी पर बैठा। थीवो ने भी अपने पिता द्वारा संचालित कार्य की बोधगया में जारी रखा। किन्तु थोड़े ही दिन बाद अँगरेजों के साथ थीवो की अनबन हो गई और अँगरेजों ने उसे कैद करके बम्बई प्रेसिडेंसी के 'रत्नगिरि' नामक स्थान में भेज दिया। सन् १८८६ की पहली जनवरी से ही बर्मा पर अँगरेजों का शासन हो गया। अतः, अँगरेजी-सरकार ने बोधगया मन्दिर से बौद्ध पुजारी को हटा दिया और मन्दिर को पुनः बोधगया के संन्यासी-मठ के महन्त के अधीन कर दिया। उसी समय से मन्दिर पर पूर्णरूप से महन्त का अधिकार हो गया।

लंका के प्रसिद्ध बौद्धभिक्षु 'अनागारिक धर्मपाल' कुछ दिनों के बाद बोधगया में तीर्थयात्रा के लिए पधारे। बोधगया-मन्दिर में शैवसंन्यासी को पुजारी के रूप में देख और उसपर शैव महन्त का अधिकार जानकर उन्हें अत्यधिक कष्ट हुआ। धर्मपाल ने उसी समय शैव महन्त के हाथ से बौद्ध मन्दिर को मुक्त कराने का संकल्प किया। सन् १८८६ ई० में उन्होंने कोलम्बो में 'महाबोधि-सोसाइटी' नामक एक संस्था की स्थापना की। उस समय इस संस्था की सदस्यता सिंहल, बर्मा, आराकान, जापान आदि देशों ने स्वीकार कर ली। अनागारिक धर्मपाल ने बोधगया-मन्दिर पर बौद्धों का अधिकार स्थापित करने के लिए उस संस्था के द्वारा आन्दोलन आरम्भ किया। धर्मपालजी के थोड़े ही प्रयास के बाद मन्दिर के विश्रामागार के दो

कमरों पर 'महाबोधिसोसाइटी' का स्वत्व सरकार ने दे दिया और बौद्ध पुजारी के रखने का इन्तजाम भी कर दिया गया। इसी समय धर्मपाल ने लंका से ऐतिहासिक बोधिवृक्ष की टहनी लाकर ब्रह्मसन के पास लगा दी, जो आज बोधगया का प्रसिद्ध बोधिवृक्ष है।

कुछ दिनों बाद संघासी-मठ के बृद्धे महन्त का देहावसान हो गया और नये महन्त गद्दी पर बैठे, जो आज भी हैं और बृद्धे हो गये हैं। इनका नाम 'हरिहरनाथगिरि' है। उस समय गटना में बौद्धों की एक बहुत बड़ी सभा हुई, जिसमें निर्णय किया गया कि बोधगया-मन्दिर पर बौद्धों का पूर्णतया अधिकार होना चाहिए। फलस्वरूप बोधगया-मन्दिर में बौद्ध भिक्षुओं की भीड़ बढ़ने लगी। उस समय अनागारिक धर्मपाल को जापान में ७०० वर्ष पुरानी एक बुद्ध-मूर्ति मिली थी, जिसे वे बोधगया-मन्दिर में स्थापित करना चाहते थे। बौद्धों ने मन्दिर में स्थाई-बुहार करने के लिए एक चेतनमोगिनी डोमिन को रख लिया था। इन सारी बातों से और मन्दिर पर से अपना अधिकार हटता देखकर युवक शैय महन्त क्रुद्ध हो गये। उन्होंने लाठी के जोर से मूर्ति स्थापित नहीं होने दी, और गुंडों के द्वारा वे बौद्धों को नाना प्रकार से कष्ट पहुँचाने लगे। दोनों ओर से कौबदारी हो गई, जिसमें महन्त के आदमियों को अदालत ने सजा दे दी; पर वह सजा पीछे हाईकोर्ट से रद्द हो गई। किन्तु, हाईकोर्ट ने मन्दिर पर बौद्धों का ही अधिकार घोषित कर दिया और महन्त हार गये।

संयोग की बात, कुछ दिनों बाद, जापान से 'ओकाकोरा' नामक बौद्ध भारत आवे और बोधगया में उन्होंने अपना आसन जमाया। मन्दिर के पास जमोन खरीदकर ये एक जापानी विश्रामागार बनाने का उद्योग करने लगे। इसी बीच इन्होंने स्वामी अद्धानन्द और सविता देवी ओ बोधगया में बुलाकर मुलाकात की। तीनों ने मिलकर निश्चय किया कि भारत में एक 'जापानी-हिन्दू-संघ' नामक संस्था स्थापित की जाय। अँगरेजी-सरकार को जब संघ स्थापित करने के निर्णय का पता चला, तब उसे इस निर्णय में पड़व्यत्र की गन्ध मिली। सरकार ने तुरत आज्ञा जारी कर दी कि बोधगया से सारे बौद्ध हटा दिये जायें और मन्दिर पर किसका हक है, इसके निर्णय के लिए एक समिति नियुक्त कर दी जाय, जो शीघ्र अपना विवरण प्रस्तुत करे।

उस समय भारत के वायसराय लार्ड कार्वन थे। इस कार्य के लिए इन्होंने न्यायाधीश सुरेन्द्रनाथ और हरप्रसाद शास्त्री—इन दो व्यक्तियों की समिति बनाई। समिति ने जाँच-पड़ताल करके जो विवरण दिया, उसमें दोनों की राय परस्पर भिन्न हो गई। हरप्रसाद शास्त्री की राय बौद्धों के पक्ष में थी और न्यायाधीश सुरेन्द्रनाथ की राय महन्त के पक्ष में। भारत-सरकार ने न्यायाधीश सुरेन्द्रनाथ की राय मानी और बोधगया से तुरत बौद्धों को निकाल बाहर किया।

अँगरेजी-सरकार की अनुकूल देखकर महन्तजी ने अवसर से लाभ उठाया और बोधि-मन्दिर के लिए दीवानी मुकदमा दापर कर दिया। इस समय 'महाबोधिसोसाइटी' के सदस्यों में फूट पड़ गई तथा अन्य देशों ने सहायता से अपना हाथ खींच लिया। अब अनागारिक

धर्मपाल अकेले पड़ गये, फिर भी वे मन्दिर के लिए लड़ते रहे। इस समय अनागारिक की सहायता केवल 'मेरी फोस्टर' ( एक विदेशी महिला ) कर रही थी। पर, धर्मपालजी का सारा प्रयास व्यर्थ गया; क्योंकि अंगरेजी-सरकार का रुख बौद्धों के प्रतिकूल बना हुआ था। मन्दिर पर महन्त की डिग्री हो गई। मन्दिर के विश्रामागार की दो कोठरियों की कुंजी, जो बौद्धों के पास थी, वह भी छिन गई। सम्पूर्ण मन्दिर पर महन्त का अधिकार हो गया और यह अधिकार स्वराज्य-प्राप्ति के बाद भी सन् १९५२ ई० तक बना रहा।

### बोधगया में अन्य धर्म-कार्य

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त बोधगया में, इस अरसे में, बौद्धधर्म के लिए कुछ स्थायी कार्य भी हुए, जिनका विवरण निम्नलिखित है—

**महाबोधि-धर्मशाला**—बोधगया-मन्दिर पर बौद्धों के अधिकार के लिए जब अनागारिक धर्मपाल प्रयास कर रहे थे, तभी सन् १९०१ ई० में इस धर्मशाला की नींव उन्होंने ही डाली थी। कारण यह था कि पहले मिहुमिन-धर्मशाला में बौद्ध भिक्षु ठहरते थे, पर जब बर्मा पर अंगरेजी-शासन हुआ और सरकार ने बोधगया से बर्मियों को निकाल दिया, तब मन्दिर के साथ-साथ इस धर्मशाला पर भी महन्त का अधिकार हो गया और उन्होंने मठ की चहारदीवारी में घेर कर इसे अपना निजी अतिथि-निवास बना लिया। अब बौद्धों के लिए वहाँ कोई ऐसी जगह नहीं रह गई थी, जहाँ वे आकर दो-चार दिन भी ठहरें। इसलिए अनागारिक धर्मपाल ने इस धर्मशाला की नींव डाली। पर, इसके निर्माण में महन्तजी निरन्तर नाना विघ्न-बाधाएँ डालने लगे। अन्त में धर्मपाल ने ऊबकर जिला-परिषद् की सहायता ली। महाबोधि-धर्मशाला के निर्माण में अनागारिक को सिंहल तथा बर्मा के बौद्ध भक्तों ने अधिक सहायता की थी। किन्तु, जिला-परिषद् की जब मदद लेनी पड़ी, तब धर्मशाला पर उसका भी आपा अधिकार धर्मपाल को मान लेना पड़ा। धर्मशाला पर महाबोधि-सोसाइटी और गवा-जिला-परिषद् का बराबर अधिकार आज तक कायम है। यह प्रधान मंदिर से थोड़ी दूर, कुछ उत्तर दिशा को लिये हुए, पश्चिम में है।

**बर्मा धर्मशाला**—यह धर्मशाला बोधगया नगर के उत्तर, गया और बोधगया-राजमार्ग के पश्चिमी किनारे, स्थित है। इसका निर्माण सन् १९३६ ई० में बर्मा के प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु 'उत्तम' ने कराया था। इसकी चहारदीवारी पर बोधि-वृक्ष के पत्तों के चिह्न अंकित कराये गये हैं।

**तिष्यती मन्दिर**—इसका निर्माण 'लहाण' के प्रसिद्ध लामा 'खन्-पो-उवंग-सोनम्' ने सन् १९३८ ई० में कराया था। यह 'महाबोधि-धर्मशाला' से सटे उत्तर और बोधगया-मन्दिर से पश्चिम-उत्तर कोण में विशाल भवन के रूप में खड़ा है। इसमें भगवान् बुद्ध की मूर्ति तिष्यती शैली में मिट्टी की बनी है। मूर्ति के आगे निरन्तर घी का एक अलसख दीप जलता रहता है। इसमें तिष्यती बौद्ध लामाओं की भरमार है।

**चीनी मन्दिर**—बोधगया-मन्दिर से ठीक पश्चिम दिशा में, थोड़ी दूर पर, चीन-देश-द्वारा



निर्मित वह मन्दिर है। इसके निर्माण का सारा श्रेय प्रसिद्ध चीनी भिक्षुक 'हीह-तिह-छेन्' को है। मन्दिर का निर्माण सन् १६३५ ई० में हुआ था। इस मन्दिर में भी भगवान् बुद्ध की मूर्ति स्थापित है। मन्दिर की भीतरी दीवारों पर भी भगवान् बुद्ध की जीवन-घटनाओं के विविध चित्र अंकित हैं। मन्दिर की पूजा-अर्चा के लिए एक चीनी बूढ़ा भिक्षुणी रहती है, जो इसकी सर्वेसर्वा है।

बिड़ला-धर्मशाला—बोधगया के यात्रियों की सुविधा के लिए दानवीर श्रीयुगल-किशोर बिड़ला ने भी, अन्यत्र नगरों की तरह, यहाँ एक धर्मशाला बनवा दी है। यह 'महाबोधि-धर्मशाला' से सटे पश्चिम में है। यह धर्मशाला सन् १९४० ई० में बनकर तैयार हुई थी। यात्रियों के ठहरने लिए यह सुविधाजनक है।

### नालन्दा की खुदाई और उसमें प्राप्त सामग्री

नालन्दा की प्राचीनता और महत्ता के सम्बन्ध में इस पुस्तक में पहले बहुत-कुछ लिखा गया है<sup>१</sup>। 'ड्वेनसांग' का यात्रा-विवरण जब प्रकाशित हुआ और 'तारानाथ' का इतिहास प्रकाश में आया, तब आधुनिक अन्वेषण का कार्य भी 'जनरल कनिंघम' ने ही किया। उन्होंने सन् १८६२ ई० में ही पता लगाया कि ड्वेनसांग-द्वारा वर्णित नालन्दा, पटना जिले के 'घड़गाँव' के पास ही है, जिसकी चर्चा 'इंसोम' ने विक्रम-संवत् १५६५ में रचित अपनी 'पूर्वदेशचरित-परिपाटी' नामक पुस्तक में की है<sup>२</sup>। कनिंघम द्वारा तैयार किये गये 'नालन्दा-विवरण' के प्रकाशित होते ही चीन, जापान, स्पाम, सिंहल, बर्मा, तिब्बत आदि देशों के बौद्ध यात्रियों की भीड़ नालन्दा में उमड़ने लगी। फलस्वरूप नालन्दा के भी जीर्णोद्धार के लिए सन् १९१५ ई० में खुदाई का काम आरम्भ हुआ। यह काम 'रॉयल सोसाइटी ऑफ ग्रेटब्रिटेन एण्ड आयरलैंड' नामक संस्था की मदद से, भारतीय पुरातत्त्व-विभाग के डाइरेक्टर जनरल सर 'जॉन मार्शल' तथा 'स्पूनर' साहब की देख-रेख में शुरू हुआ था, जिसे बाद में 'भारतीय पुरातत्त्व-सर्वेक्षण-विभाग' ने अपने हाथ में ले लिया। इसने वैज्ञानिक पद्धति से खुदाई कराने के लिए डॉ० हीरानन्द शास्त्री को नालन्दा भेजा। आर्थिक कठिनाइयों के कारण खुदाई का काम सन् १९३०-३१ ई० तक धीरे-धीरे चलता रहा और बाद में तो बंद ही हो गया। इस समय तक जितनी भी खुदाई हो सकी और उस क्रम में जो भी पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री प्राप्त हुई, उससे बौद्धधर्म-सम्बन्धी बिहार-प्रदेश की बहुत-सी विशेषताएँ संसार के सामने आईं। खुदाई में प्राप्त हुई विविध सामग्रियों से भारतीय इतिहास तथा बिहार-प्रदेश की महत्ता पर अत्यन्त उद्दीप्त प्रकाश पड़ा और बौद्धधर्म-सम्बन्धी हमारी अभिज्ञा आगरित हुई।

नालन्दा के खँडहरी के उत्खनन-क्रम में ६ विहारों की खुदाई हुई थी। ये विहार दक्षिण से उत्तर की ओर निकलुल सीध में फैले हुए हैं। सभी एक ही प्रकार के समचतुरस्र हैं।

१. पृ० १२३, १२५, १२७, १२८, १२९ और २०० द्रष्टव्य।

२. नालन्दा पाठे बौद्ध चरमास सुखीये। ढोका लोक प्रसिद्ध ने बड़गाँव कहीजै ॥

बीदरम और विहार



नालन्दा के द्वार-स्तम्भ



गया से प्राप्त शिव-पार्वती-विवाह (पटना-संग्रहालय)



भगवान बुद्ध के जीवन की विभिन्न मुद्राओं के दृश्य (बोधगया)



इनके आँगन के चारों ओर के कौष्ठक और बरामदे खुले हैं। कौष्ठकों में भी खिड़कियों के कहीं नाम नहीं हैं। इन सभी विहारों में से केवल दो विहारों के नैऋत कोण में ढालुए रोशनवान मुँहे दिखाई पड़े, जो धूप और हवा के लिए बने होंगे। सभी की दीवारों की

महाविहारों के  
आँगन में

चौड़ाई एक-जैसी आठ फुट चौड़ी पाई गई है। प्रत्येक विहार के बाढ़ और दूसरे विहार के आरंभ होने के पहले, बीच में, पश्चिम से पूर्व की ओर जाते हुए गलियारे-जैसे पक्के मार्ग बने हुए हैं। विहारों की बनावट में

लगता है, जैसे कारीगरों ने एकरूपता रखने का प्रयास किया है, जिससे धार्मिक स्थापत्य की पवित्रता बनी रहे। नालन्दा के स्थापत्य में पानी बहानेवाली नालियाँ, दीवारों में बनी आल-मारियाँ और ताखे, स्नानागार, शयनासन, अन्नागार, देवमन्दिर, पूजागृह, चिकित्सालय आदि आज भी स्पष्ट दिख पड़ते हैं। इन सभी वस्तुओं के अवलोकन से आभास मिलता है कि तत्कालीन वास्तुकला उत्कृष्टता के शिखर पर पहुँच चुकी थी। नालन्दा के उत्खनन को सम्पन्न करानेवाले डॉ० हीरानन्द शास्त्री का कहना है कि इन विहारों के नीचे भी विहार के अवशेष हैं; क्योंकि खुदाई के समय नीचे की भित्तियों के परिच्छादन उन्हें मिले थे।

पहली संख्यावाला विहार सब से दक्षिण है। इसमें एक के ऊपर एक करके आठ विहारों के अवशेष हैं। पुरातत्ववेत्ताओं का खयाल है कि काल-क्रम से एक को ढँककर दूसरा, और दूसरे को ढँककर तीसरा—इस तरह क्रमशः आठों विहार बने हैं। पर, ये आठों तहवाले विहारों के अवशेष गुप्तकाल के ही हैं। गुप्तकाल के पहले का एक भी विहार प्राप्त नहीं है। किन्तु, ध्यानपूर्वक देखने से ऐसा अनुमान होता है कि यह अठमंजिला विहार एक समय में ही बना; क्योंकि दीवारों और ईंटों की बनावट में अन्तर नहीं है।

यह विहार गुप्तकाल का प्रमुख विहार माना गया है। इसमें भिक्षुओं के शयनासन के लिए कंकरीट के बने चबूतरों की मुटाई दीवारों के बराबर है। एक कोठरी में एक या दो शयनासन बने हैं, जिनकी बगल में ही आलमारीनुमा ताखे हैं। ये आलमारियाँ भिक्षुओं की पुस्तकों और मूर्तियों के रखने के काम में आती होंगी। गुप्तकालीन इसी मुख्य विहार में समुद्रगुप्त, धर्मपाल और देवपाल के ताम्रपट्ट मिले थे। इसी विहार में यशोदेव वर्मन का शिला-लेख भी मिला था, जिसकी चर्चा इस पुस्तक में पहले की गई है। देवपाल का ताम्रशासन उसके राज्यारोहण के ३८वें वर्ष में लिखा गया था, जो ५२१ ई० का है। इसमें इस बात का उल्लेख है कि देवपाल की सम्मति प्राप्त कर यवद्वीप के तात्कालिक राजा 'बलपुत्र-देव' ने नालन्दा में एक विहार बनवाया था, जिसकी आर्थिक व्यवस्था के लिए उसने देवपाल से मगध के पाँच गाँवों की आय उस विहार में, अग्रहार के रूप में, दिलवा दी थी। इसके साथ इसी विहार की खुदाई में भगवान् बुद्ध की एक ऐसी मूर्ति मिली, जिसकी ठीक प्रतिकृति की बुद्ध-मूर्ति यवद्वीप में भी मिली है। इन दोनों मूर्तियों की एकरूपता प्रमाणित करती है कि दोनों राजाओं की मैत्री प्रगाढ़ थी और इनके बीच सभी तरह का आदान-प्रदान चलता था।

बौद्धधर्म-सम्बन्धी विभिन्न वस्तुओं के साथ इस विहार में राजसिंहासन का एक पाया भी प्राप्त हुआ था, जो अष्टपाद का बना हुआ था। सिंहासन में जो चित्र उत्कीर्ण है, वह मगराज को दमन करते हुए मृगेन्द्र का है। सिंहासन के पास ही दो तूषीर और एक राजदंड भी प्राप्त हुए। शिरस्त्राण के टुकड़े भी वहीं बिखरे हुए मिले। साथ ही, अष्टपाद की यनी एक मूर्ति भी मिली थी, जिसके बाध-पैर टूटकर वहीं पड़े हुए थे। पुरातत्त्वज्ञों का कहना है कि वह मूर्ति उसी राजा की होगी, जिसने इस विहार को बनवाया होगा।

इसी मुख्य विहार के पूर्वोप भाग के बीचोबीच एक ऐसा कोष्ठक मिला, जो निश्चित रूप से पूजागृह होगा। भगवान् बुद्ध की सबसे बड़ी मूर्ति इसी कोष्ठक में स्थापित थी, जिसका केवल निचला अंश ही यहाँ खुदाई में मिला। जितना अंश प्राप्त हुआ, उससे ज्ञात होता है कि यह मूर्ति भूमिस्पर्श-मुद्रा में थी—जैसी तेलिया-भंडारवाली मूर्ति है। इसी पूजावाली कोष्ठक के ठीक सामने प्रवेश-द्वार का मरनावशेष भी प्राप्त हुआ था। द्वार की सौपान-पंक्तियाँ आग्नी मुह्य बनावट के कारण उत्तम दशा में मिली हैं। इसी हिस्से में देवालय का वह पूर्वोक्त ताम्र-शायन प्राप्त हुआ था। विहार के दक्षिण-पश्चिम कोण में एक 'त्रैलोक्य-विजय' की मूर्ति पाई गई, जो नवीं या दसवीं सदी की बनी है। मूर्ति परम रमणीय, पर खण्डित अवस्था में है। यह मूर्ति उमागणेश्वर को पददलित करती हुई खड़ी है। इसका सातवें केवल इतना ही है कि बौद्धों के देव शिव-पार्वती से भेष्ट हैं, जिनके पैरों के नीचे हिन्दू-देवता पड़े रहते हैं। त्रैलोक्यविजय की यह मूर्ति नालन्दा के संग्रहालय में आज भी सुरक्षित है, जिसकी संग्रहालय-संख्या २० है।

इसी विहार के आगमनवाले उत्तर भाग में दो ऐसे कोष्ठक हैं, जिन्हें लोग अन्न-भण्डार मानते हैं। कोष्ठक को मेहराबदार बनावट बड़ी लुभावनी और 'बराबर पहाड़ी' (गंगा) की गुफाओं की आकृतिवाली है। इसकी निचली छत कमानीदार है तथा ईंटों की मिलावट इतनी चिकनी है कि कारीगर के हाथों की सफाई देखते ही बन पड़ती है। इसके अतिरिक्त विहार के पूर्व-दक्षिण कोण के तथा पूजा-कोष्ठक के उत्तर भाग की दीवारों की ताखों में सारादेवी की कई मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं, जो खुदाई के समय भी अभी-अभी की बनाई मालूम हो रही थीं। पुरातत्त्वज्ञों ने मूर्तियों के दमकते ओप की सुरक्षा के खवाल से, उन्हें उसी तरह, और वहीं, ईंटों से चुनकर ढाँप दिया है। जब दर्शक इस बात को सुनते हैं, तब उन मूर्तियों के दर्शन के लिए उनकी उत्कण्ठा और तीव्र हो जाती है तथा उनकी बनावट के सम्बन्ध में नाना तरह की कल्पनाएँ मन में उठने लगती हैं।

इस मुख्य विहार के दक्षिण-पश्चिम कोण में एक दूसरे विहार का भी उद्घाटन किया गया है। डॉ० हीरानन्द शास्त्री ने इस विहार को औपच-निर्माणशाला माना है। क्योंकि, औपचों के तैयार करनेवाले ईंटों के बने बहुत-से बूँदें यहाँ प्राप्त हुए हैं। साथ ही एक बड़िया दशा में इनारा भी मिला है। इस विहार में भगवान् बुद्ध की सुषामयी छोटी-बड़ी अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इसमें धान भी मिले, जिनका उपयोग शायद औपच-निर्माण

में होता होगा। चूल्हों के पास से ही एक ऐसी बड़ी पक्की नाली चलती है, जो दक्षिण-पश्चिम कोण से होते हुए स्तूपवाले आँगन के दक्षिणी भाग से गुजरती है। यह औपधशाला होने की बात को पुष्ट करती है। इसके अतिरिक्त एक बात और है, जो इस विहार को औपधशाला प्रमाणित करने में सहायक होती है। वह यह है कि इस विहार से थोड़ी दूर पर ही, स्तूपवाले हिस्से में, एक ऊँचे चबूतरे पर छोटे मंदिर में, विख्यात तांत्रिक और भिषगाचार्य 'नागार्जुन' की मूर्ति मिली थी। अनुमान किया जा सकता है कि औपधशाला के निर्माता और प्राचार्यों ने, अपने विहार के समीप, भिषगाचार्य नागार्जुन की मूर्ति स्थापित की होगी। किन्तु, उपर्युक्त विचार से मेरा मत कुछ भिन्न है। मेरे विचार से यह विहार धातुओं के गलाने तथा ढालने का कारखाना था; जहाँ मूर्तियाँ ढलती थीं। साथ ही, नागार्जुन के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वे सोना बनाने का काम जानते थे। इसलिए कारीगरों ने अपने आचार्य नागार्जुन की मूर्ति बगल में स्थापित की होगी।

प्रथम संख्यावाले मुख्य विहार से जब हम उत्तर की ओर बढ़ते हैं; तब देखते हैं कि विहारों की पाँतियाँ सीध में खड़ी हैं। जिस विहार के आगे सरकार की ओर से संख्या ४ की पट्टिका लगी है, उसका निचला भाग पाँचवीं सदी में गुप्तवंश के कुमारगुप्त ने बनवाया था। इसी हिस्से में कुमारगुप्त का सिक्का मिला था। इस विहार का ऊपरी तल्ला पालराजा देवपाल का बनवाया हुआ है, जो ८१० (८१५) ई० से ८५१ (८५४) ई० के मध्य में शासन करता था।

संख्या ५ वाला विहार, जिसे लोग 'पत्थरकट्टी' कहते हैं, संख्या ४ से थोड़ा ईशान कोण लिये की पूर्व ओर है। इसके पास तक जाने के लिए संख्या ४ की उत्तर बगल से एक स्वच्छ और बढ़िया पक्का कुट्टिम बना हुआ है। वह 'पत्थरकट्टी' किसी बड़े और ऊँचे मन्दिर का भग्नावशेष बात होता है, जिसका निचला तल अथवा कटिभाग का बसत अंश आज भी पड़ता है। इसके प्रस्तर-आलेख-चित्र गुप्तकाल के बने हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह वही मंदिर है, जिसे बालादित्य ने बनवाया था। इस मन्दिर के मध्य में मगवान् बुद्ध की एक बड़ी प्रतिमा स्थापित थी। नालन्दा के प्रायः सभी विहार पश्चिमाभिमुख हैं; पर इस मंदिर का प्रवेशद्वार पूर्वाभिमुख था। प्रवेशद्वार की छोटी-छोटी सीढ़ियों का ध्वंस आज भी है। मंदिर के चारों ओर उपाटम्भ भाग में पत्थर की पट्टियों पर नाना ढंग के चित्र उत्कीर्ण हैं। इनमें कुछ आलेख-चित्र 'जातक कहानियों' के आधार पर और कुछ संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर काहे गये हैं। ऐसी आलेखपूर्ण पट्टियों की संख्या लगभग २१० हैं। इन पट्टियों के बीच-बीच में चतुष्कोण स्तम्भों पर पल्लवपुष्प कुंभ की आकृति खचित है। पल्लवों के साण्ड प्रायः त्रिदल और नुकीले हैं। पट्टियों में कई तो विलकुल नष्ट हो गई हैं और कुछ नष्ट हो रही हैं। कुछ ऐसी हैं, जो चित्ताह्लादक और आश्चर्य में डालनेवाली हैं। इसी की आकृतियाँ कलापूर्ण हैं, जिनकी बीच में मोतियों के गुच्छे भूल रहे हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अपरिचित और विविध पक्षियों के चित्र उत्कीर्ण हैं। कुछ आलेख मिथुन-रूप में पुरुष और नारी के हैं, जो शृंगार-रसभरित अपने अंग-विन्यासों के कारण अत्यंत



मनोमोहक हैं। ऐसे भी मिथुन-चित्र हैं, जो शिव-पार्वती के चित्र-जैसे लगते हैं। दक्षिण की अररियों में किलर-किलरियों के चित्र भावविभोर करनेवाले हैं। इस ओर गजलक्ष्मी, कुबेर और अग्नि-देवता के चित्र भी दीख पड़ते हैं। मृदंग बजाते हुए नर्तक और रत्न सुद्रा-युक्त नर्तकी के चित्र तो दर्शकों के मन-प्राण पर एकाएक छा जाते हैं। उत्तर की अररियों में से एक पट्टि पर 'कण्ठप-जातक' की उस कहानी का चित्र खचित है, जिसमें कछुआ और दो हंसों की कहानी है। दो हंस अपने तंतुओं में लकड़ी पकड़े उड़ रहे हैं और कछुआ मुँह से लकड़ी को धामे हुए है। यह कहानी 'पंचतंत्र' में भी मिलती है। पूर्वोप भाग के उत्तर की ओर गुप्तकाल की बाहरी लिपि में एक लेख भी वर्तमान है।

उपसुक्त मंदिर के चित्रों को देखने से ज्ञात होता है कि हूँनसांग ने नालन्दा की दीवारों पर के जिन चित्रों की चर्चा की है, वह शायद इसी 'पत्थरकट्टी' वाले भाग का संस्मरण है। नालन्दा में जब वह आया था, तब वह बालादित्य के इसी विहार में ठहरा हुआ था। इस मंदिर का उत्खनन अभी बाकी है। इसके ऊपरी सतह देखने से ज्ञात होता है कि जब इस मन्दिर का उद्घाटन किया जायगा, तब अनेक कलापूर्ण सामग्री प्राप्त हो सकेगी, जो नालन्दा के इतिहास में चार चाँद लगा देगी।

संख्या ६ वाले विहार की बनावट भी संख्या ४ वाले महाविहार के सदृश ही सम-चतुरस्र है। इसमें भी चूल्हों की पंक्तियाँ हैं। इसके साथ इसमें एक आठ पहलवाला पक्का इनारा भी है। इसकी बनावट से ज्ञात होता है कि आठ व्यक्ति एक साथ इस इनारे से पानी निकालते होंगे और जिस बरतन से पानी निकाला जाता होगा, उसका घर्षण इनारे की दीवार से नहीं होता होगा। चूल्हा या तो भोजन तैयार करने या वैज्ञानिक प्रयोग करने के काम में आता होगा। संख्या ७ वाले विहार की खुदाई से ज्ञात हुआ है कि एक के नष्ट होने पर दूसरा और दूसरे के नष्ट होने पर तीसरा तथा इस तरह एक-पर-एक करके तीन विहार बने हैं। इस विहार का पूजागृह दर्शनीय है और मध्य आँगन में ही चूल्हा बना है। संख्या आठ का विहार भी उसी आकार-प्रकार में है। इसमें भी आठ पहलवाला इनारा है। इसके पूजागृह तथा दक्षिण-पश्चिम के कोष्ठक की बनावट आकर्षक है। सभी विहारों की तरह इसमें भी पूर्व की ओर सभा-मंच है, जहाँ बैठकर विद्वान् मित्र भाषण करते थे तथा उनके बीच शास्त्रार्थ होता था। इन्हीं सभामंचों में किसी एक पर 'चन्द्रगोमिन' और 'चन्द्रकीर्ति' का वह प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ होगा।

इस विहार से भी उत्तर संख्या ९ वाला विहार है। इसमें छह चूल्हे, अठगहला इनारा, मूर्तियाँ आदि मिले हैं। इस जगह की नाली बिलकुल ढालु और बड़ी है। ज्ञात होता है कि यहाँ पानी का खर्च बहुत ब्यादा था। इस विहार के पूर्व भाग के गलियारे में स्नानागार मिला है, जो विशिष्ट व्यक्तियों के स्नान के लिए बना होगा। इसमें सीढ़ियों के पास कोने पर रोशनदान भी दीख पड़ता है। इसी विहार में धातु की ढली बहुत-सी मूर्तियाँ

प्राप्त हुई थी, जो प्रायः दसवीं सदी की बनी हुई है। इस काल में नालन्दा नगर पर पालराजा राज्यपाल, गोपाल द्वितीय, विग्रहपाल द्वितीय और महीपाल का शासन था।

उपयुक्त विहारों के आग्ने-सामने, पश्चिम भाग में, दक्षिण से उत्तर की ओर चैत्य स्तूपों की कतार भी दर्शनीय है। देखने से ऐसा लगता है कि जैसे प्रत्येक विहार के निर्माता के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने विहार के सामने एक स्तूप या चैत्य बनावे।

**स्तूप या चैत्य** इन चैत्यों के भस्मावशेष पर मिट्टी की बनी बुद्ध की ध्यान-मुद्रावाली मूर्ति रहती थी, जिनका श्वंस आज भी दीख पड़ता है। ये स्तूप या चैत्य प्रसिद्ध भिक्षुओं के शरीरावशेष को ढँकने के लिए अथवा भ्रष्टियों के प्रवचन-स्थान के स्मारक के रूप में बनते थे। स्तूपों की रचना अर्धगोलाकार होती थी और शिखर पर एक या कई छत्र-जैसा होता था। इसके चारों ओर वेष्टन-वेदिका होती थी। बड़े स्तूप के चारों ओर छोटे-छोटे स्तूप खड़े किये जाते थे, जो बौद्ध भक्तों के द्वारा बनवाये होते थे।

उपयुक्त स्तूपों में अभी केवल सबसे दक्षिणवाले स्तूप का ही उद्घाटन हो सका है। पुरातत्त्वज्ञों का अनुमान है कि यह स्तूप उस स्थान पर बना है, जहाँ बैठकर भगवान् बुद्ध ने नालन्दा में प्रवचन किया था; क्योंकि उद्घाटन के समय स्तूप के अन्दर से किसी प्रकार का शरीरावशेष नहीं प्राप्त हुआ। उत्खनन से पता चला कि इस स्तूप का परिच्छादन एक-पर-एक करके चार या पाँच बार हुआ है। इसमें विभिन्न काल का बना सोपान प्राप्त हुआ है, जो स्तूप के शिखर तक चला जाता है। आगिन में चारों ओर चैत्यों का जमघट लगा है। इस स्तूप के अग्निकोण में एक चबूतरों के ऊपर छोटे मन्दिर में, महावान-धर्म के प्रवक्तृ और प्रसिद्ध तांत्रिक 'नागार्जुन' की एक बड़ी पाषाण-मूर्ति मिली थी, जो थोड़ा खरिद्धत है। यह मूर्ति हर्षवर्द्धन के समय सातवीं सदी की बनी है। मूर्ति लीलासन में बैठी है। इसके मस्तक की सात फणियोंवाला सर्पराज आच्छादित किये हुए है। मूर्ति में एक छोटा-सा लेख भी खुदा है। यह मूर्ति अब नालन्दा-संग्रहालय में स्थित है, जिसकी संख्या ४ है।

स्तूप की पूर्वी-उत्तरी दिशा की दीवार में बलुआही पत्थर की बहुत-सी मूर्तियाँ स्थित हैं, जो अब नष्ट हो रही हैं और बहुत-सी नष्ट हो गई हैं। स्तूप के दक्षिण-पश्चिम कोण में बहुत-सी बुद्ध-मूर्तियाँ मिली थी, जो अब संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही हैं। ये मूर्तियाँ अन्तिम गुप्तकाल की बनी हुई हैं। इसी स्तूप के पश्चिम ओर के छोटे-छोटे स्तूपों से चौकोर ईंटें निकाली गई थी, जो गुप्तकालीन हैं। इन ईंटों पर बौद्धधर्म का प्रसिद्ध सूत्र 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का उल्लेख है। इसकी टीका संस्कृत-भाषा में है, जो गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में है। इससे पहले संस्कृत-भाषा में प्रतीत्यसमुत्पाद की टीका कहाँ नहीं मिली है। इस सूत्र में बुद्धत्व-प्राप्ति की चर्चा भी की गई है। इस स्तूप की तरह यदि अन्य स्तूपों की भी खुदाई हो, तो अनेक अमूल्य सामग्री प्राप्त हो सकती है। १३ सं० वाले स्तूप के ईशान कोण में स्वस्तिक आकार का बना एक अठमूँहा चूल्हा दर्शनीय है। १४ संख्यावाला स्तूप 'तेलिया-भंडार' के बायव्य कोण में है। इसकी स्थापत्य-कला अत्यन्त रमणीय है, जो इसके उत्तर की दीवार में देखी जा सकती है।

उत्खनन से प्राप्त होनेवाली कुछ मूर्तियों की चर्चा करने के पहले उन मूर्तियों की चर्चा आवश्यक है, जो जमीन पर पड़ी हैं। इन्हीं मूर्तियों में तेलिया-भंडार वाली बुद्ध-मूर्ति भी है। यह उत्तर दिशा के अन्तिम बिहार से पश्चिम और स्तूप-संख्या १३ से पूरव स्थित है। यह मूर्ति एक प्राकार के मण्डप में भूमिस्पर्श-मुद्रा में है। यह मूर्तियाँ

मुद्रा (आसन) वही है, जिसे 'उरुवेला' के पीपल-वृक्ष के नीचे, ज्ञान प्राप्त करने का संकल्प करके, सिद्धार्थ गौतम ने जमाया था। उन्होंने कमलासन में बैठकर भूमि को स्पर्श करते हुए दृढ़ संकल्प किया था कि 'हे पृथ्वी, यदि मैं पापी न होऊँ, तो आज बुद्धत्व प्राप्त कर लूँ।' इस दृढ़ संकल्प के कारण इस आसन को 'वज्रासन' भी कहा जाता है। मूर्ति के मुखभाग के किंचित् अंश टूट जाने से आकृति कुछ विकृत हो गई है; पर और अंग सुरक्षित हैं। वहाँ वाले इस मूर्ति को 'तेलिया भैरव' कहते हैं, जिससे इस स्थान का नाम ही तेलिया-भंडार पड़ गया है। मूर्ति काले पत्थर की है, जो तेलिया-पत्थर भी कहलाता है। जब भगवान् बुद्ध 'भैरव' बन गये, तब लोगों ने तेलिया-पत्थर के कारण इसकी थोड़ी और पद-वृद्धि कर दी तथा यह बुद्ध-मूर्ति 'तेलिया भैरव बाबा' बन गई। जिन लोगों के बच्चे जब दुबले हो जाते हैं, तब वे अपने बच्चों को उस विशाल मूर्ति के पास लाते हैं और उनसे पूजा कराते हैं। वे इस मूर्ति से इस बात की माँग करते हैं कि 'हे भैरव बाबा, मेरे बच्चे को अपने सदृश मोटा-ताजा बना दो।' वहाँ के लोगों का पूर्ण विश्वास है कि यह मूर्ति अवश्य मनस्कामना पूरी करती है। मुझसे भी लोगों ने इसकी ऐसी महिमा का बखान किया था।

नालन्दा-संग्रहालय में धर्मचक्र-मुद्रा में भगवान् बुद्ध की जो बड़ी प्रतिमा स्थित है और जिसकी संख्या १२ है, वह मूर्ति तेलिया-भंडार से थोड़ी दूर पर ही स्थित थी। यह सन् १६५६ ई० में संग्रहालय में ले जाई गई है। यह विशालकाय मूर्ति ११वीं या १२वीं सदी की बनी है। मूर्ति के पार्श्वरक्षक के रूप में, दोनों ओर, अवलोकितेश्वर और मैत्रेय की मूर्तियाँ अंकित हैं। ऊपर में उड़ते हुए सारिपुत्र और महामौद्गल्यान दिखाये गये हैं। इन चारों के नाम भी मूर्ति पर खुदे हैं। राजगृह की गलियों में धूमते हुए सारिपुत्र को बुद्ध के शिष्य 'अश्वजित्' ने पालि-भाषा का जो श्लोक सुनाया था, वह अनुष्टुप् भी इस मूर्ति पर अंकित है।

यह मूर्ति जब तेलिया-भंडार के पास मैदान में पड़ी हुई थी, तब पता नहीं, कितने सौ वर्षों से इसकी घोर दुर्दशा हो रही थी। इसे लोग 'तेलुवा बाबा' कहते थे। इस मूर्ति के पास से गुजरनेवाला प्रायः हर व्यक्ति इसे मिट्टी के ढेलों से पीटता था। किंवदन्ती थी कि ढेलों से पीटनेवाले का दुःख यह दूर करता है। यह तेलुवा बाबा भगवान् के पास जाकर उनसे कहता है कि शीघ्र ही ढेलों से मारनेवाले का दुःख आप दूर कर दें, नहीं तो मुझे वह और मारेगा। फिर भी बेचारी मूर्ति को कभी राहत नहीं मिली, निरन्तर ढेलों की वर्षा

१. वे धम्मा वेत्तुपमवा तेसं वेत्तुं तथागतं आह।

तेसं च यो निरोधी एवं वादी महासमथो ॥



यह बरदाश्त करती ही रही। किन्तु, सन् १८५६ ई० के बाद इसके भी दिन फिर और संग्रहालय में जाकर अब पाँचों देवता ( बुद्ध-सहित सारिपुत्र, मीदुगल्पायन, अवलोकितेश्वर, और मैत्रेय ) जैन की वंशी बना रहे हैं।

तेलियान्गडार से कुछ दूर ईशानकोणवाले खेतों में एक और विशाल मूर्ति पड़ी है, जो बौद्धदेवी मारीची की मूर्ति है। यह आलीढ-मुद्रा में खड़ी है। मूर्ति परम रमणीय है, पर इसके भी हाथ टूटे हैं। लोग इस मारीची को भी हिन्दू-देवी के रूप में पूजते हैं।

उत्खनन से प्राप्त होनेवाली मूर्तियों की चर्चा के बिना नालन्दा का परिचय अधूरा-सा रहेगा। नालन्दा-संग्रहालय में स्थित मूर्तियों में बौद्धदेवी अपराजिता की एक मूर्ति है, जो नवीं या दसवीं सदी की बनी है। इसकी संख्या २५ है। यह मूर्ति विघ्ननाशक गजवदन गणेश के शरीर को पददलित करती हुई खड़ी दिखाई गई है। संग्रहालय-संख्या ३७ वाली मूर्ति रेवन्त की है। यह भी नवीं-दसवीं सदी की ही है। यह अश्वारूढ है। संख्या ४५ वाली मूर्ति हिन्दू-देवता सूर्य भगवान् की है। यह उत्तम कोटि की कलापूर्ण मूर्ति है। सूर्य अपने सात घोड़ेवाले रथ पर आरूढ है और साथ में पार्श्वरक्षक भी विद्यमान हैं। इसके बाद मनोमोहक मूर्तियों में बौद्धदेवी मारीची की मूर्ति है, जो अपने पिचुवारूप में है। यह भी नवीं या दसवीं सदी की ही है और इसकी संख्या २७ है। मूर्ति अष्टभुज है। यह अपने सभी हाथों में विभिन्न शस्त्र धारण किये हुई है। यों तो यहाँ की अधिकांश मूर्तियाँ वज्रयान-काल की ही हैं, पर संग्रहालय की वज्रपाणि वाली मूर्ति वज्रयान-सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करती है। इसका भी निर्माण-काल वही है और संख्या २८ है। वज्रपाणि मुद्रा साधनेवाली चार नारियों से घिरे हुए हैं, जो सूचित करती हैं कि वज्रसाधक महामुद्राओं में चतुर्दिक् निमग्न होकर ही सिद्धि लाभ कर सकता है। चारों नारियों में से दो ऊपर और दो नीचे दिखाई गई हैं। एक और वज्रपाणि की मूर्ति आकर्षक है, जो त्रिमुख है। इसमें वज्र के साथ दो महामुद्रा साधनेवाली नारियों के चित्र भी उत्कीर्ण हैं। इसकी संख्या १५ है और यह भी वज्रयानियों का ही प्रतिनिधित्व करती है। भगवान् बुद्ध की एक और मूर्ति दर्शनीय है, जिसके चारों ओर पाँच पद्म-पुष्पों पर पाँच देवता आरूढ दिखाये गये हैं और बीच में बुद्ध। इसके परिचय में लिखा हुआ है—*श्रावस्ती का चमरकार*। इसकी संख्या १४ है और यह भी नवीं-दसवीं सदी की ही है। एक मूर्ति प्रत्यालीढ-आसन में *यमान्तक* की है। यह अद्भुत और आकर्षक मूर्ति नाथे हुए भैसे पर प्रत्यालीढ-आसन में बैठी है। इसका निर्माण भी नवीं या दसवीं सदी में ही हुआ है और इसकी संख्या १३ है। इसके मुख पाँच और भुजाएँ छह हैं। मूर्ति के मस्तक को अपने फण से महामर्प आच्छादित किये हुए है। मूर्ति सचमुच अद्भुत और भयानक भी है।

इस संग्रहालय में एक पाषाण-निर्मित मंदिर की ठोस मूर्ति स्थित है, जो बोधगया-मन्दिर की आकृति की है। इसकी संख्या १६ है, और यह मन्दिर भी नवीं या दसवीं सदी का ही है। मन्दिर के ऊपर सर्वत्र भगवान् बुद्ध की जीवनी के आधार पर चित्र उत्कीर्ण हैं।

ग्यारहवीं या बारहवीं सदी की अपनी अद्भुत कलापूर्ण बनावट के कारण उमा-महेश्वर की मूर्ति बड़ी ही लुभावनी है। मूर्ति की बगल में जहाँ बसहा बैल की मूर्ति दर्शनीय है, वहीं एक ओर कीर्तिमुख की छवि भी आकर्षक है। इस मूर्ति में वास्तव्य और शृंगार का सामंजस्य अपूर्व है। इस संग्रहालय में आकर्षक मूर्तियों में एक दैत्याकार नट की मूर्ति भी अपनी अलग विशेषता रखती है। वह भी नवीं या दसवीं सदी की ही है। नट के एक हाथ में ढाल है और इसकी पैररेवाज मुद्रा दर्शकों के मन में हास्य और आश्चर्य का पुट एक साथ भर देती है।

नवीं या दसवीं सदी की बनी एक सूकर-मूर्ति भी इस संग्रहालय में दर्शकों को अपनी ओर बरबस आकृष्ट कर लेती है। संग्रहालय-संख्या ६ वाली मूर्ति बोधिसत्व समन्तमद्र की है। यह मूर्ति प्रधान स्तूप के उत्खनन में आगन के ईशान कोण में मिली थी। यह सातवीं या आठवीं सदी की बनी है। समन्तमद्र की इस मूर्ति में अगल-बगल शक्तियों (नारियों) के चित्र भी उत्कीर्ण हैं। इसके मस्तक पर वैरोचन की मूर्ति है और पृष्ठ पर भ्यानी बुद्ध खचित हैं। संख्या ७ वाली मूर्ति १२वीं सदी की है, जब वज्रयान-सम्प्रदाय में नाना देव-देवियों ने अद्भुत जमा लिया था। यह मूर्ति स्वर्णेश्वर अवलोकितेश्वर की है। इस मूर्ति की बाईं ओर हयग्रीव और भृकुटी देवी हैं और दाईं ओर तारा देवी एवं सुधनकुमार की मूर्ति उत्कीर्ण है। इसके प्रमाण्डल पर पाँच भ्यानी बुद्ध विराजमान हैं। इस मूर्ति के शरीर में विविध आलेखनों से पूर्ण आभूषणों की छटा दर्शनीय है। एक पाषाण-मूर्ति कलशधारिणी नागिन की है। यह भी उत्खनन में ही प्राप्त हुई थी। यह भी नवीं या दसवीं सदी की ही होगी। इसकी संग्रह-संख्या ७७ है। इसकी बनावट ही ऐसी है, जिससे ज्ञात होता है कि प्रासाद-कक्ष की बल्लभियों में से किसी एक का यह टूटा अंश है। आकर्षक मूर्तियों में वसुधारा की मूर्ति भी अपना जोड़ नहीं रखती है। यह अर्द्धपर्वक-आसन में मयूर पर आकृष्ट है। मयूर बाईं ओर दिखाया गया है। इसकी संख्या ५१ है और यह मूर्ति भी नवीं या दसवीं सदी की ही है।

उपयुक्त पाषाणमयी सभी मूर्तियाँ नालन्दा-विहार की खुदाई के समय प्राप्त हुई थीं। किन्तु इनके अतिरिक्त बहुत-सी कसि की मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनमें से कुछ नालन्दा के संग्रहालय में हैं। अन्य सामग्री के साथ कुछ कसि की मूर्तियाँ भी कलकत्ता और पटना के संग्रहालय में चली गई हैं। नालन्दा के संग्रहालय की कसि की मूर्तियों में कुछ आकर्षक मूर्तियों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट किया जाता है।

संग्रह-संख्या ५४ वाली मूर्ति प्रज्ञापारमिता की है। वज्रयान की इस देवी-मूर्ति की द्वादश भुजाएँ बड़ी ही आकर्षक हैं। यह भी नवीं या दसवीं सदी की ही है। इसकी पीठ पर बुद्धतंत्र खुदा है। कसि की ही एक और मूर्ति लुभावनी है, जो वज्रशारदा की है। इसकी संग्रह-संख्या ५ है और यह आठवीं सदी की है। मूर्ति भद्रासन में बैठी है और चार पुरुषों से घिरी है। इसकी भुजाओं में केयूर, कमर में करघनी और वस्त्रस्थल



नालन्दा में प्राप्त अपराजिता, ( पटना-संग्रहालय )  
( पृ० २६१ )



पिबुवा रूप में—मारीचि, नालन्दा ( पृ० २६१ )





परमेश्वरी की कांस्पृष्टि  
( नालन्दा )

त्रैलोक्य-विजय, नालन्दा



पर मणिमाला दर्शनीय है। अष्टधातु का बना एक कलापूर्ण हाथ दर्शकों को अपनी भंगिमापूर्ण सज्जों से अपनी ओर बुलाता हुआ दिखाई पड़ता है। थोड़ी देर के लिए यह आँखों की टकटकी अपनी ओर बाँध देता है। यह दसवीं सदी का है। संख्या १७० वाली मूर्ति सरस्वती की है। यह कसि की बनी है और नवीं या दसवीं सदी की है। मूर्ति की भंगिमा आकर्षक है। यह रत्नकी वीणा के साथ स्थित है। कसि की ही गंगा की छोटी-सी मूर्ति अत्यन्त लुभावनी है। इसकी संख्या २८ है और यह भी नवीं या दसवीं सदी की है। गंगा मकर पर आरुढ़ है और भंगिमा चित्ताह्लादक है। वीणावादी किन्नर की मूर्ति की संख्या ३६ है। यह भी कसि की ही है। आकार में यह भी छोटी और रमणीय है। इसकी भंगिमा बड़ी ही रोचक और कलापूर्ण है। इन्द्रशाल गुफा के द्वार पर जिस पंचशिख गन्धर्व-पुत्र ने भगवान् बुद्ध की वीणावादन सुनाया था, ज्ञात होता है, उसी की मूर्ति किसी बुद्ध-भक्त ने बनवाई होगी।

बौद्धों के देव जंमल की एक मूर्ति भी ललितासन में बैठी है। जंमल हिन्दुओं के महावीर के सदृश बौद्धों का देव है। इस मूर्ति की पीठ पर बुद्ध-तंत्र के साथ दानी का नाम भी खुदा है। इसकी संख्या ११५ है और यह भी नवीं या दसवीं सदी की ही है। संग्रह-संख्या १६६ वाली मूर्ति भी नवीं या दसवीं सदी की ही है। यह हशोदरी चामुंडा है। इसका मुँह खण्डित हो गया है; किन्तु आठ भुजाएँ दर्शनीय हैं। मूर्ति शिव को पददलित कर रही है। यद्यपि यह मुखहीन मूर्ति है; तथापि अपने शेष अंगों के भाव-विन्यासों और अपनी कलापूर्ण भंगिमाओं से दर्शकों की आँखों को रसाप्लावित कर देती है। इसके लुप्त मुखमंडल की शोभा देखने के लिए मन विकल हो उठता है। इस संग्रहालय में सबसे छोटी नन्हों-सी कसि की बनी मूर्ति बौद्धदेवी मारीची की है। यह भी नवीं या दसवीं सदी की ही है और इसकी संख्या १६२ है। इस मूर्ति के रचनेवाले कलाकार के हाथों की शिल्पकारिता सचमुच श्लाघ्य है। यह अष्टभुजी है और कमलासन में बैठी हुई है। इसके अतिरिक्त संख्या ६७ वाला तु दिला जंमल भी दर्शनीय है। यह अर्द्धपर्यङ्कासन में स्थित है। इन समस्त मूर्तियों के अतिरिक्त भी भगवान् बुद्ध आदि की बहुत-सी दर्शनीय मूर्तियाँ हैं, जो नालन्दा के अतीत गौरव की हमें याद दिलाती हैं। इस तरह न जाने अभी गौरव का कितना भारी भाँडार नालन्दा के गर्भ में छिपा हुआ है।

उपयुक्त सामग्री और मूर्तियों के अतिरिक्त जो बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री खुदाई के समय नालन्दा के खँडहरों से हमें प्राप्त हुई है, वे हैं—मिट्टी की मुद्राएँ। हमारे इतिहास में इनका बहुत बड़ा महत्त्व है। इनकी चर्चा के बिना तो मृत्तिका-मुद्राएँ नालन्दा की खुदाई का परिचय अपूर्ण ही रह जायगा। ये मिट्टी की मुद्राएँ विविध प्रकार की हैं। नालन्दा-विश्वविद्यालय की धर्मचक्र-प्रवर्तनवाली मुद्रा तो हजारों की संख्या में मिली है। किन्तु आश्चर्य यह है कि इनका साँचा नहीं प्राप्त हुआ है। कई मुद्राएँ तो महाराजाओं की हैं और कई बड़े-बड़े राज्या-

धिकारियों की ओर से भेजी गई हैं। कुछ जानपद संस्थाओं की ओर से आये हैं, जो सातवीं सदी के अक्षरों में अंकित हैं। जान पड़ता है, म्युनिसिपल बोर्ड की तरह जगह-जगह जानपद संस्थाएँ सातवीं सदी में भी कायम थीं। कई तो महान् विद्वानों की ओर से भेजी गई हैं। महाराजाओं की मुद्राओं में गुप्तों, मौखरियों, हर्षवर्द्धन, प्राल्लोतिष के राजा भार्गवर्मा तथा अन्यान्य अधिपतियों की हैं। गुप्त-नरेशों की मुद्राएँ गुप्तों की वंशावली पर पूर्ण प्रकाश डालती हैं। मौखरिनरेश शर्षवर्मा की मुद्रा अपनी कलाकारिता के कारण दर्शनीय है। गुप्त-राजाओं के सिक्कों के सदृश कुछ मुद्राओं पर छन्दों या वृत्तों का उल्लेख है। ये मृत्तिका-मुद्राएँ पत्रों के साथ रस्सी या तागे में बाँधकर प्रामाणिकता के लिए नालन्दा-विश्वविद्यालय में भेजी जाती थीं। कई मुद्राओं की तोड़ने पर पाया गया कि उनके भीतर बुद्ध के धर्म का सारश्लोक टंकित है। इससे ज्ञात होता है कि ये मुद्राएँ तीर्थस्थानों में चढ़ावे के तौर पर भी चढ़ती थीं। कुछ मुद्राएँ स्तूपकार हैं, जिन पर भैरव और अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ अंकित हैं। नालन्दा-विश्वविद्यालय की धर्मचक्र-प्रवर्तनवाली मुद्राओं पर धर्मचक्र के दोनों ओर दो शान्त मृग उलकीर्ण हैं। यह प्रतीक नालन्दा-महाविहार का था, जो शान्त-प्रचार और शान्ति की सूचना देता था। इससे यह समझा गया है कि जिस तरह सारनाथ में भगवान् बुद्ध ने धर्म-प्रचार का चक्र चलाया था, उसी तरह नालन्दा-विश्वविद्यालय बौद्धधर्म-प्रचार का चक्र चला रहा है। नालन्दा के खड्गहरो से प्राप्त और नालन्दा-संग्रहालय में सुरक्षित कुछ मुद्राओं का परिचय निम्नलिखित है—

महाराजाओं की मुद्राओं में सबसे प्राचीन कुमारगुप्त (तृतीय) की मुद्रा है, जो पाँचवीं सदी की है और जिसकी संख्या २७\*१७४६ है। इसके बाद नरसिंहगुप्त बालादित्य की राजकीय मुद्रा है, जो ५वीं सदी की है और जिसकी संख्या २७\*१७३६ है। फिर पाँचवीं सदी की ही बुधगुप्त की राजकीय मुद्रा है, जिसकी संख्या २७\*१७४७ है। छठी सदी की ही विष्णुगुप्तवाली मृत्तिका-मुद्रा की संख्या २७\*१७८७ है। छठी सदी की वैज्यगुप्त की भी राजकीय मुद्रा है और इसकी संख्या २७\*१७८८ है।

सम्राट् हर्षवर्द्धन की राजकीय मुद्रा सबसे बड़ी है। बाणभट्ट ने हर्षचरित के सातवें उच्छ्वास में ऐसी ही मुद्रा का वर्णन करते हुए लिखा है कि हर्ष जब बुद्ध-प्रयाण के लिए निकल रहा था, तब ग्रामाक्षपटलिक ने शासन-दान के निमित्त उसके हाथ में राजकीय मुद्रा दी। वह मुद्रा हर्ष के हाथ से सामने रखी गीली मिट्टी के पियूज पर अपने-आप गिर गई और सरस्वती नदी के किनारे की मुलायम मिट्टी पर उसके अक्षर स्पष्ट उभर आये, जिसे राज्याधिकारियों ने अमंगल समझा था। इससे प्रमाणित होता है कि नालन्दा की मृत्तिका-मुद्रा भी उसी तरह मुद्रांकित है, जिसे बुद्ध-प्रयाण के समय शासन-दान में हर्ष अंकित करना चाहता था। यह सातवीं सदी की मुद्रा है और इसकी संख्या २७\*२०२१ है। सातवीं सदी की ही गया जिले के निवासी शर्ववर्मन् मौखरिनरेश की भी कलापूर्ण मुद्रा इस



संग्रहालय में है, जिसकी संख्या २७११७७६ है। सातवीं सदी की ही मृत्तिका-मुद्रा कामरूपाधिपति भास्करवर्मा की भी है। भास्करवर्मा हर्षवर्द्धन का परम प्रिय मित्र था, और जिसने नालन्दा से ह्वेनसांग को दवाव डालकर अपने यहाँ बुलाया और सम्मानित किया था। बहुत संभव है कि यह वही मुद्रा हो, जिसे भास्करवर्मा ने ह्वेनसांग को नालन्दा से बुला लाने के लिए अपने पत्र में बाँधकर भेजा था। इस मुद्रा की संख्या २७११८४० है।

नालन्दा-विश्वविद्यालय की मृत्तिका-मुद्रा के ऊपर में धर्मचक्र का चिह्न बना है और चक्र के दोनों ओर दो शान्त मृग बैठे दिखाये गये हैं। मुद्रा में नीचे लिखा है—**श्रीनालन्दा-महाविहारीय आर्यभिक्षुसंघस्य**।

जानपद या ग्राम तथा अधिकारियों की मुद्राओं को देखने से अनेक बातों का स्पष्टीकरण हो जाता है। जैसे एक मुद्रा में लिखा है—**जक्कुटका जानपदस्य**। दूसरे में है—**दण्डग्रामीय जानपदस्य**। तीसरे में—**अलोकपृष्ठ ग्राम जानपदस्य**। चौथे में है—**कालाग्रामकाय जानपदस्य**। इसी तरह पाँचवें में है—**चण्डकेय ग्राम जानपदस्य**। इनमें जक्कुटका, दण्डग्राम, अलोकपृष्ठग्राम, कालाग्राम और चण्डकेय ग्रामों का अन्वेषण होना चाहिए।

कुछ आधिकारिक मुद्राएँ भी अपनी स्थिति के अन्वेषण के लिए पुरातत्व-प्रेमियों की वाट जोहती हैं। जैसे एक पर अंकित है—**गयाविषय अधिकारणस्य**। दूसरे पर है—**नगरमुक्ती कुमारामात्य अधिकारणस्य**। तीसरे पर है—**मगधमुक्ती कुमारामात्य अधिकारणस्य**। चौथे पर उल्लिखित है—**राजगृह विषयाधिकारणस्य**। पाँचवें पर लिखा है—**शोण आन्तराल विषय अधिकारणस्य**। छठे पर उल्लेख है—**कूमिला विषये सप्रधानस्य**। इसी तरह सातवें पर लिखा है—**गय अधिष्ठानस्य**। इनमें गया, नगरमुक्ति, मगधमुक्ति, राजगृह, शोणान्तराल, कूमिला आदि ऐसे स्थान थे, जहाँ अधिकारी रहते थे और अपनी मुद्राओं के साथ नालन्दा में पत्र भेजते थे। ज्ञात होता है, जो व्यक्ति, संस्था, जानपद अथवा राज्याधिकारी नालन्दा महाविहार में दान की रकम भेजते थे या अन्य संवाद भेजते थे, उनके साथ पत्रों में ये मुद्राएँ बाँधकर आती थीं।

नालन्दा-संग्रहालय में कुछ और मुद्राएँ भी हैं, जो ध्यान देने योग्य हैं। एक पर दाईं ओर मयूर का चित्र अंकित है और लिखा है—**वल्लदीहिस्साहट्टमहाजनस्य**। इसी तरह एक पर बाईं ओर सिंह अंकित है और नीचे लिखा है—**श्रीसागरसिहस्य**। यह किसी राज्य के उच्चाधिकारी की मुद्रा ज्ञात होती है। फिर एक और ऐसी ही मुद्रा है। उसमें भी बाईं ओर सिंह अंकित है और नीचे **मानसिह** नाम अंकित है। एक और ऐसी मुद्रा है, किन्तु इस पर सिंह अंकित नहीं है और लिखा है—**कूमिला विषये कपालग्रामे विषयमहत्तमा नरस्वामिनः**।

संयुक्त मुद्राएँ चार हैं, जिनपर बाईं ओर जनपद का चिह्न है और आश्रम का चिह्न दाईं ओर है। एक पर लिखा है—**भट्टपुत्रनेकस्य, हर्षकस्य, तथीववस्य**। श्रीदुर्लभराज वाली मुद्रा में ऊपर त्रिशूल अंकित है। एक पर तीन नाम हैं—**गणकर्मदेव, श्रीमित्र और जनश्रीमित्र**। एक पर कुछ चिह्नों के साथ केवल यही लिखा है—**रहलस्य**। एक पर नीचे

लिखा है—मल्लतातवाटक अग्रहारे श्रीमत् त्रैविध्यस्य । दूसरे पर ऊपर में ब्रह्मा की मूर्ति अंकित है और नीचे लिखा है—श्रीमन् नवक त्रैविध्यस्य । इससे ज्ञात होता है कि—मल्लतात-वाट स्थान नालन्दा-महाविहार को दान में मिला था, जहाँ से किसी भिक्षु ने मुद्रा मेंकी थी ।

नालन्दा की महिमा और उसकी खुदाई में प्राप्त सामग्री का पूरा विवरण एक अलग महाग्रन्थ का विषय होगा । स्मरणीय है, यदि अंगरेजी-शासनकाल के पुरातत्त्वज्ञों की और से यह स्तूप प्रयास नहीं हुआ होता, तो बौद्ध विद्या-केन्द्र नालन्दा की गौरव-गरिमा की जानकारी संसार को कदापि नहीं हुई होती और न हमारे बिहार-प्रदेश को ही यह गौरव प्राप्त होता ।

### पाटलिपुत्र की खुदाई

पाटलिपुत्र की महत्ता का ज्ञान तो पहले से ही सबको था । भगवान् बुद्ध के समय में ही यहाँ अजातशत्रु के भन्ने 'वर्षकार' ने किला बनवाया और नगर को व्यवस्थित किया था, जहाँ भगवान् बुद्ध वैशाली जाते समय आये और ठहरे भी । बाद, बौद्धधर्म को जगत्-प्रसिद्ध करनेवाले सम्राट् अशोक की यह राजधानी ही हुई । अशोक ने यहाँ बौद्धधर्म की तृतीय संगीति भी कराई थी । उसने अनेक स्तूप और बुद्ध-शासन के लिए कई स्तम्भ खड़े कराये थे । बौद्धधर्म की प्रसिद्ध शिक्षण-संस्थाएँ—अशोकाराम विहार और कुकुटाराम विहार—इसी नगर में थीं । इसके अतिरिक्त गुप्तकाल और पालकाल में भी पाटलिपुत्र बौद्धधर्म का गढ़ रहा । इसलिए इस नगर की बौद्धधर्म-सम्बन्धी महिमा के बारे में किसी को कुछ संदेह क्यों रहता ? इन सभी बातों के कारण पुरातत्त्वज्ञों ने यहाँ भी दो स्थानों में खुदाई कराई—एक, कुम्हार में और दूसरी, तुलन्दीबाग में । इन जगहों की खुदाई से भी बौद्धधर्म के सम्बन्ध में हमारी जानकारी विस्तृत हुई ।

पाटलिपुत्र की खुदाई सन् १८१५ ई० में सर 'स्पूनर' की देख-रेख में आरम्भ की गई । यहाँ की खुदाई में सबसे महत्वपूर्ण वस्तु एक विशाल समा-भवन के रूप में मिली है, जिसमें जगह-जगह मोटे-मोटे पॉलिशदार ग्रस्टर के स्तम्भ लगे थे । स्तम्भों की पॉलिश रमणीय खोप-वाली थी, जो अशोककालीन है । इस समा-भवन को 'स्पूनर' ने अशोक का राजभवन कहा । पर सन् १८५२-५३ ई० की खुदाई से प्रमाणित हो गया कि यह राजभवन नहीं था ; बल्कि बौद्ध भिक्षुओं का समा-भवन था । सन् १८५२-५३ ई० की खुदाई में समा-भवन के दक्षिण एक ऐसा विहार मिला, जिसमें रोगी भिक्षुओं के लिए दवा-दाल और निवास-स्थान का प्रबन्ध था । एक-एक चौकी बिछाने के लावक कोठरियाँ मिली हैं । ये सब गुप्तकाल की प्रमाणित हुई हैं । प्रथम खुदाई में ही मिट्टी के बने विभिन्न प्रकार के गिलीने, यस्तन और मूर्तियाँ मिली थीं, जिनसे अनेक तथ्यों पर प्रकाश पड़ा है ।

तुलन्दीबाग की खुदाई राय साहब 'मनोरजन घोष' ने कराई थी, जिसमें मेगास्थनीज द्वारा वर्णित चन्द्रगुप्त मौर्यकाल की लकड़ीवाली चहारदीवारी के मन्नाव-शेष मिले । इसी जगह शुंगकाल का एक स्तम्भ-शिखर मन्नावस्था में प्राप्त हुआ था ।



नालन्दा-विश्वविद्यालय की धर्मचक्र-प्रवर्तनवाली मृत्तिका-मुद्रायें  
( पृ० २२६ )



राजा देवपाल का ताम्र-शासन ( नालन्दा )  
( पृ० २५५ )





नालन्दा-विश्वविद्यालय की मृत्तिका-मुद्राएँ  
( पृ० २६५ )



भीशवर्मा की मृत्तिका-मुद्रा  
( पृ० २६४ )



लौरियानन्दनगढ़ (चम्पारन) का स्तम्भ  
( पृ० १७५ )



नालन्दा के एक स्तूप का दृश्य  
(४० २५६)



**पटना का संग्रहालय**—इसी समय अन्य प्राचीन सामग्री के साथ बौद्धधर्म-सम्बन्धी सामग्री की रक्षा के लिए पटना में एक संग्रहालय-भवन बना, जो आज भी हमें बौद्ध गौरव के गान सुनाता है और आगे आनेवाली पीढ़ियों को भी सुनाता रहेगा। इस संग्रहालय के निर्माण से बौद्धधर्म-सम्बन्धी वस्तुओं की समुचित रक्षा हुई है, जिससे हम अनेक प्रकार का ज्ञानार्जन कर रहे हैं। संग्रहालय की अपनी एक बहुत बड़ी महत्ता है।

सर्वप्रथम पटनासंग्रहालय की स्थापना की सन् १९१५ ई० में ही आवश्यकता समझी गई, जब कुम्हारार की खुदाई हो रही थी। इसी वर्ष जुलाई मास में इस काम के लिए एक समिति भी बन गई; पर आर्थिक कठिनाई के कारण भवन-निर्माण का कुछ भी काम न हो सका। परन्तु पुरातत्त्ववाले सामानों का संचय इसी वर्ष से होने लगा और पटना-हाईकोर्ट के एक हिस्से में वस्तुएँ रखी जाने लगीं। फिर भी, भवन-निर्माण के लिए उत्साही महापुरुषों का उद्योग जारी रहा। फलस्वरूप, सन् १९२६ ई० में वर्तमान संग्रहालय-भवन का निर्माण हो गया और इसका उद्घाटन तत्कालीन बिहार के गवर्नर सर 'एडीफेन्सन' के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। उस समय पटना-संग्रहालय के सभापति 'पी० सी० मानुक' थे। आज यह संग्रहालय कई भागों में विभक्त है और भारत के प्रमुख संग्रहालयों में एक है। संग्रहालय में रखी बहुमूल्य सामग्री का तथा संग्रहालय का विस्तारपूर्वक वर्णन मेरा विषय तो नहीं है; पर इतना कहना आवश्यक है कि इसमें भगवान् बुद्ध की संचित मूर्तियों से बौद्धधर्म-सम्बन्धी इतिहास तथा मूर्ति-कला पर विशेष प्रकाश पड़ता है, जो मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। इसमें देश के विभिन्न ऐतिहासिक स्थानों की मूर्तियों के अतिरिक्त बिहार-प्रदेश के बोधगया, नालन्दा, पाटलिपुत्र, कुर्किहार तथा अन्य कई स्थानों की बुद्ध-मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। पुरातत्त्व-प्रेमियों और बौद्धधर्म-प्रेमियों को निश्चित रूप से इस संग्रहालय का अवलोकन-मनन करना चाहिए। नालन्दा और कुर्किहार की बौद्ध संस्कृति का विस्तृत अभ्ययन यहाँ किया जा सकता है।

**बिहार-अनुसन्धान-समिति**—इस समिति का अँगरेजी नाम पहले 'बिहार-उड़ीसा-रिसर्च-सोसाइटी' था। इसकी स्थापना भी सन् १९१५ ई० की २०वीं जनवरी को हुई थी। इस समिति का मुख्य उद्देश्य इतिहास, पुरातत्त्व, मुद्राशास्त्र, मानव-विज्ञान और भाषा-तत्त्व के सम्बन्ध में अनुसंधान करना है। सदा से इस समिति का सभापति बिहार के गवर्नर (अब राज्यपाल) होते आये हैं। इसके प्रथम सभापति का नाम 'सर चार्ल्स बेली' था। इसका कार्यालय प्रारंभ से ही पटना-संग्रहालय के साथ रहा है। इसी के कार्यालय में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा तिब्बत से लाई गई वे प्राचीन हिन्दी की पोथियाँ हैं, जो पालकाल की हैं और जिनसे बौद्धों के वज्रवान-सम्प्रदाय, उसके चौरासी सिद्धों तथा हिन्दी-भाषा के सबसे प्राचीन रूप पर प्रकाश पड़ता है। आधुनिक काल में बौद्धधर्म-सम्बन्धी जो भी कार्य हुए हैं, उन सबमें राहुलजी का यह उद्योग सर्वोपरि है।

उक्त समिति से 'जर्नल ऑफ़ दि बिहार-उड़ीसा-रिसर्च-सोसाइटी' नाम की त्रैमासिक

पत्रिका भी निकलती थी, जिसके सम्पादक बहुत वर्षों तक स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवालजी थे। इस पत्रिका ने अपने गवेषणात्मक निबंधों से बौद्धधर्म के अनेक विस्मृत पहलुओं पर विस्तृत प्रकाश डाला है और इतिहास की गूढ़ गुत्थियों को सुलझाया है। किन्तु, बिहार-प्रदेश से जब उड़ीसा-प्रान्त अलग हुआ, तब समिति का नाम 'बिहार-अनुसन्धान-समिति' और पत्रिका का नाम 'जर्नल ऑफ दि बिहार-रिसर्च-सोसाइटी' हो गया है। बिहार-प्रदेश में इस समिति ने और विषयों के साथ-साथ बौद्धधर्म तथा उसके इतिहास की अच्छी सेवा की है।

### वैशाली की खुदाई और अन्वेषण-कार्य

बौद्ध और जैनग्रन्थों के अध्ययन से तथा 'ह्वेनसांग' के यात्रा-विवरण से जब 'जनरल कनिंघम' को 'वैशाली' स्थान का ठीक-ठीक पता मिला, तब सन् १८६२ ई० में वे वैशाली गये<sup>१</sup>। वैशाली का आधुनिक नाम 'बसाढ़' है और जैनग्रन्थों के 'वणिकू ग्राम' का आधुनिक नाम 'बनिया' है। ये दोनों ग्राम आज संयुक्त रूप में 'बनिया-बसाढ़' के नाम से अभिहित होते हैं और उत्तर-बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित हैं।

सन् १८६२ ई० में जब 'जनरल कनिंघम' वैशाली गये थे, तब वैशाली गढ़ के डीह की लम्बाई १७०० फुट और चौड़ाई ३०० फुट थी। डीह की ऊँचाई सर्वत्र बराबर नहीं थी। कनिंघम के कथनानुसार गढ़ के चारों ओर बुर्ज के चिह्न वर्तमान थे और चारों ओर की खाई पानी से भरी हुई थी। कनिंघम ने अपने विवरण में लिखा है कि गढ़ की दक्षिण खाई पार करने के लिए ऊँची सड़क थी तथा उत्तर की ओर भी सूखी और ऊँची जमीन है, जिससे अनुमान होता है कि उत्तर से भी प्रवेश करने के लिए सड़क होगी। खाई की चौड़ाई का अन्दाज उन्होंने १०० से १५० फुट तक का किया था। यद्यपि वैशाली के आस-पास की जनता उक्त डीह को राजा 'विशाल का गढ़' कहती थी, तथापि मुजफ्फरपुर जिले का 'बसाढ़' गाँव ही 'वैशाली' है, इस स्थल को समग्र संसार के विद्वानों के समक्ष पहले-पहल मोसिये सेंट और जनरल कनिंघम ने ही उद्घाटित किया। इसके पहले सेंट मार्टिन, ल्टीफेन्सन तथा बुकानन ने भी वैशाली के सम्बन्ध में काफी चर्चा की थी।

जनरल कनिंघम के वैशाली-विवरण को देखकर ही, सन् १६०३ अथवा १६०४ ई० में, इसकी खुदाई कराने के लिए 'भारतीय-पुरातत्व-सर्वेक्षण-विभाग' की ओर से 'डॉ० ग्लाश' नियुक्त हुए। किन्तु इस खुदाई में वहाँ जो भी सामान प्राप्त हुए, उनसे बौद्धधर्म पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ सका। इसमें गुप्तकाल की प्राचीन ईंटें मिलीं और 'जौनपुर' के सूबेदार 'हसनसाह' की एक मुद्रा भी मिली, जिसका समय सन् १४५८ ई० से सन् १४७६ ई० तक का है। एक ऐसी कोठरी भी मिली, जिसमें कहीं खिड़की नहीं थी और न हवा जाने के लिए दीवार में कोई रिक्त स्थान था। कोठरी अत्यन्त छोटी थी। इससे अनुमान किया गया कि यह तहखाना है।

१. वैशाली के सम्बन्ध में यद्यपि 'भीमपुराप्रसाद दीक्षित' और प्रो० 'योगेन्द्रनाथ मिश्र' द्वारा लिखित पुस्तिकाएँ हिन्दी में प्रकाशित हैं, तथापि उनके अवलोकन का सीमाव्य भुके नहीं प्राप्त हो सका।



इस अनुमान की पुष्टि इसलिए विशेष रूप से हुई कि इसमें गुप्तकालीन बहुत-से सिक्के प्राप्त हुए। इस खुदाई में जो बड़ा कमरा मिला, उसकी लम्बाई २५ फुट और चौड़ाई १५ फुट थी।

जनरल कनिंघम का विवरण सन् १८८० ई० में तैयार हुआ था, जिसमें उन्होंने वैशाली के १६ जलाशयों की चर्चा की है। बौद्ध जातकों में भी वैशाली के अनेक झरों का वर्णन है, जिनमें 'मर्कटहद' और 'अभिषेक पुष्करिणी'<sup>१</sup> मुख्य हैं। मर्कटहद का आधुनिक नाम 'रामकुण्ड' है। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में इसी मर्कटहद के उत्तर में एक बौद्ध स्तूप और कोलुआ के अशोक-स्तम्भ का उल्लेख किया है। उसके कथनानुसार बिहारीय-वाले इस स्तम्भ की ऊँचाई ५० से ६० फुट थी। किन्तु सर स्टीफेन्सन सन् १८३४ ई० में इसकी ऊँचाई केवल ३२ फुट बतलाते हैं। सन् १८८० ई० के विवरण में कनिंघम ने इसकी ऊँचाई ३१ फुट ३ इंच लिखा है; किन्तु सन् १९०३ या १९०४ ई० में इस स्थान की खुदाई करानेवाले डॉ० ग्ल्याश इसकी ऊँचाई ३० फुट ६ इंच कहते हैं। इन सम्पूर्ण विभिन्न मतों से ज्ञात होता है कि काल-क्रम से मिट्टी पड़ जाने के कारण, स्तम्भ का निचला हिस्सा ढँकता गया है और जमीन के ऊपरवाले भाग की माप ही उक्त विद्वान लेते गये हैं। किन्तु, 'पारसनायसिंह' का कहना है कि स्तम्भ की वास्तविक ऊँचाई ४५ फुट है<sup>२</sup>।

यहाँ सन् १८३४ ई० में भगवान् बुद्ध की एक भव्य मूर्ति मिली थी, जिसे 'रॉयल एसियाटिक सोसाइटी' (लन्दन) को दे दिया गया था। उसके बाद उक्त स्तम्भ से कुछ ही दूरी पर एक और भी बुद्ध की मूर्ति पाई गई थी।

जनरल कनिंघम ने जब वैशाली की खुदाई कराई थी, तब उन्हें बौद्धग्रन्थों में वर्णित 'कूटागारशाला' के भग्नावशेष का पता मिला था। इसकी मोटी दीवार की ईंटों की लंबाई, चौड़ाई और मुटाई क्रमशः १५ $\frac{१}{२}$  × ६ $\frac{१}{२}$  × २ इंच थी। कूटागारशाला की ही यह दीवार है, इसका एक और प्रमाण यह था कि ह्वेनसांग ने जिस स्थान पर कूटागारशाला के होने का पता दिया था, वह स्थान यहीं था।

प्रसिद्ध चीनी भिक्षु 'फाहियान' ने वैशाली के 'धनुर्बाण-त्याग' और 'बहुपुत्रक' नामक दो चैत्यों के सम्बन्ध में लिखा है कि भगवान् बुद्ध ने अपने निर्वाण की सूचना 'आनन्द' को यहीं दी थी। इन दो चैत्यों के बारे में डॉ० स्मिथ का कहना था कि ये दोनों चैत्य 'कूटागारशाला' से आध मील उत्तर-पश्चिम कोण में स्थित थे, जो अब टीले के रूप में हैं और इनकी खुदाई होनी चाहिए। डॉ० स्मिथ ने उस चैत्य के स्थान के सम्बन्ध में भी अनुमान किया था, जिसमें लिच्छवियों ने भगवान् बुद्ध के अवशेष रखे थे। स्मिथ के विवरण का यह अंश इस प्रकार है—

“.....सम्मतीय संघाराम, बुद्ध के भग्नावशेष पर निर्मित स्तूप तथा सारिपुत्र और बिमलकीर्त्ति का स्मारक स्तूप—ये सब-के-सब 'खरौना पोखर' और 'उफरौल' गाँव के

१. इसका विवरण इस पुस्तक के पृ० २४ में देखिए।

२. मासिक पत्रिका 'गंगा', जनवरी, १९३१ ई० (मुलतानगंज, बागलपुर)



बीच में ही कहीं हैं। 'उफरौल' के नजदीक ही एक बड़ा टीला है। बाबू पी० सी० मुखर्जी का भी अनुमान बुद्ध-स्तूप के बारे में 'उफरौल' के पास ही है। बड़े आश्चर्य की बात है कि जनरल कनिंघम ने इस स्तूप की खोज के लिए कोई प्रयास नहीं किया। बौद्धधर्म की दृष्टि से यह स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा होगा और सम्भवतः उस स्थान पर आज भी बुद्ध का भस्मावशेष सुरक्षित है। ... .. मुझे इसमें सन्देह नहीं कि इस स्थान की यथोचित रीति से खुदाई की जाय, तो बुद्ध का शरीरांश नहीं मिले।'।

किन्तु, सन् १६०३ या १६०४ ई० में वैशाली की खुदाई जब डॉ० ब्लाश् करा रहे थे, तब उन्हें स्थिति द्वारा निर्देशित स्थानों का पता ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल सका। इसके अतिरिक्त स्थिति के विचारों से डॉ० ब्लाश् सहमत भी नहीं थे। उनका कहना था कि राजा विशाल के गढ़ और 'उफरौल' गाँव के बीच जो फासला है, वह हूनेसांग द्वारा निर्देशित बुद्ध-स्तूप के स्थान से बिलकुल मेल नहीं खाता है।

डॉ० ब्लाश् के बाद सन् १६१३-१४ ई० में कुम्हरार की खुदाई करानेवाले 'डॉ० स्पूनर' ने 'बसाढ' की खुदाई कराई थी। इस बार की खुदाई में मौर्वकाल तक की सामग्री प्राप्त हुई, जिनमें बौद्धधर्म-सम्बन्धी कुछ मूर्तियाँ भी थीं। इसलिए अँगरेजी शासन-काल में वैशाली में भी कुछ कार्य हुए, फलतः बौद्धधर्म पर ये आवरण बहुत-कुछ हट गया और जिससे बिहार-प्रदेश की गौरव-वृद्धि में चार चाँद लग गये।

×

×

×

अँगरेजों के शासन-काल में उपयुक्त कामों के अतिरिक्त कुछ बौद्धधर्म-सेवक महापुरुष भी हुए, जिनके संचित जीवन-चरित्र और उनके द्वारा बौद्धधर्म-सम्बन्धी किये गये कार्यों की चर्चा के बिना यह परिच्छेद सर्वाङ्ग-सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। ये यशोलब्ध महापुरुष भौतिक विज्ञान की बढ़ती होड़ में भी आध्यात्मिक प्रेरणाओं का प्रकाश देते हुए उद्दीप्त नक्षत्रों के सदृश दीप्त-भासित दीख रहे हैं। इन्होंने अपने कार्यों से बौद्ध जगत् में बिहार-प्रदेश को महिमा-मण्डित किया है; अतः इनका उल्लेख यहाँ अपेक्षित है।

१. महावीर स्वामी—इनका जन्म, बिहार-प्रदेश के शाहाबाद जिले के मधुआ सबडिवीजन में स्थित 'रूपपुर' ग्राम में, राजपूत-वंश में १८३० ई० में हुआ था। इनका परेलू नाम श्रीमहावीरसिंह था। ये अपनी युवावस्था में नामी-गरामी पहलवान और लटैत थे।

यह सर्वविदित है कि सन् १८५७ ई० में जगदीशपुर (शाहाबाद)-निवासी बाबू कुँवर-सिंह ने अपनी ८० वर्षों की अवस्था में, अँगरेजी सलतनत के विरुद्ध लोहा लिया था। बाबू महावीरसिंह ने भी अन्य भोजपुरी जवानों की तरह कुँवरसिंह का सहकर्म होकर अँगरेजों से युद्ध किया। बाद, जब अँगरेजों ने भारतीय विद्रोह को कुचल दिया और कुँवरसिंह तथा अमरसिंह लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हो गये, तब अँगरेज उनके सहकर्मियों को ढूँढ़-ढूँढ़कर फाँसी पर लटकाने लगे। ऐसी अवस्था में बाबू महावीरसिंह अपने कुछ साथियों के साथ दक्षिण-भारत

भाग गये। घूमते-फिरते ये इन्चौर पहुँच गये। वहाँ महाराज होल्कर ने बाबू कुंवरसिंह का सहकर्मि जानकर इनका आगत-स्वागत किया। बाबू महावीरसिंह वहाँ कुछ दिन ठहरकर और महाराज होल्कर से कुछ सहायता लेकर दक्षिण की ओर आगे बढ़े। जब ये मद्रास पहुँचे, तब वहाँ के एक नामी मुसलमान पहलवान के साथ इनकी कुश्ती हुई। कुश्ती का आयोजन एक अंगरेज अफसर ने कराया था और इसमें १००० रुपये का पुरस्कार था। बाबू महावीरसिंह ने अखाड़े में उतरते ही मुसलमान पहलवान को पछाड़कर १००० रुपये का पुरस्कार जीत लिया। वहाँ इन्होंने अपना असली परिचय छिपाकर केवल एक पहलवान के रूप में अपनेको बताया था। फिर, मद्रास से ये रामेश्वरम् चले गये। रामेश्वरम् पहुँचते-पहुँचते इनके सभी साथियों ने इनका साथ छोड़ दिया और ये अकेले रह गये।

बाबू महावीरसिंह बड़े साहसी और उद्योगी पुरुष थे। ये समुद्र-यार चला जाना चाहते थे; क्योंकि घर लौटने में भी खतरा था। अतः ये सीलोन चले गये। कहते हैं कि भाग्यवान् का हल भूत जोतता है! वहाँ भी बाबू कुंवरसिंह के गाँव जगदीशपुर का एक व्यापारी रहता था। इनका समाचार जानकर उस व्यापारी ने काफ़ी दिनों तक इनकी आर्थिक सहायता की। इधर-उधर जान-बहचान बढ़ते-बढ़ते लंका के प्रसिद्ध भिन्नु 'इन्द्रासभ' से इनका परिचय हो गया। भिन्नु इन्द्रासभ के संग से ही ये बौद्धधर्म में निष्ठान्वु हुए। भिन्नु ने इनसे कहा कि बिना पालि-भाषा जाने तुम बौद्धधर्म का मर्म नहीं जान सकते। इसलिए महावीरसिंह को इन्होंने पालि-भाषा का अध्ययन शुरू कराया। कुछ काल में ही अपने अधिक परिश्रम से इन्होंने पालि-भाषा में पूरी निपुणता प्राप्त कर ली। वहाँ तक कि इनके पालि-भाषा के शुद्ध पाठ से प्रसन्न होकर एक व्यापारी ने नारियल का एक वागीचा ही इन्हें दान में दे दिया, जिसे महावीरसिंह ने अपने गुरु इन्द्रासभ को, त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये कहकर समर्पित कर दिया।

कुछ वर्षों बाद महावीरसिंह ने बौद्धधर्म-देश बर्मा जाने की ठानी। इन्होंने सोचा कि बर्मा जाने के पहले भारत में जाकर मुझे भगवान् बुद्ध द्वारा निर्देशित तीर्थों का भ्रमण कर लेना चाहिए। इसलिए इन्होंने सर्वप्रथम भारत आकर बोधगया, सारनाथ, कुशीनगर आदि तीर्थों का भ्रमण किया। जब ये सारनाथ में थे, तब काशी के लोग सारनाथ-स्तूप की ईंटों को उजाड़-उजाड़कर अपना मकान बनाने के लिए ले जा रहे थे। महावीरसिंह ने इसका भरपूर विरोध किया और बात वहाँ तक बढ़ी कि काशी के तत्कालीन अंगरेज जिलाधीश को हस्तक्षेप करना पड़ा, और स्तूप के उजाड़ने का काम रोक दिया गया। इसी तरह कुशीनगर में भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण को जानकर वहाँ इन्होंने भी संकल्प किया कि मेरा भी निर्वाण यहीं होगा। अन्त में भारतीय बौद्ध तीर्थों का भ्रमण करके महावीरसिंह बर्मा-देश गये और वहाँ सन् १८८४ ई० इन्होंने बौद्धधर्म की उपसम्पदा ली। उपसम्पदा लेने के बाद इनका नाम महावीर स्वामी पड़ा।

‘मेरा भी परिनिर्वाण कुशीनगर में ही होगा’, अपने इस निश्चय के अनुसार महावीर स्वामी सन् १८८० ई० में सर्वत्र परिभ्रमण कर कुशीनगर आ गये। ये छह वर्षों तक बर्मा में



रहकर बौद्धधर्म की सेवा करते रहे। इनके साधुचरित के कारण बर्मा में इनकी अच्छी प्रतिष्ठा हो गई थी। पर, इन्हें तो यश या प्रतिष्ठा की भूख थी नहीं, अतः अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए ये कुशीनगर आये और यहाँ एक छोटी-सी कुटिया बनाकर धर्म की उपासना करने लगे। इन्होंने कुशीनगर आनेवाले नावियों की सुविधा के लिए वहाँ एक यात्री-निवास बनवाने का संकल्प किया और बर्मा के एक बौद्ध व्यापारी से इस पुण्य-कार्य में सहायता देने को लिखा। गोरखपुर के एक अँगरेज अफसर से इस धर्म-कार्य के लिए कुशीनगर में जमीन की माँग की और उसने जमीन दिला देने का आश्वासन भी दिया। पर, थोड़े ही दिनों बाद उस अफसर की वहाँ से बदली हो गई और मुफ्त जमीन नहीं मिल सकी। पर, महावीर स्वामी दृढ़ संकल्पवाले व्यक्ति थे, इस छोटी-सी बात के लिए वे कभी घबराते ! इन्होंने ६०) रुपये बीघे की दर से कुछ जमीन खरीदकर यात्री-निवास के बनवाने में काम लगा दिया। काम चलने भी लगा। इसी सिलसिले में ये कलकत्ता गये। वहाँ एक व्यापारी ने इन्हें इस काम के लिए एक सन्दूक में १२००) रुपये रखकर दिये। ये रुपये पैसे छूते नहीं थे, अतः ये सन्दूक लेकर चले। स्टेशन से उतरकर जब वे बैलगाड़ी से कुशीनगर जा रहे थे, तब चोरों ने रास्ते में घेरकर इनका सन्दूक छीन लिया। ये खाली हाथ कुशीनगर आये। फिर भी यात्री-निवास का काम बन्द नहीं हुआ। रुपये छुट जाने का समाचार जब उक्त व्यापारी के पास पहुँचा, तब उसने और कुछ ज्यादा ही रुपये इनके पास भेज दिये। बर्मा के व्यापारी से भी यथोचित आर्थिक सहायता इन्हें इस काम के लिए मिलती रही। यात्री-निवास सन् १६०२ ई० में बनकर तैयार हो गया। इसके निर्माण में १५०००) हजार व्यय हुए। आज इस धर्मशाला में महावीर स्वामी का एक बड़ा-सा चित्र भी टँगा है। इस तरह हम देखते हैं कि जब बोधगया, राजगृह, वैशाली आदि बौद्ध स्थानों में भी इस तरह का काम नहीं हो पाया था, तभी बिहार-प्रदेश के संपूत महावीर स्वामी ने कुशीनगर में ऐसा बड़ा उद्योग कर दिखाया। इतना ही नहीं, इन्हीं के उद्योग से कुशीनगर के चैल का भी संस्कार हुआ था, जिसमें १८०००) हजार रुपये व्यय हुए थे।

अन्त में महावीर स्वामी का निर्वाण कुशीनगर में ही, सन् १६१६ ई० के माघ महीने में हुआ। उस समय इनकी आयु ८६ वर्ष की थी। ये अपने जीवन-काल में अपनी धर्मनिष्ठा और उद्योग के कारण पूज्य थे और निर्वाण के बाद भी बौद्धधर्मावलम्बियों के लिए प्रातःस्मरणीय हैं।

२. महापरिदुत राहुल सांकृत्यायन—यद्यपि आपका जन्म उत्तर-प्रदेश के आजमगढ़ जिले के 'पन्दहा' नामक ग्राम में, सन् १८२३ ई० के ६ अप्रैल को हुआ था, तथापि आपका कर्मक्षेत्र बिहार-प्रदेश ही रहा है। बिहार-प्रदेश कर्मक्षेत्र होने के कारण बाहरी प्रान्तों के अधिकांश लोग आपको बिहार-निवासी ही समझते हैं। यहाँ तक कि 'हिन्दी-सेवी-संसार' नामक पुस्तक में आपका पता—'सारन' ही लिखा है। वस्तुतः, हम बिहार-निवासी भी राहुलजी को अपने ही प्रान्त के वासी मानते हैं। बहुत-से ऐसे महापुरुष जो अपने कर्मक्षेत्र के कारण वहाँ के समझे गये हैं, उन्हीं लोगों में से राहुलजी भी एक हैं। अतः आपके

१. 'बुद्ध और उनके अनुचर' (भद्रत आनन्द कौसल्यायन) पुस्तिका के आधार पर।



बिहार-बासी होने में किसी को संदेह नहीं करना चाहिए। आपका जन्म सरयूपारीण ब्राह्मण-वंश में हुआ है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की तरह समस्त भारतीय बौद्ध जगत में, विशेषतः हिन्दी के क्षेत्र में विद्वान् और धुरंधर लेखक बिरला ही होगा। आपका सम्पूर्ण जीवन ही तूफानों और संघर्षों का समवेत रूप है। आपके जैसा पर्यटक तथा लेखनी का धनी संसार में गिने-चुने लोग ही होंगे। अकेले आपने अपनी लेखनी के द्वारा हिन्दी और बौद्ध साहित्य की जो सेवा की है, वह एक सौ आदमियों के सम्मिलित प्रयास के भी भूते की बाहर है। ऐसे विद्वान् को प्राप्त कर बिहार-प्रदेश क्या, आज सारा भारत धन्य हो रहा है।

आपका घरेलू नाम केदार पासडेय था। आप अपनी १६-१७ वर्ष की अवस्था में ही बिहार के सारन जिले के 'परसामठ' के महन्त के पास आकर उनके शिष्य हो गये और मठ में एक बालक साधु बनकर रहने लगे। आपने १६१७ ई० तक संस्कृत, अरबी, फारसी और हिन्दी-भाषा का ज्ञान अच्छी तरह प्राप्त कर लिया। आप जब 'परसामठ' में शिष्य हुए, तब आपका नाम 'रामोदार दास' रखा गया। पर, सरस्वती का यह वरद पुत्र और परम उत्साही युवक उस मठ के दक्कियानूली घेरे में कबतक घिरा रह सकता था। सन् १६२१ ई० में जब गांधीजी का असहयोग-आन्दोलन चल रहा था, तब आप भी उसमें सम्मिलित होकर जेल चले गये। जेल में भी आपका अध्ययन-कर्म जारी रहा। जेल से छूटने के कुछ वर्षों बाद पर्यटक राहुलजी सन् १६२६ ई० में लंका गये। लंका में ही आपने पालि-भाषा का विस्तृत अध्ययन किया। वहाँ आपने १६२६ से १६२८ ई० तक अभ्यासन-कार्य भी किया। लंका जाने के पहले आप आर्य-समाज के उपदेशक रह चुके थे, जिस कारण वक्ता के रूप में भी आपकी ख्याति बढ़ी। लंका में उसी समय आपको 'त्रिपिटकाचार्य' की पदवी मिली।

आप सन् १६२६ ई० में तिब्बत गये और वहाँ तिब्बती भाषा का अध्ययन किया। तिब्बत में आपने दो वर्षों तक रहकर, अनेक भारतीय ग्रन्थों के अनुवादों का अध्ययन-मनन किया। वहाँ से आप बहुत-सी पुस्तकें खूबरी पर लादकर भारत लाये, जिनमें कुछ पटना के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इसी समय आपने उन पुस्तकों का उद्धार किया, जो ब्रजयान-सम्प्रदाय के सिद्धों की लिखी थीं, जिनसे प्राचीन हिन्दी और मगही-भाषा का विस्तृत इतिहास और रूप हमें प्राप्त हुआ। वे भी पुस्तकें पटना के 'बिहार-अनुसंधान-समिति' के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। इन ग्रंथों के उद्धार-कार्य से आपने बौद्धधर्म और हिन्दी की चिरस्मरणीय सेवा की है।

तिब्बत के बाद फिर आप लंका गये और इस बार आपने वहाँ विधिवत् बौद्धधर्म में प्रव्रज्या ले ली। सन् १६३१ ई० में आपने यूरोपीय देशों का भी भ्रमण कर अनेक प्रवीण भाषाओं का ज्ञान लाभ किया। बाद में आप भारत आये और बौद्ध साहित्य लिखते रहे। सन् १६३३ ई० में आपने भागलपुर के मुलतानगंज नगर से निकलनेवाली 'गंगा' नामक पत्रिका के विशेषांक 'गंगपुरातत्त्वांक' का सम्पादन किया और उसमें कई ऐसे बौद्ध पुरातत्त्व सम्बन्धी लेख लिखे, जिनसे विद्वानों के बीच हलचल-सी मच गई।

बिहार-प्रदेश में जब प्रथम बार, स्वराज्य के पहले, अपना मंत्रिमंडल बना, तब आपने स्वामी सहजानन्द सरस्वती के किसान-आन्दोलन में भाग लिया और उस कारण जेल-याचना भी भोगी। बाद, आपने समस्त एसिया का भ्रमण किया और रूस तथा तिब्बत का भ्रमण तो आपने तीन-तीन बार किया।

सन् १९३८ ई० में बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने आपको अपना सभापति चुनकर आपका सम्मान किया। सन् १९४७ ई० में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भी आप अध्यक्ष हुए थे।

आपके द्वारा अनेक विषयों पर लिखित सम्पादित तथा अनूदित १२५ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, पर बौद्धधर्म-सम्बन्धी जो ग्रन्थ हैं, उनका व्योरा इस प्रकार है—

- (१) 'बुद्धचर्या' सन् १९३० ई० में प्रकाशित।
- (२) 'धम्मपद' सन् १९३३ ई० में,
- (३) 'मज्झिम निकाय' का हिन्दी-अनुवाद सन् १९३३ ई० में,
- (४) 'विनय पिटक' का हिन्दी-अनुवाद सन् १९३४ ई० में,
- (५) 'दीघ निकाय' का हिन्दी-अनुवाद १९३५ ई० में,
- (६) 'तिब्बत में बौद्धधर्म' सन् १९३५ ई० में,
- (७) 'पुरातत्त्व-निकषावली' सन् १९३६ ई० में,
- (८) 'बौद्धदर्शन' सन् १९४२ ई० में,
- (९) 'बौद्ध संस्कृति' सन् १९४६ ई० में,
- (१०) 'दोहाकोश' १९५४ ई० में और
- (११) 'बुद्ध' सन् १९५६ ई० में।

इसी तरह आपने बौद्धग्रन्थों पर टीकाएँ भी लिखीं, जो निम्नांकित वर्षों में प्रकाशित होकर हमारे ज्ञान की वृद्धि में सहायक हो रही हैं —

- (१) 'अभिधर्म-कोश' सन् १९३० ई० में प्रकाशित।
- (२) 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' सन् १९४४ ई० में,
- (३) 'प्रमाणवार्त्तिकत्ववृत्ति' सन् १९३७ ई० में,
- (४) 'हेतुविन्दु' सन् १९४४ ई० में,
- (५) 'निदानसूत्र' १९५० ई० में और
- (६) 'महापरिनिर्वाणसूत्र' सन् १९५१ ई० में।

इस प्रकार आपने दर्शन-धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थों में 'वादन्याय, प्रमाणवार्त्तिक, विग्रह-व्यावर्त्तिनी, प्रमाणवार्त्तिक भाष्य, प्रमाणवार्त्तिक संवृत्ति, प्रमाणवार्त्तिक वृत्तिटीका आदि लिखकर तथा प्रकाशित कराकर बौद्धधर्म का प्रचार भारत में खूब बढ़ावा है। आपने पालि-भाषा के अनेक ग्रन्थों का सम्पादन करके भी बौद्धधर्म की महती सेवा की है। आज हिन्दी-संसार में

बौद्ध साहित्य का पाठक और चिन्तक या लेखक कोई ऐसा नहीं होगा, जो आपकी पुस्तकों का सहारा नहीं लेता हो। इधर आपकी लिखी पुस्तक 'मध्य एसिया का इतिहास' दो खण्डों में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिपद (पटना) से प्रकाशित हुई है, जिससे मध्य एसिया की बौद्धधर्म-सम्बन्धी अनेक गुरुधियाँ सुलझी हैं। सन् १९५८-५९ ई० की सर्वश्रेष्ठ हिन्दी-पुस्तक होने के नाते भारत-सरकार ने इस पर आपको ५०००) ६० का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार दिया है।

३. भिक्षु जगदीश काश्यप—आपका जन्म गया जिले के 'रीनिया' ग्राम में, सन् १९०६ ई० में, कापस्थ-परिवार में हुआ था। आपकी अंगरेजी की शिक्षा राँची, पटना और हिन्दू-विश्वविद्यालय (काशी) में हुई थी। हिन्दू-विश्वविद्यालय से ही आपने दर्शन और संस्कृत में एम्. ए. पास किया। शिक्षा समाप्त कर आपने वैद्यनाथग्राम के गुरुकुल महाविद्यालय में, सन् १९३२ और ३३ ई० में अध्यापन का कार्य किया। सन् १९३४ ई० में भ्रमण के लिए निकले और लंका गये। लंका में ही आपने बौद्धधर्म की प्रख्यात ग्रहण की। लंका के 'विशालंकार-कॉलेज' में आपने पालि-भाषा और बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया। तभी से आप बौद्ध जगत में विख्यात हो गये।

आपने अपने बौद्धधर्म-प्रेम के कारण निश्चय किया कि मुझे समस्त बौद्धधर्मवाले देशों का भ्रमण करना और बौद्धधर्म का ज्ञान बढ़ाना चाहिए। अपने इस निश्चय के अनुसार आप सन् १९३५ और ३६ ई० में मलाया तथा बर्मा-देश गये। वहाँ के बौद्धधर्म की स्थिति का आपने अध्ययन तो किया ही, स्वयं उसका प्रचार भी किया। इन देशों के बाद आप चिनांग और सिंगापुर गये, जहाँ आपने चीनी भाषा सीखी। सिंगापुर में आप बौद्धधर्मोपदेशक के रूप में भ्रमण करते रहे। उसके बाद आप 'लंका' लौट आये।

कुछ वर्षों बाद जब आप स्वदेश लौटे, तब आप धर्मचक्रप्रवर्तनवाले स्थान 'सारनाथ' में रहे और वहाँ के हाई स्कूल में अध्यापक हो गये। वहाँ आपने सन् १९३८ से ४० ई० तक अध्यापन-कार्य किया। सन् १९४० ई० में आपको लंका से 'त्रिपिटकाचार्य' की उपाधि मिली। बाद में आप काशी-विश्वविद्यालय में पालि-भाषा के प्राध्यापक नियुक्त हो गये। वहाँ आप सन् १९४० ई० से १९५० ई० तक इस पद पर योग्यतापूर्वक काम करते रहे। तत्पश्चात् भारत से अंगरेजी सल्तनत हट गई थी और स्वराज्य प्राप्त हो गया था।

सन् १९५१ ई० में संसार-प्रसिद्ध 'नालन्दा' स्थान में बिहार-सरकार ने बौद्धधर्म के अध्ययन, चिन्तन तथा मनन के लिए 'पालि-प्रतिष्ठान' नामक एक संस्था की स्थापना की। बिहार-सरकार के अनुरोध से आप काशी-विश्वविद्यालय की प्रोफेसरी छोड़कर उक्त संस्था के निर्देशक के रूप में नालन्दा चले आये। बाद, आपने निर्देशक का काम छोड़ दिया और प्रतिष्ठान की ओर से प्रकाशित होनेवाले नागरी-लिपि में 'त्रिपिटक' के मुद्रण का व्यवस्था-भार ग्रहण कर लिया, जिसका कार्य अब काशी में हो रहा है। अधुना आप बाराणस्य संस्कृत-विश्वविद्यालय में पालि-विभाग के अध्यक्ष भी हैं।



भिन्नु जगदीश काश्यप उन बौद्ध भिन्नुओं में हैं, जिनकी कीर्ति समस्त बौद्ध जगत् में फैली हुई है। भारत के गिने-चुने भिन्नुओं में भी आपकी विशेष प्रतिष्ठा है। आप जिस तरह बौद्धमार्गदेशक के रूप में अपनी वक्तृत्व-शक्ति के लिए प्रसिद्ध हैं, उससे भी अधिक आप उच्चकोटि के बौद्ध ग्रन्थ के प्रणेता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इस रूप में आपने जो बौद्धधर्म की सेवा कर बिहार का मुख उज्ज्वल किया है, उसका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

- ( क ) खुदक निकाय के ११ ग्रन्थों का नागरी-लिपि में सम्पादन ( महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और भदन्त आनन्द कौमल्यायन के साथ ), जिसका प्रकाशन वर्मा से हुआ है।
- ( ख ) दीघ निकाय ( हिन्दी-अनुवाद )
- ( ग ) संयुक्त निकाय ( हिन्दी अनुवाद ), प्रकाशक—महाबोधिसत्ता, सारनाथ।
- ( घ ) उदान ( हिन्दी-अनुवाद ) " "
- ( ङ ) मिलिन्दपञ्च ( हिन्दी-अनुवाद ) " "
- ( च ) पालि-भाषा का व्याकरण ( मौलिक ग्रन्थ, हिन्दी में )। इस पुस्तक का विद्वानों में ऊँचा सम्मान है।
- ( छ ) बुद्धिम् फॉर एवरी बडी ( अँगरेजी-भाषा में, मौलिक )।
- ( ज ) पाश्चात्य तर्कशास्त्र ( मौलिक )।

इस प्रकार, पालि-साहित्य के पशोधन पण्डित होने के साथ ही आपने हिन्दी-साहित्य के विद्वानों में भी पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त की है<sup>१</sup>।

१. श्रीगदाधरप्रसाद अम्बष्ठ-लिखित 'बिहार-अब्दकोश' ( सन् १९५४ ई० ) में मुद्रित परिचय के आधार पर।

# ग्यारहवाँ परिच्छेद

## स्वराज्य के बाद

सन् १९४७ ई० की १५वीं अगस्त को भारतवर्ष ने अपने को दो टुकड़ों में विभक्त करके स्वराज्य प्राप्त किया। स्वराज्य के बाद भारत ने अपने को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया। किन्तु बौद्धधर्म, अपने सच्चे अर्थ में, किसी सम्प्रदायविशेष का धर्म तो है नहीं, यह तो वस्तुतः मानवधर्म है, मानवमात्र का धर्म है। इसलिए जाने या अनजाने इसके कई अंग राष्ट्रीय धर्म के रूप में माने गये हैं। सारनाथ के अशोक-स्तम्भ के सिंह-शिल्प को राष्ट्र का प्रतीक बनाया गया और उसके नीचे 'सत्यमेव जयते' का आदर्श वाक्य उल्लिखित हुआ, जो भगवान् बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग में एक है। इतना ही नहीं, राष्ट्रध्वज पर भी अशोक-चक्र का प्रतीक अंकित हुआ, जो भगवान् बुद्ध के 'धर्मचक्रप्रवर्तन' का चिह्न है। राष्ट्र के प्रधान मंत्री भारतरत्न जवाहरलाल नेहरू ने शान्ति-स्थापन के लिए बौद्धधर्म के 'पंचशील' के अनुकरण पर ही 'पंचशील' अपनाने का नया नारा दिया, जिससे एशिया-खंड में सवजीवन का संचार हुआ तथा जिसके कारण भारत ने बहुत बड़ा आत्मबल प्राप्त किया और संसार में लब्धप्रतिष्ठ हुआ।

## नवनालन्दा-महाविहार

केन्द्रीय सरकार की अहिंसात्मक नीति से प्रेरणा पाकर बिहार-सरकार ने 'नालन्दा' में 'पालि-प्रतिष्ठान' की स्थापना सन् १९५१ ई० में की, जिसका नाम 'नवनालन्दा-महाविहार' रखा गया। यह संस्था पालि-भाषा, पालि-साहित्य एवं बौद्धधर्म तथा दर्शन के उच्च ज्ञान-सम्पादन के लिए स्थापित हुई है। इसमें स्नातकोत्तर विद्यार्थियों को शिक्षा देने की व्यवस्था है। इसका एक दूसरा उद्देश्य भी है, जिसके द्वारा पालि-भाषा के ग्रन्थ सम्पादित और प्रकाशित होंगे। यहाँ समस्त बौद्ध देशों की भाषाओं पर अनुसंधान कराने का प्रबन्ध भी है, जिसमें तिब्बती, चीनी, जापानी, सिलोनी, बर्मी, खामी आदि भाषाएँ हैं। यहाँ के अध्ययनार्थी भारत, लंका, खाम, वीएतनाम, फ्रांस, मंगोलिया, जापान, तिब्बत, बर्मा आदि देशों के निवासी हैं। संस्था के प्राध्यापक बौद्ध विद्वान् और बौद्ध देशों के निवासी हैं।

## बिहार में २५००वीं बुद्ध-निर्वाण-जयन्ती

सन् १९५६ ई० तक भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के २५०० वीं वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इसलिए केन्द्रीय सरकार ने उस वर्ष समस्त देशों में बुद्ध-जयन्ती मनाने का आयोजन किया। इस अवसर पर बोधगया में कई उल्लेखनीय कार्य हुए। मन्दिर का विधिवत्

संस्कार कराया गया। किन्तु इस संस्कार में मन्दिर की प्राचीन कारीगरी में कुछ हेर-फेर हो गया है। इसी समय यहाँ की प्रसिद्ध पुष्करिणी का भी संस्कार कराया गया है, जो मन्दिर से दक्षिण में है। इसी वर्ष बोधगया में भी, एक पुरातत्त्व-संग्रहालय के लिए नया भवन तैयार हुआ, जिसमें बोधगया और उसके आस-पास की बौद्धधर्म-सम्बन्धी मूर्तियाँ रखी गई हैं। मूर्तियों में अधिकांश पाल-काल की मूर्तियाँ हैं। हाँ, बोधगया-मन्दिर के संक्रमण-चैत्य के सामने की दो नारी-मूर्तियाँ भी इसी अवसर पर वहाँ से उठाकर संग्रहालय में लाई गईं। बोधगया में सरकार की ओर से एक उत्तम वास्ती-निवास (बायमेटरी) बना है। इसका विशाल और प्रशस्त भवन पश्चिम जानेवाली सड़क के दक्षिण भाग में, संग्रहालय-भवन से पश्चिम में, स्थित है।

बोधगया में सन् १९५६ ई० में ही वैशाख-पूर्णिमा को बड़े धूमधाम से जयन्ती मनाई गई। इस अवसर पर लाखों व्यक्तियों की भीड़ इकट्ठी हुई थी, जिसमें देश के बड़े नेताओं के साथ विदेश से भी बौद्धधर्म-भक्त प्यारे थे। बोधगया की परिचय-पुस्तिका भी इस अवसर पर अँगरेजी, हिन्दी और बँगला में छपकर वितरित हुई थी। इसी साल राजगृह का भी संस्कार हुआ और सुन्दर रूप में वहाँ उपवन सजाये गये। यहाँ भी बोधगया की तरह वास्ती-निवास का भवन खड़ा किया गया। राजगृह और नालन्दा के सम्बन्ध में भी परिचय-पुस्तिका मुद्रित हुई। इसी अवसर पर स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव-लिखित 'बौद्धधर्म-दर्शन' नामक महाग्रन्थ भी बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित हुआ। बौद्धधर्म-दर्शन के संबंध में यह ग्रन्थ हिन्दी-भाषा में अद्वितीय है।

**काशीप्रसाद जायसवाल-शोध-प्रतिष्ठान**—स्वराज्य के बाद ही प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ और इतिहासज्ञ महामहोपाध्याय डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल के नाम पर पटना में इस संस्था की स्थापना बिहार-सरकार ने की। इसका मुख्य उद्देश्य है—इतिहास और संस्कृति के निर्माण के लिए अनुसंधान करना। इसके निर्देशक थे—प्रौढ़ पुरातत्त्वज्ञ डॉ० अनन्त सदाशिव अलतेकर, जो महाराष्ट्र के निवासी थे। अमी-अमी रात २५ नवम्बर (सन् १९५६ ई०) को आपका निधन हो गया। इधर बिहार में उक्त संस्था की ओर से यज्ञ-तंत्र प्राचीन स्थलों की खुदाई का काम हो रहा है। इस संस्था ने सन् १९५३ ई० में कुम्हरार की पुनः खुदाई कराई है, जिससे गुप्तकाल-निर्मित भिज्जु-आरोम्य-बिहार का पता चला है। सन् १९५४ ई० में इसने पटनासिटी की सदर गली में खुदाई कराई, जिसमें अशोक-स्तम्भ का सवि-शीर्षवाला मग्नावशेष प्राप्त हुआ है। आशा है, इसके सत्यवात से आगे बिहार-प्रदेश में और भी बौद्धधर्म के रहस्य उद्घाटित होंगे।



## परिशिष्ट

[ जो विषय काल-क्रम के अनुसार विवेच्य नहीं थे, उन्हें परिशिष्टों में दिया गया है । जैसे विषयों में भाषा, साहित्य, स्थापत्य, मूर्ति-कला आदि सम्मिलित हैं । ]



## परिशिष्ट-१

### भाषा और साहित्य को बौद्धधर्म की देन

यों तो भगवान् बुद्ध किस भाषा में प्रवचन करते थे, इसका कोई निश्चित पता नहीं चलता; पर इतना निश्चित है कि वे जनपदीय भाषा के पक्षपाती थे। एक बार उनके दो शिष्यों ने उनसे कहा—*हन्द ! मयं भन्ते ! बुद्धवचनं छन्दसो आरो पेमाति*<sup>१</sup>। अर्थात्, 'भगवन्, अपने वचन को वैदिक भाषा में निबद्ध करने की अनुज्ञा दें।' मागधी तथा पालि इस पर भगवान् बुद्ध ने कहा—*अनुजानामि भिक्खवे, सकाय, निरुत्तिया बुद्धवचनं परिषा पुशितु*<sup>२</sup>। अर्थात्, 'हे भिक्खुओ ! मैं अपने वचन को प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी-अपनी भाषा में सोखने-समझने की आज्ञा देता हूँ।' वैदिक या संस्कृत-भाषा में अपने उपदेशों को बाँधना बुद्ध को स्वीकार नहीं था। इससे प्रमाणित है कि भगवान् बुद्ध को जनपदीय भाषा ही प्यारी थी। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि वे अपने उपदेशों को विद्वान् से अशिक्षित—कोरे देहाती—लोगों तक पहुँचाना चाहते थे।

अब प्रश्न यह है कि वह जनपदीय भाषा कौन-सी थी? निश्चित है कि जिस मागधी में, उनके उपदेश परोये गये, वही उनकी उपदेश-भाषा थी। किन्तु, वह मागधी न तो अर्द्धमागधी थी और न संस्कृत के नाटकों में मिलनेवाली 'मागधी' ही। वह तो वही हो सकती है, जो अशोक के 'गिरनार-शिलालेख' में है, जिसका साम्य पालि से है और जिस पालि में 'त्रिपिटक' लंका में सुरक्षित थे। इसीलिए बुद्ध-वचनों की मौलिक महत्ता तथा अपनी मातृभाषा के प्रेम के कारण ही पाँचवीं सदी में मगध-निवासी 'बुद्धघोष' अटुकथाओं को लाने लंका गये। साथ ही, हम यह भी देखते हैं कि मागधी भाषा के प्रेम के कारण ही 'बुद्धघोष' के गुरु मगधवासी आचार्य 'रेवत' ने भी बुद्धघोष को लंका जाने और मूल बुद्ध-वचन को ले आने के लिए प्रेरित किया।

अशोक के शिला-लेखों में भाषा की जो विभिन्नता दिखाई देती है, उसका मूल कारण वही है कि भगवान् बुद्ध की आज्ञा के अनुसार ही सम्राट् ने तत्-तत् प्रदेश की भाषाओं का व्यवहार किया है—किसी एक भाषा का नहीं। फिर भी, उन लेखों में मागधी की मौलिकता उसने आलुसण रखी है। इसका मुख्य कारण भी यही मालूम होता है कि बुद्ध-वचन की मुख्य भाषा मागधी थी और जो 'गिरनार' के शिला-लेख में अनुबद्ध है। भगवान् बुद्ध और सम्राट् अशोक के समय में अधिक-से-अधिक अन्तर ढाई-पौने तीन सौ वर्षों का

१. चुल्लवग्ग—५, ३३, १।

२. तपैव।



होता है। एक भाषा के बदलने में काफी समय लगता है। इतने वर्षों के अन्तर में यह कदापि सम्भव नहीं है कि गिरनार-शिलालेख की भाषा बुद्ध-वचन की भाषा से विलकुल बदल जाय। उसमें भी यह भाषा एक तरह से धर्म-भाषा थी, जिसकी अछुत्तता पर धर्म-पुरुषों ने बहुत बल दिया होगा। बुद्ध-वचन की भाषा की एक मागधी परम्परा भी मिलती है, जिसे मगध-निवासी महाकाश्यप ने राजगृह की प्रथम संगीति में दृढ़ किया था। जिस भाषा में त्रिपिटक का अनुवचन प्रथम संगीति में हुआ, उसके नियामक मागधीभाषी महाकाश्यप ही थे और जिसका अक्षरशः अनुकरण सम्राट् अशोक ने किया होगा। बाद में मले ही उसे पालि-भाषा कहा गया हो।

यह विचारना आवश्यक है कि मगध-प्रदेश की उस भाषा का नाम पालि क्यों पड़ा और उसका व्यवहार कब से होने लगा? पालि शब्द का प्रथम-ग्रथम व्यवहार हमें पाँचवीं सदी में, आचार्य बुद्धघोष की रचनाओं में प्राप्त होता है। किन्तु इन्होंने भी पालि शब्द का व्यवहार भाषा के अर्थ में नहीं किया है; बल्कि बुद्ध-वचन, मूल त्रिपिटक तथा उसके पाठ के अर्थ में किया है। 'विशुद्धिमग्ग' में उनका वाक्य है—'नेयं पालियं न अट्ठकथायं विस्सति।' अर्थात् न यह पालि में दीखता है, न अट्ठकथा में। स्पष्ट है कि यहाँ 'पालि' का अर्थ भाषा नहीं है। किन्तु इसी आचार पर १४वीं सदी के बाद, पालि शब्द भाषा के अर्थ में व्यवहृत होने लगा। आज तो पालि शब्द का मुख्य अर्थ यह माना जाता है—'बौद्धधर्म के स्थविरवाद के त्रिपिटक और उसके अन्य साहित्य जिस भाषा में लिपिबद्ध है, वही पालि-भाषा है'।<sup>१</sup>

हमें यहाँ देखना चाहिए कि 'पालि' शब्द का मूल रूप कौन-सा शब्द है और भाषा के अर्थ में इसका पालि नाम क्यों पड़ा? इससे भी मागधी और पालि की एकरूपता पर प्रकाश पड़ सकता है। भाषाशास्त्रियों ने अपने-अपने विचारानुसार कई शब्दों को इसका मूल रूप माना है, जिनमें 'परियाय', 'पाठ', 'पक्ति', 'पाल', 'पल्ली' आदि हैं। किन्तु इन सब शब्दों में युक्तियुक्त तथा ग्राह्य शब्द 'परियाय' माना गया है, जिसका अर्थ होता है—'बुद्ध-वचन'<sup>२</sup>। भाषाशास्त्रियों का कहना है कि 'परियाय' का 'अपभ्रंश' 'पलियाय' है। इसी पलियाय का प्रथम अक्षर दीर्घ होकर 'पालियाय' बन गया तथा इसी का संक्षिप्त रूप 'पालि' हो गया<sup>३</sup>। इस विचार से बौद्ध विद्वान् भिज्जु जगदीश काश्यप भी सहमत हैं<sup>४</sup>। किन्तु, मेरी दृष्टि धारणा है कि मागधी का 'पालि' नाम मगध के जनपद-विशेष के नाम पर पड़ा है। जिस तरह मैथिली, भोजपुरी मागधी, बंगला, गुजराती आदि भाषाओं का नाम जनपद

१. श्रीभरतसिंह उपाध्याय-लिखित 'पालि-साहित्य का इतिहास'।

२. मगधवा अनेक परियायेन धम्मो पकासितो। —दीप निकाय—१, २ (सामञ्जसजलसुत्त)।

३. पालि-साहित्य का इतिहास (भरतसिंह उपाध्याय)—पृ० ४

४. पालि-महाव्याकरण (भिज्जु जगदीश काश्यप), वस्तुतया—पृ० ८-१२ में इसका विस्तृत विवेचन द्रष्टव्य।

या प्रदेश-विशेष के नाम पर पड़ा है, उसी तरह 'पालि' का नाम भी मगध के जनपद-विशेष के नाम पर पड़ा। लंका में जब त्रिपिटक और श्रद्धकथाएँ पहुँचीं, तब बहुत संभव है कि गया जिले के टेकारी के पास के 'पालि' जनपद-क्षेत्र से गई होगी। यह पालि-जनपद बौद्धधर्म का जन्म-स्थान था और इसीलिए गुप्तकाल में भी वह एक प्रमुख स्थान रहा। आज भी वहाँ बौद्धमूर्तियाँ और गुप्तकाल के अवशेष देखे जा सकते हैं, जिनसे पता चलता है कि किसी समय मगध के प्रमुख स्थानों में इस जनपद का अपना विशिष्ट स्थान था। 'पालि' नामक दूसरा स्थान भी पटना जिले के पश्चिमी क्षेत्र में अवस्थित है, जो एक प्रसिद्ध स्थान है। लंका में बौद्धधर्म के ग्रन्थ इन्हीं स्थानों के प्रमुख भिक्षुओं के द्वारा गये होंगे, अतः बहुत अधिक संभावना है कि इन्हीं स्थानों के आधार पर जनपदीय पालि-भाषा का नामकरण हुआ होगा।

अनेक विद्वानों का मत है कि 'पालि' मगध की भाषा नहीं थी, अपितु उज्जैन-प्रदेश की भाषा थी; क्योंकि सम्राट् अशोक ने अपने सभी शिला-लेख तत्-तत् प्रदेशों की भाषाओं में ही लिखवाये थे। अतः, उज्जैन-प्रदेश के पास में स्थित 'गिरनार' का शिला-लेख, जो पालि से मिलता-जुलता है, उज्जैन-प्रदेश की भाषा में ही सम्राट् ने लिखवाया होगा। इनका दूसरा तर्क भी है कि चूँकि अशोक के पुत्र महेन्द्र का जन्म-स्थान उज्जैन-प्रदेश था, इसलिए लंका में जाकर उसने अपनी मातृभाषा में ही बुद्ध-वचनों को लिपिबद्ध कराया होगा। किन्तु ये ग़रीबी बातें केवल कल्पना के महल हैं। पहली बात तो यह है कि महेन्द्र की मातृभाषा मागधी थी अथवा उज्जैन की भाषा थी, वही निश्चित करना कठिन है; क्योंकि केवल उज्जैन में जन्म लेने से ही उसकी मातृभाषा वहाँ की होगी, यह कैसे मान लिया जाय? यदि ऐसा मान भी लिया जाय, तो यह कैसे नहीं माना जाय कि 'गिरनार-शिला-लेख' को सम्राट् अशोक ने अपनी मातृभाषा में लिखवाया हो? अशोक की भी अपनी मातृभाषा पर किसी से कम ममता नहीं होगी। दूसरी बात यह है कि उज्जैन अशोक की दूसरी राजधानी था, जहाँ अशोक के समय में लगभग १०० वर्षों से मौर्यों का शासन स्थिर था। अशोक स्वयं भी वहाँ का शासक रह चुका था। वहाँ के राजकीय व्यवहार के कार्य अशोक की प्रधान राजधानी के कार्यालय की भाषा में ही होते होंगे, जिससे दोनों में एकरूपता रहती होगी। अतः, उज्जैन के नागरिकों और कर्मचारियों के लिए प्रधान राजधानी की भाषा मागधी का ज्ञान नितान्त आवश्यक होगा। इसलिए गिरनार-शिला-लेख निश्चित रूप से तत्कालीन मागधी में ही लिखा गया। तीसरी बात भी मुझे जो कहनी है, वह यह कि जब आज से ८०० वर्ष पहले जिस भाषा को मागधी कहा गया और जिन ग्रन्थों में ऐसा कहा गया, उनकी और बातें तो हम प्रमाण मानते हैं, तब कोई कारण नहीं दीखता कि उसकी मागधी भाषावाली बात हम प्रमाण-रूप में न मानें। लंका का प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ 'महावंस' है। इसके ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा तक यह ग्रन्थ चौथी सदी में लिखा गया। इसका परिवर्द्धित संस्करण सन् १२४० ई० से सन् १२७५ ई० के बीच में 'धर्मकीर्ति' ने किया, जिसका नाम 'चूलवंस' रखा गया। इसी में 'बुद्धघोष'

की जीवनी है। इसके अनुसार बुद्धघोष के गुरु 'रिवत' ने उनसे कहा—“बुद्ध की कथाएँ सिंहली भाषा में सुरक्षित हैं। लोक-कल्याण के लिए तुम उसे 'मागधी' में रूपान्तरित करके ले आओ।” इसके बाद गुरु की आज्ञा पाकर बुद्धघोष ने जिस भाषा में सिंहली कथाओं का रूपान्तरित किया, वही 'पालि' मानी जाती है। यहाँ ध्यान रहे कि गुरु ने मागधी में रूपान्तरित करने को कहा था और तब बुद्धघोष की रूपान्तरित भाषा (जिसे हम पालि कहते हैं) कैसे मागधी नहीं होगी। इसी तरह १२वीं सदी में लिखे गये पालि-भाषा के 'मोमालान व्याकरण' का प्रथम सूत्र भी कहता है—“भासिरत्तं मागधं सद्ध-लक्खनं।”—अर्थात् मागधी भाषा का शब्द-लक्षण प्रतिपादित करता हूँ। यहाँ भी मागधी का ही नाम लिया गया है। 'कव्वान व्याकरण' में भी इसी तरह कहा गया है—

‘सा मागधी मूलभासा सम्बुद्धा चापि भासरे।’

स्वयं बुद्धघोष (पाँचवीं सदी का पूर्वार्द्ध) ने भी अपनी 'समन्त पासादिका' नामक पुस्तक में लिखा है—‘सम्मा सम्बुद्धेन वुत्तपकारो मागधको वोहारो।’ अर्थात्, सम्बुद्ध के द्वारा प्रयुक्त मागधी का यहाँ व्यवहार है। इन्होंने अपनी दूसरी पुस्तक 'विमुद्धिममा' में भी लिखा है—‘मागधिकाय सन्वसत्तानं मूलभासाय।’—अर्थात्, सभी प्राणिधों की मूल भाषा मागधी के लिए।

इस तरह हम देखते हैं कि आज से १५०० वर्ष पहले भी मागधी ही बुद्धोपदेश की भाषा कही गई और जिस भाषा में ग्रन्थों की रचना की गई है, वह (पालि-भाषा) मागधी के अतिरिक्त दूसरी हो ही नहीं सकती और न वह दूसरे प्रदेश की भाषा हो सकती है।

व्याकरण के जिस आधार पर कुछ लोग पालि को मागधी से भिन्न होने का दावा करते हैं, किन्तु उसका भी आधार हट्ट दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे कहा जाय कि पालि मागधी से भिन्न भाषा है। उनका कहना है कि मागधी में 'स' के स्थान पर 'श' होता है। इसी तरह 'र' नहीं होता, इसके स्थान पर 'ल' होता है। पालि में पुलिंग अकारान्त के एकवचन में ओकारान्त होता है और नपुंसकलिंग अकारान्त शब्द की एकवचन विभक्ति अनुस्वरान्त होती है, जो मागधी में दोनों लिंगों के एकवचन में एकारान्त हो जाती है। पालि में 'श' अक्षर तो होता ही नहीं। पर, पालि में भी कहीं-कहीं 'र' के स्थान पर 'ल' मिलता है और एकारान्त शब्द भी कहीं-कहीं मिलते हैं। जैसे, अशोक के शिला-लेख में भी और 'सुत्त-निपात' में 'राहुलोवादे' की जगह 'राहुलोवादे', 'बुद्ध' के स्थान पर 'बुधे' तथा 'मृगः' की जगह 'मृगे' आदि रूप प्राप्त होते हैं; पर ये प्रयोग कम हैं। फिर भी योद्धा-बहुत दोनों रूप हैं। किन्तु जिस मागधी से पालि का इस तरह मिलान किया जाता है, वह मागधी तो अशोक के बहुत काल के बाद की मागधी है और जो हमें अभिलेखों और नाटकों में प्राप्त होती है। पाँच-सात सौ वर्ष बाद की मागधी से अति प्राचीन मागधी का स्वरूप निर्धारण करना न्याय-संगत

१. कता सिंहलभासाय सींहलेसु पवत्तति।

तं तस्य गन्त्वा सुत्वा त्वं मा गधामो पवत्तति ॥ —महावंस, परि० ३७



नहीं है। वह तो अतिप्राचीन मागधी का रूपान्तरित मागधी हो सकती है। यों तो अशोक के ही विभिन्न शिला-लेखों में पालि के एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूप प्राप्त होते हैं। जैसे—'लिख्' धातु के शिजन्त रूप गिरनार में 'लेखापिता' है; शहजाजगढ़ी में 'लिखपितु', जौमद में 'लिखापिता' और मानसेरा में 'लिखपित' मिलता है। और, इसी धातु का मागधी रूप 'मृच्छकटिक' नाटक में 'लिहावइश' है।

इन सारी बातों पर अच्छी तरह विचार करने से पता चलता है कि प्राचीन काल की मागधी ही पालि-भाषा है, जो बिहार-प्रदेश के मगध-क्षेत्र की भाषा थी तथा जिसकी देन बौद्धधर्म के विकास में अनिर्वचनीय है। इसके अतिरिक्त जेम्स एल्विस, चाइल्डर्स, विंडरिश, विंटरनिज, प्रिक्सन, रायगर आदि विदेशी विद्वानों ने भी पालि को मागधी ही माना है—किसी दूसरे क्षेत्र की भाषा नहीं।

बौद्धधर्म के विकास में बिहार-प्रदेश की मागधी भाषा की देन अतुलनीय और अनिर्वचनीय है। सच पूछिए, तो बौद्धधर्म के विकास का सम्पूर्ण माण्डार ही मागधी (पालि) की देन है, यानी सारा बौद्धसाहित्य-सागर ही मागधी भाषा के धारा-प्रवाहों से भरा है, जिसका

**बौद्ध साहित्य की  
मागधी की देन**

लेखा-जोखा दुष्कर है। मागधी ने केवल बौद्धधर्म के अस्तित्व, सुरक्षा और विकास का ही कार्य नहीं किया है, अपितु समस्त भारत की संस्कृति, सभ्यता, इतिहास तथा विविध कलाओं की विपुल रचना के साथ-साथ उसका विकास भी किया है। इस सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ न कहकर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के ही कुछ वाक्य उद्धृत कर देना श्रेयस्कर समझता हूँ। इन्होंने भरतसिंह उपाध्याय द्वारा लिखित 'पालि-साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है—  
"ईसवी सन् के पहले और पीछे की पाँच शताब्दियों के भारत के विचार, साहित्य, समाज सभी क्षेत्रों की हमारी जानकारी बिलकुल अधूरी रह जाती, यदि हमारे पास पालि-साहित्य नहीं होता। हमारे इतिहास के कितने ग्रंथकारावृत भागों पर पालि-साहित्य ने प्रकाश डाला है। हमारे ऐतिहासिक नगरों और गाँवों में बहुतों को विस्मृति के गर्भ से बाहर निकालने का श्रेय पालि-साहित्य को है।" इस तरह हम पालि-भाषा की महत्ता और विशेषता से अवगत हो जाते हैं।

बिहार-प्रदेश की प्राचीन नगरी 'राजगृह' में जो सर्वप्रथम बौद्ध संगीति बैठी और बुद्ध-वचनों के पाठ स्थिर किये गये, उसके अनुसार सुत्तपिटक, विनयपिटक और बुद्धघोष के कथनानुसार अभिधम्म की रचना भी इसी संगीति में हुई। किन्तु 'सुल्लवग्ग' के बारहवें खन्धक के लेखानुसार हमें शत होता है कि 'रेवत' को धर्म, विनय और मातृका कण्ठस्थ थे। पिटक शब्द का उल्लेख इस जगह नहीं मिलता है। विद्वानों का कहना है कि 'मातृका' का निर्माण ही महाकाश्यप ने किया, अभिधम्म का नहीं। 'दिग्वावदान' में भी—सूत्रस्य, विनयस्य, मातृकायाः वाक्य का ही उल्लेख हमें प्राप्त होता है। जो हो, किन्तु आज

बौद्धों के सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक अतिप्राचीन ग्रन्थ माने गये हैं और उनकी प्रामाणिकता में किसी को भी कुछ सन्देह नहीं है। ये सभी ग्रन्थ अतिप्राचीन मागधी से अमित्र पालि-भाषा में ही हैं।

सुत्तपिटक में पाँच निकाय हैं—( १ ) दीप निकाय, ( २ ) मङ्गल निकाय, ( ३ ) संयुत्त निकाय, ( ४ ) अंगुत्तर निकाय और ( ५ ) खुहुक निकाय। इन निकायों की संख्या शताधिक है।

१. दीप निकाय में ३४ सूत्र-ग्रन्थ हैं। इसमें दूसरों के साथ हुए भगवान् बुद्ध के वार्त्तालापों का उल्लेख है। इसके 'ब्रह्मजालसुत्त' में तत्कालीन धार्मिक और दार्शनिक मन्तव्यों का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह हमारे देश के दार्शनिक इतिहास की कुछ ऐसी रेखाएँ हैं, जिनसे हम भारतीय दार्शनिक पद्धति और उसकी आधार-भूमि का बहुत-कुछ महत्त्वपूर्ण आभास प्राप्त कर लेते हैं। साथ ही इस सुत्त से हमें तात्कालिक धर्मोपदेशक और उनके विचार, यज्ञश्रम-व्यवस्था, आचार, नियम और इन सब पर भगवान् बुद्ध के अभिमत आदि हमें प्राप्त हो जाते हैं। यह ग्रन्थ भारतीय समाज-व्यवस्था का एक सुन्दर और स्पष्ट चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है तथा वैदिक धर्म का बुँधला-सा प्रकाश भी देता है, जिसपर भगवान् बुद्ध की प्रतिक्रिया का रूप भी सामने खड़ा कर देता है। इन सारी बातों से इसकी विशेष महत्ता प्रकट होती है।

२. मङ्गल निकाय में १५२ सूत्र-ग्रन्थ गुम्फित हैं। इसमें भी बुद्ध के उपदेश भरे हैं और उनके संवादों की विस्तृत चर्चा है। इसमें चार आर्यसत्य, निर्वाण, कर्म, सत्कायदृष्टि, अनात्मवाद, भ्रान्त आदि विषयों पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की गई है। साथ ही तत्कालीन भारतीय समाज का जैसा विराद चित्रण, दृष्टान्तों और उपमाओं के साथ, ग्रन्थ में मिलता है, वह अन्वय दुर्लभ है। बौद्ध भिक्षुओं के जानने-मानने योग्य नियम-ज्ञान आदि की एक विस्तृत तालिका भी इसमें प्रथित है। बुद्धकालीन भारत की वास्तविक सामाजिक स्थिति के लिए यह एक प्रामाणिक कोष-ग्रन्थ है।

३. संयुत्त निकाय में ५४ संयुत्त हैं, जो पाँच वर्गों में बँटे हैं। यह ग्रन्थ अपनी अन्य विशेषताओं के साथ कथोपकथनात्मक ढंग का श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ है। भिक्षुणी-संयुत्त में लोक-गीतों का श्रेष्ठतम संग्रह है, जिसमें समाज की अनेक स्थितियों के साथ काव्य का सद्भुत चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। उपनिषद् और प्रातिशाक्थ ग्रन्थों की शैली पर इसमें बौद्ध साहित्य का निर्माण किया गया है।

४ अंगुत्तर निकाय एक अति विशाल ग्रन्थ है। इसके ११ निपातों ( समूहों ) में २३०८ सूत्र दिये गये हैं। अंगुत्तर एकादशीत्तर शब्द का पालि रूप है, जिसका तात्पर्य है—एकादश उत्तरों का निकाय। ऐसा विद्वानों का मत है। पर, मेरी समझ में इसका अर्थ है—अंकों के द्वारा उत्तर दिया जानेवाला निकाय। प्रथम निपात में एक क्या-क्या है, इसे बताया गया है। द्वितीय में दो क्या-क्या हैं, तृतीय में तीन क्या-क्या हैं, बताया गये हैं। इसी तरह बढ़ते-बढ़ते ११वें निपात में ११ वस्तुएँ क्या-क्या हैं, उनकी तालिका दी गई है। इस

ग्रन्थ की विषय-विविधता के साथ शिक्षा देने की रोचक प्रणाली अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें भी ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों की शैली दृष्टिगत होती है।

५. खुद्दक निकाय में भगवान् बुद्ध के छोटे-छोटे उपदेशों और छोटी-बड़ी कथाओं का संग्रह है। यह ग्रन्थ १५ भागों में विभक्त है। यह बौद्ध साहित्य में हिन्दुओं के १८ पुराणों के स्थान की पूर्ति करता है। पन्द्रह भागों के नाम इस प्रकार हैं—

१. खुद्दक पाठ	९. धेरी गाथा
२. धम्मपद	१०. जातक
३. उदान	११. निर्देश
४. इतिवृत्तक	१२. परिसमिदावग्ग
५. सुत्तनिपात	१३. अवदान
६. विमानवत्थु	१४. बुद्धवंस
७. पेतवत्थु	१५. चरिया पिटक*
८. धेरगाथा	

इनमें से एक-एक भाग भारतीय संस्कृति, इतिहास, सम्भ्रता, भूगोल, धर्म, रीति-रिवाज तथा बौद्ध साहित्य का मांडार है। ये ग्रन्थ भारतीय संस्कृति की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

विनय पिटक तीन भागों में विभक्त है। इन भागों के नाम हैं—सुत्तविभंग, खन्धक और परिवार। प्रथम सुत्तविभंग के भी दो भाग हैं—पारामिक और पांचित्तिय। इसी तरह खन्धक भी दो भागों में बँटा है—महावग्ग और चुल्लवग्ग। इस प्रकार 'परिवार' के साथ इसके पाँच भाग होते हैं।

सुत्तविभंग विनयपिटक का प्रथम भाग है। इसमें २२७ नियमों का विधान करने वाली सुत्तों की व्याख्या प्रतिपादित है। खन्धक के 'महावग्ग' में धम्मजा, उपीसथ, वपावास, प्रवारणा आदि विषयों से संबद्ध नियमों का उल्लेख किया गया है। इस तरह खन्धक के दूसरे भाग चुल्लवग्ग में भिक्षुओं के पारस्परिक व्यवहार तथा संघाराम-सम्बन्धी आचारों का वर्णन है। भिक्षुश्रियों के लिए इसमें विशेष आचारों का प्रतिपादन किया है। महावग्ग और चुल्लवग्ग—इन दोनों खण्डों में भगवान् बुद्ध की जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाओं की चर्चा भी दी गई है। महावग्ग में बुद्ध के प्राथमिक धर्म-प्रचार का संक्षिप्त इतिहास भी प्राप्त होता है।

'परिवार' विनय-पिटक का तीसरा अंश है। इसके सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि यह बहुत बाद का प्रक्षिप्त अंश है। इसे सिंहल-देश के किसी बौद्ध भिक्षु ने जोड़ा है<sup>१</sup>। इसमें वैदिक अनुक्रमशिकाओं की तरह विभिन्न प्रकार की तालिकाएँ प्रस्तुत हैं।

अभिधम्मपिटक सात भागों में बँटा है। सातों के नाम इस प्रकार हैं—

१. इन सब पर विशेष प्रकार के लिए भरतसिंह उपाध्याय-लिखित 'पालि-साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक का अवलोकन आवश्यक होगा।—ले०
२. बौद्धधर्म-दर्शन—(आचार्य मेरुदत्त) —पृ० ३०



(१) धम्मसंगणि, (२) विमंग, (३) धातुकथा, (४) पुमाल पञ्जत्ति, (५) कथावत्थु, (६) यमक और (७) पट्ठान। ये सातों बौद्धधर्म के दार्शनिक ग्रन्थ हैं। इन ग्रंथों में धर्मों का वर्गीकरण, वर्गीकृत धर्मों का विस्तार और उसपर भंगजाल का प्रसार, धातुओं की प्रश्नोत्तर के रूप में व्याख्या, मानव-श्रमों का वर्गीकरण, बौद्धधर्म का विकासात्मक इतिहास, भूतान्तरी का पूर्व-पक्ष में समर्थन और स्वरूप, अनेक बौद्ध सिद्धान्तों की स्थापना आदि बड़े ही सुतिसंगत एवं वैज्ञानिक ढंग पर प्रतिपादित किये गये हैं। 'कथावत्थु' तक के पाँच ग्रन्थों में जिन शंकाओं के समाधान नहीं किये गये थे, उन शंकाओं के समाधान 'यमक' के विवरणों में दिये गये हैं। इसी तरह 'पट्ठान' में नाम और रूप के २४ प्रकार के कार्य-कारण-सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है। इनमें क्रमशः पाँच दार्शनिक ग्रन्थों का निर्माण मौर्यकाल तक हो चुका था और 'यमक' तथा 'पट्ठान' की रचना उसके बाद में हुई।

इन उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त भी प्राचीन मागधी (पालि) ने बौद्ध साहित्य को खूब भरा-पूरा किया है। ऐसे ग्रन्थों में बुद्धवत्त, बुद्धघोष और धर्मपाल की लिखी अष्टकथाएँ हैं, जो पालि-साहित्य के गौरव-ग्रन्थ हैं। इनका यथास्थान पहले उल्लेख हो चुका है। बुद्धघोष के पूर्व जिन मान्य बौद्ध ग्रन्थों की रचना हुई, उनमें 'नेत्तिपकरण', 'पेटकोपदेश', तथा 'मिलिन्दपञ्च' प्रमुख हैं।

'नेत्तिपकरण' के रचयिता 'गन्धर्वस' के अनुसार बुद्ध के शिष्य 'महाकात्यायन' थे। इसमें १६ द्वार मथित हैं। इन १६ द्वारों में यह ग्रन्थ बुद्धधर्म और दर्शन का माध्य है। जैसे वेदों का माध्य निरुक्त है, उसी तरह बौद्धधर्म-दर्शन का माध्य 'नेत्तिपकरण' है। इसका रचना-काल ईसवी सन् के आरंभ के आस-पास माना गया है<sup>१</sup>। धर्मपाल ने पाँचवीं सदी में इस ग्रन्थ की 'नेत्तिपकरणस्य अत्यु संवत्सराणां' नामक अष्टकथा लिखी थी<sup>२</sup>।

'पेटकोपदेश' के रचयिता भी महाकात्यायन ही माने गये हैं, जो अतिशय संदिग्ध है। यह भी 'विनयपिटक' का एक भाग्य है। इसकी भाषा 'नेत्तिपकरण' की भाषा से अधिक सुलभी और गौरी है। इसलिए दोनों के रचयिता एक नहीं हो सकते। यह उससे बहुत बाद का बात होता है। फिर भी इसकी प्राचीनता अस्संदिग्ध है।

'मिलिन्दपञ्च' का रचयिता कौन है? यह प्रश्न आज तक निरुत्तर ही बना हुआ है। इस ग्रन्थ में बुद्ध के विनय और अभिधर्म की चर्चा विशद रूप में है। बौद्ध ग्रन्थों में इसका खूब समादर है। प्रामाणिकता में पिटकों के बाद इसी का स्थान माना जाता है। यह ग्रन्थ मिमाम्बर (मिलिन्द) और गुरु नागसेन के प्रश्नोत्तर-रूप में निबद्ध है, जिससे शुंगकाल की अनेक घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। इसका निर्माण-काल ईसा-पूर्व दूसरी या पहली शती है।

१. देसिप—इस पुस्तक का पृ० २०८

२. गंधर्वस—पृ० ४६

३. पालि लिटरेचर एण्ड सेम्बेज (गायगर), पृ०—२६

४. पालि-साहित्य का इतिहास—पृ० ४७१

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त पालि-भाषा में सिंहल-देश के वंस-ग्रन्थ हैं, जिनमें महावंस, चूलवंस, गंधवंस, सासनवंस, महाबोधिवंस और श्रृपवंस आदि हैं। इस तरह हम देखते हैं कि प्राचीन भाषा में संसार की बृहत् संस्कृति समन्वित है।

(क) धर्मसेनापति सारिपुत्र भगवान् बुद्ध के अत्यन्त प्रिय और प्रधान शिष्य थे। वे मगधवासी थे, जिनके सम्बन्ध में चर्चा पहले की गई है। भगवान् बुद्ध को इनकी विद्वत्ता और ज्ञान पर इतना भरोसा था कि अपनी ओर से भिक्षुओं में इनसे उपदेश कराते थे। सारिपुत्र के उपदेशों के जो संग्रह मिलते हैं, उनके नाम हैं—दसुत्तरसुत्त और संगीति परिवायसुत्त<sup>१</sup>। संगीति परिवायसुत्त एक संख्या से १० संख्या तक के वर्गीकरण में बुद्ध-मन्त्रियों की विस्तृत तालिका है। इसमें विनय और अभिधम्म का मूल तत्त्व समाविष्ट है। 'धर्मस्कन्धपाद' भी इन्हीं की रचना मानी जाती है।

(ख) आचार्य बुद्धघोष के 'समन्तपासादिका' के अनुसार 'अभिधम्मपिटक' की रचना मगध-देशवासी और प्रथम संगीति के नियामक महाकाश्यप ने ही की है। यह बौद्ध दर्शन का मूल ग्रन्थ है।

(ग) सम्राट् अशोक के गुरु 'मोग्गल्लिपुत्तिध्व' ने तृतीय संगीति के अवसर पर अभिधम्मग्रन्थ 'कथावत्थु' की रचना की, जो बौद्ध दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें १८ बौद्ध सम्प्रदायों में से एक स्थविरवाद की मान्यता दी गई है। शेष १७ दार्शनिक पद्धतियों का निराकरण किया गया है। विरोध-पक्ष के २१६ सिद्धान्तों का इस ग्रन्थ में खण्डन है, जो २३ अध्यायों में विभक्त है। पण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इसकी प्रामाणिकता पर संदेह प्रकट करते हुए अपनी 'पुरातत्व-निबन्धावली' नामक पुस्तक में लिखा है कि २१६ सिद्धान्तों में से कई सिद्धान्त अशोक के बाद के हैं। इसलिए 'कथावत्थु' में कई अंश पीछे के हैं, जो ईसा-पूर्व पहली शताब्दी तक में जोड़े गये हैं। इसमें तत्कालीन जिन आठ सिद्धान्तों के खण्डन हैं, उनमें दो ही महासंधिकों के हैं—बाकी छह सिद्धान्त तो स्थविरवाद के ही हैं। कथावत्थु पर पचासीवी सदी में बुद्धघोष ने अट्ठकथा भी लिखी है।

(घ) सम्राट् अशोक ने अनेक महान् धर्मोद्योगों की तरह बौद्ध साहित्य का भी दान किया, जिसमें उसके शिला-लेख और स्तम्भ-लेख हैं, जो इतिहास के जीवित साक्ष्य हैं<sup>२</sup>।

(च) आर्य मोग्गल्लान की कृति 'प्रज्ञप्तिशास्त्रपाद' नामक रचना मानी जाती है। मोग्गल्लान भी मगध-निवासी ही थे, जिनके सम्बन्ध में पहले ही विवरण प्रस्तुत कर दिया गया है।

(छ) कनिष्क के समय में पाटलिपुत्र के 'अश्वघोष' ने बौद्ध साहित्य का जैसा सर्जन किया है, वह सर्वविदित है। इसका भी उल्लेख यथास्थान इस पुस्तक में द्रष्टव्य है<sup>३</sup>।

१. दीप सिकाय—३-१०

२. देखिए इसी पुस्तक का परिशिष्ट-४

३. इस पुस्तक के पृ०—१८२-१६०

(ज) गुप्तकाल के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् बुद्धघोष की विपुल कृतियों की देन तो अमुगम है ही<sup>१</sup>, जिसने समस्त बौद्धधर्म के साहित्य का उद्धार किया है।

इन सबके अतिरिक्त सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक बिहार के जिन विद्वानों ने, अपने देश तथा विदेश ( जैसे चीन, यमा, तिब्बत, लंका आदि ) में जाकर बौद्धसाहित्य-संरक्षण का जो महाप्रयास किया है, वह तो अचर्यानीय है। फिर भी इन सबका संक्षिप्त परिचय पहले ही दिया जा चुका है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्धसाहित्य के प्रणयन और उन्नयन में बिहार-प्रदेशवासी विद्वानों ने जितने कार्य किये हैं, उन सबका उल्लेख दुष्कर है। आज भी महा पण्डित राहुल सांकृत्यायन और भिन्नु जगदीश काश्यप-जैसे बिहारी विद्वान् बौद्धसाहित्य का भण्डार भरते ही जा रहे हैं।



## परिशिष्ट-२

### बौद्ध स्थापत्य और शिल्पकला के क्षेत्र में—

बिहार-प्रदेश के कुशल शिल्पियों तथा बौद्ध भक्तों ने चैत्य, विहार, मंदिर, भित्तिचित्र एवं बुद्धमूर्ति का निर्माण करके अथवा कराके बौद्धधर्म के विकास में जो सहयोग दिया, उसका मूल्य किसी भी धर्मोद्योग से कम नहीं है। बिहार की स्थापत्य-कला और शिल्प-कला ने भी उसी तरह बौद्धधर्म के निर्माण, रक्षा एवं विस्तार में स्तुत्य अशोक के पूर्व प्रयत्न किया है, जिस तरह बिहार के राजाओं, विद्वानों एवं साहित्य ने किया है। बौद्धधर्म की रक्षा तथा प्रसार के लिए ही भगवान् बुद्ध की धातुओं का आठ भागों में विभाजन हुआ था, जिनपर चैत्यों का निर्माण हुआ। बिहार-प्रदेश में बुद्ध की धातुओं पर जिन लोगों ने चैत्यों का निर्माण कराया, उनमें वैशाली के लिच्छवि, अल्लकण्य के बुल्ली और मगध के सम्राट् अजातशत्रु मुख्य थे। चम्पारन जिले (पिपली-कानन) के मोरियों ने भी बुद्ध के भस्मावशेष पर चैत्य तैयार कराया था। इन चैत्यों में कैसी कारीगरी शिल्पियों ने की, कितना धन व्यय हुआ और इनकी क्या महत्ता थी, इसका पता राजगृह के चैत्य-निर्माण से चलता है। इस चैत्य-निर्माण का वर्णन 'दोष निकाय' के 'परिनिव्रणमुत्त' की 'अट्टकथा' में बुद्धघोष ने किया है<sup>१</sup>, जिसका सारांश यहाँ दिया जाता है—

“चैत्य-निर्माण के लिए ८० हाथ गहरा गड्ढा खोदा गया। उसमें लोहे की चादर बिछाकर ‘ध्वाराम’ चैत्य-घर के बराबर तबि का घर बनवाया गया। बाद, भगवान् बुद्ध की धातु एक छोटी पिटारी में रखी गई<sup>२</sup>। उसके ऊपर सम्राट्, रजतगृह और तय सर्वरत्नमय गृह का निर्माण हुआ। इसके बाद महामुनि महाकाश्यप ने गृह के ऊपर बालू और पुष्पों को बिखरवाकर भरवा दिया। इसके ऊपर साढ़े पाँच सौ जातकों, अस्सी स्थविरो, बुद्ध के पिता शुद्धोधन, माता मायादेवी आदि की सुवर्णमय मूर्तियाँ भी बनवाई गईं। पाँच सौ रजत-सुवर्णमय घट स्थापित किये गये, पाँच सौ भोज फहरवाये, पाँच सौ सुवर्ण-दीपों और पाँच सौ रजत-दीपों में घी डालकर स्वच्छ दुकूल-वत्तियाँ जलाई गईं। तब महामुनि महाकाश्यप ने उसपर यह वाक्य लिखवाया—‘भविष्य में दरिद्र राजा मणियों को ग्रहण कर इन धातुओं की पूजा करें।’ बाद में सम्राट् अजातशत्रु ने चारों ओर गृहों के निवास करने लायक शिला-परिक्षेप कराया और ऊपर एक भारी शिला-खण्ड से बन्द करवाकर मिट्टी डलवाई और उस स्तूप को समतल करवा दिया।”

स्थापत्य-निर्माण की यह प्रथा भगवान् बुद्ध से भी पहले की, अतएव बहुत पुरानी थी।

१. बुद्धचर्या ( महापण्डित राजुल सांक्रियायन ) ५०—५४७

२. विस्तृत विवरण दस पुस्तक के ५०—१५३-१५४ पृ. देखिए।

इस तरह के स्तूप धर्माचार्यों और राजाओं के अवशेषों पर बनते थे, जिन्हें देखकर ही अपने परिनिर्वाण के समय बुद्ध ने शिष्यों से कहा था—'मेरे निर्वाण के बाद मेरे अवशेषों पर स्तूप बनवाये जावें !' स्वयं भगवान् बुद्ध ने वैशाली के कई पुराने स्तूपों की चर्चा की है ।

सम्राट् अशोक ने अपने धर्मयोग-काल में भगवान् बुद्ध के स्मृति-स्मार्थ तथा धर्म की चिरस्थिति के लिए राजगृह तथा अन्य छह स्तूपों में रखी गई बुद्ध-पातुओं को निकालकर उनपर लगभग तीन वर्षों में ही ८४ हजार स्थानों में स्तूपों का निर्माण कराया । इन ८४ हजार स्तूपों के निर्माण-सम्पादन का समाचार अशोक को पाटलिपुत्र में एक साथ मिला<sup>१</sup> । समाचार प्राप्त होने पर प्रियदर्शी अशोक ने पाटलिपुत्र में तथा अपने सम्पूर्ण राज्य में बड़ी धूमधाम से उत्सव मनाया और राज्य-सीमा के एक-एक योजन पर अमित दान दिया था<sup>२</sup> । इन स्तूपों में एक को काफिरिस्तान (जलालाबाद) में, एक को कुसीनारा में, एक को शाहाबाद जिले के 'मसाढ़' ग्राम से पूरब ६ मील पर, एक को वैशाली में और एक को पाटलिपुत्र में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने, सातवीं शताब्दी में भी, देखा था ।

उपयुक्त स्तूपों के अतिरिक्त सम्राट् अशोक ने धर्म की चिरस्थिति के लिए वैशाली, लौरिया-नन्दनगढ़, रामपुरवा, लुम्बिनी-वन, नैपाल की सराई के गाँव निम्लिवा, सारनाथ, काशी (वरुणा नदी के किनारे), कोसाम्बी, श्रावस्ती, सौंन्धी, टोपरा, मेरठ आदि स्थानों में कुशल शिल्पियों द्वारा निर्मित प्रस्तर-स्तम्भ गड़वाकर धर्मलेख खुदवाये । इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न स्थानों में धर्म-प्रचार के लिए सम्राट् ने शिला-लेख भी अंकित कराये, जो हमारे गौरवमय इतिहास के ज्वलन्त प्रतीक हैं । इसके अलावा अनेक बौद्ध विहारों<sup>३</sup> एवं गुहाओं<sup>४</sup> का भी निर्माण कराया था । स्तम्भों के निर्माण में, उनपर लेख चढ़ाने में तथा स्तम्भ-शिखर की नानाविध मूर्तियों<sup>५</sup> में बिहार-प्रदेश के कलाकारों ने जो आश्चर्यजनक कौशल दिखलाया है, उनका सादृश्य संसार में नहीं मिलता । स्तम्भों पर अंकित अपोमुख कमलपुष्प, उष्णीष (पगड़ी), चौकी, पाश (रस्ती) और चाँड़ तथा सिंह की मूर्ति में जिस कला-कौशल का प्रदर्शन किया गया है, वह सर्वथा दर्शनीय है । उन स्तम्भों की स्फटिक-स्निग्ध पॉलिश किस विधि से बनाई गई थी, इसका पता आज तक किसी को नहीं लगा । इसी तरह इन विशालकाय स्तम्भों का निर्माण, उस युग में, कैसे हुआ और चुनार में बने हुए ये स्तम्भ इतनी दूर-दूर तक कैसे लाये गये, उनमें कितनी धन-राशि व्यय हुई, वे सारी बातें आज तक रहस्यमय ही बनी हुई हैं ।

१. महावंस—परि० ५, १७६

२. तर्जुन—परि० ५, १७७—१८०

३. पाटलिपुत्र का 'मरीकाराम' और 'कुक्कुडाराम' विहार ।

४. गया जिले के 'बराबर पहाड़' की गुफाएँ ।

५. सारनाथ-स्तम्भ की सिंहमूर्ति और रामपुरवा के स्तम्भ की वृषभ-मूर्ति ।

यूरोप के डॉ० लिथ भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओं में अपना प्रमुख स्थान रखते थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'अलॉ हिस्टरी ऑफ् इंडिया' में दिल्ली-स्तम्भ की एक घटना का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—“दिल्ली से कुछ दूर टोपरा गाँव में अशोक का बनवाया एक प्रस्तर-स्तम्भ खड़ा था। भारत के बादशाह फ़िरोजशाह तुगलक ने अपनी राजधानी दिल्ली की शोभा बढ़ाने के लिए, उस स्तम्भ को दिल्ली लाने का निश्चय किया। बड़े-बड़े देशी-विदेशी इंजीनियर इस काम के लिए नियुक्त किये गये। गिरने पर स्तम्भ टूटे-फूटे नहीं, इसके लिए इंजीनियरों ने उसके आस-पास—चारों तरफ़ रुई बिछाकर अम्बार लगवा दिया। स्तम्भ के पास ही ४२ बैलगाड़ियाँ खड़ी कराई गईं। बड़ी कठिनाई से रस्तों के सहारे स्तम्भ को बैलगाड़ियों पर रखा गया और उसकी सुरक्षा के लिए सम्पूर्ण स्तम्भ में गद्दीदार घास-पुश्ताल बाँधा गया। उन बैलगाड़ियों की खींचने में ८४०० (आठ हजार चार सौ) आदमी लगाये गये, जो बैलगाड़ियों के दोनों किनारे बाँचे गये एक मोटे और लम्बे रस्से में लगे थे। यमुना नदी तक इसी तरह स्तम्भ खींचकर लाया गया और तब नावों के जरिये वह दिल्ली पहुँचाया गया।” इस एक छोटी-सी घटना से हम अशोक के इंजीनियरों की और उस काल के वातावात की थोड़ी कल्पना कर सकते हैं।

अशोक के समय में भगवान् बुद्ध के मूर्ति-निर्माण का पता नहीं चलता है। इसके वह अर्थ नहीं हैं कि उस समय तक मूर्ति-निर्माण-कला का विकास नहीं हुआ था। उस समय जब सिंह, गैंड़े आदि पशु-मूर्तिवाँ बनती थीं, तब मनुष्य-मूर्ति कैसे न बनती होगी? इसके अतिरिक्त 'कौटिल्य' के 'अर्थशास्त्र' में देव-देवी की मूर्तियों का प्रचुर उल्लेख प्राप्त होता है। मौर्यकाल की दीदारगंज की यक्षिणी-मूर्ति (जो कला की अनुपम देन है) के अतिरिक्त उससे हजारों वर्ष पहले के नगर 'हरप्पा' और 'मोहनजोदड़ो' की खुदाई से भी हमें अनेक मूर्तिर्पा मिल चुकी हैं। स्वयं बौद्ध ग्रन्थों की बुद्धकालिक वार्त्ताओं में भी मूर्ति-निर्माण की चर्चा हुई है। मगध के पिप्पलीमाणवक (महाकाश्यप) की पत्नी कैसी होनी चाहिए, इसके लिए उसके माता-पिता ने कारीगरों से नमूने के लिए सुवर्ण की एक नारी-मूर्ति बनवाई थी और उसे देकर तद्रूप बधू की खोज में ब्राह्मणों को 'साकल'-प्रदेश में भिजवाया था<sup>१</sup>। स्वयं अजातशत्रु ने राजगृह के चैत्य-निर्माण में बुद्ध के माता-पिता और स्थविरों की मूर्ति बनवाकर बैठाई थी। इसके अतिरिक्त 'खारवेल' के शिला-लैल से यह ज्ञात होता है कि मगध-सम्राट् नन्दिवर्द्धन कलिंग को जीतकर वहाँ से एक जिनमूर्ति को पाटलिपुत्र उठा लाया था<sup>२</sup>, जो अशोक के बहुत पहले की घटना थी। बाद में उस मूर्ति को 'खारवेल' (अशोक के बाद) बृहद्रथ मौर्य को जीतकर प्रचुर वैभव के साथ पाटलिपुत्र से कलिंग ले गया। इन सारी बातों से भली भाँति पता चलता है कि अशोक-काल में मूर्ति-निर्माण की कला पूरी तरह विकसित थी।

१. देखिए इस पुस्तक का पृ०—७१।

२. इस पुस्तक का पृ०—१८७ द्रष्टव्य।



सम्राट् अशोक ने भगवान् बुद्ध की मूर्ति बनवाकर उसे स्थापित नहीं कराया, इसका मुख्य कारण यह था कि अशोक हीनयान-सम्प्रदाय को माननेवाला था। हीनयान में बुद्ध-मूर्ति का निर्माण वर्जित है। इस सम्प्रदाय के अनुसार बुद्ध के प्रतीकों की ही पूजा की जा सकती है, जैसे-वज्रासन, वृक्ष, उष्णीष, चक्र, स्तूप, पद्मचिह्न, चक्रम-स्थान आदि। भगवान् बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण-काल में प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था कि मेरे निर्वाणोपरान्त मेरी धातुओं की पूजा हो, मेरी मूर्ति की नहीं। बुद्ध के इस आदेश का हीनयान (स्थविरवाद) ने कड़ाई के साथ पालन किया। यही कारण रहा कि अशोक-काल में बुद्ध-मूर्ति का निर्माण नहीं हो सका, केवल उनकी जीवन-लीला और उनके उपकरणों को ही मूर्त्त रूप दिया गया।

मूर्ति-निर्माण-कला के लिए शुंगकाल परम प्रसिद्ध काल है। इस की मूर्तियाँ भारतीय मूर्ति-कला की मुकुट-मणि हैं। किन्तु इस काल में भी हीनयान-सम्प्रदाय का ही बोलबाला था, तबतक महायान पनप नहीं सका था, अतः बुद्ध-मूर्ति-निर्माण के नमूने कम मिलते हैं। फिर भी, इस काल में बुद्ध-कथाओं के आधार पर बौद्ध वेष्टन-शुंगकाल में—

वेदिकाओं में अनेक और विविध मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुई हैं। स्तूपों में जातक-कथाओं को चित्रित करके जनता में धर्म-भावना को पूर्ण जागरित किया गया है। बौद्ध स्थापत्य-कला को भी तथोचित आश्रय मिला। फलस्वरूप, साँची और बोधगया में इसके उदाहरण उपस्थित किये गये। इस काल की बौद्ध कलाओं के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है<sup>१</sup>।

कनिष्क-सम्राट् का काल तो बौद्ध शिल्पकला के उत्थान का स्वर्णयुग है। इस काल में महायान-सम्प्रदाय पूर्ण विकसित हो गया था। नागार्जुन, पार्श्व और अश्वघोष ने महायान के विकास में भरपूर परिश्रम किया और भगवान् बुद्ध देवता की कोटि में आकर पूजित होने लगे। बुद्ध की पूजा के लिए प्रतिमाएँ बनने लगीं। मूर्ति-कला-विशारदों का

कनिष्क-काल— कहना है कि भगवान् बुद्ध की शुद्ध प्रतिमा का निर्माण 'मथुरा' और 'अमरावती' में साथ-साथ हुआ। मथुरा की बुद्ध-मूर्ति भारतीय कला का विशुद्ध रूप है, जिसमें मगध की वृक्ष-वक्षिणी-मूर्ति की सौम्यता, मृदुलता और पौष्टिकता का अनुगम निखर हुआ है। बिहार-प्रदेश में बुद्ध की जो पहली मूर्ति बनी, वह बोधगया में मिली है, जिसका समय विक्रमीय संवत् ६४ माना गया है। आवाली-मूर्ति की तरह ही यह भी मथुरा की लाल पत्थर से बनी है। इस मूर्ति के निर्माता का नाम 'चिकमल' था। कनिष्क ने इस मूर्ति का निर्माण-काल दूसरी सदी माना है<sup>२</sup>। मूर्ति पर जो प्राकृत-भाषा का लेख मिला है, उसके आधार पर 'श्रीवेणोमाधव बरह्मा' ने इसे दूसरी और तीसरी सदी के बीच का कहा है। किन्तु इसी लेख के आधार पर 'श्रीरामप्रसाद चन्दा' ने इसे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय का बतलाया है। जो हो, पर इस मूर्ति की आकृति की शान्ति तथा कान्ति

१. दीप निकाय (परिनिक्कलसुत्त) देखिए।

२. देखिए पृ०—१०७ और १०८

३. महाबोधि—पृ० २१—२२

गुप्तकालीन ही जान पड़ती है। मूर्ति के दोनों कंधों की बारीक और स्वच्छ चादर टँके हुई है और वक्षःस्थल के दोनों ओर फैली है। पाटलिपुत्र की खुदाई में भी बोधिसत्व का एक कबन्ध मिला है, जो कनिष्ककालीन बतलाया जाता है।

गुप्तकाल तो विविध विद्याओं, ललित कलाओं, संस्कृतिपूर्ण तथा वैभव का स्वर्णिम युग माना गया है। इस काल में बौद्ध विहार, संघाराम और बुद्ध तथा अन्य बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ प्रचुर और प्रसिद्ध हैं। बोधगया का मंदिर इस काल की भास्कर-कला की

गुप्तकाल की  
कला-संबंधी  
देन

अनुपम देन है। इसका वर्णन फाहियान ने और ह्वेनसांग ने भी किया है। ह्वेनसांग ने बोधगया-मंदिर की उत्तर-पूर्व दिशा में एक ऐसी बुद्धमूर्ति देखी थी, जिसकी आँखें ऊपर की ओर उठी और बोधि-वृक्ष की ओर लगी हुई थी। शांत होता है, अनिमेप-चैत्य के पास यह मूर्ति थी।

इस मंदिर के प्रांगण की अनेक मूर्तियों की चर्चा वह करता है, जिनमें अनेक आज भी देखी जा सकती हैं। इसके कथनानुसार चूने और बालू-मिट्टी की बनी अनेक मूर्तियाँ बोध-गया-मंदिर के ताखों पर प्रतिष्ठित थीं। बोधिवृक्ष के पश्चिम एक बुद्धमूर्ति उसने देखी थी, जो काँसे की बनी थी और उसमें कीमती नगीने जड़े हुए थे। इसने गया के 'कर्पोतविहार' के समीप की एक पहाड़ी पर भी बौद्धमन्दिर देखा था, जिसमें शांत गम्भीर मुद्रा में 'अवलोकितेश्वर' की एक प्रभावशालिनी मूर्ति स्थापित थी। ये सभी मूर्तियाँ गुप्तकाल की ही बनी थीं।

सारनाथ के 'धामेक स्तूप' और 'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन' की मुद्रावाली बुद्धमूर्ति गुप्तकाल की ही कृति है। सारनाथ-संघालय में रखी ३०० बौद्ध मूर्तियाँ गुप्तकाल की मानी गई हैं।

संसार-प्रसिद्ध नालन्दा-महाविहार गुप्तकाल में ही बना, जिसके सम्बन्ध में काफी विवरण दिया जा चुका है<sup>१</sup>। ह्वेनसांग लिखता है कि जिस तरह बोधगया विहार की अनुकृति पर बालादित्य ने नालन्दा में विहार बनवाया, उसी तरह बोधगया की बुद्धमूर्ति की अनुकृति पर ही बालादित्य-विहार में एक बुद्धमूर्ति प्रतिष्ठित थी। नालन्दा के प्रधान स्तूप की दीवार पर चारों ओर स्थित तारादेवी और अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ चूने और बलुही मिट्टी की बनी हुई थीं, जो गुप्तकाल की कला का सजीव निदर्शन थीं। उसके लेखानुसार नालन्दा के बालादित्य-विहार में मगध के 'पूर्यावर्मा' राजा ने छहमहला विहार बनवाया था, जिसमें ८० फुट ऊँची तबि की बनी विशालकाय बुद्धमूर्ति थी, जिसका वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण तथा कल्पानातीत प्रतीत होता है। नालन्दा के आस-पास भी उसने अनेक बुद्ध-प्रतिमाओं को देखा था। तिलहड़ा गाँव के पास भी उसने एक ३० फुट ऊँची बुद्धमूर्ति देखी थी, जो सुदृढ़ पाषाण की बनी हुई थी<sup>२</sup>। इस जगह तारा और अवलोकितेश्वर की भी मूर्तियाँ उसने देखी थीं।

सुलतानगंज (भागलपुर) में मिली गुप्तकालीन अष्टधातुवाली बुद्धमूर्ति अब लन्दन के

१. देखिए पृ०—१६७ से २०० और २५४ से २६६

२. ह्वेनसांग का यात्रा-वर्णन, भाग १, पृ० १०५—१०६

संग्रहालय में चली गई है। इस मूर्ति में आत्मा तथा शरीर के सौन्दर्य का एक अद्भुत सामंजस्य स्थापित हुआ है, जो आज तक बहुत कम मूर्तियों में दृष्टिगोचर हुआ है। बिहार-प्रदेश के ऐसे मूर्ति-शिल्पकारों की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी होगी। पाटलिपुत्र के कुम्हारार स्थान में मिली गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमा के सिर की सौम्यता भी अतुलनीय है।

गुप्तकाल में बौद्धधर्म के प्रसार में जिस तरह धातु-प्रस्तर-निर्मित मूर्तियों ने साहाय्य प्रदान किया, उससे कहीं अधिक बालू और चूने की बनी बौद्ध मूर्तियों ने योगदान किया है। नालन्दा के स्तूप की दीवार पर स्थित मूर्तियों की तरह 'मनिवारमठ' (राजगृह) के ताखों पर स्थित मूर्तियों का विवरण भी इन्हींसे प्राप्त करता है। उसने चाँदी-सोने की बुद्ध-मूर्तियों का भी कई जगह उल्लेख किया है और एक सुवर्णमूर्ति तो वह स्वयं अपने देश 'चीन' ले गया था। बोधगया-मन्दिर के शिखर के ताखों पर भी चूने-बालू की बनी मूर्तियों की चर्चा उसने की है। 'अवलोकितेश्वर' और 'मैत्रेय' की मूर्तियों के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि ये मूर्तियाँ चाँदी की बनीं दस फुट ऊँची थीं। नालन्दा तथा अन्य स्थलों में पाई गई इस काल की मूर्तियों के सम्बन्ध में पहले भी यथास्थान उल्लेख किया गया है।

गुप्तकाल में मूर्ति-निर्माण के तीन केन्द्र थे—पाटलिपुत्र, मथुरा और सारनाथ। सुलतानगंज की मूर्ति पाटलिपुत्र-केन्द्र की थी, सारनाथ की मूर्ति सारनाथ-केन्द्र की और मथुरा की मूर्ति मथुरा-केन्द्र की ही थी। ये कला के अनुपम आदर्श हैं। ये मूर्ति-निर्माण-केन्द्र गुप्तराजाओं की छत्र-च्छाया में मूर्ति-कला का निर्द्वन्द्व विकास कर रहे थे।

पालकालीन मध्ययुगीन शिल्पकला अपनी पूर्ववर्ती कलाओं से भिन्न तथा वैशिष्ट्य-पूर्ण थी। इस काल की कला में अपने युग की अमिट छाप है। इस काल की मूर्तियों में कला के आत्मिक विकास से कहीं अधिक आलंकारिक भाव का प्रयोग प्राप्त होता है। इस

पालकालीन काल की मूर्तियाँ मुँगेर जिले की खड़गपुर पहाड़ी के श्लैट-पत्थर की बनी होती थीं और इनके आभूषणों की सजावट घनी थी। इस काल में तारादेवी और बोधिसत्व की मूर्तियों का इतना अधिक निर्माण हुआ कि उनका सम्भार लग गया। तन्त्रिणी इतिहासकार तारानाथ ने इस काल के बिहार-प्रदेशवासी दो शिल्पियों का नामोल्लेख किया है, जिनमें एक का नाम 'धीमान' और दूसरे का 'चित्तपाल' था<sup>१</sup>। धीमान का समय राजा 'धर्मपाल' का शासन-काल और 'चित्तपाल' का समय राजा 'देवपाल' का कहा गया है। दोनों अपने समय के शिल्पाचार्य माने गये हैं।

पालयुग में बौद्ध मालुदेवियों की भी प्रचुर परिमाण में मूर्तियाँ बनीं और भगवान् बुद्ध के कदणामय मुखाकृति एवं मुडौल अंगों का कलारमक प्रदर्शन हुआ। इस काल की बनी बोधगया की बुद्धमूर्ति पर्यटकासन पर बैठी दिखलाई गई है। उसके दोनों कर-कमल

१. इन्हींसे का यात्रा-विवरण, भाग २, पृ० १५६

२. भारतीय कला की बिहार की देन (डॉ० किन्थेस्वरीप्रसाद सिंह)—पृ० २८



आगे गोद में एक-पर-एक स्थित दिखाये गये हैं। एक बड़ा कटोरा ऊपरवाले दूसरे हाथ की तलहथी पर है और दाहिनी ओर एक वानर कटोरा लिये खड़ा है<sup>१</sup>।

नालन्दा से कुछ दूर पर स्थित जगदीशपुर गाँव में प्राप्त इस काल की एक बुद्ध-प्रतिमा वज्रासन पर स्थानावस्थित है। सेना के साथ मदन पराजित हो लौट रहा है। इसी भाव की बनी और बोधगया में मिली बुद्ध-प्रतिमा पटना-संग्रहालय में सुरक्षित है। इनका निर्माण 'जातकट्टकथा' के आधार पर हुआ है।

लखनौसराय (मुँगेर) की बुद्ध-प्रतिमा साढ़े पाँच फुट ऊँची अभयमुद्रा में है। ब्रह्मा दाहिनी ओर तथा इन्द्र बाईं ओर मूर्ति पर छत्र ताने खड़े हैं। बिहारशरीफ (ओदन्तपुरी) की बुद्धमूर्ति के सिर पर मुकुट तो नहीं है, पर गले का हार मूर्ति की शोभा बढ़ा रहा है। नालन्दावाली मूर्ति का सिर मुकुट-मण्डित है, गले में एकावली झूल रही है और भुजाएँ केयूर-कलित हैं। आजकल यह मूर्ति भी पटना-संग्रहालय में सुरक्षित है<sup>२</sup>। इस काल की एक बुद्धमूर्ति भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता) की शोभा संवर्धित कर रही है, जो वज्रपद्मावलीन हाँकर भूमि-स्पर्श-मुद्रा में बनी है। यह दृष्टिमुखद मूर्ति, बुद्धरे और खिले कमल-कुसुम पर बैठाई गई है। इसके माथे पर मुकुट और कण्ठ में हार लटक रहा है, किन्तु भुजाएँ अलंकार-विहीन तथा कान फटे दिखाये गये हैं। यह अपनी बनावट से ज्ञात होती है कि अन्तिम पालकालीन मूर्ति है, जब गोरख-पंथ का देश में प्रचार हो चुका था, जिसका स्पष्ट लक्षण इस मूर्ति में दिखाई दे रहा है।

गया जिले के 'बिसुनपुर' गाँव की विशाल बुद्धमूर्ति भूमि-स्पर्श-मुद्रा में अवस्थित है, जो आजकल पटना-संग्रहालय में रखी गई है<sup>३</sup>। इस मूर्ति के मस्तक का केश-पाश जटानुद्ध के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इसकी आँख अर्द्ध-निमीलित दीख रही है और शरीर पर उत्तरीय बाईं कान्ठ से चलता हुआ बायें कंधे को पार कर नीचे झूल रहा है। 'बिसुनपुर' में प्राप्त मैत्रेय की मूर्ति भी झूलाने योग्य नहीं है, जो त्रिभंग-स्थिति में खड़ी, अतः मनोमोहक है। इसका प्रत्येक अंग आँखों के लिए नवनीत-सा कोमल तथा सुखद है। इसके युगल गोल सभरे कपोलों के कुछ ऊपर मध्य भाग में नासिका ऊँची है, जो बुद्ध के आर्य-जाति के होने की सूचना देती है। यह उत्तम-उदात्त प्रतिमा भी आज पटना-संग्रहालय में है<sup>४</sup>। इसी काल की 'कहलगाँव' (भागलपुर) में प्राप्त हुई 'अवलोकितेश्वर' की मूर्ति स्थानावस्थित अवस्था में पद्मासन में स्थित है। इसके आगे गोद में कर-युगल ऊर्ध्वाभिमुख स्थित हैं और विविध आभूषणों से अंग सजे हैं। अवलोकितेश्वर की यह मूर्ति अपनी कोमलता और

१. 'कुर्ग-जातक' के आधार पर (पटना-संग्रहालय की विष-संख्या ८०, ११८)

२. पटना-संग्रहालय—चित्र-सं० ८४

३. चित्र-सं० ८८, संग्रहालय-सं० १६८१

४. चित्र-सं० १००, संग्रहालय-सं० १६८२

आभूषणों के कारण नारी-मूर्ति-सी प्रतिभासित होती है। यह भी आजकल पटना-संग्रहालय की ही शोभा बढ़ा रही है<sup>१</sup>।

पालकाल में पालराजाओं की राजधानी 'श्रोवन्तपुरी' (बिहारशरीफ) नगरी थी, जो आजकल पटना जिले का एक सबडिवीजन है। पालकाल में वहाँ मूर्तियों की भरमार थी। वहाँ भी एक मूर्ति प्राप्त हुई, है जो ललितासन में है और वह 'लोकनाथ' की मूर्ति है। यह एक दुहरे उत्फुल्ल कमल पर आसीन है। इस मूर्ति का दाहिना पैर आसन से नीचे लटका है और वाम पाद आसन पर ही मुड़ा है। मूर्ति के कण्ठ में एकावली हार लटक रहा है और भुजाओं में भुजंगाकार बलय सुशोभित हो रहे हैं। पालकाल की वनी मालन्दा में अवलोकितेश्वर की जो एक मूर्ति<sup>२</sup> मिली है, वह विष्णु की तरह चतुर्भुज है। बौद्ध देवताओं की मूर्तियों की यह एक विशेषता है कि हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों के सम्पूर्ण देवताओं के विभिन्न रूप उनमें ही दिखा दिये गये हैं। अर्थात्, हिन्दु-देवताओं की कोई भी विशेषता बौद्धों से छुटने नहीं पाई है। मालन्दा में तारादेवी की मूर्ति का केवल घड़ ही प्राप्त हो सका है। वह मूर्ति खण्डित होती हुई भी पालकालीन कोमल कलाओं का एक उत्कृष्ट उदाहरण उपरिभूत करती है। इसकी, एक हाथ में सनाल कमल धारण करने की, मधुर भंगिमा दर्शक के हृदय का स्पर्श करती है।

इस काल की वनी मूर्तियों और स्तूपों की छटा आज भी बोधगया-मन्दिर के प्रांगण में अफ़झी तरह देखी जा सकती है, जो अपने युग का गौरव प्रकट करती है। बोधगया के संन्यासी-मठ के प्रांगण में अनेक कलापूर्ण मूर्तियाँ अव्यथित रूप में रखी हैं, जिनके कला-कौशल को देखकर शिल्पी स्तब्ध रह जाते हैं। गया जिले के 'कुर्किहार' गाँव में पालकाल में अष्टपातु, तबि, चाँदी, और सोने की असंख्य मूर्तियाँ दलती थी और पत्थर की भी बनती थी। तबि और अष्टपातु की अनेक मूर्तियाँ, जो कुर्किहार से प्राप्त हुई हैं, आज पटना-संग्रहालय में देखी जा सकती हैं।

१. विष-सं १०२, संग्रहालय सं० ८५

२. मालन्दा की पालकालीन बौद्ध मूर्तियों की वनी इस पुस्तक के पृ० २६० से २६३ पर द्रष्टव्य।



नालन्दा की पत्थरकट्टी की अररियों का दृश्य  
( पृ० २५७ )



नालन्दा की पत्थरकट्टी की अररियों का दृश्य  
( पृ० २५७ )





हाथियों के द्वारा बोधिवृक्ष की पूजा ( बोधगया )  
( वर्णन पृ० १८७ और २४६ )



मायादेवी के स्वप्न में श्वेत हस्ती ( बोधगया )



इन्द्र-मूर्ति ( बोधगया-रेलिंग ) पृ० १८७



इन्द्राणी (बोधगया-रेलिंग) पृ० १८७



कृषि-भारद्वाजमुत्त के आधार पर भूमि-कर्षण का दृश्य (बोधगया) पृ० १८७ और २५४



शालभञ्जिका ( बोधगया-रेलिंग )  
( विवरण पृ० १८७ और २४६ )



बोधगया के एक स्तूप का दृश्य  
( पृ० २५० )





कमल-नाल ( बोधगया-रेलिंग )  
( वर्णन पृ० १८७ और १४६ )



सात घोड़ों वाले रथ पर आसीन सूर्य ( बोधगया-रेलिंग )  
( पृ० १५० )



रामपुरवा (चम्पारन)—स्तम्भ का सिंहशीर्ष  
( पृ० १७५ )



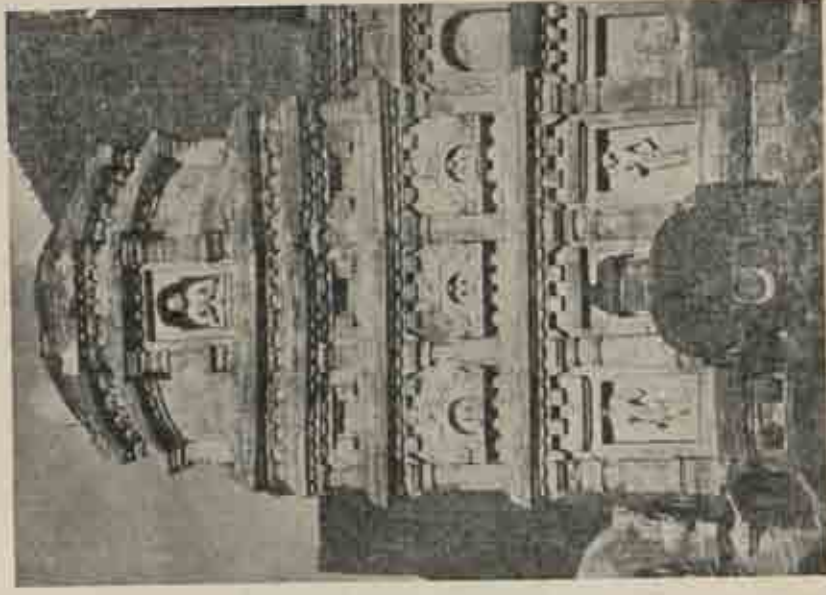
अजातशत्रु के भगवान् बुद्ध के पास जाने का दृश्य (पृ० १२०)



सांकाश्य में तुषित-लोक से भगवान् बुद्ध के उतरने का दृश्य  
( पृ० २२६ )



बोधियावा का एक रूप ( पृ० २५४ )



मालन्दा के चैत्य का एक दृश्य ( पृ० २५६ )





बोधगया के संन्यासीमठ में रखी शिवलोकितेश्वर की मूर्ति  
(पृ० २४८)



बोधिवृक्ष की पूजा (बोधगया-रैलिंग)

## परिशिष्ट-३

[ बिहार के किन स्थानों में किन बौद्धसूत्रों की रचना हुई तथा बिहार के किन विषयों पर बौद्धग्रन्थों के किन भागों का निर्माण हुआ एवं बिहार के किन स्थानों में, भगवान् बुद्ध के तत्त्वावधान में, किन बातों (कथाओं) की चर्चा हुई, उनकी संकेत-तालिका नीचे प्रस्तुत है । ]

### महावग्ग

इस ग्रन्थ में 'खन्धक' शीर्षक जो भाग है, उनमें 'भाणुावार' नाम के विभाग हैं। उन विभागों में 'कथा' नामक प्रकरण हैं। उन प्रकरणों में 'कथाखण्ड' शीर्षक प्रसंग है। उन खण्डों में भी छोटी-छोटी कथाएँ सूत्र-रूप में निबद्ध हैं। यथाक्रम उन सबकी संख्याओं के साथ उनके निर्माण के स्थानों का उल्लेख निम्नांकित है —

### महाखन्धक

बुद्धत्व-प्राप्ति की कथा	( १, १, १, १—६ ) बोधगया	मगध
अजपाल-कथा	( १, १, २, १—३ ) निरंजना का तट	"
मुचलिनन्द-कथा	( १, १, ३, १—३ ) बोधगया	"
राजायतन-कथा	( १, १, ४, १—५ ) "	"
महायाचन-कथा	( १, १, ५, १—७ ) अजपाल (निरंजना-तट)	"
उपदेश का विचार	( १, १, ६, १—५ ) "	"
मद्रवर्गियों की दीक्षा	( १, २, ८, १—३ ) कपासियवन (सासाराम) शाहाबाद	"
उरुवेल काश्यप	( १, ३, १, १—३५ ) निरंजना का तट	मगध
नदी काश्यप	( १, ३, २, १—२ ) "	"
गया काश्यप	( १, ३, ३, १—३ ) गया	"
आदिल परियाय का उपदेश	( १, ३, ४, १—५ ) गयाशीर्ष ( गया )	"
विम्बिसार और बुद्ध-मिलन	( १, ४, १, १—१५ ) वटिवन	"
सारिपुत्र-मौद्गल्यायन की प्रव्रज्या	( १, ४, २, १—१७ ) राजगृह ( पटना )	"
उपाध्याय-शिष्य प्रस्थापना	( १, ४, १, १—५ ) "	"

छे प्रकाशक—बैतर्दे-विरवविद्यालय, बैतर्दे, (प्रथम भाग सन् १९४४ ई० और द्वितीय भाग सन् १९४२ ई०।) सम्पादक—धर्म के० नागवत ।

समावर्त्तन, उपाज्जाय और ज्ञत	( १, ५, २, १ )	राजगृह ( गटना )	मराथ
समावर्त्तन, शिष्य और ज्ञत	( १, ५, ३, १ )	"	"
शिष्य की कर्त्तव्य-वर्णना	( १, ५, ४, १ )	"	"
कृति, चतुष्कर्म और उपसम्पदा	( १, ५, ५, १—४ )	"	"
उपसम्पदा-याचक ही उपसम्पदा	( १, ५, ६, १—३ )	"	"
मिन्तु के लिए चार निश्चय	( १, ५, ७, १—३ )	"	"
कुछ वर्ष परीक्षा लेने पर ही			
उप-सम्पदा	( १, ६, १, १—५ )	"	"
आचार्य और अन्तेवासी का			
परस्पर कर्त्तव्य	( १, ६, २, १—४ )	"	"
समावर्त्तन के नियम	( १, ६, ३, १ )	"	"
अन्तेवासी का कर्त्तव्य	( १, ७, १, १ )	"	"
निश्चय-दान	( १, ७, २, १—२ )	"	"
उपसम्पदा देनेवाले पाँच गुरु	( १, ७, ३, १ )	"	"
छह बातोंवाले को उपसम्पदा नहीं	( १, ७, ४, १ )	"	"
अन्य सैथिक और उपसम्पदा	( १, ७, ५, १—७ )	"	"
प्रव्रज्या और उपसम्पदा के लिए			
अयोग्य व्यक्ति	( १, ८, १, १—७ )	"	"
विभिन्नार के सैथिकों की प्रव्रज्या	( १, ८, १, १—४ )	"	"
अंगुलिमाल डाकु की			
धर्म-प्रवेश-कथा	( १, ८, १, १—८ )	"	"
छोटे बच्चों को उपसम्पदा नहीं	( १, ८, १, १ )	"	"
उपालि की कथा	( १, ८, १, ११ )	"	"
अयोग्य व्यक्तियों की कथा	( १, ८, २, १—४ )	"	"
<b>उपोसथ खन्धक</b>			
उपोसथ-विधान	( २, १, १, १—४ )	रुद्रकूटपर्वत, राजगृह	"
उपोसथ-कर्म	( २, १, २, १—२ )	"	"
महाकपिन की कथा	( २, १, ३, १—३ )	मद्रकुचिमृगदाव, राजगृह	"
सीमा की सम्मति	( २, १, ४, १ )	"	"
उपोसथागार आदि के			
बनाने की सम्मति	( २, १, ५, १ )	"	"
त्रिचीवर विधान की कथा	( २, १, ६, १—४ )	"	"
एक उपोसथ की सीमा	( २, १, ७, १ )	"	"



उपोसथ और उपोसथ-कर्म	( २, १, ८, १—२ )	मद्रकुक्षिमृगदाव, राजग्रह	मराठ
प्रातिमोक्ष के उद्देश्य से उपोसथ	( २, १, ६, १—२ )	"	"
संघ-सम्मत-कर्म आदि	( २, १, १०, १—१६ )	"	"
किस आधार पर प्रातिमोक्ष	( २, २, १, १—४ )	चौदनावस्तु	"
उपोसथ के पूर्व करणीय	( २, २, २, १—६ )	राजग्रह	"
बर्ग और संघ कब उपोसथ नहीं करे	( २, २, ४, १—५ )	राजग्रह	"
उन्मत्त के लिए अनुमति-दान	( २, २, ५, १—२ )	"	"
प्रातिमोक्ष-विधान	( २, २, ६, १—७ )	"	"
अन्य तैथिकों की उपस्थिति में			
दोपरहित प्रातिमोक्ष	( २, ३, १, १—१५ )	"	"
" " सदोष प्रातिमोक्ष	( २, ३, २, १—१५ )	"	"
" " अनुपस्थिति में			
संदेह-युक्त उपोसथ	( २, ३, ३, १—१५ )	"	"
" " अनुपस्थिति में संकोच-			
युक्त सदोष उपोसथ	( २, ३, ४, १—१५ )	"	"
कटूतिपूर्वक सदोष उपोसथ	( २, ३, ५, १—१५ )	"	"
अन्य आवासियों को जाने			
बिना उपोसथ	( २, ३, ६, १ )	"	"
अन्य आवासियों की अनुपस्थिति			
जाने बिना	( २, ३, ७, १ )	"	"
उपोसथ-आपत्ति-अनापत्ति	( २, ३, ८, १—८ )	"	"
उपोसथ के दिन जाने, न जाने			
का विनिश्चय	( २, ३, ९, १ )	"	"
किसको प्रातिमोक्ष नहीं	( २, ३, १०, १—५ )	"	"
वर्षावास-विधान	( ३, १, १, १—२ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप,	राजग्रह
वर्षावास में यात्रा निषिद्ध	( ३, १, २, १—२ )	"	"
चम्म खन्धक			
सोणकोटिविश की कथा	( ५, १, १—१७ )	गृद्धकूटपर्वत	राजग्रह
उपानह के रंग और भेद	( ५, २, १—५ )	"	"
भेषज खन्धक			
गुड़ादि परिभोग-आदेश	( ६, २, १, १—३ )	राजग्रह	"
संगृहीत और स्वयं पकाये			
भोजन का निषेध	( ६, २, २, १—६ )	"	"

मिर्जन स्थान में भोजन-विधान ( ६, २, ३, १—४ )	वेणुवन	राजगृह
श्रद्धादत्त भोजन, जो अतिरिक्त		
न हो, ग्रहण की अनुमति ( ६, २, ४, १—४ )	"	"
गुप्तस्थान में वस्तिकर्म		
आदि का निषेध ( ६, २, ५, १—१ )	राजगृह	"
वेल्लकम्भान की कथा ( ६, २, १०, १—१० )	राजगृह का मार्ग	"
परासीयग्राम निर्वाण-कथा ( ६, २, ११, १—६ )	पाटलिग्राम	"
महामाल नर्पकार की कथा ( ६, २, १२, १—८ )	"	"
आर्यधर्म परिचाय ( ६, २, १३, १—२ )	कोटिग्राम, वज्जि, (मुजफ्फरपुर और सारन का पूर्वी अंश)	
अम्बपाली की कथा ( ६, ३, १, १—४ )	"	"
अम्बपाली-कथा ( ६, ३, १—५ )	नादिका, वज्जि, (मुजफ्फरपुर और सारन का पूर्वी अंश)	
अम्बपाली का भोजन-स्थान ( ६, ३, १, ६, )	वैशाली	वज्जि
धर्मोपदेश के बाद ( ६, ३, १, ७, )	महाबनकूटागारशाला, वैशाली	"
सिंहसेनापति की कथा ( ६, ४, १—१७ )	वैशाली	"
दुर्मिच्छ में प्रतिग्रह की अनुज्ञा ( ६, ४, २, १—३ )	"	"
वस्तुओं के रखने का स्थान ( ६, ४, ३, १—५ )	"	"
मेण्डक ग्रहपति की कथा ( ६, ५, १, १—२१ )	भद्रिया	भागलपुर
केशिय-कथा ( ६, ५, २, १—५ )	आपण-निगम, अगुत्तराण (सहरसा)	
<b>चीवर स्वन्धक</b>		
जीवक-कौमारभूत-कथा ( ८, १, १, १—१८ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
बिम्बिसार की रोगपरिहार-कथा ( ८, १, २, १—३ )	"	"
राजगृह-श्रेष्ठी की रोग-रहित करना ( ८, १, ३, १—६ )	"	"
वारणसीवासी धेड़ोपुत्र का रोग ( ८, १, ४, १—४ )	"	"
प्रद्योत की बीमारी ( ८, १, ५, १—८ )	"	"
प्रद्योत का दान और चीवर-प्रतिग्रह की अनुज्ञा ( ८, १, ६, १—१० )	"	"
काशिराज का दान और कम्बल-ग्रहण की अनुज्ञा ( ८, २, १, १—२ )	"	"
छह प्रकार के चीवरों का तारण ( ८, २, २, १—२ )	"	"
चीवर के साथ पांसुकुल-धारण ( ८, २, ३, १—५ )	"	"

चीवरों का बँटवारा	(८, २, ४, १) वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
चीवर-ग्राहक की योग्यता और अन्य बातें	(८, २, ४, १) "	"
चीवरों की रँगाई	(८, २, ५, १—३) "	"
दक्षिणागिरि की कथा	(८, २, ६, १) दक्षिणागिरि	मगध
चीवर-निर्माण-विधान	(८, २, ६, २) राजग्रह	"
चीवरों का संख्या-विधान	(८, २, ६, ३—६) वैशाली	वज्रि
<b>चाम्पेय खन्धक</b>		
काश्यपगोत्र भिक्षु की अभयदान	(६, १, १, १—११) मर्गरा-पुष्करिणी, नम्पा	भागलपुर
संघकर्म और उसका अधिकार	(६, १, २, १—५) "	"
निस्तारण और दुर्निस्तारण	(६, १, ४, १—२) "	"
उपासि का प्रश्न	(६, २, १, १—१५) "	"
भगवान् बुद्ध का उत्तर	(६, २, २, १—७) "	"
महाइाल भिक्षु के शिष्यदण्ड-कर्म	(६, ३, १, १—२८) "	"

●  
**चुल्लवग्ग**

**समथ खन्धक**

स्मृतिविनय	(४, २, १) वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
अमूदविनय	(४, २, २) "	"
प्रतिज्ञातकरण	(४, २, ३) "	"
बद्धभूयसिक	(४, २, ४) "	"
सत्तापीयसिक	(४, २, ५) "	"
सिणवत्थारक	(४, २, ६) "	"
चार अधिकरण	(४, ३, १) "	"
अधिकरणों के मूल	(४, ३, २) "	"
अधिकरणों के भेद	(४, ३, ३) "	"
अधिकरणों का नामकरण	(४, ३, ४) "	"
अधिकरणों का शमन	(४, ३, ४) "	"

**खुदकवत्थु खन्धक**

ज्ञान, प्रसाधन, एवं अन्य आवश्यक

वस्तुओं का विधान ( ५, १, १—१३ ) राजग्रह

मगध



थैली का विधान	( ५, १, १४ )	वैशाली	वज्जि
जलछुके का विधान	( ५, १, १५ )	"	"
सर्वसाधनसम्पन्न विहार-निर्माण	का विधान ( ५, २, १—६ )	कूटागारशाला	वैशाली

## शयन-आसन खन्धक

सर्वसाधनसम्पन्न विहार का दान	( ६, १, १—६ )	वेणुवनकलन्धक-निवाप राजगृह	
विहार की रंगाई और नाना	प्रकार के घर ( ६, २, १—११ )	"	"
अनाथपियडक की दीक्षा	( ६, ३, १ )	राजगृह	मगध
नवकर्म-विधान	( ६, ३, २—५ )	वैशाली	वज्जि
नवकर्म का निषेध	( ६, ५, ४ )	अमलावचैत्य (अरवल या आरा)	"
विहार का सामान हटाना	( ६, ५, ५ )	"	"
वस्तुओं का परिवर्तन	( ६, ५, ६ )	"	"
आसन और दीवार की सफाई	( ६, ५, ७ )	"	"
संघ के कर्मचारियों का चुनाव	( ६, ६, १—१२ )	वेणुवन	राजगृह
देवदत्त की महन्थी की याचना	( ७, १, ४—६ )	राजगृह	मगध
देवदत्त का विद्रोह	( ७, २, १—१० )	"	"
संघ-भेद की व्याख्या	( ७, ३, १—३ )	"	"
संघ-भेदक को पाप	( ७, ४, १—२ )	"	"

## भिक्षुनी खन्धक

स्त्रियों का संघ-प्रवेश	( १०, १, १—६ )	कूटागारशाला	वैशाली
प्रातिमोक्ष की आवृत्ति आवि	( १०, २, १—५ )	"	"

## पञ्चशतिका खन्धक

प्रथम संगीति की कथा	( ११, १, १—३ )	राजगृह	मगध
आनन्द पर दोषारोपण	( ११, २, १—३ )	"	"
भिक्षु पूर्ण का संगीति में सम्मिलित	होने से इनकार करना ( ११, ३, १ )	वेणुवन	"
उदयन को उपदेश और छद्म को दंड	( ११, ४, १ )	"	"

## सप्तशतिका खन्धक

द्वितीय संगीति	( १२, १, १—३ )	वैशाली	वज्जि
सर्वकामी द्वारा यश का पक्ष-सहण	( १२, २, ५ )	"	"
संगीति की कार्यवाही	( १२, ३, १—६ )	"	"

## मज्झिम निकाय

अनङ्गण सुत्त	( १, १, ५ )	राजग्रह	मगध
महासीहनाद सुत्त	( १, २, २ )	अवरपुर वनखण्ड	वैशाली
चूलदुक्खवक्खन्धक सुत्त	( १, २, ४ )	शुद्धकूटपर्वत	राजग्रह
रथविनीत सुत्त	( १, ३, ४ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
महासारोपम सुत्त	( १, ३, ६ )	शुद्धकूटपर्वत	"
चूलगोमिङ्ग सुत्त	( १, ४, १ )	गिजकावसथ, नादिका	वज्जि
महागोमिङ्ग सुत्त	( १, ४, २ )	गोमिङ्ग सालवन, "	"
चूलगोलक सुत्त	( १, ४, ४ )	उफ्फाचेल	"
चूलसच्चक सुत्त	( १, ४, ५ )	महावन कूटागारशाला	वैशाली
महासच्चक सुत्त	( १, ४, ६ )	"	"
महाअरसपुर सुत्त	( १, ४, ६ )	अश्वपुरग्राम	झंग
चूलअरसपुर सुत्त	( १, ४, १० )	"	"
चूलवेदल्ल सुत्त	( १, ५, ४ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
कन्दरक सुत्त	( २, १, १ )	गर्गरा-पुष्करिणी	चम्पा
अट्टकनागर सुत्त	( २, १, २ )	ब्रेलुवग्राम	वैशाली
पोत्तलिय सुत्त	( २, १, ४ )	आपण अंगुत्तराप	सहरसा
जीषक सुत्त	( २, १, ५ )	राजग्रह	मगध
उपालि सुत्त	( २, १, ६ )	प्रावारिक आश्रवन	नालन्दा
अभयराजकुमार सुत्त	( २, १, ८ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
अम्बलट्टिक राहुलोवाद सुत्त	( २, २, १ )	"	"
लकुटिकोपम सुत्त	( २, २, ६ )	आपण अंगुत्तराप	सहरसा
गुलिस्सानि सुत्त	( २, २, ६ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
तेविज्जवक्खगोत्त सुत्त	( २, ३, १ )	कूटागारशाला	वैशाली
महावक्ख गोत्त सुत्त	( २, ३, ३ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
दीघनल सुत्त	( २, ३, ४ )	शुद्धकूटपर्वत	राजग्रह
महासुकुलुदायि सुत्त	( २, ३, ७ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
चूलसुकुलुदायि सुत्त	( २, ३, ६ )	"	"
मखादेव सुत्त	( २, ४, ३ )	मखादेव आश्रवन	मिथिला
ब्रह्माशु सुत्त	( २, ५, १ )	विदेह-प्रदेश	"
सेल सुत्त	( २, ५, २ )	आपण अंगुत्तराप	सहरसा
धानेजानि सुत्त	( २, ५, ७ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह

सुनस्वत्त सुत्त	( ३, १, ५ )	कुटागारशाला	वैशाली
गोपक भोगालान सुत्त	( ३, १, ८ )	वेणुवन	राजगृह
इसिमिलि सुत्त	( ३, २, ६ )	अुपिमिरिपर्वत	"
वकुल सुत्त	( ३, ३, ४ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
दत्तभूमि सुत्त	( ३, ३, ५ )	"	"
भूमिज सुत्त	( ३, ३, ६ )	"	"
महाकचावन भद्देकरत्त सुत्त	( ३, ४, ३ )	तपोदाराम	"
महाकम्मविभंग सुत्त	( ३, ४, ६ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
धालुविभंग सुत्त	( ३, ४, १० )	राजगृह	मगध
छन्नोवाव सुत्त	( ३, ५, २ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
पिण्डपातपरिशुद्धि सुत्त	( ३, ५, १० )	"	"
इन्दियभावना सुत्त	( ३, ५, १० )	सुवेणुवन	कज्जंगल-प्रदेश

## दोष निकाय\*

जलजाल सुत्त ( सम्पूर्ण )	अम्बलट्टिकावन	नालन्दा	मगध
सामञ्जसफल सुत्त "	जीवक आम्रवन	राजगृह	"
सोणदण्ड सुत्त "	मगंरा-पुष्करिणी		चम्पा
कुटदन्त सुत्त "	खाणुमत ब्राह्मणग्राम		मगध
महालि सुत्त "	कुटागारशाला		वैशाली
केवट सुत्त "	प्रावारिक आम्रवन	नालन्दा	मगध
महापरिमिञ्चाणसुत्त	( १६, १, १—१२ )	रत्नकुट	राजगृह
" "	( १६, १, १३—१४ )	अम्बलट्टिका	मगध
" "	( १६, १, १५—१८ )	नालन्दा	"
" "	( १६, १, १९—२४ )	पाटलिपुत्र	"
" "	( १६, २, १—४ )	कोटिग्राम	वज्जि
" "	( १६, २, ५—१० )	नादिका	"
" "	( १६, २, ११—२६ )	वैशाली	"
" "	( १६, ३, १—५१ )	"	"
" "	( १६, ४, १—४ )	मण्डग्राम	"
" "	( १६, ४, ५ )	इस्तिग्राम अम्बग्राम	जम्बुग्राम
" "	( १६, ४, ६—१२ )	भोगनगर	"
जनवसभ सुत्त	( १८, १, १—२६ )	गिजकावसथ, नादिका	वज्जि

\* प्रकारक—नालन्दा देवनागरी-पालि-अम्बमाला, बिहार, सन् १९५८ ई० ।



महागोविन्द सुत्त	( १६, १, १—६० )	रुद्रकूट	राजगृह
सकलपण्ड सुत्त	( २१, १, १—५ )	अम्बवण्ड ब्राह्मणग्राम	गिरियक
"	( २१, १, ६—१३ )	अजपालवृक्ष, बोधगया	मगध
"	( २१, २, १—१० )	"	"

संयुक्त निकाय\*

समिद्धि सुत्त	( १, २, १० )	तपोदाराम	राजगृह
सकलिक सुत्त	( १, ४, ८ )	मद्रकुक्षिमृगदाव	"
पञ्चुन्नधीतु सुत्त	( १, ४, ६ )	कूटागारशाला	वैशाली
सुल्ल पञ्चुन्नधीतु सुत्त	( १, ४, १० )	"	"
दीपलङ्घि सुत्त	( २, २, ३ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
तन्दन सुत्त	( २, २, ४ )	"	"
चन्दन सुत्त	( २, २, ५ )	"	"
वासुदत्त सुत्त	( २, २, ६ )	"	"
सुप्रक्ष सुत्त	( २, २, ७ )	"	"
उत्तर सुत्त	( २, २, ८ )	राजगृह	मगध
माना विविध सुत्त	( २, ३, १० )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
तपोकम्म सुत्त	( ४, १, १ )	उरुवेला	बोधगया
नागसुत्त	( ४, १, २ )	"	"
सुभसुत्त	( ४, १, ३ )	"	"
सप्य सुत्त	( ४, १, ६ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
सोणसि सुत्त	( ४, १, ७ )	"	"
आयु सुत्त	( ४, १, ८ )	"	"
आयु सुत्त	( ४, १, १० )	राजगृह	मगध
पापाण सुत्त	( ४, २, १ )	रुद्रकूटपर्वत	राजगृह
सकलिक सुत्त	( ४, २, ३ )	मद्रकुक्षिमृगदाव	"
आपत्तन सुत्त	( ४, २, ७ )	महावन कूटागारशाला	वैशाली
पिण्ड सुत्त	( ४, २, ८ )	पंचशाल ब्राह्मणग्राम	मगध
गोधिक सुत्त	( ४, ३, ३ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
सप्तवस्मानि सुत्त	( ४, ३, ४ )	अजपालवृक्ष, निरञ्जनातट	मगध
मारदुहिता सुत्त	( ४, ३, ५ )	"	"

\* अनु०—भित्तु जगदीश काश्यप और भित्तु धर्मरक्षित । प्रकाशक—महाबोधिसमा, सारनाथ (बनारस), सन् १९१४ ई० ।

आवाचन सुत्त	( ६, १, ६ )	अजपालवृक्ष, निरञ्जनातट	मगध
गारव सुत्त	( ६, १, २ )	"	"
गर्गकुमार सुत्त	( ६, १, २ )	सर्पिणी नदी का तट	राजग्रह
देवदत्त सुत्त	( ६, २, २ )	गृध्रकूटपर्वत	"
अन्वकबिन्द सुत्त	( ६, २, ३ )	अन्वकबिन्द ग्राम	मगध
धनञ्जानि सुत्त	( ७, १, १ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
अकोस सुत्त	( ७, १, २ )	"	"
असुरिन्द सुत्त	( ७, १, ३ )	"	"
विलाङ्गिक सुत्त	( ७, १, ४ )	"	"
अग्निक्क सुत्त	( ७, १ )	"	"
कसिसुत्त	( ७, २, १ )	एकनाला ब्राह्मणग्राम	मगध
निक्खन्त सुत्त	( ८, १ )	अम्यालाव चैत्य, आलवी ( आरा )	
अरति सुत्त	( ८, २ )	"	"
अतिमञ्जना सुत्त	( ८, ३ )	"	"
कोण्डञ्च सुत्त	( ८, ६ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
मोमालान सुत्त	( ८, १० )	श्रुपिगिरि की कालशिला	"
गमारा सुत्त	( ८, ११ )	गमारा-पुष्करिणी, चम्पा ( भागलपुर )	
वज्जिपुत्त सुत्त	( ८, ६ )	वनखण्ड	वैशाली
इन्दक सुत्त	( १०, १ )	इन्द्रकूटपर्वत	राजग्रह
सक्क सुत्त	( १०, २ )	गृध्रकूटपर्वत	"
सुचिलोम सुत्त	( १०, ३ )	टंकितमंच	गया
मणिमद्र सुत्त	( १०, ४ )	मणिमालक चैत्य	मगध
सुत्त सुत्त	( १०, ८ )	शीतवन	राजग्रह
सुक्का सुत्त	( १०, ६ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
सुक्का सुत्त	( १०, १० )	"	"
चीरा सुत्त	( १०, ११ )	"	"
आलवक सुत्त	( १०, १२ )	अम्यालाव चैत्य, आलवी ( आरा )	
तत्तिथवत्त सुत्त	( ११, २, ३ )	महावन कूटमारशाला	वैशाली
दल्लिह सुत्त	( ११, २, ४ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
यजमान सुत्त	( ११, २, ६ )	गृध्रकूटपर्वत	"
अचेल सुत्त	( १२, २, ७ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
अञ्जतित्तिथवत्त सुत्त	( १२, ३, ४ )	"	"
आतिका सुत्त	( १२, ५, ५ )	गिञ्जकावसथ, नादिका ( वज्जि )	

सुसीम सुत्त	( १२, ७, १० )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
गिज्झकावसथ सुत्त	( १३, २, ३ )	गिज्झकावसथ, नादिका ( चञ्जि )	
चङ्कमं सुत्त	( १३, २, ५ )	रुद्धकूटपर्वत	राजगृह
गङ्गा सुत्त	( १४, १, ८ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
पुमाल सुत्त	( १४, १, १० )	रुद्धकूटपर्वत	"
तित्ति सुत्त	( १४, २, ३ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
वेपुल्ल पम्बत सुत्त	( १४, २, १० )	रुद्धकूटपर्वत	"
जिण्ण सुत्त	( १५, ५ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
पठम ओवाद् सुत्त	( १५, ६ )	"	"
दुतिय ओवाद् सुत्त	( १५, ७ )	"	"
ततिय ओवाद् सुत्त	( १५, ८ )	"	"
चीवर सुत्त	( १५, ११ )	"	"
पक्कन्त सुत्त	( १६, ४, ५ )	रुद्धकूटपर्वत	"
रथ सुत्त	( १६, ४, ६ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
अट्ठिपेस सुत्त	( १८, १, १ )	"	"
गोघातक सुत्त	( १८, १, २ )	"	"
पियड साकुणी सुत्त	( १८, १, ६ )	"	"
निच्छवो रम्भि सुत्त	( १८, १, ४ )	"	"
असिस्करिक सुत्त	( १८, १, ५ )	रुद्धकूटपर्वत	"
सत्ति मागवी सुत्त	( १८, १, ६ )	"	"
उमुकाणिक सुत्त	( १८, १, ७ )	"	"
सुत्ति सारथी सुत्त	( १८, १, ८ )	राजगृह	मगध
सूचक सुत्त	( १८, १, ९ )	"	"
गामकूटक सुत्त	( १८, १, १० )	"	"
कुपनिमुग्ग सुत्त	( १८, २, १ )	रुद्धकूटपर्वत	राजगृह
गूथवादिक् सुत्त	( १८, २, २ )	"	"
निच्छवित्थी सुत्त	( १८, २, ३ )	"	"
भङ्गलित्थि सुत्त	( १८, २, ४ )	"	"
सीवच्छिन्न सुत्त	( १८, २, ६ )	"	"
भिक्षु सुत्त	( १८, २, ७ )	"	"
भिक्षुणी सुत्त	( १८, २, ८ )	"	"
सिक्खमाना सुत्त	( १८, २, ९ )	"	"
सामणेय सुत्त	( १८, २, १० )	"	"



सामशेरी सुत्त	( १८, २, ११ )	यद्धकूटपर्वत	राजगृह
कलिव्वर सुत्त	( १६, ८ )	महावन कूटागारशाला	वैशाली
विमाख सुत्त	( २०, ७ )	"	"
शेरनाम सुत्त	( २२, १० )	राजगृह	मगध
पठम सोण सुत्त	( २१, १, ५, ७ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
दुत्तिप सोण सुत्त	( २१, १, ५, ८ )	"	"
महालि सुत्त	( २१, २, १, ८ )	महावन कूटागारशाला	वैशाली
अनुराध सुत्त	( २१, २, ४, ४ )	"	"
वक्कलि सुत्त	( २१, २, ४, ५ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
अस्सजि सुत्त	( २१, २, ४, ६ )	"	"
सुचीसुखी सुत्त	( २७, १० )	"	"
आदिप्त सुत्त	( ३४, १, ३, ६ )	सायाशीर्षपर्वत	गया
अन्वभूत सुत्त	( ३४, १, ३, ७ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
सारूप्य सुत्त	( ३४, १, ३, ८ )	"	"
समिद्धि सुत्त	( ३४, २, २, ३ )	"	"
" "	( ३४, २, २, ४-६ )	"	"
उपसेन सुत्त	( ३४, २, २, ७ )	शीतवन	"
खन्दस्तापतनिक सुत्त	( ३४, २, २, ६ )	"	"
" "	( ३४, २, २, १०-११ )	"	"
छन्न सुत्त	( ३४, २, ४, ४ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
पुण्य सुत्त	( ३४, २, ४, ५ )	"	"
वाहिष सुत्त	( ३४, २, ४, ६ )	"	"
एज सुत्त	( ३४, २, ४, ७-८ )	"	"
द्वय सुत्त	( ३४, २, ४, ९-१० )	"	"
संगह्य सुत्त	( ३४, २, ५, १-२ )	"	"
परिहान सुत्त	( ३४, २, ५, ३ )	"	"
सक सुत्त	( ३४, ३, २, ५ )	यद्धकूटपर्वत	"
पञ्चसिख सुत्त	( ३४, ३, २, ६ )	"	"
वेताल सुत्त	( ३४, ३, ३, १ )	कूटागारशाला	वैशाली
वज्जि सुत्त	( ३४, ३, ३, २ )	इस्तिग्राम (इधुआ, सारन)	वज्जि
नालन्दा सुत्त	( ३४, ३, ३, ३ )	प्रावारिक आस्रवन,	नालन्दा (मगध)
सोण सुत्त	( ३४, ३, ३, ५ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह

पठम जीवकम्बवन सुत्त	( ३४, ४, १, ५ ) जीवक आम्भवन	राजगृह
दुतिय जीवकम्बवन सुत्त	( ३४, ४, १, ६ ) "	"
पठम कोट्टित सुत्त	( ३४, ४, १, ७ ) "	"
दुतिय ततिय कोट्टित सुत्त	( ३४, ४, १, ८-९ ) "	"
मिच्छादिट्ठि सुत्त	( ३४, ४, १, १० ) "	"
सक्काय सुत्त	( ३४, ४, १, ११ ) "	"
अत्त सुत्त	( ३४, ४, १, १२ ) "	"
सट्ठिपेय्याल सुत्त	( ३४, ४, २, १-६० ) "	"
पठम दुतिय गेलञ्च सुत्त	( ३४, ५, १, ७-८ ) महावनकूटागारशाला, वैशाली	
अनिच्च सुत्त	( ३४, ५, १, ९ ) "	"
फस्समूलक सुत्त	( ३४, ५, १, १० ) "	"
रहोतकवमा के दस सुत्त	( ३४, ५, २, १-१० ) "	"
सीवक सुत्त	( ३४, ५, ३, १ ) जेगुवनकलन्दक-निवाप, राजगृह	
अट्ठसत्त सुत्त	( " " " २ ) "	"
मिक्खु सुत्त	( " " " ३ ) "	"
पुब्बेआन सुत्त	( " " " ४ ) "	"
मिक्खु सुत्त	( " " " ५ ) "	"
पठम, दुतिय, ततिय समण ब्राह्मण सुत्त	( " " " ६ ) "	"
सुद्धिक निरामिस सुत्त	( ३४, १, " ९ ) "	"
वापामनाप सुत्त	( ३५, १, १-२ ) "	"
आवेणिक सुत्त	( " " " ३ ) "	"
तीहि सुत्त	( " " " ४ ) "	"
कोधन सुत्त	( " " " ५ ) "	"
उपनाही सुत्त	( " " " ६ ) "	"
इस्सुकी सुत्त	( " " " ७ ) "	"
मच्छरी सुत्त	( " " " ८ ) "	"
अतिचारी सुत्त	( " " " ९ ) "	"
दुस्सील सुत्त	( " " " १० ) "	"
अण्यसुत्त सुत्त	( " " " ११ ) "	"
कुसीत सुत्त	( " " " १२ ) "	"
मुहस्सति सुत्त	( " " " १३ ) "	"
पञ्चवेट सुत्त	( " " " १४ ) "	"
अकोधन सुत्त आदि	( ३५, २, १-१० ) "	"

बिसारद आदि	( ३५, ३, १-१० )	वेणुवनकलन्दक-निवाप, राजगृह	
निम्बान आदि	( ३६, १-१६ )	नालकग्राम	मगध
निम्बान सुत्त आदि	( ३७, १-१६ )	उक्काचेल	वज्जिज
पुत्त सुत्त आदि	( ४०, २-५ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप, राजगृह	
पन्ड्याभूमक सुत्त आदि	( ४०, ६-६ )	प्रावारिक आश्रम, नालन्दा	
मण्णिचूल सुत्त	( ४०, १० )	वेणुवनकलन्दक-निवाप, राजगृह	
अनुत्ताप सुत्त	( ४२, २ )	महावनकूटगारशाला, वैशाली	
समिय सुत्त	( ४२, ११ )	गिज्जकावसथ, नादिका, वैशाली	
पठम, दुत्तिय, तत्तिय मित्तान सुत्त	( ४४, २, ४-६ )	वेणुवन	राजगृह
पारगामी सुत्त आदि	( ४४, २, ७-१० )	"	"
उदापी वग	( ४४, ३, १-१० )	"	"
नीकरय वग	( ४४, ४, १-१० )	"	"
चक्रवर्त्ती वग	( ४४, ५, १-१० )	"	"
अमय सुत्त	( ४४, ६, ६ )	गृद्धकूटपर्वत	"
अम्बपाली सुत्त	( ४५, १, १ )	अम्बपालीवन	वैशाली
सत्ती सुत्त	( ४५, १, २ )	"	"
गिलान सुत्त	( ४५, १, ६ )	चेलुव ग्राम	"
नालन्द सुत्त	( ४५, २, २ )	प्रावारिक आश्रम	नालन्दा
चेल सुत्त	( ४५, २, ४ )	उक्काचेल	वज्जिज
ब्रह्म सुत्त	( ४५, २, ८ )	उरुवेला ( बोधगया )	मगध
सीत सुत्त	( ४५, ३, १ )	कुक्कुटाराम	पाटलिपुत्र
ठिति सुत्त	( ४५, ३, २ )	"	"
परिहान सुत्त	( ४५, ३, ३ )	"	"
सिरिचङ्ग सुत्त	( ४५, ३, ६ )	वेणुवन	राजगृह
मानदिन्न सत्त	( ४५, ३, १० )	"	"
ब्रह्म सुत्त	( ४६, ६, ७ )	अजपालवृत्त ( उरुवेला )	बोध०
सुकरखात सुत्त	( ४६, ६, ८ )	गृद्धकूटपर्वत	राजगृह
चेत्तिय सुत्त	( ४६, १, १० )	महावनकूटगारशाला, वैशाली	
सम्भ सुत्त	( ५०, १, ६ )	अम्बपाली आश्रम	"
वैशाली सुत्त	( ५२, १, ६ )	महावनकूटगारशाला	"
वीषायु सुत्त	( ५३, १, ३ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप, राजगृह	
पठम, दुत्तिय, तत्तिय गिज्जकावसथ सुत्त	( ५३, १, ८-१० )	नादिका	वज्जिज
पठम, दुत्तिय चिन्ता सुत्त	( ५४, ३, १-२ )	कोटिग्राम	"



चिन्ता सुत्त	( ५४, ५, १ )	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
पयाल सुत्त	( ५४, ५, २ )	गृद्धकूटपर्वत	"
परिलाह सुत्त	( ५४, ५, ३ )	"	"
कूटागार सुत्त	( ५४, ५, ४ )	"	"
पठम छिम्मल सुत्त आदि	( ५४, ५, ५-१० )	कूटागारशाला	वैशाली
अभिसमय वर्ग	( ५४, ६, १-१० )	"	"
सप्तम वर्ग	( ५४, ७, १-१० )	"	"
अप्यगा विरत वर्ग	( ५४, ८, १-१० )	"	"
आमकधाना पेय्याल वर्ग	( ५४, ८, १-१० )	"	"
बहुतरसत्त वर्ग	( ५४, १०, १-१० )	"	"
गतिपञ्चक वर्ग	( ५४, ११, १-२० )	"	"

जातक-कथाएँ\*

चुल्लसेट्ठि जातक	४	जीवक आस्रवन	राजगृह
लम्बवण जातक	११	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
कुरंगमिग जातक	२१	"	"
महिलामुख जातक	२६	"	"
वट्टक जातक	३५	मगध में चारिका करते हुए	"
मकस जातक	४४	"	"
वानरिन्द जातक	५७	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
तपोधम्म जातक	५८	"	"
सीलाव नागराज जातक	७२	"	"
सक्खंकिर जातक	७३	"	"
मंगल जातक	८७	"	"
लोमहंस जातक	९४	वाटिकाराम	वैशाली
तेलपत्त जातक	९६	सेतकण्णिक निगम	हजारीबाग
वाहिय जातक	१०८	महावनकूटागारशाला	वैशाली
सिगाल जातक	११३	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
दुम्मेध जातक	१२२	"	"
असम्पादान जातक	१३१	"	"
उभतीमट्ट जातक	१३६	"	"
गोघ जातक ( २ )	१४१	"	"

\* अनु०—भदन्त आनन्द कौसल्यायन । प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग ।

सिगाल जातक	१४२	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
विरोचन जातक	१४३	"	"
एकपण्ण जातक	१४६	महावन कूटागारशाला	वैशाली
तज्जीव जातक	१५०	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
सिगाल जातक	१५२	महावन कूटागारशाला	वैशाली
विनीलक जातक	१६०	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
समिद्धि जातक	१६७	तपोदाराम	"
दुल्लभिय मकट जातक	१७४	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
सिद्धिदत्त जातक	१८४	"	"
दधिवाहन जातक	१८६	"	"
मण्णिचोर जातक	१९४	"	"
कुरङ्गमृग जातक	२०६	"	"
कन्दरागुण जातक	२१०	"	"
धम्मद जातक	२२०	"	"
सुल्लनन्दिय जातक	२२२	"	"
कुम्भाल जातक	२२४	"	"
उपाहन जातक	२३१	"	"
हरितजात जातक	२३६	"	"
सम्भदाठ जातक	२४१	"	"
गुत्तिल जातक	२४३	"	"
तेलोवाद जातक	२४६	महावन कूटागारशाला	वैशाली
मण्णिकसठ जातक	२५३	अम्मलाव चैल ( अरवल, गया )	आलवी
महापण्ण जातक	२६४	महिया ( भदरिया, भागलपुर )	अंग
रोमक जातक	२७७	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
जम्बुसादक जातक	२८४	"	"
अन्त जातक	२८५	"	"
पुत्तिमन्द जातक	३११	"	"
ब्रह्मदत्त जातक	३२३	अम्मलाव चैल ( अरवल, गया )	आलवी
कक्कार जातक	३२६	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजग्रह
कालबाहु जातक	३२६	"	"
जम्बुक जातक	३३५	"	"
धुस जातक	३३८	"	"
वानर जातक	३४२	"	"

लट्टकिक जातक	३५७	वैष्णवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
तालिय जातक	३६७	"	"
मृत्तिक जातक	३७३	"	"
सुवर्णकण्ठक जातक	३८६	"	"
मनोज जातक	३९७	"	"
अहिसेन जातक	४०३	अमलाव चैथ ( अरवल )	आलबी
परन्तप जातक	४१६	वैष्णवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
दीपि जातक	४२६	गिरित्रज ( गिरियक ) वर्तमान	मगध
गिष्म जातक	४२७	रुद्रकूटपर्वत ( अतीतकथा )	राजगृह
तित्तिर जातक	४३८	"	"
निशोध जातक	४४५	वैष्णवनकलन्दक-निवाप	"
कुणकुट जातक	४४८	"	"
महामंगल जातक	४५३	संस्थागार ( सभाभवन )	"
कालिगबोधि जातक	४७६	अतीतकथा	महाबोधि-महिमा
रुद्र जातक	४८२	वैष्णवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
सरभमिग जातक	४८३	सारिपुत्र की धर्मक्याख्या के लिए	
तच्छस्कर जातक	४९२	अजातशत्रु और प्रसेनजित् का युद्ध	
रोहन्तमिग जातक	५०१	वैष्णवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
हंस जातक	५०२	"	"
सत्तिगुम्भ जातक	५०३	मद्रकुक्षिमृगदाव	"
चम्पेय जातक	५०६	मगध की अंगविजय-कथा	
महाकपि जातक	५१६	वैष्णवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
सरभङ्ग जातक	५२२	"	"
सोनक जातक	५२६	मगध के राजपुत्र और पुरोहित-पुत्र की कथा	
संकिक्त जातक	५३०	वीरक आश्रयन	राजगृह
सुल्हांस जातक	५३३	वैष्णवनकलन्दक-निवाप	"
महाहंस जातक	५३४	"	"
महाजनक जातक	५३६	अतीतकथा	विदेह
निमि जातक	५४१	महादेव आश्रयन	मिथिला
खण्डहाल जातक	५४२	रुद्रकूटपर्वत	राजगृह
महानारद काश्यप जातक	५४४	लट्टिवन	मगध
महावर्म्मग जातक	५४६	मिथिलाराज के ८०० पण्डितों की अतीतकथा	



## सुत्तनिपात\*

धमिच सुत्त	महीनदी का तट	वज्जि
कसिमारद्वाज सुत्त	एकनाला बाढ़ाणग्राम	इक्ष्वागिरि, मगध
आलवक सुत्त	अमालाव चैत्य ( अरवल, गया )	आलवी
रत्न सुत्त	वैशाली का दुर्भित्त	वैशाली
सुचिलोम सुत्त	टंकिच मंच	गया
वज्जीय सुत्त	अमालाव चैत्य	आलवी
पञ्चज्जा सुत्त	राजगृह	मगध
पघान सुत्त	मिरंजना नदी का तट	उपवेला
माघ सुत्त	शुद्धकूटपर्वत	राजगृह
समिच सुत्त	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
सेल सुत्त	आपण निगम	अंगुत्तराप
सारिपुत्त सुत्त	सारिपुत्त और बुद्ध की वात्सा	—
वाराणस सुत्त	पाषाणक चैत्य	मगध

\* मूल पालि तथा हिन्दी-अनुवाद-सहित । अनु०—मिर्तु धर्मोत्तम पृ० ५० । प्रकाशक—महाबोधि-सभा, वाराणसी, सन् १९५१ ई० ।

## परिशिष्ट-४

बिहारवासी सम्राट् अशोक ने समाज्य-संचालन के साथ-साथ बौद्धधर्म के विस्तार के लिए जैसा उद्योग किया, वैसा उद्योग दूसरे सम्राट् के लिए दुर्लभ रहा है। उनके द्वारा लिखवाये गये धर्म-लेखों की चर्चा इस पुस्तक के पृ० १७४, १७५ और १७६ में की गई है। वे धर्मलेख नाक्षी और सरोष्टी लिपि में हैं, जिनकी भाषा पालि के बहुत समीप है, उनका यहाँ उल्लेख देवनागरी लिपि में किया जा रहा है। पाठकों की सुविधा के लिए मूल भाषा के साथ धर्मलेखों का हिन्दी-रूप भी प्रस्तुत है।

### लघु शिला-लेख

#### सासाराम, रूपनाथ, वैराट और गुर्जरा

देवानं पिये हेवं आहा...सातिलेकानि अदतियानि वयसुमि पाका उपासके नो सु  
बादं लकंते सातिलके सु सङ्कल्ले य सुमि हकं सध उपेते [१] बाढं च लकंते [१] पि इमाय  
कालाय जंबुदीपसि अमिसं देवा संता मुनिसा मिस देव हुसु ते वा दानि सिमा कटा [१]  
पकमसि हि एस फले [१] नो च एस महत्ता पापोतये [१] सुदकेन हि क पि कमसीनेना  
सकिये पियुले पि स्वगे आरोधये [१] एतिय अटाय च सावने कटे सुङ्का च उटाला च पकमंतु  
ति [१] अन्तापि च जानंतु इयं पकरव किति [१] चिलटितिके सिया [१] इय हि अडे वहि वहि-  
सिति विपुलं च वहिसति, अपलघियेना दियदिय वहिसत [१] इय च अडे पवतिसु लेखापेत  
बालत हध च [१] अथि सिलाहुमे सिलारंभसि लान्नापत वयत [१] (एतिना च वयजनेना  
वायतक तुपक अहाले सवर विवसेतवायुति) विवुयेत दुये सपेना लातिसता विवुयाति  
२५६—सत विवासा त\* [१]

### हिन्दी

देवताओं के प्रिय इस तरह कहते हैं—हार्द वर्ष से अधिक हुए कि मैं उपासक हुआ;  
पर मैंने अधिक उद्योग नहीं किया। किन्तु, एक वर्ष से अधिक हुए कि मैं संघ में  
आया हूँ—तबसे मैंने अच्छी तरह उद्योग किया है। इस बीच जम्बुदीप में जो देवता सन्ने

\* यह पाठ सासाराम-लेख का है। केवल ( ) कोष्ठकवाला पाठ 'सासाराम' में नहीं है, वह 'रूपनाथ'-  
वाले लेख से लिया गया है।—ले०

माने जाते थे, वे अब झूठे सिद्ध कर दिये गये। यह उद्योग का फल है। यह केवल बड़े ही लोग वा सकते, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि, छोटे लोग भी उद्योग करें, तो महान् स्वर्ग का सुख वा सकते हैं। इसलिए यह अनुशासन लिखा गया कि छोटे और बड़े उद्योग करें। मेरे पड़ोसी राजा भी इस अनुशासन को जानें और मेरा उद्योग चिरस्थित रहे। इस बात का विस्तार होगा और अच्छा विस्तार होगा—कम-से-कम जेद्गुना विस्तार होगा। यह अनुशासन यहाँ और दूर के प्रांतों में, पर्वतों की शिलाओं पर लिखा जाना चाहिए, जहाँ-कहीं शिलान्तम्भ हो, वहाँ यह अनुशासन शिलान्तम्भ पर भी लिखा जाना चाहिए। इस अनुशासन के अनुसार जहाँ-जहाँ आपलोगों का अधिकार हो, वहाँ-वहाँ आपलोग सर्वत्र इसका प्रचार करें। यह अनुशासन उस समय लिखा, जब (मैं) प्रवास कर रहा था और अपने प्रवास का २५६वाँ दिन बिता रहा था।

ब्राह्मगिरि, सिद्धपुर, जतिगरामेश्वर, राजुल और येरांगुडी

( प्रथम लघुलेख )

सुवर्णागराते अयपुत्तस महामाताणं च वचनेन इसिलसि महामात्ता आरोगियं वतविया हेवं च वतविया [१] देवाणं पिपे आणपयति [१] अधिकानि अडातियानि वसानि य हकं... नो तु खो वाडं पकंते दुसं [१] एकं सवडूरं ततिरेके तु खो संवडूरं यं मया संवे उपयीते वाडं च मे पकंते [१] इमिया तु कालेन अमिसा समाना मुनिसा जंघुडापसि मिसा देवाहि [१] पकमस हि इयं फले [१] नो हीयं सवये महात्वेनेव पापोतवे [१] कामं तु खो खुदकेनपि पकमं मिण्णेण विपुले स्वगे सवये आराधेतवे [१] एतापठाय इयं सावणे सावपिते [१] ...महात्ता च इमं पकमेयुति दांता च मे जानेयु चिरटितीके च इयं प (कमे होतु) [१] इयं च ळटे वडिसिति विपुलं पि च वडिसिति अवरधिणा दिपडियं (वडि) सिति [१] इयं च सावणे सावपते मयूथेन २५६ [१]

हिन्दी

सुवर्णागिरि से आर्यपुत्र और महामात्यों की ओर से 'इसिला' के महामात्यों की आरोग्य कहना और यह सूचित करना कि देवताओं के प्रिय आज्ञा देते हैं कि दाईं वर्ष से अधिक हुए कि मैं उपायक हुआ, परन्तु अधिक उद्योग नहीं किया। किन्तु, एक वर्ष से अधिक हुए, जबसे मैं संघ में आया हूँ, तबसे मैंने प्रचुर पराक्रम किया है। इस बीच जम्बूद्वीप में जो मनुष्य सच्चे माने जाते थे, वे अब अपने देवताओं के सहित मिथ्या सिद्ध कर दिये गये हैं। पराक्रम का ही यह फल है। यह केवल महान् लोग ही नहीं प्राप्त कर सकते हैं; बल्कि छोटे लोग भी पराक्रम करें, तो वे भी इस महान् स्वर्ग-सुख को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए शासन लिखा गया कि छोटे और बड़े—सभी लोग ऐसा पराक्रम करें। मेरे पड़ोसी लोग भी इस बात को जानें (और ऐसा पराक्रम करें) तथा मेरा यह शासन चिरस्थाय रहे। इस शासन का विस्तार होगा और अपरिमित विस्तार होगा—कम-से-कम



डाइंगुना विस्तार होगा। यह अनुशासन (मैने) अपने प्रवास के २५६वें दिन प्रचारित किया।

( उक्त स्थानों के द्वितीय लघुलेख )

ये हेवं देवानं पिबे ग्राह [—] मातापितृसु सुसूतितवियं [1] हेमेव गरुवं प्राणेसु द्रष्टितव्यं [1] सचं वतवियं [1] से इमे धंमगुण पवतितविया [1] हेमेव अंतेवासिना आचरिये अपचायितविये [1] आतिक्केसु, च कु यथारहं पवतितविये एसा पोराणा पकिती दिचावुसे च [1] एस हेवं एस कटिविये च [1] पवेन लिखितं लिपिकरेण\* [1]

## हिन्दी

देवताओं के प्रिय इस तरह कहते हैं—माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। ( प्राणियों के ) प्राणों का आदर इदता से करना चाहिए और सत्य बोलना चाहिए। यही धर्म के गुण हैं, इनका प्रचार करना चाहिए। इसी प्रकार छात्रों को अपने आचार्यों की सेवा करनी चाहिए तथा अपने गुरु-गान्धवों के प्रति आदर प्रकट करना चाहिए। यही प्राचीन रीति है और इससे आयु बढ़ती है तथा इतना ही रहस्य है—यही कर्त्तव्य है। पंड नामक लिपिकार ने इसे लिखा है।

## मास्की, पाल्कीगुण्ड और गवीमठ का लघुलेख

देवानं पियस असोक्स...दत नि वसानि यं यं सुमि बुं पा सके...तिरेके... मि संघं उपगते वा...मि उपगते [1] पुरे जंडु...सि ( देवा हुसु ) ते दानि मिसिभूता [1] इय अठे खुद के न हि धमयु तेन सके अधिगतवे न हेवं दलितविये ठडा लके व इम अधिगद्दे पा ति [1] खुदके च ठडालकेक च वतविया हेवं वे कलंतं भदके डेति...तक च वधिसिति चा दिय दिय हेसति [1]

## हिन्दी

देवताओं के प्रिय अशोक की ओर से ऐसा कहना—ढाई वर्ष से अधिक हुए कि मैं उपासक हुआ हूँ; पर पूरा पराक्रम नहीं किया। किन्तु, एक वर्ष से अधिक हुए कि जब से मैं संघ में आया हूँ, तब से मैंने प्रचुर पराक्रम किया है। पहले जम्बूद्वीप में जो देवता थे, वे सब मिथ्या सिद्ध हो गये हैं। यह रहस्य छोटे लोग भी धर्म के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि केवल महान् लोगों से ही यह प्राप्त है। बड़े और छोटे—सभी लोगों को यह बतलाना चाहिए कि ऐसा करना ( सबके लिए ) कल्याणकारक है। मेरा यह शासन चिरस्थायी होगा और इसका विस्तार होगा—कम-से-कम डाइंगुना विस्तार होगा।

\* उक्त दोनों अभिलेख आगरा के पाठ हैं।—ले०

## भात्र शिला-लेख\*

प्रियदत्ति राजा मागध संघ अभिवादनं आह [1] अथावाधत्त च फासु विहालत्तं च [1] विदितमे भन्ते आगतके हमा बुधसि धम्मसि संघसीति गल्लवे च पसादे च [1] ए केचि भन्ते भगवता बुधेन भासिते सवे से सुभासिते वा ए चु खो भन्ते हमिपावे दिसेया हेवं सधंमे चिलठितीके होसतीति अलहामि हकं तं वतवे [1] इमानि भन्ते धंम एलियायानि विनयसमुक्ते अलियवसानि अनागतमयानि मुनिगाथा मोनेयसुत्ते उपतिसपसिने ए चा लापुलोवादे सुसावादे अधिगिण्य भगवता बुधेन भासिते एतान भन्ते धंमपलियायानि इधामि किति [?] बहु के भिखुपाये च भिखुनिये चा अभिन्नितं सुनयु चा उपघालेपेयु चा हेवं हेवा उपासका चा उपासिका चा [1] एतेनि भन्ते इमं लिगापियामि अभिहेतं म जानंतति [1]

## हिन्दी

प्रियदर्शी राजा मगध के संघ को अभिवादन कहते हैं कि ( वे ) विघ्नहीन और सुख से रहें। हे भदन्तगण, आपको मालूम है कि बुद्ध, धर्म और संघ में हमारी कितनी भक्ति और गौरव है। हे भदन्तगण, जो-कुछ भगवान् बुद्ध ने कहा है, सो सब-के-सब सुभाषित है। इसलिए हे भदन्तगण, मैं अपनी ओर से देखता हूँ कि सद्धर्म्म इस तरह चिरस्थित रहेगा। अतः मैं कहना चाहता हूँ कि ये सब धर्म के रूप हैं—विनय समुत्कर्ष, अरियवंश, अनागतमय, मुनिगाथा, मोनेयसूत्र, उपतिष्य प्रश्न और राहुलवाद, जिसे भगवान् बुद्ध ने मिश्यावादन के सम्बन्ध में कहा है। हे भदन्तगण, मैं चाहता हूँ कि इन धर्म-वाक्यों को बहुत-से भिक्षुक और भिक्षुणी बार-बार अवश्य करें और धारण करें। इसी प्रकार उपासक और उपासिका भी सुने तथा धारण करें। हे भदन्तगण, मैं इसलिए लेख लिखवाता हूँ कि लोग मेरा अभिप्राय जानें।

## चतुर्दश शिला-लेख†

कालसी, गिरनार, सहवाजगढ़ी, मानसेरा, येरांगुडी, सोपारा, धौली और जौगढ़

( प्रथम प्रज्ञापन )

इयं धंमलिपी देवानं प्रियेन प्रियदत्तिना राज्ञा लेखापिता [1] इध न किं—चिजीवं आरभित्वा प्रवृत्तित्त्वं न च समाजो कथयो [1] बहुकं हि दोसं समार्जहि पसति देवानं प्रियो-प्रियदत्ति राजा [1] अस्ति पि तु एकचा समाज्जा साधुमत्ता देवानं प्रियस प्रियदत्तिनो राजो [1] ...पुरा महानसहि देवानं प्रियस प्रियदत्तिनो राजो अनुदिक्सं बहूनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु सूपथाय [1] से अज यदा अयं धंमलिपी लिखिता ती एवं प्राणा आरभरे सूपथाय हो मोरा एको मगो [1] सोपि मगो न बुको [1] एते पि श्री प्राणा पड़ा न आरभिसरे [1]

\* यह शिला-लेख अब कलकत्ता के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसके मुद्रणों का विवरण इस पुस्तक के पृ० १७७-१७८ पर देखिए।—ले०

† यहाँ की चतुर्दश शिला-लेख के पाठ दिये गये हैं, वे गिरनारवाले ही हैं।—ले०

## हिन्दी

यह धर्मसेख देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ने लिखवाया है। वहाँ (राज्य में) कोई जीव मारकर होम न किया जाय और न समाज किया जाय। क्योंकि, देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत-से दोष देखते हैं। तथापि एक प्रकार के ऐसे समाज हैं, जिन्हें देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा पसन्द करते हैं। पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में प्रतिदिन कई सहस्र जीव सूय (शोरबा) बनाने के लिए मारे जाते थे, पर अब जबकि यह धर्म-सेख लिखा जा रहा है, केवल तीन ही जीव मारे जाते हैं—दो मोर और एक मृग। पर मृग का मारा जाना निश्चित नहीं है। ये तीनों प्राणी भी भविष्य में न मारे जायेंगे।

( द्वितीय प्रज्ञापन )

सर्वत विजितेहि देवानं प्रियस प्रियदसिनो राजो एवमपि प्रचंतेसु यथा चोडा पाडा सतियपुतो केतलपुतो आतंब पंगी अंतियको योनराजा ये वा पितस अंतियकस सामीपं राजानो सर्वत्र देवानं प्रियस प्रियदसिनो राजो हे चिकीछ कता मनुसचिकीछा च पमुचिकीछा च [१] ओसुवानिच यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च मूलानि च फलानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपितानि च [१] पंथेसु कृपा च खानापिता मृडा च रोपापिता प्रति भोगाय पमुमनुसानं [१]

## हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य में सब स्थानों पर तथा जो उनके पड़ोसी राज्य हैं, वहाँ—जैसे चोड़, पाख्य, सत्यपुत्र, कोलपुत्र, ताम्रपर्णी में और अन्तियोक नामक यवन राजा और उस अन्तियोक के पड़ोसी राजाओं के वहाँ—देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की—एक मनुष्य की और दूसरे पशुओं की—चिकित्सा का प्रचन्ध किया है। ओषधियाँ भी मनुष्यों और पशुओं के लिए जहाँ-जहाँ नहीं थीं, वहाँ-वहाँ लाई और रोपी गईं। इसी तरह मूल और फल भी जहाँ-जहाँ नहीं थे, वहाँ-वहाँ लाये और रोपे गये। मार्गों में पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिए वृक्ष लगवाये और कुल खुदवाये गये हैं।

( तृतीय प्रज्ञापन )

देवानं प्रियो प्रियदसि राजा एवं आह [—] इदमवासाभिस्सितेन मया हदं आजपितं [—] सर्वत विजिते मम युता च राजुके च प्रादेशिके च पंचसु पंचसु वासेसु अनुसं—यानं भिवातु एतायेव उवाप.....इमाप धंमानुसस्सिय यथा अना-य पि कंमाप [—] साधु मातरि च पितरि च सुख सा भितासंस्तुत आतीनं वामहण—समणानं साधु दानं प्राणानं साधु अनारंभो अपव्ययता अपभांडता साधु [ १ ] परिमा पि युते आजपयिममि गणनायं हेतुतो च व्यंजनतो च [ १ ]



## हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शों राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के बारह वर्ष बाद मैंने यह आज्ञा दी है—मेरे राज्य में सब जगह युत् (युक्त), लाजुक (रज्जुक) और प्रादेशिक (शासक) पाँच-पाँच वर्ष पर इस काम के लिए धर्मानुशासन के लिए तथा और-और कामों के लिए (कहते हुए) दौड़ा करें कि 'माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित स्वजातीय ब्राह्मण और श्रमण को दान देना अच्छा है। जीवहिसा न करना अच्छा है। थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संचय करना अच्छा है।' परिपक्व भी युक्ती (एक प्रकार के कर्मचारी) को भाण्डार का निरीक्षण करने और हिसाब-किताब की जाँच करने के लिए आज्ञा देगी।

(चतुर्थ प्रज्ञापन)

अतिशत अंतरं बहूनि वाससतानि वदितो एव प्राणारंभो विहिंसा च भूतानां आतीसु असंप्रतिपत्तां ब्रह्मण क्षमणानां असं प्रतीपत्तां [।] तेजस्य देवानां प्रियस प्रियदर्शिनो राजो धर्मचरणेन मेरोघोसो अहो धर्मघोसो विमान—दसणा च दस्तिदसणा च अगिखंधानि च अनानि च दिव्यानि रूपानि दसविस्था जनं [।] मारिसे बहूहि वास सतेहि न भूतयुवे तारिसे अज वदिते देवानां प्रियस प्रियदर्शिनो राजो धर्मानुसस्तिथा अनारं भो प्राणानां अविहीसा भूतानां नातीनां संपटिपत्तां ब्रह्मण समणानां संपटिपत्तां मातरि पितरि सुखुसा धैर सुखुसा [।] एस फले च बहुविधे धर्मचरणे वदिते [।] वदयिस्सति चेव देवानां प्रियो प्रियदस्ति राजा धर्मचरणं हवे पुत्रा च पोत्रा च प्रपौत्रा च देवानां प्रियस प्रियदर्शिनो राजो बधयिस्सति इदं धर्मचरणं... आव संवत्तया धम्महिं लीलमहिं तिसंत्तो धम्मं अनुसासिस्सति [।] एस हि सेस्ते कंसे य धर्मानुसासनं [।] धर्मचरणे पि न भवति असीलस [।] त इममहिं अयमहिं बध्दी च अहीनी च साधु [।] एताप अथाय इदं लेखापितं [—] इमस अपस वधि युजंतु हीनि च मा लोचेत्तया [।] द्वादसवधि युजंतु हीनि च मालोचेत्तया [।] द्वादस वासाभिसितेन देवानां प्रियेन प्रियदर्शिनो राजा इदं लेखापितं [।]

## हिन्दी

बहुत दिनों से, कई सौ वर्षों से, प्राणियों का तब, जीवों की हिंसा, वस्तुओं का अनादर, श्रमण और ब्राह्मणों का अनादर बढ़ता ही गया। पर आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शों राजा के धर्माचरण द्वारा मेरी के घोष, नहीं-नहीं—धर्म के घोष के साथ विमान और हाथियों को दिखाया जाता है। अतिशयाजी और अन्य दिव्यरूपों के दर्शन कराये जाते हैं। जैसा सैकड़ों वर्ष पहले से कभी नहीं हुआ था, वैसा देवताओं के प्रिय प्रियदर्शों राजा के धर्मानुशासन से आजकल प्राणियों का न मारा जाना, जीवों की अहिंसा, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों तथा श्रमणों का आदर, माता-पिता तथा बूढ़जनों की सेवा में वृद्धि हुई है। ये तथा दूसरे अनेक प्रकार के धर्माचरण बढ़े हैं। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शों राजा इस धर्माचरण को (और भी) बढ़ावेगा। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शों राजा के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र इस धर्माचरण को कल्पान्त

तक बढ़ावेंगे तथा धर्म और शील में ( स्थित ) रहते हुए धर्म का अनुशासन करेंगे ( क्योंकि ) धर्मानुशासन ही श्रेष्ठ कर्म है । बिना शीलवाले का धर्माचरण भी नहीं होता है । इसलिए इस बात की बढ़ती होना तथा घटती न होना श्रेष्ठ है । इसी प्रयोजन से यह लिखा गया कि ( लोग ) इस उद्देश्य की वृद्धि में लगे और उसकी हानि न देखें । राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह ( प्रज्ञापन ) लिखवाया ।

( पञ्चम प्रज्ञापन )

देवानं प्रियो पियदसि राजा एवं आह कलाणं दुकरं ये आदिके कलाणोस सोडकरं करोति त मया बहु कलाणं कतं त मम पुता च पोत्रा च परं च तेन य मे अपचं आवसंयटकया अनुवतिसरे तथा सो सुकतं कासति यो तु एत देसं पि हापेसति सो दुकतं कासति सुकरं हि पारं...अतिक्रान्तं अंतरं न भूतप्रूवं धम्ममहामाता नाम त मया त्रैदस वासाभिसितेन...धम्ममहामाता कता ते सवपासंडेसु व्यापता धामधिस्सानाय...धम्मयुत्तसं च योगकंबोजगंधारानं रिस्तिकपेत्तेगिकानं ये वा पि अज्जे अपराता भतमयेसु व...सुखाय धम्मयुत्तानं अपरिमोघाय व्यापता ते बघनबघस पटिविधानाय...प्रजा कता भीकरेसु वा धैरेसु वा व्यापता ते पाटलिपुत्ते च बाहिरेसु च...येवा पि मे अज्जे जालिका सर्वतं व्यापता ते यो अयं धम्मनिजितो ति व...  
...धम्ममहामाता एताय अथाय अयं धम्मलिपी लिखिता... [ । ]

### हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने इस प्रकार कहा है । कल्याण ( करना ) कठिन है । जो कल्याण करता है, वह कठिन काम करता है । सो मैंने बहुत कल्याण किया । इसलिए मेरे पुत्र, पौत्र तथा उनसे आगे जो मेरे वंशज होंगे, वे कल्याण तक वैसा अनुसरण करेंगे ( तो ) वे सुकृत करेंगे । जो इस आज्ञा के अंश मात्र में भी हानि पहुँचावेंगे, वे बुरा काम करेंगे । क्योंकि पाप सहज में फैलता है । बहुत काल बीता कि धर्ममहामात्र नहीं नियत हुए । इसलिए मैंने अभिषिक्त होने के तेरहवें वर्ष धर्ममहामात्र नियत किये । वे सब धर्मों के लिए नियुक्त हैं । वे धर्म के अधिष्ठान और धर्म की वृद्धि तथा धर्मानुयायी लोगों के हित और सुख के लिए हैं । वे यवनों, कम्बोजों, गान्धारों, राष्ट्रिकों, पँडनिकों तथा पश्चिमी सीमा-प्रान्त पर रहनेवाले दूसरे लोगों के, जेतनभोगी नौकरों, ब्राह्मणों और धनवानों, अनाथों और बुढ़ों के हित और सुख तथा अधीनस्थ धर्माधिकारियों की ( = से ! ) बाधा न पहुँचाने के लिए नियुक्त हैं । वे कैद करने और प्राणदण्ड देने को नियंत्रित करने, बाधा को दूर करने और छुड़ाने के लिए नियुक्त हैं । यह अनुबंध बाल-बच्चेवालों या जो राज्याधिकार कर चुके हैं, या बुढ़ों के लिए नियत हैं । ये लोग यहाँ पाटलिपुत्र में तथा बाहर के सब नगरों में, मेरे तथा मेरे भाई और बहनों के महलों तथा दूसरे सम्बन्धियों के लिए सब जगह नियुक्त हैं । जो यों धर्म के काम में अधिकृत अथवा अधिष्ठित अथवा दान के काम में अधिकार पर मेरे सब विजित देशों में, सारी पृथ्वी में, धर्म के अधिकारियों पर नियुक्त हैं, वे धर्ममहामात्र हैं । इसलिए यह धर्मलिपि लिखवाई ।

( षष्ठ प्रज्ञापन )

देवानं प्रि...सि राजा एवं आह अतिक्रान्तं अन्तरं न भूतम् व सव कलं अथकमे व पटि-  
वेदना वात मया एवं कतं सवे काले भुंजमानस मे आरोधसन्निह गभागारन्निह वचन्निह व विनीतन्निह च  
उपानेसु च सक्क पटिवेदका मृता अथे मे जनस पटिवेदथ इति सर्वत्र च जनस अथे करोमि य  
च किंचि सुखतो आनपयामि स्वयं दापके वा आवापके वा य वा पुन महामात्रेसु आचार्यिके  
आरोपितं भवति ताय अथाय विवादो निभत्ती व संतो परिसायं आनन्तरं पटिवेदेतथ्य मे सर्वत्र  
सर्वे काले एवं मया आनपितं नास्ति हि मे तोसो उस्तानन्निह अथसंतीरणाय व कतव्य मते हि  
मे सर्वलोकहितं तस च पुन एस मूले उस्तानं च अथसंतीरणा च नास्ति हि कमतरं सर्वलोक-  
हितप्या य च किंचि पराक्रमामि अहं किंति भूतानं आनन्तरं गच्छेयं इध च नानि सुखापयामि  
परया च स्वयं आराधयंतु त एताय अथाय अयं धम्मलिपी लेखापिता किंति चिरं तिस्सेय इति  
तथा च मे पुत्रा पोता च प्रपौत्रा च अनुवतरां सबलोकहिताय दुकरं तु इदं अजत अगेन  
पराक्रमेन [ १ ]

## हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शों राजा ने इस प्रकार कहा है। बहुत दिन बीत गये, सब  
समय में राज्य का कार्य और विवर्ति नहीं होती। इसलिए मैंने इस प्रकार ( प्रवन्ध ) किया  
कि सब समय में—चाहे मैं खाता होऊँ, चाहे महल में होऊँ, चाहे अपने महल में, चाहे  
टहलने में, चाहे ( स्थान-स्थान पर बदलनेवाली सवारी की ) डाक से लम्बी यात्रा में और  
चाहे बागीचे में—सर्वत्र प्रतिवेदक प्रजा के कार्य की ( मुझे ) सूचना दें। मैं सब जगह प्रजा  
का कार्य करता हूँ। दिलानेवाले और सुनानेवाले अधिकारियों को जो कुछ मौखिक आज्ञा  
में दूँ, उसके विषय में या अत्यन्त आवश्यकता पर जितना अधिकार महामात्रों को  
दिया गया है, उसके सम्बन्ध में संदेह या मतभेद और पुनर्विचार होने पर परिपक्व विना  
विलम्ब के सब जगह मुझे सूचित करें। इस प्रकार मैंने आज्ञा दी; ( क्योंकि ) उद्योग करने  
में और कार्य चलाने के लिए मुझे संतोष नहीं होता। सबलोगों की भलाई करना ही मैंने  
कर्तव्य माना है और उसका मूल उद्योग और कार्य-संचालन है। सबलोगों की भलाई के  
अतिरिक्त मुझे अधिक करणीय काम कोई नहीं है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ, वह क्यों ?  
इसीलिए कि जीवधारियों के श्रेष्ठ से मुक्त होऊँ, कुछ को इस लोक में मुक्त दूँ ( जितने )  
वे दूसरे लोक में स्वर्ग प्राप्त करें। इस प्रयोजन से यह धर्मलिपि लिखवाई। यह निरस्थायी  
हो तथा मेरे स्त्री, पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र सब लोगों की भलाई के लिए उद्योग करें। विना  
अत्यधिक प्रयत्न के यह दुष्कर है।

( सप्तम प्रज्ञापन )

देवानं पियो पियदर्श राजा सर्वत इहति सवे पासंदा वसेयु सवे ते सयमं च भावसुधि  
च इहति जने तु उचावचर्द्धो उचावचरागां ते सर्वे व कांसंति एकदेसं व कांसंति विपुले तु पि  
दाने यस नास्ति सयमे भावभुधिता व कर्तजता व दिदभत्ता च निचा बाढं [ १ ]



### हिन्दी

देवताओं का प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब धर्मवाले सर्वत्र रहें। वे सभी संयम और भावशुद्धि चाहते हैं। मनुष्यों के ऊँच-नीच विचार और ऊँच-नीच राग होते हैं। वे पूरी तरह अथवा कोई अंश (पालन) करेंगे। जिसके बहुत दान नहीं हैं, उसमें भी संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता और हठभक्ति तो अवश्य ही मिले हैं।

(अष्टम प्रज्ञापन)

अतिशय अंतर राजानों विहारयातां अयासु एत भगवत्वा अजानि च एतारिसानि अमीरमकानि अहुंसु सो देवानं पियो पियदसि राजा दसवसाभिसितो संतो अयाय संबोधि तेनेसा धंमयाता एत यं होति ब्राह्मणसमणानं दसणे च दाने च यैरानं दसणे च त्रिरंगपट्टि-विधानो च ज्ञानपदस च जनस दसनं धंमानुसस्ती च धमपरिपुद्धा च तदोपया एसा भुय रति भवति देवानं पियस पियदसिनो राजो भागे अजे [ । ]

### हिन्दी

बहुत काल बीत गया ( कि ) देवताओं के प्रिय राजा लोग विहार-यात्रा के लिए निकलते थे। इसमें शिकार तथा वैसी ही मन बहलानेवाली दूसरी बातें होती थीं। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के दसवें वर्ष में सम्यक् ज्ञान के मार्ग पर पैर रखा। इससे यह धर्मयात्रा चली। इसमें ये होते हैं ( कि ) धर्मशास्त्रों और ब्राह्मणों का दर्शन, दान, बुद्धों का दर्शन, सोने का वितरण, जनपद के लोगों का दर्शन, धर्म का उपदेश और धर्म विषय की जिज्ञासा। उससे ( विहार-यात्रा से ) यह ( धर्मयात्रा ) बहुत ही आनंददायक होती है। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा का भाग ही दूसरा है।

(नवम प्रज्ञापन)

देवानं पियो प्रियदसि राजा एवं आह अस्ति जनो उच्चावचं मंगलं करोते आवाधेसु वा आवाह सीवाहेसु वा पुत्रलाभेसु वा प्रवासंस्मि वा एतन्ही च अजस्मि च जनो उच्चावचं मंगलं करोते एत तु महिदायो बहुकं च बहुविधं च छुदं च निरयं च मंगलं करोते त कतय्व मेव तु मंगलं अपफलं तु खो एतरिसं मंगलं अयं तु महाफले मंगले ये धंमसंगले तत दासभट्टकस्मि सम्प्रतिपत्ती गुरुनं अपचिति साधु पाण्येसु सयसो साधु बग्गणसमणानं साधु दानं एत च अज च एतारिसं धंममंगलं नाम त वतय्वं पिता व पुतेन वा भात्रा वा स्वामिकेन वा इदं साधु इदं कतय्वं मंगलं आव तस अयस निस्तानाय अस्ति च पि पुतं साधु दनं इति न तु एतारिसं अस्ति अस्ति दानं व अजगहो व यारिसं धंमदानं व धंमानुगहो व त तु खो मिथेन व सुहदयेन वा जतिकेन व सहायन व ओवाहितय्वं तस्मि तस्मि पकरणे इदं साध इति इमिना सकं सयसं आराधेतु इति कि च इमिना कतट्ठतरं यथा सवगारधिः [ । ]

\* कालसी, सहजवाजगढ़ी और मानसेरा में अन्तिम कुछ पंक्तियों का पाठभेद है, जिसका उल्लेख अत्यन्त आवश्यक नहीं जान पड़ा।—ले०

## हिन्दी

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है। लोग ऊँचा-नीचा (थोड़ा-बहुत) मंगल करते हैं। बीमारी, बुलाहट, विवाह, पुनर्जन्म, परदेश जाने तथा और ऐसे ही दूसरे अवसरों पर मनुष्य बहुत मंगल-कामना करता है। ऐसे अवसरों पर बच्चेवाली स्त्रियाँ अनेक प्रकार की छोटी और निरर्थक मंगल-कामना करती हैं। ये मंगल-कामनाएँ अवश्य करनी चाहिए, किन्तु इनका फल थोड़ा होता है। इस (दूसरे) धर्म-मंगल से तो मिश्रचय बड़ा फल होता है। उसमें ये बातें हैं कि दास और नौकरों से उचित व्यवहार, गुरुजनों की पूजा, प्राणों का संयम (प्राणियों पर दया), श्रमणों और ब्राह्मणों को दान। ये तथा ऐसे ही दूसरे कार्य धर्म-मंगल के। इसलिए पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र और परिचित यहाँतक कि पड़ोसी भी यह उपदेश करें कि जबतक अर्थ की सिद्धि न हो, तबतक यह मंगल उत्तम है, कर्त्तव्य है। यह भी कहा है कि दान उत्तम है, किन्तु कोई दान वा अनुग्रह ऐसा नहीं है, जैसा कि धर्मदान और धर्मानुग्रह। इसे मित्र, सुहृद्, कुटुम्बियों और सहायकों को समय-समय जोर देकर अवश्य कहना चाहिए कि यह कर्त्तव्य है, यह उत्तम है, इससे स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। इससे बढ़कर अधिक कर्त्तव्य और क्या हो सकता है कि स्वर्ग की प्राप्ति हो।

## ( दशम प्रज्ञापन )

देवानं प्रियो प्रियदसि राजा यसो व कीर्त्ति व न महाबावहा मंजते अजत तदापनो दिघाय व मे जनो धंम सुच्चुसा सुच्चुसतां धंमवुतं व अनुविधिगतं एतकाय देवानं प्रियो प्रियदसि राजा यसो व कीर्त्ति व इद्धति यं तु किंचि पराक्रमते देवानं प्रियदसि राजा त सर्वं पारत्रिकाय किति सकले अपपरित्वे अस एस तु परित्वे य अपुंजं दुकरं तु खो एतं छुदकेन व जनेन उसटेन व अजत्र अगेन पराक्रमेन सर्वं परिचजिप्पा एत तु खो उसटेन दुकरं [ । ]

## हिन्दी

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यश या कीर्त्ति को परलोक के लिए बहुत काम की वस्तु नहीं मानता। जो वह यश या कीर्त्ति को चाहता है, तो इसलिए कि मेरी प्रजा वर्तमान और भविष्यत् में धर्म की शुद्धि पा करे और धर्मव्रत का पालन करे। इसीलिए देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यश वा कीर्त्ति की इच्छा करता है। जिसमें सब दोष-रहित हो। यही दोष है कि अपुण्य (पुण्य न करना)। यह (अपुण्य-रहित) बिना बड़े भारी पराक्रम के छोटे या बड़े जनवर्ग के लिए अवश्य दुष्कर है। चाहे, सब-कुछ छोड़ दे, पर यह तो छोटे-बड़े सब के लिए दुष्कर है। बचे के लिए तो और भी दुष्कर है।

## ( एकादश प्रज्ञापन )

देवानं प्रियो प्रियदसि राजा एवं आह नास्ति एतारिसं दानं पारिसं धंमदान धंमसंस्तवो वा धंमसंविभागो व धंमसंबंधो व तत्त इदं भवति दासभक्तकम्हि सम्प्रतिपत्ती मातरि पितरि साधु सुच्चुसा मितसस्तुतवातिकारं बामहणसमखानं साधु दानं प्राणानं अनारंभो साधु एत

यत्तत्त्वं पिता व पुत्रेण व भाता व भित्तस्तुतवतिक्तेन व आद्य पटिवेसियेहि इदं साधु इदं कतत्त्वं सो तथा करु इलोक च स आरधो होति पटत च अनंतं पुं' भवति तेन धंम-दानेन [ । ]

### हिन्दी

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहता है । जैसा धर्म का दान, धर्म का व्यवहार, धर्म का लेन-देन और धर्म का सम्बन्ध है, वैसा और कोई दान नहीं है । इनमें ये-ये बातें होती हैं—दास और बेटनभोगी सेवकों से अच्छा बर्त्ताव, माता-पिता की सेवा, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, धर्मियों और ब्राह्मणों को दान तथा धार्मिकों की अहिंसा । पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र, परिचित, सम्बन्धी यहाँ तक कि पड़ोसी ( सब ) को यह कटना चाहिए कि यही उत्तम है । यही कर्त्तव्य है । ऐसा करता हुआ यह ( मनुष्य ) इस लोक की ( सब बातों ) को निद करता है और उसी धर्मदान से परलोक में अनंत पुण्य को उत्पन्न करता है ।

### ( द्वादश प्रज्ञापन )

देवानं पिये पियदशी राजा सब पासंडानि च पवजितानि च घरस्तानि च पूजयति दानेन च विविधाय च पूजाय पुजयति ने न तु तथा दानं व पूजा व देवानं पियो मंजते यथा किति सारवदी अस सवपासंडानं सारवदी तु बहुविधा तसतस तु इदं मूलं य वचिगुतां किति आप पासंडपूजा व परपासंड गरहा व नो भवे अपकरणमिह लहुका व अस तमिह तमिह प्रकरये पूजेतया तु एव परपासंडा तेन तन प्रकरयेन एवं करु आपपासंडं च वजयति परपासंडस च उपकरोति तदंजया करोतो आप पासंड च छुणति पर पासंडस च पि अपकरोति यो हि कोचि आप पासंडं पूजयति परपासंडं वा गरहति सब आप पासंडभतिया किति आप पासंडं दीपयेम इति सो च पुन तथ करातो आपपासंडं बाडतरं उपहनति त समवायो एव साधु किति अंजमज'स धंमं सुगारु च सुसुसेर च एवं हि देवानं पियस इडा किति सवपासंडा बहुश्रुता च असु कलाणागमा च असु ये च तत्र तते प्रसंता सेहि यत्तत्त्वं देवानं पियो नो तथा दानं व पूजा व मंजते यथा किति सारवदी अस सवपासंडानं बहुका च एताप अथा व्यापता धंममहामाता च धर्माकलमहामाता च वचभूमोका च अणे च निकाया अर्थ च एतस फल व आप पासंडवदी च होति धंमस च दीपना [ । ]

### हिन्दी

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मवालों का—स्वामी, गृहस्थ, दान और अनेक प्रकार की पूजा से मत्कार करता है । दान या पूजा को देवताओं का प्रिय उतना नहीं मानता, जितना कि क्या है यह कि सब धर्मवालों की सारवृद्धि हो । सारवृद्धि कई प्रकार की होती है । इसका मूल वाणी का संयम है; ( क्योंकि ) कि जिसमें अपने धर्मवालों का आदर और दूसरे धर्मवालों की निन्दा न हो और बिना प्रयोजन हलकाई न की जाय । अबसर-अबसर पर भिन्न-भिन्न रीति से दूसरे धर्मवाले ( भी ) आदर के योग्य हैं । जो ऐसा



करता है, वह अपने धर्म को बहुत उन्नति करता है और दूसरे धर्मवाले का भी उपकार करता है। जो इसके विपरीत करता है, वह अपने धर्म को क्षीण और परधर्म का अपकार करता है। जो कोई अपने धर्मवाली का आदर और दूसरे धर्मवालों का अनादर करता है, वह अपने धर्म को भक्ति से ही करता है क्यों ? कि जिसमें अपने धर्म का प्रकाश हो, किन्तु वैसा करने से वह अपने धर्म को अत्यंत हानि पहुँचाता है। इसलिए आपस का मेल-जोल ही अच्छा है कि ( लोग ) एक-दूसरे के धर्म को सुनें और उसकी शुश्रूषा करें। यही देवताओं का प्रिय चाहता है। क्या कि सब धर्मवाले बहुभूत हों और उनका ज्ञान कल्याणमय हो। जो लोग जिस-जिस ( धर्म ) पर हट्ट हों, वे यह कहें कि देवताओं का प्रिय दान और पूजा को वैसा नहीं मानता, जैसा कि सब धर्मवालों की सारवृद्धि और बड़ाई हो। इसी उद्देश्य से धर्ममहामात्र, रत्नियों के अध्वपन्न महामात्र, वज्रभूमिक तथा दूसरी संस्थाएँ नियत हैं। इसका फल यह है कि अपने मत की उन्नति और धर्म का प्रकाश।

( त्रयोदश प्रज्ञापन\* )

अस्तव्यवस्थितस्य देवस्य प्रियस्य प्रियद्विशिस्यो कलिग विजितं दिव्यधममे प्रणशतसहस्रे येतता धमबुद्धे शतपहस्रमत्रे तत्र हते बहुतवतके सुटे तते पद्ध अधुन लघेषु कलिंगेषु तित्रे धम-पलनं धमकमत धमनुगस्ति च देवन प्रियस्य सो अस्ति अनुसोचनं देवन प्रियस्य विजिनितु कलिंगानि अविजितं हि विजिनमनि ये तत्र वधो व मरणं व अपवधो व जनस तं वदं वेदनियमतं गुरुमतं च देवनं प्रियस्य इमं पि वु ततो गुरुमतं रं देवनं प्रियस्य तत्र हि वति वमणं व धमणं व अत्रे व प्रपंड ग्रह्य व येसु विहितं प्य अप्रभुटि सुध्रुप मत पितुपु सुध्रुप गुरुनं सुध्रुप मित्र-संस्तुत सहय त्तिकेषु द्समठकनं संम प्रतिपति दिदमलित तेषं तत्र भोति अपप्रयो न वधो व अभिरतन च निकमणं येयं व पि संविहितनं नेहो अविप्रदिनो एतेप मित्रसंस्तुतसहयवतिक वसन प्रपुगति तत्र तं पि तेप वो अपप्रयो भोति प्रतिभगं च एतं सत्रं मनुशानं गुरुमतं च देवनं प्रियस्य ( नथि चा पे जनपदे यता नथि इमे निकाया, आनंता वेनेप वंझने चा पमने चा नथि, चा कुवापि जनपदपि यता नथि मनुपानं ) एकतरस्सि पि प्रपंडस्सि न नम प्रसदो सो धमत्रो जनो तद कलिगे ( ल० पु० ) हतो च सुटो च अचबुद्धो च ततो शतभगो व सहस्रभगं व अज गुरुमतं वो देवनं प्रियस्य यो पि च अपकरोपति उमितवियमते वो देवनं प्रियस्य यं शको धमनये य पि च अटवि देवनं प्रियस्य विजिते भोति न पि अनुनेति अनुनिमपये अनुतपे पि च प्रभवे देवनं प्रियस्य वचति तेप किति अवत्रपेयु न च जेयसु इडुति हि देवनं प्रियो सवभुतन अडुति संधमं समचरियं रभसिये एपे च मुलमुते देवनं प्रियस्य यो धमविरियो सोच पुन लघो देवनं प्रियस्य इह च सत्रेपु च अंतेपु अपपु पि योजनशतेपु यत्र अंतियोको नम योजरज परं च तेन अंतियोकेन चतुरं रजनि तुरमये नम अंतिकिनि नम मक नम अलिकसुदुरो नम निच चोड पंड

\* यह प्रज्ञापन सहजाजगदी का है। सहजाजगदी में नहीं-मर्द्धो वाक्य टूट गये हैं। वहाँ का अंश—  
कालसी-शिलातेज से लिखा गया है, जो कोष्ठक ( ) के भीतर है। गिरनारकले प्रज्ञापन में उसके बहुत अंश नष्ट हो गये हैं, अतः सहजाजगदीवाला ही पाठ दिया गया है।—ले०

अथ त्वर्पणिय एवमेव हिदरज विपवत्रि योनकंबोयेषु नभके नभितिन भोजपितिनिकेषु अंध-  
पुलिदेपु सवत्र देवनं प्रियस भ्रमनुशस्ति अनुवर्तति यत्र पि ( दुता ) देवनं प्रियस दुत न व्रवंति  
ते पि भ्रुतु देवनं प्रियस भ्रमनुशस्ति भ्रमं अनुविधियंति अनुविधिष्यंति च  
यो च लघे एतकेन भोति सवत्र विजयो सवत्र पुन विजयो पितिरसो सो लघ भोति प्रिति  
( पिति ) भयविजयस्य लहुक तु खो स प्रिति परित्रिकमेव महफल मेवति देवनं प्रियो एतये  
च अटये अयो भ्रमदिपि दिपिस्त किति पुत्र पपोय मे असु नच विजयं म विजेतवियं मत्रिपु  
( पयकयि ) यो विजये छंति च लहुद्वत्तं च रोचेतु तं एव विजमन यो भ्रमविजयो सो हिद-  
लौकिको पटलौकिको सत्र च निरति भोनु य त्मरति स हि हिदलौकिक परलौकिक [ । ]

### हिन्दी

अभिपिक्त होने के आठवें वर्ष देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंगों को जीता । वहाँ से षेड़ लाख प्राणी बाहर ले जाये गये, एक लाख आहत हुए और उससे भी अधिक मरे । इसके अनन्तर जीते हुए कलिंगों में देवताओं के प्रिय का स्रुत धर्मवित्तर, धर्मकामना और धर्मानुशिष्टि हुई । इस पर कलिंगों की जीतनेवाले देवताओं के प्रिय को बड़ा पछतावा होता है; ( क्योंकि ) जहाँ लोगों का वध, मरण, या देशनिकाला हो, उस देश की मैं जीतने पर भी नहीं जीता हुआ मानता हूँ । यह देवताओं के प्रिय की अत्यन्त दुःखद और भारी जान पड़ता है । यह देवताओं के प्रिय की और भारी जान पड़ता है कि वहाँ सर्वत्र ब्राह्मण, भ्रमण तथा दूसरे धर्मवाले और गृहस्थ रहते हैं, जिनमें सबसे पहले भरण-पोषण विहित है, जिनमें माता-पिता की शुभ्रूपा, गुरु की शुभ्रूपा, मित्र, परिचित, सहायक, सम्बन्धी तथा नौकर-चाकरो का उचित आदर और (उनकी ओर से) इदृ भक्ति का विधान है । ऐसे लोगों का वहाँ घात, वध या सुख से रहते हुआ का देश-निकाला होता है । जिन सुव्यवस्थित लोगों का स्नेह नहीं षटा है, उनके मित्रों, परिचितों, सहायकों तथा कुटुम्बियों को दुःख होता है । उनका भी उपघात होता है । यह दशा सब मनुष्यों की है, पर देवताओं के प्रिय को यह अधिक दुःखद जान पड़ती है । कोई ऐसा जनपद नहीं है, जहाँ ब्राह्मण, भ्रमण आदि के अनन्त सम्प्रदाय न हों । ऐसा कोई जनपद भी नहीं है, जिसमें मनुष्यों की किसी-न-किसी धर्म से प्रीति न हो । जीतने मनुष्य कलिंग-विजय के समय आहत हुए, मारे गये और बाहर निकाले गये, उनका सौवाँ या हजारवाँ भाग भी आहत होता, मारा जाता या निकाला जाता, तो आज देवताओं के प्रिय को भारी दुःख देनेवाला होता । देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार करता है, वह भी क्षमा के योग्य है, यदि वह क्षमा किया जा सके । जो जन-निवासी देवताओं के प्रिय के विजित देश में हैं, उनको भी वह मानता और उनका भी ध्यान रखता है कि जिसमें देवताओं के प्रिय को पछतावा न हो । वे अपने कर्मों पर लजित हो और नष्ट न हों । देवताओं का प्रिय सब जीवों की अक्षति, संयम, सम्-  
त्तया तथा प्रसन्नता चाहता है । जो धर्म की विजय है, वही देवताओं के प्रिय की मुख्य विजय है । वह विजय देवताओं के प्रिय को यहाँ तथा सब सीमान्त प्रदेशों में छह सी योजन

तक, जिसमें अतिथीकम नाम का यवन राजा तथा अन्य चार राजा—तुग्मय, अंतकिन, मरा तथा अलिकसुन्दर हैं तथा जिससे दक्षिण की ओर चोङ्, पाण्ड्य, ताम्रपर्णीवाले हैं, प्राप्त हुई। वहाँ विष, वृजि, यवन, कंबोज, नाभिति, भोज, पैठनिक, अंध्र, पुलिन्द आदि सब देशों में देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन माना जाता है। वहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जाते, वहाँ के लोग भी देवताओं के प्रिय के धर्मवृत्त, धर्मविधान और धर्मानुशासन को सुनकर उसका अनुसरण करते हैं और ( बराबर ) करेंगे। अबतक जो विजय प्राप्त हुई है, उस प्रेम की विजय से आनंद होता है, पर यह आनंद हलका है। देवताओं का प्रिय उसको महा-फलदायक मानता है, जो परलोक-सम्बन्ध रखता है। इसीलिए मैंने यह धर्मलिपि लिखवाई कि जिसमें मेरे पुत्र और भ्रात्र शत्रुओं द्वारा प्राप्त नहीं विजय को प्राप्त करने योग्य न मानें। शान्ति और लघुदंडता में रुचि रखें और धर्म की विजय को ही विजय समझें। क्योंकि वह इहलोक और परलोक ( दोनों ) में फल देनेवाली होती है। उद्यम में रति ही सब प्रकार की जीत है, वह इहलोक और परलोक—दोनों में फल देनेवाली है।

( चतुर्दश प्रज्ञापन )

अयं धर्मलिपिं देवानं प्रियेन प्रियदसिना राजा लेखापिता अस्ति एव संक्षितेन अस्ति मन्त्रमेव अस्ति विस्तृतं न च सर्वं सर्वत धटितं महालके हि विज्ञितं बहु च लिखितं लिखा पयिसं चैव अस्ति च एतकं पुनपुन वृत्तं तस तस अथस माधुरताय किति जमो तथा पटिपेजेथ तत्र एकदा असमातं लिखितं असदेसं च सङ्कायकारणं च अलोचेत्वा लिपिकरा परधेनव [1]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह धर्मलिपि लिखवाई। ( इनमें ) कोई संक्षिप्त है, कोई मध्यम है, कोई विस्तृत है; क्योंकि सब जगह एक-सी नहीं ठीक होती। बड़े-बड़े लोक जीते और बहुत कुछ लिखाया तथा निरंतर लिखवाएँगा। इनमें ( कहीं-कहीं एक ही बात ) फिर-फिर लिखी गई है। ( इसका कारण कि ) उसके अर्थ की मधुरता है, जिसमें लोग उसका प्रतिपादन करें। वह हो सकता है कि उसके कुछ श्रंश को विचारने योग्य समझकर कुछ अधूरा लिखा गया हो। इसमें लिपिकार का दोष ( हो सकता है )।

कलिंग-शिलालेख—धौली और जौगड़

( १ )

( देवा ) नं पिय ( स व ) चमेन तोसलियं महाभात नगलवियोहालका वतविय अंझि द ( खा ) मि हकं तं इद्धामि किति ( कम ) न पटि ( वे ) द्ये हं उवाकते च आलमे हं एस च मे मोगयमत ( दुवलस ) अठसि अं तुफे ( सु ) अमुसपि तुफे हे बहुसु पानसहसेसु आ ( यता ) पन गद्धेम सुमुनिसानं सवे मुनिसे पजा ममा अथा पजाये इद्धामि हकं किति सवेन हितसुखेन हिदलोकिक्क पाललोकिक्का ( वे ) यूजेवू ति तथा मुनिसेसु पि इद्धामि हकं नो च पापुनाथ अवागमके इयं अठे केद्ध च एक पुलिसे नाति एतं से पि देसं नो सर्वं देखत



हि तुफे एतं सुविहिता पि निति इयं एक पुलिसे पि ( अथि ) ये बंधनं वा पलिकिलेसं वा पावुनाति तत होति अकस्मा तेन बंधनं तिक अने च बहुअने दविये दुखीयति तत इदितविये तुफे हि किति मभं पटिपादयेमा ति इमे हि पु जतेहि नो संपटिपति इसाप आसुलोयेन निधुलियेन तुलनाप अनावृतिप आलसियेन कलमयेन से इदितविये किति ऐते जाता नो हुवेवु ममाति एतस च सवस मूले अनासुलोपे अतलना च नितियं ए किलंते सिषा ते उगाए संचलितविये तु वजितविये एतविये वा हेवंमेव ए दलिये तुफाक तेन अतविये अनं ने देखत हेवं च हेवं च देवानं पियस अनुसथि से महा ले एतस संपटिपाद महाअपाये असंपटिपति विपटिपादयमीनेहि एतं नथि स्वगस आलधि नो लाजालधि दुआहले हि इमस कंमस मे कुते मने अतिलेके संपटिपजमीने पु एतं स्वगं आलाधयिसथ ( त ) ... ( आ ) ननियं पृहथ इयं च लिपी तिसनखतेन सो ( त ) पिय अंतला पि च ( तिले ) खनसि ख ( न ) सि एकेन पि सोतविय हेवं च कलंते तुफे चचय संप ( टि ) पादयितवे एताये अथाये इयं लिपि लिखित हिद एन नगलकवियो ( हा ) लका सवतं समयं यु ( जे ) वू ( ति नगलज ) मस अकस्मा पलिबोये व अकस्मा पलिकि ( लेसे ) व नो सिषा ति एताये च अठाये हकं ( धं ) मते पंचसु पंचसु वसे सु ( नि ) स्वामयिसामि ए अखखसे अ ( चं ) उ सखिनारलं मे होसति एतं अटं जानितु ( त ) था कलंति अथ मम अनुसथी ति उजेनिते पि पु कुमाले एतायेव अठाये निखामयिस हेदिसंमेव वगं नो च अतिकामयिसति तिनि वसानि हेमेव तखसिलाते पि अदा अ...ते महामाता निखमिसंति अनुसयानं तदा अहापवितु अतने कंच एतं पि जानिसंति तं पि तथा कलंति अथ लाजिने अनुमथी ति [ । ]

### हिन्दी

देवताओं के प्रिय की आज्ञा से तोसली नगर में शासन करनेवाले महामाओं से वहाँ ऐसा कहना—जो कुछ मेरा मत है, उसके अनुसार मैं चाहता हूँ कि कार्य हो और अनेक उपायों से कार्य का आरंभ किया जाय। मेरे विचार से इस कार्य की सिद्धि के लिए आप-लोगों के प्रति मेरी यह शिष्टा है कि आपलोग कई सहस्र प्राणिमों के ऊपर इसीलिए रखे गये हैं कि हमलोग अच्छे लोगों के स्नेहपात्र बनें। सभी मनुष्य मेरे पुत्र हैं और मैं चाहता हूँ कि मेरे पुत्र सभी तरह के कल्याण और सुख प्राप्त करें। मैं यह भी चाहता हूँ कि सब मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक—दोनों सुख प्राप्त करें। पर आपलोग इस तत्त्व को अच्छी तरह नहीं समझ रहे हैं। हो सकता है कि आपमें से एकाध व्यक्ति इस तत्त्व को समझते भी हों। पर वे भी कुछ ही अंशों में, पूरी मात्रा में नहीं समझते हैं। आपलोग इस बात पर ध्यान दें; क्योंकि यह नीति अच्छी है। ऐसा हो सकता है कि कोई व्यक्ति कैद में छोड़ दिया जाय या बलेश पावे और जब बिना कारण के किसी को कैद किया जाता है, तो बहुत-से लोगों को भी बड़ा दुःख होता है। ऐसी अवस्था में आपलोगों को मध्यम मार्ग का अवलम्बन करने की चेष्टा करनी चाहिए। पर बहुत-सी ऐसी निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके कारण सफलता नहीं मिलती। जैसे—इंध्या, श्रम का अभाव, निष्ठुरता, शीघ्रता,

अकर्मस्थता, आलस्य और तन्द्रा । आपलोगों को ब्यान रखना चाहिए कि ऐसी प्रवृत्तियाँ आपलोगों में न आनी चाहिए । इस नीति के अनुसार कार्य करने में धर्म और धैर्य ही उनका मूल कारण होते हैं । इस तरह करते रहो और उद्योग करो । ( इसके अनुसार ) चलना चाहिए और अग्रसर होकर प्रयत्न करना चाहिए । इसी प्रकार आप जो समझते हैं, उसके अनुसार आपको यह कहना चाहिए कि देवताओं के प्रिय का यह आदेश है । इस आदेश को पूरा करने से बड़ा फल मिलता है और नहीं पूरा करने से बड़ी विपत्ति आती है । जो इससे चूक जाते हैं, वे न तो स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं और न राजा को प्रसन्न कर सकते हैं । इस विषय में सच्चे उत्साह के साथ काम करने से तो फल मिलते हैं, अर्थात् यदि आप मेरा आदेश पूरा करेंगे, तो स्वर्ग प्राप्त करेंगे और मेरे प्रति जो आपका श्रुणु है, उससे भी कृतज्ञ हो जायेंगे । इस लेख की प्रत्येक पुष्प नक्षत्र के दिन सुनना चाहिए और बीच-बीच में उपयुक्त अवसर पर अकेलै एक को भी पुष्प नक्षत्र के दिन इसे सुनना चाहिए । इस तरह करते हुए आप मेरी इच्छा पूरी करें । यह लेख इसलिए लिखा गया कि जिसमें नगर-आधिकारिक ( नगर-शासक ) सदा इस बात का प्रयत्न करें कि नगर-निवासियों की अकारण बन्धन या दण्ड न दो । और, इसलिए मैं धर्मानुसार पाँच-पाँच वर्ष पर ( ऐसे कर्मचारियों को ) बाहर भेजा कलैगा, जो क्रोमल, क्रोध-रहित और दयालु होंगे और जो इस कार्य को ब्यान में रखते हुए मेरी आज्ञा के अनुसार चलेंगे । उज्जयिनी में भी कुमार इस कार्य के लिए इसी प्रकार कर्मचारियों को तीन-तीन वर्ष के अन्दर भेजेंगे । पर, तीन वर्ष से अधिक का अन्तर न देंगे । तक्षशिला के लिए भी वही आज्ञा है । जब उक्त महामात्र दौरे पर निकलेंगे, तो अपने साधारण कार्यों को करते हुए इस बात पर भी ब्यान देंगे और राजा के आदेश के अनुसार कार्य करेंगे ।

#### द्वितीय शिलालेख \*

देवानं पियस वचनेन तौस लिपं कुमाखे महामाता च ( लज्जवचनिक ) वतथियं अं किळिं दखामि हकं ( तं इल्लामि हकं किति कंकमं न पटिपात्तये हं ) दुवालते च आलमे हं एस च मे मोक्षयमत दुवाला एतसि अठसि अं तुफे ( सु अनुससि सबभुनि सा ) मम अथ पजाये इल्लामि हकं किति सवेन हितमुत्तेन ( युजेयू अथ पजाये इल्लामि किति मे सवेन हित-सुत्तेन युजेयू ति ) हिद लोकिक्क पाललोकिकामे युजेयू ति हेव ( मेव मे इल्ल सबभुनिसेसु ) सिमा अंतानं अविज्जितानं किळंद सु लाज ( अ ) केस ( ति एता ) मये इल्ल मम अंतिसु पापुनेसु ( लाजा ) ते इति देवानं पिय अ विगन ममाये हुवेयू ति अस्वसेसु च सुखमेव लहेसु मम ते भो दुखं हवं पापुनेयू ( इ ) ति वमिससि ने देवानं पिये अफाकं ति ए चकिसे वमिससे मम निमित्तं च धम्मं चलेयू हिद लोके पल्लकोकं च आलाधवेयू एतसि अठसि हकं अनुसासामि तुफे अनने एतकेन हकं ( तुफेनि ) अनुसासितु वंदं च वेदितु आहि धिति पटिंथा च

\* यह लेख भी धौली का है, पर कोष्ठकवाला पाठ, जो धौली में नहीं है, जौगड़-पाठ से लिया गया है । —ले०

ममा अजला से हेवं कटु कंमे चलितविये अस्वा ( स ) नि च तानि पुन पापुनेबू इति अथ पिता तथ देवानं पिये अफाक अथा च अतानं हेवं देवानं पिये ( अ ) नुकंपति अफे अथा च पज हेवं मये देवानं पियस से हकं अनुसासितु खंदं च ब ( दितु ) धितिपटिना चा अचल ) देसावुतिके होसामि एतापे अथापे पटिबला हि तुफे अस्वात्समाये हितसुखाये च ( ते ) म हिद-लोकिकपाललोकिकाये हेवं च कलंतं तुफे स्वरां आलाधयिसथ मम च आननियं एहथ एताये च अठाये इयं लिपि लिखिता हिद पुन महामाता स्वसतं ( स ) म युजिसंति अस्वात्सनाये धंसचलनाये च तेस अंतानं इयं च लिपि अनुचातुमांसं ( सोतविया ) तियेन नखतेन सोत-विया कामं च खगसि खनसि अंतला पि तियेन एकेन पि सोतविये हेवं कलंतं तुफे चवथ संपटिपादयितवे [ । ]

### हिन्दी

देवताओं के प्रिय ऐसा कहते हैं—समापाम तथा सोसली में कुमार और महामाओं को राजा की ओर से ऐसा कहना ( कि ) मेरा जो मत है, उसके अनुसार मैं चाहता हूँ कि कार्य हो और अनेक उपायों से कार्य का आरंभ किया जाय । मेरे विचार में इस कार्य को सिद्ध करने का मुख्य उपाय आपलोगों के प्रति मेरी ( यह ) शिक्षा है—‘सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं ।’ जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरे पुत्र सब तरह के हित और सुख का लाभ प्राप्त करें, उसी प्रकार मैं यह भी चाहता हूँ कि सब मनुष्य भी इहलोक और परलोक में सब प्रकार के हित और सुख का लाभ प्राप्त करें । कदाचित् जो सीमान्त जातियाँ अभी नहीं जीती गई हैं, उनके सम्बन्ध में हमलोगों के प्रति राजा की क्या आज्ञा है, तो मेरा उत्तर यह है कि राजा चाहते हैं कि वे ( जातियाँ ) मुझसे न डरें, मुझ पर विश्वास करें और मुझसे सुख ही प्राप्त करें, कभी दुःख न पावें ।’ वे यह भी विश्वास रखें कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकता है, वहाँ तक राजा हमलोगों के साथ क्षमा का बर्ताव करेंगे । मेरे लिए उन्हें धर्म का अनुसरण करना चाहिए, जिससे उनका इहलोक और परलोक दोनों बने । इस काम के लिए मैं आपलोगों को शिक्षा देता हूँ । इससे मैं उन्मृग हो गया । आपलोगों को शिक्षा देने तथा अपना आदेश प्रकट करने में मेरा दृढ़ निश्चय तथा दृढ़ प्रतिज्ञा है । अब इसके अनुसार चलते हुए आपको ऐसा काम करना चाहिए कि सीमान्त जातियाँ मुझ पर भरोसा करें और समझें कि राजा हमारे लिए वैसे ही हैं, जैसे पिता । वे हम पर वैसा ही प्रेम रखते हैं, जैसा अपने ऊपर । हमलोग राजा के वैसे ही हैं, जैसे उनके पुत्र । आपलोगों को शिक्षा देने तथा अपनी आज्ञा बताने में मेरा दृढ़ निश्चय तथा दृढ़ प्रतिज्ञा है । मैं स्थानीय कर्मचारियों को इस काम के लिए तैयार कर सकूँगा; क्योंकि आप मेरे ऊपर लोगों का विश्वास उत्पन्न करा सकते हैं तथा इहलोक और परलोक में उनके हित और सुख का सम्पादन करा सकते हैं । इस प्रकार करते हुए आप लोग स्वर्ग-लाभ कर सकते हैं और मेरे प्रति आपलोगों का जो श्रृणु है, उससे उन्मृग हो सकते हैं । यह लेख इस उद्देश्य से लिखा गया है कि महामात्र सीमान्त जातियों में विश्वास पैदा करने के लिए और उन्हें धर्म-मार्ग पर चलाने के लिए



निरन्तर प्रयत्न करें। इस लेख को प्रति चातुर्मास्य, अर्थात् चार-चार मास की प्रत्येक ऋतु के आरंभ में तथा बीच-बीच में पुष्पनक्षत्र के दिन सुनना चाहिए और अवसर-अवसर पर हर एक को अकेले भी सुनना चाहिए। ऐसा करते हुए आप लोग मेरी आज्ञा के पालन का प्रयत्न करें।

### गुहामिलेख

( १ )

लाजिना पियदसिना दुवाउस ( वसाभिसितेना ) इयं ( निगो ) कुभादि ( ना )  
आ- ( जा )-विकेहि [ १ ]

( २ )

लाजिना पियदसिना दुवाउस वसाभिसितेना इयं कुभा खलतिक पवतसि दिना  
( अम ) जीविकेहि [ १ ]

( ३ )

ला ( जा ) पियदसी प ( कु ) नवी सतिवसा ( भि ) सित...टथा त...सुपि  
ख...[ १ ]

हिन्दी

राजा प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक के बारह वर्ष बाद खलतिक पर्वत पर यह गुहा आजीवकों को दी।

राजा प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक के उन्नीस वर्ष बाद खलतिक पर सुपिया गुहा आजीवकों को दी।

राजा प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक के उन्नीस वर्ष बाद खलतिक पर्वत पर सुपिया गुहा आजीवकों को दी।

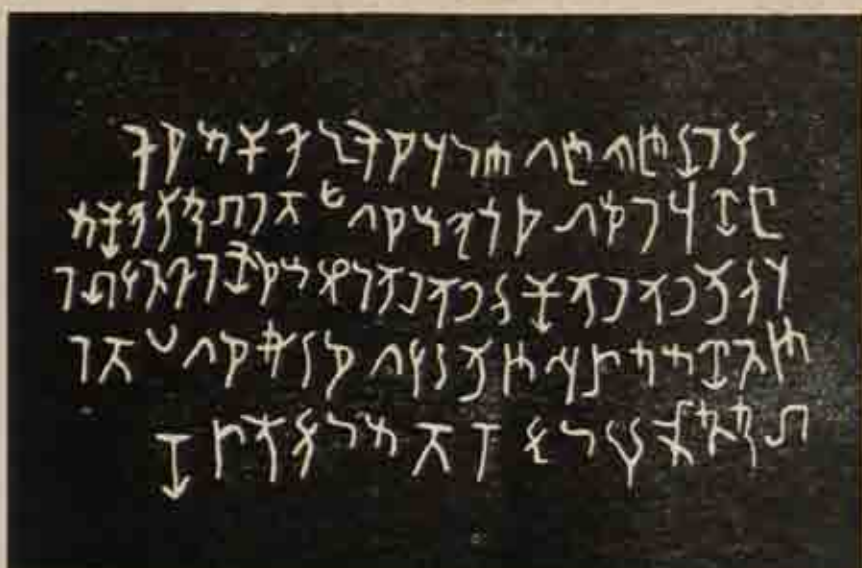
### तराई स्तम्भ-लेख

रम्मिनी देई-स्तंभ

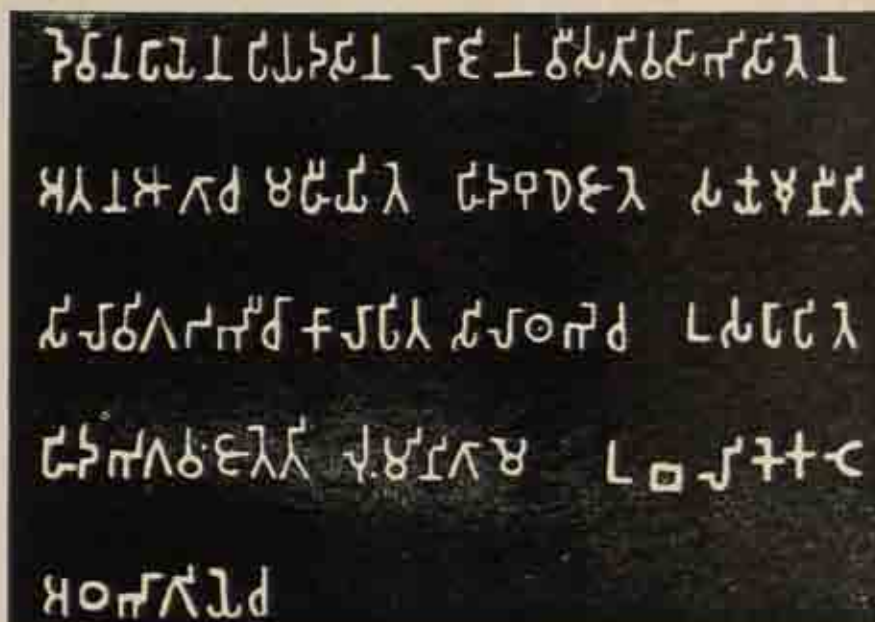
देवान पियेन पियदसिन लाजिन वीसतिवसाभिसितेन अतन आगाच महीयिते हिद  
बुधे जाते सवय मुनिति सिला विगहसीचा कालापित सिलाथमे च उसपापिते हिद भगवं  
जातेति लु'मिनिगामे डबलिके कटे अठभागिये च [ १ ]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के २० वर्ष बाद स्वयं आकर  
( इस स्थान की ) पूजा की। वहाँ शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था, इसलिए यहाँ पत्थर  
का एक प्राचीर स्थापित किया गया और परधर का एक स्तम्भ खड़ा किया गया। वहाँ भगवान्  
जन्मे थे, इसलिए लुम्बिनी ग्राम का कर उठा दिया गया और ( पैदावार का ) आठवाँ  
भाग भी उसी ग्राम को दे दिया गया।



खरोष्ठी लिपिवाला सहजानगढ़ी का मसम शिला-लेख ( यह दाहिनी ओर से बाईं ओर को पढ़ा जाता है । )—पृ० १७५ और ३२०



रुम्मिनीदेई-स्तम्भ का अशोकामिलेख ( ब्राह्मी लिपि में )  
( पृ० १७५ और ३३४ )





### निगलीवा स्तम्भ-लेख

देवानं पिबेन पिबदसिन लाजिन चोदसवसा ( भिमि ) तेन बुधस कोनाकमनस  
धुवे दुत्तिथं बजिते ( बीसतिव ) सामिसितेन च अतन आगच महीयते.....पापिते [1]

#### हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के चौदह वर्ष बाद कनकमुनि बुद्ध  
के स्तूप की द्वितीय बार मरम्मत कराई और राज्याभिषेक के ( बीस ) वर्ष बाद स्वयं आकर  
( स्तूप ) की पूजा की और ( शिलास्तम्भ ) खड़ा किया ।

#### प्रधान स्तम्भ-लेख\*

[ टोपरा, मेरठ, कौशाम्बी ( प्रयाग ), लौरिया-अरेराज, लौरिया-  
नन्दनगढ़, और रामपुरवा ]

देवानं पिबे पिबदसि लाज हेंचं आह—सङ्खवीसति वसाभिसितेन मे ह्यं धंमलिपि  
लिखापित हिदत्तपालते दुसंपटिपादये अंनत अगाय धंम कामतय अगाय पलीलाप अगाय  
सुसूसाय अगेन भयेन अगेन उसाहेन एम चु खों मम अनुसथिय धंमा येस धंमकामता च  
सुवे सुवे वहीता वडिसति चेव पुलिसा पि मे उकसा च मेवया च मम्मिमा च अनुविधीयंति  
संपटिपादयंति च अलं चपलं समादपयितवे हेमेव अंतमहामाता पि एसा हि विधि वा ह्यं  
धंमेन पालन धंमेन विधाने धंमेन सुखीयन धंमेन गोती ति [1]

#### हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद  
मैंने यह धर्म-लेख लिखाया । एकान्त धर्मानुराग, विशेष आत्म-परीक्षा, बड़ी शुद्धता, अड़े  
भय और महान् उत्साह के बिना ऐहिक और पारलौकिक दोनों उद्देश्य दुर्लभ हैं । पर मेरी  
शिखा से लोगों का धर्म के प्रति आदर और अनुराग दिन-पर-दिन बढ़ा है और आगे  
बढ़ेगा । मेरे पुण्य ( कर्मचारी ), चाहें वे उच्च पद पर हो वा नीच पद पर अथवा मध्यम पद  
पर, मेरी शिखा के अनुसार कार्य करते हैं और ऐसा उपाय करते हैं कि चंचलमति ( दुर्वि-  
नीत ) लोग भी धर्म का आचरण करें । इसी तरह अन्तमहामात्र भी आचरण करते हैं ।  
धर्म के अनुसार पालन करना, धर्म के अनुसार सुख देना और धर्म के अनुसार रक्षा करना  
यही विधि है ।

#### द्वितीय स्तम्भ-लेख

देवानं पिबे पिबदसि लाज हेंचं आह—धंमे साङ्खु कियंचु धंमे ति अपासितवे बहु-  
कथने द्य दाने सवे सोचेयेति चखुदाने पि मे बहुविधे दिने दुपद चतुपदेसु पविवाति चलेसु

\* यहाँ छह अभिलेख तो लौरिया-अरेराज स्तम्भ के दिने भये हैं, पर सातवाँ मेरठ और टोपरा का है ।  
विशेष विवरण इस पुस्तक के पृ० २७५-२७६ पर द्रष्टव्य । —ले०

विविधे मे अनुगहे कटे आपानदग्निनाये अनानि पि च मे बहुनि कयानानि कटानि एताये मे अठाये इयं धम्मलिपि लिखापित हेवं अनुपटिपजंतु चिलंधित्तीका च होतुति ये च हेवं संपटि-  
पजिसति से सुकटं कटति ति [ १ ]

### हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—धर्म करना अच्छा है। पर, धर्म क्या है। धर्म यही है कि पाप से दूर रहे, बहुत-से अच्छे काम करे। दया, दान, सत्य और शौच का पालन करे। मैंने कई प्रकार से पारमार्थिक दृष्टि का दान भी लोगों को दिया है। दोषाघो, चौपाघो, पक्षिघो और जलचर प्राणिघो पर मैंने अनेक प्रकार की कृपा की है। यहाँ तक कि मैंने उन्हें प्राण-दक्षिणा तक भी दी है। और भी बहुत-से अच्छे काम मैंने किये हैं। यह लेख मैंने इसलिए लिखवाया है कि लोग इसके अनुसार कार्य आचरण करें और यह चिर-स्थायी रहे। जो इसके अनुसार कार्य करेगा, वह पुण्य का काम करेगा।

### तृतीय स्तम्भ-लेख

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आह—कथानंम एव देवसंति इयं मे कयाने कटे ति नो मिन पापं देखंति इयं मे पापे कटे ति इयं व आसिनवे नामा ति दुपटिवेखे सु खो एस हेवं सु खो एस देखिये इमानि आसिनवगामीनि नामाति अथ चंडिये निठुलिये कोथे माने इय्य कालनेन व हकं मा एलिभसपिसं ति एस बारं देखिये इयं मे हिदतिकामे इयं मन मे पालति-  
काये ति [ १ ]

### हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—मनुष्य अपने अच्छे ही काम को देखता है (और मन में कहता है) 'मैंने यह अच्छा काम किया है।' पर, वह अपने पाप को नहीं देखता (और मन में नहीं कहता)—'यह पाप मैंने किया है या यह दोष मुझमें है।' इस प्रकार की आत्म-परीक्षा बड़ी कठिन है। तथापि मनुष्य को यह देखना चाहिए कि चंडता, निष्ठुरता, क्रोध, मान और ईर्ष्या यह सब बातों के कारण हैं, (उसे अपने मन में सोचना चाहिए) —'इन सब बातों के कारण मेरी निन्दा न हो।' इस बात की और विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए कि 'इससे मुझे इस लोक में सुख मिलेगा और इससे मेरा परलोक बनेगा।'।

### चतुर्थ स्तम्भ-लेख

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आह—सद्धवीसति वसाभिसितेन मे इयं धम्म लिपि लिखापित लज्जा मे बहुसु पानसतसहसेसु जनसि आपत तेसं ये अभिहासे व दंढे व अत-  
पत्तिये मे कटे किति लज्जा अस्वथ अभीत कंभानि पवतयेवु ति जनस जानपदस हितसुखं उपदहेवु अनुगहिनेवु च सुखीयन दुखीयनं जानिसंति धम्म धुतेन च विधोवदिसंति जतं जान-  
पदं किति हिदतं च पालतं च आलाभयेवु लज्जा पि लभंति पटिचलितवे मं पुलिसानि पि मे

वृद्धेनानि पदिचलितसंति ते पि च कानि विषोवदिसंति येन मं लज्जक चधति आलाधयितवे अथा हि पजं विषताये धातिये निसिजितु अस्वधे होति—विषत धाति चधति मे पजं सुखं पलिहटवे ति हेवं मम लज्जक कट जानपदस दित सुखाये वे न एते अमीत अस्वधा संतं अविमन कंमानि पवतपेवू ति ऐतेन मे लज्जकानं अभिहाले व दूरे व अत पतिये कटे इदितविये हि एत किंति विषोहाल समता च सिप दूड समता च आवा इते पि च मे आपुति बंधनबधानं मुनिसानं तीलितद्रंढानं पतवधानं तिनि दिवसानि मे योते दिने नातिका कानि निभपयिसंति जीचिताये तानं नासंतं व निभपयितवे दानं दाहंति पालतिकं उपवासं व कव्वंति इदा हि मे हेवं निलु-धसि पि कालसि पालतं आलाधयेवू ति जनस च वदति चिविधे धंमचलने सयमे दान-संविभागे ति [ १ ]

### हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदशों राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद मैंने इस लेख को लिखवाया । मेरे रज्जुक नाम के कर्मचारी लाखों मनुष्यों के ऊपर नियुक्त हैं । पुरस्कार तथा दण्ड देने का अधिकार मैंने उनके अधीन कर दिया है, जिससे कि वे निश्चिन्त और निर्भय होकर अपना कर्तव्य करें, लोगों के हित और सुख का खयाल रखें और लोगों पर अनुग्रह करें । वे सुख और दुःख का कारण जानने का प्रयत्न करेंगे और 'धर्मयुक्त' नामक छोटे कर्मचारियों के द्वारा लोगों को ऐसा उपदेश देंगे कि जिससे वे ( लोग ) ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करें । रज्जुक लोग मेरा आज्ञा-पालन करने का भरपूर प्रयत्न करते हैं और मेरे 'पुरुष' ( एक प्रकार के कर्मचारी ) भी मेरी इच्छा और आज्ञा के अनुसार काम करेंगे और वे भी कभी-कभी ऐसा उपदेश देंगे कि जिससे रज्जुक लोग मुझे प्रसन्न करने का प्रयत्न करें । जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने लड़के को नियुक्त धाड़े के हाथ में लीपकर निश्चिन्त हो जाता है ( और सोचता है )—'यह धाड़ मेरे लड़के को सुख पहुँचाने की भरपूर चेष्टा करेगी ।' उसी प्रकार लोगों को हित और सुख पहुँचाने के लिए मैंने रज्जुक नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं । वे निर्भय, निश्चिन्त और शान्त-भाव से काम करें, इसलिए मैंने पुरस्कार या दण्ड देने का अधिकार उनके अधीन कर दिया है । व्यवहार ( मुकदमा ) करने तथा दण्ड देने में पक्षपात न होना चाहिए । इसीलिए आज से मेरी यह आज्ञा है कि कारागार में पड़े हुए जिन मनुष्यों को मृत्यु का दण्ड निश्चित हो चुका है, उन्हें तीन दिन की मुहलत दी जाय । जिन लोगों को बंध का दण्ड मिला है, उनके जाति-कुटुम्बवाले उनके जीवन के लिए ध्यान करेंगे और अन्त तक ध्यान करते हुए परलोक के लिए दान देंगे तथा उपवास करेंगे ; क्योंकि मेरी इच्छा है कि कारागार में रहने के समय भी दण्ड पाये हुए लोग परलोक का चिन्तन करें और लोगों में अनेक प्रकार के धर्माचरण, संयम और दान करने की इच्छा बढ़े ।

### पंचम स्तम्भ-लेख

देवानं पिथे पियदसि लाज हेवं आहा—सडुवीसतिवसाभिंसितस मे इमानि पि



जातानि अवधियानि कटानि से यथा मुके स्यात्तिक अलुने चकवाके हंसे नंदोमुखे गेलाटे जतूक अंबाकिपिलिक दुडी अनटिकमछे वेदवेयके गंगापुपुटके संकुजमल्ले कफटसेयके पंसससे सिमले संडके भोकपिडे पलसते सेतकपोते गामकपोते सवे चतुपदे ये पटिभोगं न पृति न च खादियति अजका नानि एडका च सूकली च गामिनी च पायमीना च अवच्य पोतके च कानि आसंमासिके चाधकुहुटे नो कटविये तुसे सज्जीवे नो आपयितविये दावे अनटाये व विहिसाये व नो आपयितविये जीवेन जीवे नो पुसितविये तीसु चातुमासीसु तिस्थं पुनमासियं तिनि दिवसानि चातुदसं पनडसं पटिपदं पुवाप च अनुपोसथं मल्ले अवच्ये नोपि विकेतविये एतानि येव दिवसानि नागवनसि केवटभोगसि यानि अंनानि पि जीवदिकायानि नो हंतवियानि अटमिपल्लाये चातुदसाये पनडसाये तिसाये पुनावसुने तीसु चातुमासीसु सुदिवसाये गोने नो नीलखितविये अजके एडके सूकले एवापि अंने नीलखितविति नो नीलखितविये तिसाये पुनावसुने चातुमासिये चातुमासिपल्लाये अस्वस गोमस लखने नो कटविये वाव सज्जीवसतिवसाभिसितस मे एताये अंतलिकाये पनवीसति बंधनमोखानि कटानि [ १ ]

### हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियवशों राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद मैंने इन प्राणियों का बंध करना मना कर दिया है। यथा—सुग्गा, मैना, अरुण, चमत्ताक, हंस नान्दीमुख, गेलाइ, चमगादड़, अम्बाकपीलिका, दुडि, अस्थिहीन मछली, वेदवेयक ( जीवं जीवक ), गंगा पुपुटक, संकुजमल्ल, कल्लुआ, साहील, परांशरा, बारहसिंहा, साँड़, ओकपिशड, मृग, सफेद कपोत, ग्रामकपोत और सब तरह के वे चतुपद, जो न उपभोग में आते हैं या न खाये जाते हैं। गामिन या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़ी और सूअरी तथा इनके बच्चों को, जो छह मास से कम के हों, नहीं मारना चाहिए। मुर्गों को बधिया न करना चाहिए। जीवित प्राणियों के साथ भुस्से को न जलाना चाहिए। अन्य करने के लिए या प्राणियों के बंध के लिए वन में आग न लगानी चाहिए। एक जीव को मारकर दूसरे जीव को न खिलाना चाहिए। प्रति चातुर्मास्य महीने की तीन श्रुतियों की तीन पूर्णिमासी के दिन, पौष मास की पूर्णिमा के दिन, चतुर्दशी, अमावस्या और प्रतिपदा के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली न मारना चाहिए, और न बेचना चाहिए। इन सब दिनों को वन में हाथी और तालाबों में कोई दूसरे प्रकार के भी प्राणी न मारे जायें। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या या पूर्णिमा तथा पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य के ज्योहारी के दिन बैल को दागना नहीं चाहिए। बकरा, भेड़ा, सूअर तथा इसी प्रकार के दूसरे प्राणी भी, जो दागे जाते हैं, इन दिनों दागे नहीं जायें, पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य की पूर्णिमा के दिन तथा प्रत्येक चातुर्मास्य के शुक्ल पक्ष में घोड़े और बैलों को न दागना चाहिए। राज्याभिषेक के बाद २६ वर्ष के भीतर मैंने २५ बार कारागार से लोगों को मुक्त किया है।

कठ स्तम्भ-लेख

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आह—दुधाउसवसाभिसितेन मे धंमलिपि लिखापित लोकस हित सुखाये से तं अपहट तं तं धंमवदि पापोव हेवं लोकस हितमुखे ति पटिवेखामि अथा इयं नातिसु हेवं पयासंनैसु हेवं अपकट्टेसु किमं कानि सुखं आवहामी ति तथा च विदहामि हेमेव सबनिकायेसु पटिवेखामि सबपासंदा पि मे पूजित विविधाय पूजाय ए तु इयं अतन पचूपगमने से मे मुख्यमुते सजुवीसत्तिवसाभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापित [ । ]

हिन्दी

देवताओं के प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के बारह वर्ष बाद मैंने धर्मलेख लोगों के हित और सुख के लिए लिखवाये, जिसमें कि वे ( पाप-पथ को ) त्याग कर किसी-न-किसी प्रकार से धर्म की वृद्धि करें । इसी प्रकार मैं लोगों के हित और सुख को लक्ष्य में रखकर यह देखता हूँ कि जाति के लोग, दूर के लोग तथा पास के लोग किस प्रकार से सुखी रह सकते हैं । इसी के अनुसार मैं कार्य भी करता हूँ । इसी प्रकार सब निकायों ( जातिवालों ) के ( हित और सुख को ) मैं ध्यान में रखता हूँ । मैंने सब पापएडों ( सम्प्रदायों ) का भी विविध प्रकार से सत्कार किया है । फिर भी अपने धर्म के प्रति अनु-राग मेरे मत में मुख्य वस्तु है । राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद मैंने यह धर्मलेख लिखवाया ।

सप्तम स्तम्भ-लेख

मेरठ और टोपरा

पूर्वाद्ध

देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा—ये अतिकंतं अतलं लाजाने हुसु हेवं इदिसु कथं जने धंमवदिया वडेया [1] नो तु जने अनुलुपाया धंमवदिया वडि था [1] एतं देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा [1] एस मे हुया अतिकंतं च अंतलं हेवं इदिसु लाजाने कथं जने अनुलुपाया धंमवदिया वडेयाति नो च जने अनुलुपाया धंमवदिया वडि था [1] से किनु सुजने अनुपटिपजेया किन सुजने अनुलुपाया धंमवदिया वडेयाति [.] किन सुकानि अभ्युं नाम—येहं धंमवदिया ति [1] एतं देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा—एस मे हुया [.] धंम-सावनामि सावापयामि धंमानुसथि नि अनुसासामि [1] एतंजने सुतु अनुपटीपजीसति अभ्युं नमिसति [1]

उत्तराद्ध

धंमवदिया च बाडं वदिसति [1] एताये मे अटाये धंमसावनानि सावापितानि धंमानु-सथिनि विविधानि आनपितानि यथा मे पुलिसापि बहुने जनसि आयता एते पलियोवदिसंति पि पक्खितिसंति पि [1] लज्जकापि बहुकेसु पानसतसहसेसु आयता ते पि मे आनपिता इवं च हेवं च पलियोवदाय जन् धंममुत्तं [1] देवानं पिये पियदसि हेवं आहा—एतस् पव मे अनु-केलमाने धंमपमानि कटानि [.] धंममहामाता कटा धंमसावने कटे [1] देवानं पिये पियदसि

राजा हेवं आहा—मगेसु पि मे निगोहानि लोपापितानि छायोपगानि होसंति पसुमुनिसानं  
 अंबावडिक्का लोपापिता अदकोसिक्कानि पि मे उदधानानि खानापापितानि निंलिधिया च  
 काळापिता आधानानि मे बहुकानि तत तत कात्तापितानि पटिभोगाये पसुमुनिसानं [१] लहुके  
 खु एस पटी भोगे नाम [१] विविधाया हि सुखावनामा पुत्तिमेहि पि लाजोहि समया च  
 सुखपिते लोके इमं खु अंनानुपटीपटी अनुपटीपजंतु ति ए तद्धा मे एस कटे [१] देवानं पिये पिय-  
 दसि हेवं आहा—धम्ममहामातापि मे तं बहुविधेसु अट्टेसु आनुगहिकेसु विद्यापटा से पव्वीतनं  
 चेव गिहियानं च सबपासंठेसु पि च विद्यापटा से [१] संघटसि पि मे कटे इमे विद्यापटा  
 होहंतिति हेमेव बामनेसु आजीविकेसु पि मे कटे इमे विद्यापटा होहंतिति [१] निगंठेसु पि मे  
 कटे इमे विद्यापटा होहंति नानापासंठेसु पि मे कटे इमे विद्यापटा होहंतिति [१] पटिविसिटं  
 पटिविसिटं तेसु तेसु ते ते महामाता [१] धम्ममहामाता खु मे एतेसु चेव विद्यापटा सवेसु च  
 अंनेसु पासंठेसु [१] देवानं पिये पियदसि राजा हेवं आहा, एते च अंने च बहुका सुखा दान-  
 विसरगि विद्यापट से मम चेव देविनं च [१] सयसि च मे ओलोपनसि ते बहुविधेनं आकालेन  
 तानि तानि तुदापतनानि पटीपादवंति हिदु चेव दिसासु च [१] दालकानं पि च मे कटे अंनानं  
 च देविकुमालानं इमे दान विसरगेसु विद्यापटा होहंति ति धंमापदानठाये धंमानुपटिपतिये [१]  
 एस हि धंमापदाने धंमपटीपति च वा इयं दया दाने सचे सोचये भद्वे साधवे च लोकस हेवं  
 वडिसति [१] देवानं पिये पियदसि राजा हेवं आहा—यानि हि कानि चि ममिया साध-  
 यानि कटानि तं लोके अनुपटीपणे तं च अनुविधिभंति तेन धविता च वडिसंति च मातापितिसु  
 सुसुसाया गुल्लसु सुसुसाया वयोमहालकानं अनुपटी पतिया बामनसमनेसु कपनवलाकेसु आष  
 दासभट्टकेसु संपटीपतिया [१] देवानं पिये पियदसि राजा हेवं आहा—मुनिसानं खु वा इयं  
 धंमवडि वडि दुवेहि येव आकालेहि धंमनियमेन च निम्भतिया च [१] तत च लहु से धंम-  
 नियमे निम्भतिया व भुये [१] धंमनियमे च खो एस ये मे इयं कटे इमानि च इमानि  
 जातानि अधधियानि [१] अंतानि पि खु बहुकानि धंमनियमानि यानि मे कटानि [१]  
 निम्भतिया वबु भुये मुनिसानं धंम वडि वडिता अवहिंसाये भुतानं अनालंभाये पानानं [१]  
 से एतमे अठाये इयं कटे उतापपोतिके अंदमसुल्लिखिके होतु ति तथा च अनुपटीपजंतु ति [१]  
 हेवं हि अनुपटीपजंतं हिदुत पालते आलपे होति [१] सतविसतिवलाभिसितेन मे इयं धंम-  
 लिपि लिखापायिता ति [१] एतं देवानं पिये आहा—इयं धंमल्लिखि अत अधि सिलार्थभानि  
 वा सिलार्थफलकानि वा तत कटविद्या एन एस चिल्लित्तिके सिया [१]

### हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—बहुत दिन हुए, जो राजा हो गये हैं, उनकी इच्छा थी कि किसी प्रकार लोगों में धर्म की वृद्धि हो। पर लोगों में आशानुरूप धर्म की वृद्धि नहीं हुई। इसलिए देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—यह विचार मेरे मन में उपज हुआ कि पूर्व समय में राजा लोग यह चाहते थे कि किसी प्रकार लोगों में उचित रूप से धर्म की वृद्धि हो; पर लोगों में उचित रूप से धर्म की वृद्धि नहीं हुई।



तो, अब किस प्रकार से लोगों को ( धर्मपालन में ) प्रवृत्त किया जाय, किस प्रकार लोगों में उचित रूप से धर्म की वृद्धि की जाय, किस प्रकार मैं धर्म की वृद्धि से कम-से-कम कुछ लोगों को तो धर्म में सत्तर करा सकूँ ? इसलिए देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—यह विचार मेरे मन में आया कि धर्म-प्रवण कराऊँ और उन्हें धर्म का उपदेश दूँ, जिसमें कि लोग उसे सुनकर उसी के अनुसार आचरण करें, उन्नति करें और विशेष रूप से धर्म की वृद्धि करें। इसी उद्देश्य से धर्म-प्रवण कराया गया और विविध प्रकार से धर्म का उपदेश दिया गया, जिसमें कि मेरे 'पुरुष' नामक कर्मचारीगण, जो बहुत-से लोगों के ऊपर नियुक्त हैं, मेरे उपदेशों का प्रचार करें और उनका स्वयं विस्तार करें। रक्षुकों को भी, जो लाखों मनुष्यों पर नियुक्त हैं, यह आज्ञा दी गई है कि 'धर्मयुत' नामक कर्मचारियों को इस प्रकार उपदेश देना।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ऐसा कहते हैं—इसी उद्देश्य से मैंने मनुष्यों और पशुओं को छाया देने के लिए चरगद के पेड़ लगवाये, आश्रय की वाटिकाएँ लगवाईं; आठ-आठ कोस पर कूप खुदवाये, सरायें बनवाईं और जहाँ-तहाँ पशुओं तथा मनुष्यों के उपकार के लिए अनेक पनसाले बँटाये। किन्तु यह उपकार कुछ भी नहीं है। पहले के राजाओं ने और मैंने भी विविध प्रकार के सुखों से लोगों को सुखी किया है। किन्तु मैंने यह इसलिए किया है कि लोग धर्म के अनुसार आचरण करें।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ऐसा कहते हैं—मेरे धर्ममहामात्र भी उन बहुत तरह के उपकार के कार्यों में नियुक्त हैं, जिनका सम्बन्ध संन्यासी और गृहस्थ दोनों से है। वे कई सम्प्रदायों में नियुक्त हैं। मैंने उन्हें संघों में, ब्राह्मणों में, आजीवकों में, निर्ग्रन्थों में तथा विविध प्रकार के सम्प्रदायों में नियुक्त किया है। भिन्न-भिन्न महामात्र अपने-अपने कार्य में लगे हुए हैं, किन्तु धर्ममहामात्र अपने-अपने कार्य के अलावा सब सम्प्रदायों का निरीक्षण भी करते हैं।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—ये तथा अन्य दूसरे प्रधान कर्मचारी मेरे तथा मेरी रानियों के दानोत्सर्ग-कार्य के सम्बन्ध में नियुक्त हैं और यहाँ ( पाटलिपुत्र में ) तथा प्रान्ती में मेरे सब अन्तःपुरवालों को बताते हैं कि कौन-कौन से अवसरों पर कौन-कौन-सा दान करना चाहिए। ये मेरे पुत्रों और दूसरे राजकुमारों के दानोत्सर्ग-कार्य की देखभाल करने के लिए नियुक्त हैं, जिसमें धर्म की उन्नति और धर्म का आचरण हो। धर्म की उन्नति और धर्म का आचरण इसी में है कि दया, दान, सत्य, शौच, मृदुता और साधुता लोगों में बढ़े।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—जो कुछ अच्छा काम मैंने किया है, उसे लोग स्वीकार करते हैं और उसका अनुसरण करते हैं, जिससे उनके ये गुण बढ़े हैं और बढ़ेंगे—अन्धों माता-पिता की सेवा, गुरुओं की सेवा, वयोवृद्ध का सत्कार और ब्राह्मण-श्रमणों के साथ, दीन-दुःस्त्रियों के साथ तथा दास-नौकरों के साथ उचित व्यवहार।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं— मनुष्यों में जो यह धर्मबुद्धि हुई है, वह दो प्रकार से हुई है, अर्थात् एक धर्म के नियम से और दूसरे ध्यान के द्वारा। इन दोनों में धर्म के नियम कोई बड़े महत्त्व के नहीं हैं, पर ध्यान बड़े महत्त्व की बात है। पर मैंने धर्म के नियम इसलिए बनाये हैं कि अमुक-अमुक प्राणी न मारे जायें। और भी बहुत-से धर्म के नियम मैंने बनाये हैं। पर ध्यान की बदीलत मनुष्यों में धर्म की बुद्धि, प्राणियों की अहिंसा और यशों में जीवों का अनालंभ बढ़ा है। यह लेख इसलिए लिखा गया है कि जब-तक सूर्य और चन्द्रमा हैं, तबतक मेरे पुत्र और प्रपौत्र इनके अनुसार आचरण करें; क्योंकि इसके अनुसार आचरण करने से इहलोक और परलोक दोनों सुधरेंगे। राज्याभिषेक के २७ वर्ष बाद मैंने यह लेख लिखवाया है।

देवताओं के प्रिय यह कहते हैं—जहाँ-जहाँ पत्थर के स्तम्भ या पत्थर की शिलाएँ हों, वहाँ-वहाँ यह धर्मलेख खुदवाया जाय, जिसमें कि यह चिरस्थित रहे।

### गौण स्तम्भ-लेख\*

सारनाथ

देवा [ नं पिये प्रियदर्शि राजा ] ए ( ल ) ..... पाट ( लिपुते ) ..... ये केन पि संघे भेतवे [ । ] ए चु' खो भिणु वा भिणुनि वा संघं भणति से ओदातानि दुसानि संनं चापयिया आनावाससि आवासिपिये [ । ] हेवं इयं सासने भिणुसंघसि च भिणुनीसंघसि च विनपयित विये [ । ] हेवं देवानं पिये आहा हेदिसा च एका लिपी तुफाकं तिकं हुवाति संसलनमि निखिता [ । ] इकं च लिपि हेदिसमेव उपासकान्तिकं निखिपाथ [ । ] ते पि च उपासका अनुपोसथं वातु एतमेव सासनं पिस्वं सयितवे [ । ] अनुपोसथं च धुवाये इक्किे महामाते पोसथाये याति एतमेव सासनं विस्वंसयितवे अजानितवे च [ । ] आवतके च तुफाकं आहाले सवत निवासयाथ तुफे एतेन विवजनेन [ । ] हेमेव सवेसु कोटविसवेसु एतेन विवजनेन विवासापयाथा [ । ]

### हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं कि पाटलिपुत्र तथा प्रान्तों में कोई संघ में फूट न डालें। जो कोई चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी—संघ में फूट डालेगा, वह सफेद बख पहनाकर उस स्थान में रख दिया जायगा, जो भिक्षुको या भिक्षुणियों के लिए उचित नहीं है। इसी प्रकार हमारी यह आज्ञा भिक्षु-संघ और भिक्षुणी संघ को बता दी जाय। देवताओं के प्रिय ऐसा कहते हैं—इस तरह का एक लेख आप लोगों के समीप भेजा गया है, जिससे कि आप लोग उसे याद रखें। ऐसा ही एक लेख आप लोग उपासकों के लिए भी लिख दें, जिससे कि वे हर उपवास के दिन आकर इस आज्ञा के मर्म को समझें। वर्ष-भर प्रत्येक उपवास के दिन प्रत्येक महाभाव उपवास-व्रत-पालन करने के लिए इस आज्ञा के मर्म

\* विवरण के लिए इस पुस्तक का पृ० १७६, द्रष्टव्य।

को समझाने तथा इसका प्रचार करने के लिए जायगा। जहाँ-जहाँ आप लोगों का अधिकार हो, वहाँ-वहाँ आप सब इस आज्ञा के अनुसार प्रचार करें। इसी प्रकार आप लोगों सब कोटों ( गढ़ों ) और विषयों ( प्रान्तों ) में भी इस आज्ञा को भेजें।

प्रयाग

... ये [ आ ] नपयति कोसंबिय महामात... म... संघसि नचि ये...  
[ संघं भो ] खति भिखु व भिखुनि वा [ पि ] च [ ओ ] दा [ ता ] नि दुसानि, नं धापयितु  
आन [ पे ] स... व... य... [ । ]

हिन्दी

देवप्रिय प्रियदर्शी कौशाम्बी के महामात्रों को इस प्रकार आज्ञा देते हैं—संघ के नियमों का उल्लंघन न किया जाय। जो कोई संघ में फूट डालेगा, वह श्वेत वस्त्र पहनाकर उस स्थान से हटा दिया जायगा, जहाँ भिक्षु या भिक्षुणियाँ रहती हैं ( वहाँ से )।

सँची

... ये संघं भो खति भिखु वा भिखुनि वा ओदातामि दुसानि सनं धापयितु आना  
ससि चिसयेतविये [ । ] इच्छाहि मे किंति संघस मगे चिलधितीके सिपाति [ । ]

हिन्दी

... भिक्षु और भिक्षुणी दोनों के लिए मार्ग नियत किया गया है... जो कोई भिक्षुणी या भिक्षु-संघ में फूट डालेगा, वह उस स्थान में हटा दिया जायगा, जो भिक्षुकों या भिक्षुणियों के लिए उचित नहीं है। मेरी इच्छा है कि संघ का मार्ग चिरस्थित रहे।

### अशोक की रानी का स्तम्भ-लेख\*

देवानं पियया वचनेना सवंतं महा मत्ता वतविषा, ए हेत दुत्तिपाये देवीये दाने अंबा  
वदिका वा आलमे व दानग [ हि वा ए वापि ] अने कीद्वि गनीयति ताये देविये ये नानि... व...  
दुत्तिपाये देवियेति तीवलमातु कालुवाकिये।

हिन्दी

देवताओं के प्रिय सर्वत्र महामात्रों को यह आज्ञा देते हैं—दूसरी रानी ने जो कुछ दान किया हो, चाहे वह आप्रवाटिका हो या उद्यान या दान-गृह अथवा और कोई चीज हो, वह सब उस रानी का दान गिना जाना चाहिए। यह सब कार्य दूसरी रानी, अर्थात् तीवर की माता 'कारुवाकी' के ( पुण्य के निमित्त ) किये गये हैं।



\* यह लेख प्रयाग-स्तम्भ पर है। इसकी लिपि अशोक के धर्मलेखों की लिपि से भिन्न है।—ले०



1. The first part of the paper is devoted to a general discussion of the problem of the existence of solutions of the system of equations (1) and (2) under the assumption that the functions  $f_i(x)$  and  $g_i(x)$  are continuous and satisfy certain conditions.

2. In the second part, we consider the case when the functions  $f_i(x)$  and  $g_i(x)$  are piecewise continuous and satisfy certain conditions. We show that the system of equations (1) and (2) has a solution in this case.

3. In the third part, we consider the case when the functions  $f_i(x)$  and  $g_i(x)$  are discontinuous and satisfy certain conditions. We show that the system of equations (1) and (2) has a solution in this case.

4. In the fourth part, we consider the case when the functions  $f_i(x)$  and  $g_i(x)$  are continuous and satisfy certain conditions. We show that the system of equations (1) and (2) has a solution in this case.

5. In the fifth part, we consider the case when the functions  $f_i(x)$  and  $g_i(x)$  are piecewise continuous and satisfy certain conditions. We show that the system of equations (1) and (2) has a solution in this case.

6. In the sixth part, we consider the case when the functions  $f_i(x)$  and  $g_i(x)$  are discontinuous and satisfy certain conditions. We show that the system of equations (1) and (2) has a solution in this case.

7. In the seventh part, we consider the case when the functions  $f_i(x)$  and  $g_i(x)$  are continuous and satisfy certain conditions. We show that the system of equations (1) and (2) has a solution in this case.

8. In the eighth part, we consider the case when the functions  $f_i(x)$  and  $g_i(x)$  are piecewise continuous and satisfy certain conditions. We show that the system of equations (1) and (2) has a solution in this case.

## शब्दानुक्रमणी

अ

अंग—४, ५, ६, ८, १२, १३, २१, २७, २८, ३०,  
३२, ३४, ३५, ४७, ६१, १०५, ११४,  
१४६

अंगक—६५,

अंगदेश—१०३, ११४

अंगिरा—६१,

अंगुत्तर निकाय—१४ टि०, १५, २१, ४१  
टि०, ५५ टि०, ६४ टि०,  
६५, ७२ टि०, ७५ टि०,  
७६, ७८, ७८ टि०,  
७९ टि०, ८१ टि०, ८५,  
८६, १०४, १०५, १४०  
टि०, १४१ टि०, १७८  
२८६

अंगुत्तराप—४, ५, २८, ६०, ६२

अंतिकिन—१७४ टि०

अतिथोक—१७४ टि०

अंधकवन—१४३

अंधकारयुगीन भारत—१८८ टि०,

अंशुवर्मन्—२०६

अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन—  
२७४

अगस्त्य—४६

अगियाँव—६६

अमालाव चैत्य—६६

अग्निशाला—३४

अग्निदेवता—२५८

अग्निब्रह्मा—१७०

अग्निमित्र—१८५

अग्निवेश—११४

अचिरावत—१०३

अचिरावती—१५

अचेलक—१६

अचेलकाश्यप—१५६

अजन्ता—१७४

अजपाल—५४, ५५

अजपालिपा—२४०

अजातशत्रु—२३, २५, ७५, १०३, १२०, १२१  
१२३ टि०, १२६, १२७, १२८,  
१२९, १५६, १५४, १५७, १५८,  
१६०, १६१, २६१, २६३

अजित—१६३

अजित केशकम्बल—१६, ३६, १००, ११२,  
१२२, १२७

अजित महेन्द्र—१६३

अट्टक—६१

अट्टक—१५६

अट्टकया—५४ टि०, ११६, १५३, २६१

अट्टकनगरसुतन्त्र—१५६ टि०

अट्टसालिनी—२०७, २०८

अड्डायोग—३४

अथर्ववेद—१२

अथर्वद—२२७

अथर्ववज्र—२२३

अधिरथ—११, ३०

अनंगवज्र—२३६

अनङ्गासुतन्त्र—६७ टि०, ७०

अनवज्ञा—५

अनागारिक धर्मपाल—२५१

- अनाथपिण्ड—७०  
 अनाथपिण्डक—२६, ३४, ७८, ७९, ११६,  
 १८७  
 अनाथपिण्डकोवारमुत्तम—७०  
 अनिमेष चैत्य—५४, ५५, २५०, २६५  
 अनिमेष-मन्दिर—५५  
 अनिरुद्ध—१५३, १६३  
 अनुसार वरचर—१००  
 अनुराधापुर—७३, १८२  
 अनुला ( अनुलोमा )—१८१  
 अनुशासनपर्व—१३५  
 अनुपिथा—८८  
 अनेकान्त—१६  
 अनोमा—४२  
 अप्रमादवग्ग—१६८  
 अवदावाद—१७५  
 अभयकर गुप्त—२२५  
 अभय—१२४  
 अभयकुमार—१०७, १०८  
 अभयमाता—१४२  
 अभयमुद्रा—२६७  
 अभय-राजकुमार—१२३  
 अभियम्म—१५६, १७२, २८५  
 अभियम्मकोश—१६३, २७४  
 अभियम्मं गिटक—१६६, १६०, २८७, २८९  
 अभियम्मप्रकरण पदशास्त्र—२०४  
 अभिनिष्क्रमणसूत्र—३८, ३९  
 अभिषेक पुष्करिणी—२६६  
 अभिसमपालंकारालोक—२२१  
 अभरसिंह—१६२, २७०  
 अभरावती—२६४  
 अभरक—१६२  
 अभूर्तरयगय—३०, ३५, ४६  
 अभूतपाल—२१८  
 अभूतानन्द—१८६  
 अभोधवज्र—२०५  
 अभवद्व—२६  
 अभवद्वसुत—१०, २६, ३२  
 अभवपाली—१०६, १३१, १५१, १५२  
 अभवलङ्घिका—१२६  
 अभवधराड—११२  
 अभवध—१०, २६  
 अभवाला—१७५  
 अबोधन—४८  
 अबोध्या—१८८  
 अरसपदेवी—६८  
 अरवल—६६  
 अरियपरियेसनसुत्त—३६, ४७ टि०  
 अरियवंस सुत्त—१७८  
 अर्जुन—२७  
 अर्धौष्ठ—८५  
 अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया—४० टि०, २६३  
 अर्बुद—२७  
 अर्हतयान—१६०  
 अलकापुरी—३  
 अलम्बुषा—२२, २३  
 अलौकपृष्ठग्राम—२६५  
 अल्लकण—४, ५, ६६, १३३, २६१  
 अवदान—२८७  
 अवधूतिगा—२२३, २३६  
 अवन्ती—१८, २१, २२, ३५, ३६, ५१, ७७,  
 १५७  
 अवन्तीपुत्र—२१  
 अवलोकितेश्वर—२४८, २४९, २६५, २६६,  
 २६७, २६८  
 अववादका—८८, १५१



अविदुरेनिदानं—३५ टि०, ५१ टि०

अशोक—१२, ४४ टि०, ५५, ६७, ११६,  
१६६, १६७, १७०, १७१, १७२,  
१७३, १७५ टि०, १७६, १७७, १७८,  
१७९, १८०, १८१, १८३, १८६,  
१९३, २५०, २८१, २८४, २८५,  
२९१, २९२, २९३, २९४, ३१७

अशोक बी धर्मलिपियां—१३७ टि०, १७४ टि०

अशोक-चक्र—२७६

अशोक-रेलिंग—२४६

अशोक-स्तम्भ—५६

अशोकाराम विहार—१७०, १७१, १८८,  
१९४, २०२, २०३,  
२९२ टि०

अश्मक—१६७

अश्वगुप्त—१८६

अश्वघोष—३२, ३६, १८४, १८८, १८९, १९०,  
१९१, २०५, २१६, २८६, २९४

अश्वजित्—५६, ६३, ६५, ६८, ८८, १०३ टि०

अश्वपतिकैकेय—६

अश्वपुर—८७, १०४

अश्वसेन—१३

अष्टक—१५६

अष्टांगहृदयसंहिता—२२१

अलंग—३२, १९२, १९३, २०८

अमित—१७८

असिकवन्धकपुत्र—८०

असिकमुन्दर—१७४ टि०,

अस्तलापन सुत्तन्त—३२

अहोमंग—१६२, १७१,

अक्षयवट—४५

उत्तो-कु—२२६

उदन्-कलोड्-मड्—२२१

फ०—४४

आ

आकिंचन्यायन—४३

आक्सफोर्ड—४० टि०

आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया—१७४ टि०

आचार्य नरेन्द्रदेव—१६, ३८ टि०, ३९,  
२०३, २१२, २३५,  
२८५ टि०, २८७ टि०

आचार्य भद्रबन्धि—१९६

आचार्य सर्वकामी—१६३

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—२३५ टि०

आचार्य शानमर्भ—२११

आजमगढ़—२७२

आजीवक—१९, २०, ८५

आठवी—१७३, १९५

आठानाटीय—११४

आठानाटीय सुत्त—१२, २३१

आत्मपरिज्ञान दृष्ट्युपदेश—२३६

आत्मानन्दिक—१७२

आग्नेय—१०७

आदित्यपरिपायसुत्त—६३ टि०

आदित्यसुत्त—६२

आदित्यसेन—२११

आनन्द—२८, ४२, ५१, ६६, ७५, १०४, १०५,  
११७, ११८, १२८, १३२, १३७,  
१४०, १५४, १५५, १५७, १५८,  
१५९, १६६, १७०, २३०

आनन्द-चरित—१०५

आनन्दभद्र—२१२

आगण—५, ३३, ६०, ६१, ६२

आज्ञाप्राम—१३२

आज्ञाविका—७८

आलुःपरीक्षा—२४०

आयुषाला—१७०

आरावक—६८

आरा—१५, ६७, ६८, ६९, १६५

आराकान—२५१

आराद कालाम—१४, १५, ४२, ४३, ५६

आरा-नागरी-प्रचारिणी समा—६७, ६८

आरा-पुरातत्व—६८

आराम—१५, ३४

आरामत्यु—३४

आर्कियोलॉजिकल सर्वे आफ् इण्डिया—

१५, २४५, २४६,

आर्यकात्यायनी सूत्र—१६०

आर्यदेव—२३४

आर्यभट्ट—१६२

आर्यवज्र काचिदिक प्रज्ञापारमिता टीका—

२१३

आर्यवर्मन्—१६६

आर्यसूर—१६२

आर्या कुरंगी—१८७

आर्यावत्त—२३७ टि०

आर्या सप्तशतीक प्रज्ञापारमिता टीका—

२१३

आलवक—६७

आलवक चेल—६८

आलवक मुस—६८

आलवी—७६, ६७, ६८, १००

आलिकालि मंत्रज्ञान—२४०

आश्वतराश्व—६

आश्वलायन—३२

इ

इंडियन हिस्टोरिकल कार्टरली—२२६ टि०

इतिवृत्तक—२०८, २०७

इदिय—१७४

इन्द्रगुप्त—१७०

इन्दौर—२७१

इन्द्रभूति—२१२

इन्द्रशाल गुफा—१८७, २६३

इन्द्रानिमित्र—१८७

इसिमिलिमुत्तन्त—२८

इक्ष्वाकु-वंश—३, २२

ई

ईलिंग—१८६, १८८, १८९, २११, २२२

ईश्वर कृष्ण—१६२

उ

उज्जैन—११०, १४२, १६६, १८४, २८३

उक्काचेल—७१, १२८

उड़ीसा—५१, १६६

उड्डियूर—१७४

उत्तम—१०५ टि०, २५३

उत्तर—११६, १६२

उत्तरका—८६

उत्तर माणवक—१०४, १२०

उत्तीय—१७४

उदन्तपुरी—६, २१४, २३८, २४१

उदयगिरि—४५

उदयन—१७, २१, ३४

उदयानमाला—३४

उदयी—१२

उदान—१०५ टि०, २७६, २८७

उदायी—६२, १०५

उदायीमुत्त—१०५

उदुम्बरिका आश्रम—११३

उद्दक रामपुत्र—१४, १५, ४३, ५६

उद्योतकर—१६२

उपक—५६, १४६

उपगुप्त—१६६, १७०

उपचाला—१४८, १४९

उपतिथ्य—१७८

उपसेन—६६

उपाली—१२४, १२५, १५४, १५५, १५६

उपोसथ—१७१

उपोसथ-वखन्धक—३००

उपरील—२६६, २७०

उमा-महेश्वर—२५६, २६२

उकविल्व ( उकवेला )—३५, ३६, ५०, ५३,

५६, ५८, ६१, २६०,

उकविल्व ( उकवेल )-काश्यप—४७, ६०, ६१,

६२

उशीनर—२७

ऊर्ध्वलोत—१३८

ऊ

ऋग्वेद—१२ टि०,

ऋषिगिरि—२७, ११०

ऋषिपत्तन—४६, ५३, ५६, ५७, ७६, १७७

ऋषिभूमि अंगन—१८२

ए

एकनाला—८१

एकामिषाय—२३१

एन० के० भागवत—२६६

एपिमे फिका इडिका—१८६ टि०

एसियाटिक रिसर्चेंज—२४४

एसियाटिक सोसाइटी—२४४

ओ

ओकाकोरा—२५२

ओकोम—१६६

ओदन्तपुरी—६, २६८

औपमन्वव—६

क

कंकजोल—१०४

कंकणपा—२३६

कंकालिपा—२६८

कंखावितरणी—२०८

कंजंगल—४, ५, १०४, १५०

कंजंगला—१०४, १५०

कंथक—१५, ४२

कंवलपा—२३७

ककुथ—१३०

ककौला—७० टि०

कबाण व्याकरण—२८४

कच्छप जातक—२५७, २५८

कण्ठपा—२३६, २३६, २४०

कयावत्यु—१७२, २३०, २८८

कनकश्री—२२३

कनरिपा—२३४

कनिष्क—१६०, १६३, १६४, २३१, २३२,  
२८६, २६४

कन्दरक—६६

कञ्जौज—२१५, २४१

कपसिवा—५६

कपामिय—५८, ५६

कपिल—७३

कपिलवस्तु—३६, ६४, १५, २३, ४०, ४१, ४२,  
४४ टि०, ७६, ७६, १७३

कपोतविहार—२६५

कपिय कुटी—३४

कबीर—२४०

कमलगुप्त—२२१

कमलशील—२१२

कमलाकान्त उपाध्याय—६८

कम्बोज—२२

कम्बोडिया—२०८

कदणामय जागरण—२१६



कश्यप—४, ६, २६, ३१, ६६  
 कर्ण—११, २२, ३४, २२४  
 कर्णारीषा—२३४  
 कर्णवसि—२२५, २२६  
 कर्ण-श्री—२२६  
 कर्मफल विभंगसूत्र—२०५  
 कर्मविभाग—२२५  
 कर्मसिद्ध टीका—२२६  
 कलकत्ता—६८, २४३, २४४, २४७, २६२,  
 २७२, २६७  
 कलचुरि—२२४  
 कलन्दकनिवाप—७०, ८२, १०१, १०२, १२२  
 कलशधारिणी नागिन—२६२  
 कलार-अनक—११६  
 कलिंग—१६७, १७६  
 कलिंग भारद्वाज—५१  
 कलिंग-लेख—१७४  
 कलिकालसर्वज्ञ—२३८  
 कलिभावनामार्ग—२३६  
 कल्पनामंडितिका—१८६  
 कल्पपाण्डी—२२२  
 कश्मीर—१६६, २०६, २१०, २२६, २३७  
 कसिभारद्वाजसुत—३३  
 कहलगाँव—२१६, २६७  
 कापिल्य—२१  
 काकंडकपुत्र—१६२  
 काक—११०  
 काकबलिय—८६ टि०  
 काटियावाड़—१७४, १७५  
 कात्यायनी—१३५  
 कात्यायनी पुत्र—१६०  
 कादम्बरी—२३४ टि०  
 काफिरिस्तान—२६२

कारिस्सम—१३१  
 कारीसाय—६६  
 कारवकी—५५  
 काल उदायी—७८  
 कालगी—१७५  
 कालाम—१२०  
 कालाशोक नन्दिशङ्ख—१६३  
 कालिंग—१३०  
 कालिम बोधिजातक—५२ टि०  
 कालिदास—३६, १८४  
 कालीग्राम—२६५  
 काच—५६  
 काशिराज अजातशत्रु—६  
 काशी—४, ६, १०, २१, ५१, २०३, २१८, २१६,  
 २२०  
 काशीप्रसाद जायसवाल—४४ टि०, १८८ टि०,  
 २६८  
 काशीप्रसाद जायसवाल शोध-प्रतिष्ठान—२७८  
 काश्यपगोत्र—६६, ६७  
 काश्यपबन्धु—२१, २६, ६१  
 किंग-नू—२००  
 कियन्सी—२०२  
 कीकट—४, १२, २५, ३६  
 कीटागिरि—६०  
 कीर्तिमुख—२६२  
 कुक्कुटाराम—१७०, १७३, १६४, २६२ टि०  
 कुक्कुटव्रतिक—८६  
 कुक्कुटिपा—२३७ टि०  
 कुटदन्तसुत—६१ टि०, ६३ टि०  
 कुण्डग्राम—२३  
 कुण्डवन बिहार—१६०  
 कुबेर—२५७, २५८  
 कुमार—२०२

कुमार-कलश—२३२ टि०

कुमारगुप्त—२५७, २६४

कुमारगुप्त-महेन्द्रादित्य—१६३, १६४, २०६

कुमारजीव—१६२, २०१, २०२, २०३

कुमारदेवी—२१२

कुमारश्री—२२५

कुम्हार—२६७, २७०, २६६

कुरंगजातक—२६७ टि०

कुलदेश—२१

कुर्किहार—४७, २६७, २६८

कुलु—८६

कुशीनारा ( कुशीनगर )—११, ६३, ११३,  
१३२, १३३, १५३,  
१७३, २७१, २७२,  
२६२

कूटदन्त—२०, २६, ३३, ६३, ६४

कूटागारशाला—२५, ७६, ८२, ८४, ८६, ८७,  
१३१, १३२, २६६

कुमिकाला—१०५

कुमिला—२६५

कुरोदरी चामुण्डा—२६३

कृपिमारद्वाज—३३, ८२

कृष्ण—२६

कृष्णगुप्त—२०४ टि०

केशिप—५, ३३, ६१, ६२

केदार पाण्डेय—२७३

केवटसुत—८०

केसठ—१५, १२०

केसपुत—१५, १२०

कोकलिपा—२३८

कोकालिय—७१

कोकालीपा—२४०

कोटिग्राम—१३०

कोपा—५

कोरई—७० टि०

कोरमटुक—८६

कोलम्बी—२५१

कोलित—७० टि०

कोशाम्बी—७६, ११०, १६२, १७३, १७५

कोसल—३, ४, २१, २२, २६, २८, २९, ३०, ४०,  
४२, ४४, १२०, १२६

कोटिलप—२६३

कौशिकन्य—५६

कौमारभृत्य—१०७, १२६, १२७

कौरव्य—२१

कौशिक—२७

कौशिकगोत्र—७३

कौपीतिक उपनिषद्—६ टि०

ख

खड्गपा—२३८

खन्धक—२८७

खन्-यो-उर्वगन्तोम—२५३

खसर्पगा अवलोकितेश्वर—२६२

खाणुमत—३३, ६३, ६४

खानदेश—१७४

खारवेल—५१ टि०, १६०, १८२

खुदकनिकाय—१३६, २७६, २८६, २८७

खुदकपाठ—२८७

खुदकवलयुक्तखन्धक—२०३

खेमिय—१६०

खोग्ले—२१७

ग

गंगा—३, ५, १०, २५, १८, ३५, २१०, २३१

टि०, २३२ टि०, २३६, २६३

गंगा-पुरातत्वांक—२७३

गंगाप्रसाद मेहता—१६४ टि०

गंजाम—१७५  
 गजलक्ष्मी—२५८  
 गणकर्मदेव—२६५  
 गण्डिस्तोत्र—१८६  
 गदाधरप्रसाद अम्बुष्ट—२७५, २७६, २७७  
 गद्यकरगड क्यूह—२०६  
 गन्धकुटी—२१६  
 गन्धार—२२, २२  
 गय—४६  
 गवा—४, ३०, ३५, ६८, ६९, १७३, १७५, २४५,  
 २४६, २४६, २७५, २८३, २८७, २८८  
 गवा काक्षप—६०, ६१  
 गवाशीर्ष ( गवामीस )—२१, ६०, ६२, ६७,  
 १२१  
 गंगरा मुष्करिणी—६४, ६५, ६६  
 गवर्नर जेनरल वारेन हेस्टिंग्स—२४३  
 गवीमठ—१७५  
 गंगेयदेव—२२४  
 गाजीपुर—६, ११  
 गायकवाङ्—२१३  
 गायकवाङ् ओरियंटल सीरीज—२१३  
 गायगर—२८५, २८८, २८९  
 गामी—१३५  
 गितकावलय—१३०  
 गिरनार—१७०, १७४, १७५,  
 १७६, १७७, १७८, २८१, २८२  
 गिरित्तज—२४, २६, ३०  
 गीता—१८, २०  
 गुणपाल—२२०  
 गुणमति—१६८  
 गुणवर्मेन्—२०१  
 गुप्तकालीन मुद्रार्थ—१६३, २१०  
 गुप्तरावगिरि—५१, २१०

गुह्या महाङ्—५१, २१०  
 गुरुसेवा पंचरातमाथा—२१६  
 गुर्वरा—१७५  
 गुलजारवाग—१३०  
 गुलिस्मानि—१०२  
 गुलिस्मानि सुत्तन्त—७०  
 गुहामिलेख—१७४  
 गृध्रकूट—२८, ६६, ११०, १११, ११६, १२१,  
 १२८, १२९  
 गृध्रकूट—४५  
 गोकुलिक—१६४  
 गोतमक चैत्य—८६, १३२  
 गोपक मीदगलपायन—१५७  
 गोपाल—२१४, २१५  
 गोपाल द्वितीय—२५६  
 गोरखपुर—६, ११, २४  
 गोरथगिरि—५१, २१०  
 गोविन्दपाल—२२६  
 गोश्वरी—२५  
 गोमिग सालवन—१३०  
 गोष्ण स्तम्भ-लेख—१७४  
 गौतम—२६, २७, ३०, ५२  
 गौतमघाट—१३०  
 गौतमद्वार—१३०  
 गौरीशंकर हीराचन्द्र ओम्हा—१७४, १७६  
 धियर्मेन्—२८५  
 सल्लन्नाङ्—२१३

घ

घटोत्कच गुप्त—१६२  
 घतकातक—४, २१०  
 घमंडीगिरि—२५१  
 घमंडीगिरिवाग—२५१  
 घोटमुख—१६०



घोटमुखसुतन्त—१६० टि०

घोटमुखी—१६०

घोषा—१३५

च

चंकम—३४

चंकमसाला—३४

चंकमसु चैत्य—२७८

चक्रवर्त्ती सिंहनाद सुत—१२८

चण्डकेय—२६५

चण्डप्रद्योत—१८, २१, ३५, ७७

चण्डवर्जि—१६६

चण्डालिकाविन्दुप्रस्फुरण—२३६

चतुर्कनिपात—१७८

चतुरंग धर्मचर्या—२२६

चतुरशीत सिद्ध-प्रवृत्ति—२४०

चतुःसूत्री—७४

चतुर्दश शिलालेख—१६६, १७४, ३२०

चतुर्भूतभावाभिवासन कर्म—२३६

चन्द्रकीर्ति—२०८, २०९, २१७, २५८

चन्द्रगर्भ—२२२, २२३

चन्द्रगुप्त मौर्य—१६६, १७२, १७५ टि०

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य—१६४, २६४

चन्द्रगोमिन—२०८, २०९, २५८

चन्द्रदेव—२००

चन्द्रपाल—१६८

चन्द्रप्रभा—८६

चमरिपा—२३८

चम्पकपा—२३६

चम्पखन्धक—३०१

चम्पा—५, ३३, ६४, ६६, ११४, १६६, २३६

चम्पारन—१५, १७६, २४०

चरियाफिटक—२०८, २८७

चर्पटीपा—२३६

चर्यासंग्रहप्रदीप—२२४

चवरिपा—२३६

चाइल्डर्स—२८५

चाउ-सियांग-कुळांग—११८

चाणक्य—१६६

चापा—५६, १४६, १५०

चापाल चैत्य—१३२

चाम्पेयखन्धक—६६, ३०३

चाला—६६, १४८, १४९

चालिय—७६, १०३

चित्तचैतन्य शमनोपाय—२३६

चित्तयमक—१६६

चित्तविशुद्धिप्रकरण—२०४

चित्तमम्प्रादाय-व्यवस्थान—२३६

चित्र—३४

चित्रा—१४२

चिन-सुंग—२१८

चीनी बौद्धधर्म का इतिहास—२०४ टि०

चीनी मन्दिर—२५३

चीवर खन्धक—३०२

चुनार—६

चुन्द—६५, ६६, ६६

चुन्दकमार—१३२

चुल्लपथक—१२५, १२६

चुल्लवग्गी—१३ टि०, ३४ टि०, ६७ टि०, ७६ टि०, ८० टि०, ८४ टि०, ८७ टि०, १०० टि०, १२०, १२२ टि०, १५३ टि०, १५६ टि०, १६१ टि०, १६३ टि०, १६४ टि०, २८१ टि०, २८७, ३०३

चुल्लसेट्टि जातक—१२५ टि०

चूलगोसिंग सुतन्त—१३०

चूलवस—२८३

चूलासंयक सुचन्त—८८

चूल सारोपमसुचन्त—१६

चेटक—२३, २८

चेदि—२१

चैत्यक—२७

चोड़—१७३

चोर प्रपात—१३९

चोल—१७४

छ

छन्दक—१५, ४२

छन्दोरत्नाकर—२३८

छज—६६

छन्नोवादसुचन्त—७०

छपरा—५

छान्दोग्य—६ टि०,

छोटानागपुर—५, १२

ज

जमल—२६३

जम्बुद्वीप—२६५

जगदीशपुर—७० टि०, २७०, २६७

जगन्नाथदास—४७ टि०

जगन्मित्रानन्द—२३६

जगन्मोहन वर्मा—१७३ टि०, १६० टि०;

जर्तिशरामेश्वर—१७४

जनक—८, ३०

जनकपुर—२२

जनकवैदेह—६

जनशार्कराक्ष्य—६

जनश्रीमित्र—२६५

जम्बूधाम—१३२

जयचन्द्र—२२६

जयचन्द्र विद्यालंकार—५, ६, १०७ टि०,  
२१५ टि०

जयनंदीपा—२३७

जयन्ती—१४१

जयन्ती-स्मारक ग्रन्थ—१६६ टि०

जयपाल—२१८

जयसेन—२३, १०३, १३३, १६७

जयानन्दपा—२३७

जरासंध—२६, २४२

जर्नेल आर्चि दि विहार-उड़ीसा-रिसर्च-

सोसाइटी—२६७, २६८

जलालाबाद—२६२

जवरिया—२४०

जातक कथा—५१, ८८, १३५, ११३

जातकद्वय कथा—३५ टि०, ३८, ३६, ४१, ४०  
टि०, ५६, २६७

जातकद्वयसंग्रह—२०८

जातकनिदान कथा—५० टि०

जातिवन—६०

जानुओगि—२६, ३२

जापान—२५१, २५२, २५४, २७७

जामदग्न्य—८

जालंधर—२३८

जालिय—८७

जावा—२०२, २०३, २१८

जिनगुप्त—२०२

जिनमित्र—१६८

जिनयश—२०२

जीवक—१०६, १०६, १२५, १२७

जीवकाराम—१२५

जीवा—२०२

जीवितगुप्त—२१०

जे-सुम्-मिला-रोपा—२३७

जेठियन—१३६

जेत राजकुमार—११६

जेतवन—४३  
जेतारि—२१७, २३८  
जेम्सफलीट—१७७  
जेन हाईस्कूल—६७  
जौगद—१७५, २८५  
ज्योतिय—८६ टि०

झ

झल्ल—१०  
झारखण्ड—२२५

ड

डंकितमंच—६८  
डार्न—१८५ टि०,  
डेकारी—२८३  
दोपरा—१७५, २६२

ड

डॉ० अनन्त सदाशिव असतेकर—१४ टि०,  
१६३ टि०

डॉ० चाड-मियांग-कुआंग—२०४ टि०,

डॉ० बील—३६

डॉ० बुकानन—६८, २४४, २६८

डॉ० बेंजल—१८६

डॉ० ब्लाश—२६६

डॉ० राजेन्द्रपाल मिश्र—२४६, २४७

डॉ० बामुदेव उपाध्याय—१६७ टि०,

डॉ० बिन्धेश्वरीप्रसाद सिंह—१८७ टि०,  
२६६ टि०

डॉ० स्मिथ—२६६, २६३

डॉ० हीरानन्दशास्त्री—१६४ टि०, १६५ टि०,  
२००, २८८, २५४, २५५  
२५६

डाहला—२२४

डु गेश्वरी पहाड़—२४८

डुमराँव—१५

डोमिपा—२३५

डोमिपा—२३६

ढ

ढेनुआ बाबा—२४२, २६०

त

तंजयान—२२६, २३०

तण्डलपल्ल—६६

तथागतचिन्तयगुह्य निर्देश—२१६

तथागत गुप्त—१६७

तन्तुबाय—७६

तपोदाराम—११६

तपोभूमि—७० टि०

तराई स्तम्भलेख—१७४, १७५, ३३४

तर्कसंग्रह—१८ टि०

तच्चशिला—२१, २४ टि०, ८५, १०७, १२३,  
१७३,

ताई-त्सुंग—२१८, २१९

ताड-त्सु—२१८

तांग-तान—२००

ताम्रपणी—१८१

तारा—२४२, २५१, २५६, २६३, २६५, २६६,  
२६८

ताराचण्डी—५६

तारानाथ लामा—१८४, १८५, २१६, २३६,  
२४४, २५६

तावतमिश्र—२२६

तिकाणिपात मुक्त—१५

तिथियाराम बिहार—१४३

तिन्दुखाण्डु—८७

तिन्वत—२०३, २०६, २१०, २११, २१२,  
२१३, २१७, २२०, २२१, २२२,  
२२४, २१५, २२६, २३७, २५४,  
२७३, २७७, २६०



तिब्बत में बौद्धधर्म—२२१ टि०, २२४

तिब्बती मन्दिर—२५३

तिरहुत—६

तिलाहड़ा—२६५

तिलोपा—२३७, २३८

तिलौराकोट—३, ४०

तिष्य—१७१

ति-सोण-दे-सेन—२०६, २१०, २११

तीर्थंकर महावीर—१०, १६५

तुं दिला कमाला—२६३

तुङ—१३१

तृणचिन्दु—२२

तुलीय संगीति—१७०, १७२

तेलिया मंडार—२५६, २६०, २६१

तेलिया मैरव—२४२, २६०

तोफांग—२००

त्रयखिश—७६

त्रिकमल—२६४

त्रिचनापल्ली—१७४

त्रिपिटक १६८, २०७, २८२

त्रिपिटकाचार्य—२७३, २७५

त्रिशरणा यज्ञ—६४

त्रिशला—२३

त्रैलोक्य-विजय—२५६

त्सुगवंशीय सम्राट्—२१८

थ

थानेश्वर—१६५

थुल्लनन्दा—७५

थूबंस—२८६

थूयाराम—२६१

थेरगाथा—७२ टि०, २८७

थेरीगाथा—५६, १४२, १५२, २८७

थो-गलिंग—२२४

थौबो—१६६

द

दण्डी—१६२

दधीचि—८

दन्तपुर—५१

दन्तवक—२६

दन्तिका—१४२

दमितविष्णु—२१४

दरभंगा—५

दरिकपा—२३५

दरियादास—२४०

दशकुलकर्मोपदेश—२२५

दशदुष्टकर्ममार्ग सूत्र—२१६

दशभूमेश्वर—२०३

दशरथ—१६, १८२

दसुत्तरसुत्त—६५

दक्षिणागिरि—६६, ८१, ११०, १५६

दानपाल—२१८

दान यज्ञ—६४

दाक्षपत्तिक—८७

दासक—१६६

दि श्रीक इन वैकिट्टया एंड इंडिया—१८५ टि०

दिङ्नाग—१६२, २१२

दिनाजपुर—५

दि लाइफ एण्ड वर्क बुद्धघोष—२०८ टि०

दिल्ली—१७५, २६३

दिग्वावदान—१७६, १८५, २८५

दीधनिकाय—१०, १६ टि०, २४ टि०,

३१ टि०, ८०, ८७ टि०, ६३

टि०, १२६ टि०, १२७ टि०,

१२६ टि०, १३० टि०, १३१

टि०, १३२ टि०, २३१, २७४,

२८६, २०६

दीदारगंज—२६३  
दीपकर अतिश—२२१, २२२  
दीर्घतपस्वी—१२४  
दीर्घतमा—३१  
दीर्घनख—११४  
दीर्घपरजन—१३०  
दुर्मुख—८६  
देचना—२११  
देवगुप्त—२१०, २११  
देवदत्त—६७, १२०, १२१, १२२  
देवपाल—२१५, २१८, २३५, २४०, २५५,  
२५६, २५७

देवयानी—१३५  
देववर्धन—२११  
देमेन्निय—१८२, १८३, १८५  
देवानां पिपत्तिस्—१८०  
देवी—१७६  
दोहाकोश—२३३, २७४  
द्रोण—१३३  
द्वारका—२६

घ

घर्नजय—८६, ६०, १३६, १४०  
घनिय—१११  
घनुर्वाणलाग—२६६  
घन्वन्तरि—१०७  
घम्मदायादसुतन्त—७०  
घम्मपद—१३६, २७४  
घम्मपद अट्टकथा—२४ टि०, २०८  
घम्मसंशिणी—२०७  
घर्मकीर्ति—२८३  
घर्मगुप्तिक—१६४  
घर्मजात यश—२०१, २०४  
घर्मदिज्ञा ( घम्मदिज्ञा )—१०१, १०२, १३८

घर्मदेव—२१६  
घर्मपा—२३६  
घर्मपाल—१६२, २०१, २०८, २१५, २१८,  
२२०, २२३, २३३, २३४, २८८  
घर्मग्रन्थ—४५  
घमरज्ञ—२१६  
घमराजिकास्तूप—२१६  
घर्मवन्ति—२०१, २०४  
घर्मसेनापति—६५, ६८, ६९  
घर्मज्ञान गौतम—२०२, २०५  
घर्मानन्द कोसम्बी—१४ टि०, १५, १७ टि०,  
२० टि०, १७७ टि०

घर्माशोक—१८०  
घातुकथा—२८८  
घानंजानि—६६  
घान्यकेटक—२३१, २३३

न

नगरभुक्ति—२६५  
नगाधिराज—३  
नदीकाश्यप—४७, ६०, ६१  
नन्दगिरिकर—१८६  
नन्दा—१३०  
नन्दिबर्द्धन—३८, १६०, १६१, १६२, १६६,  
२६३  
नरसिंहगुप्त बालादित्य—१६७, २०६, २५७,  
२६४  
नरेन्द्रगुप्त—२१०  
नरोत्तमपाद—२२३  
नरोपन्त—२१६, २१७, २२३, २३७, २३८  
नवनालन्दामहाविहार—२७७  
नागदेवा—१८७  
नागराजमहाकाल—१७०  
नागरीप्रचारिणी-पात्रिका—१४

नागरी-अक्षरिणी-समा—४४ टि०, ६७  
 नागसमाल—८८  
 नागसेन—३२, १८६, १८८, १८४, २८८  
 नागाजुन—३२, १६०, २१६, २२१, २३१,  
 २३४, २५०, २५७, २५६, २६४

नागाजुन द्वितीय—२३४

नागित—८५

नाडपाद—२२३

नादिका—७०, १३०, १३१

नानक—२४०

नानकिंग—२०३

नामाग—२२

नारि-लो-मुम्-यमे—२२४

नारीपा—२२३, २३७, २३८

नाल—१६४

नालक—६५, १७८

नालगिरि—१२१

नालन्दा—६५, ७१, ७४, १२४, १२५, १२६,  
 १६०, १६१, १६३, १६५, १६८,  
 १६६, २००, २०१, २०५, २०८,  
 २१०, २११, २१४, २१५, २१६,  
 २१७, २१८, २२३, २२५, २२६,  
 २२७, २२८, २३४, २३५, २३६,  
 २३८, २४०, २४४, २४५, २४६,  
 २४८, २४९, २६०, २६१, २६३,  
 २६४, २६५, २६६, २७५, २७७,  
 २७८, २६६, २६७, २६८

नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला—

३०३ टि०, १०५ टि०, ३०६ टि०

नालन्दा-विद्यापीठ—३०६

नालन्दा-विश्वविद्यालय—१६०, १६३, १६४,  
 १६७, १६८, २१६,  
 २१६, २१२

नालन्दाविहार—२६२

नालन्दा-संघालय—२२८, २५६, २६०

नाला ग्राम—७६

निर्मातनाथपुस्त—१३, १६, १६, २०, ४३, ६८,  
 ८०, १२४, १२५

निग्लिवा—१७५, २६२

निदानकथा—४२

निरंजना—३५, ४५, ४७, ५०, ६०, १५०, २४४

नेतिपकरण—२८८

नेतिपकरणस्स अथु संवणणा—२८८

नैपाल—३, ५, ४०, १६२, १७५, १८६, २०६,  
 २११, २२६, २३७ टि०, २४१

न्यग्रोष—११३, १६८

न्यायविन्दुपूर्वसारसामसीवध—२१३

प

पंचक निपात—१७८

पंचविंश ब्राह्मण—११

पंचशतिका—६८, १५७

पंचशतिका स्तम्भक—३०४

पंचशाला—८१

पंचशिखगन्धर्वपुत्र—११२, २६३

पकुवकभाषन—१६, १७, १८, १००, १२२

पञ्जतन्त्र—२५८

पञ्जपाण्डव—२४६

पञ्चासद्वन्मन्दिर—२४८

पञ्चणकराष्टकथा—२०८

पञ्चशील—२७६

पटना—४, ६, ७४ टि०, २४७, २७५

पटना-संघालय—६७, २६७, २६७, २६८

पट्टान—२८८

पण्डुक—१०३ टि०

पतञ्जलि—१८४, १८५

पत्थरकट्टी—२५७, २५८



- पद्मार्ध—२२२  
 पद्मसंभव—२११, २१२  
 पद्माकरगुप्त—२२१  
 पद्मावती—१४२  
 पद्मसुदनी—२०८  
 पद्मवितहिल—६६  
 परमत्तबोतिका—२०८  
 परमत्तदीपनी—२०८  
 परमार्थ—२०४, २०५  
 परमार्थसप्तिका—२०६  
 परशुराम—८, १६५  
 परहितमद्र—२२४  
 पांचाल्य—२१  
 पांचित्तिय—२८७  
 पाटलिग्राम—१२६, १३०  
 पाटलिपुत्र—१२, ५१ टि०, १३५, १६६, १७०, १७१, १७२, १७३, १८०, १८१, १८३, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९२, १९४, १९६, २०२, २०३, २१५, २६६, २६७, २६५, २६६  
 पाटलिपुत्रकी कथा—१८८ टि०, २०३ टि०, २०५ टि०, २२० टि०, २२२ टि०, २२७ टि०  
 पाटाचारा—८८, १३६  
 पाण्डव—४५  
 पाण्डवगिरि—४४  
 पातंजलियोगसूत्र—२०६  
 पाथिकपुत्र—८७  
 पारमिता—२४२  
 पारसनाथसिंह—२६६  
 पाराजिक—२८७  
 पारामिबिष—१०४  
 पारिलेयक—७६  
 पार्श्वनाथ—१३, १६  
 पालि जनपद—२८३  
 पालिमतिष्ठान—२७६  
 पालिमाषा का व्याकरण—२७६  
 पालिमहाव्याकरण—२८२ टि०  
 पालिलिटरेचर एण्ड लैंग्वेज—२८८ टि०  
 पालिसाहित्य का इतिहास—३६ टि०, १३३ टि०, २०८ टि०, २८२ टि०, २८७ टि०, २८८ टि०  
 पाल्की गखू—१७५  
 पावा—११, ६७, १६२  
 पार्चात्य-सर्कशास्त्र—२७६  
 पिचुवारूप—२६१  
 पिएडोलमारद्राज—७६  
 पिप्पली—३३, ७४  
 पिप्पलीकानन—४, ५  
 पिप्पलीमाषावक—७३, २६३  
 पिप्पलीवन—१३३  
 पी० सी० मानुक—२६७  
 पी० सी० मुखर्जी—२७०  
 पुष्कुसाति ( पुष्करसाति )—१२३  
 पुमाल पञ्जति—२८८  
 पुण्डरीक—८५, ८६  
 पुण्ड्र—४, ५, ३१  
 पुण्यवद्वन—१३६  
 पुण्यवद्वन—१३६  
 पुण्यत्रात—२०३  
 पुतलीपा—२४०  
 पुनर्वसु—१०३ टि०  
 पुराण ( पुराण )—१५६  
 पुराणकस्तप ( पुराणकाश्या )—१६, १८, ३६, ८५, १२२

- पुरातत्त्वनिबन्धावली—२८२  
 पुरातत्त्व-विभाग—२४५  
 पुरातत्त्वार्क—२३१ टि०, २३२ टि०  
 पुरातत्त्ववैज्ञान्य-विभाग—२४५  
 पुरुषसूक्त—७  
 पुष्पगुप्त—१७५ टि०,  
 पुष्पमित्र—१८२, १८३, १८४, १८५, १८६,  
 १८७, १८४  
 पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय—१८६ टि०  
 पूरणा वर्मा—१८६, २४६  
 पूर्णक—८६ टि०,  
 पूर्णा—५०  
 पूर्णिका—१३६  
 पूर्णिमा—५  
 पूर्वदेश जैलारिगाटी—२५४  
 पृथ्वीसिंह मेहता—५  
 पेटकोरदेश—२८८  
 पेतवत्यु—२८७  
 पेतवत्युटीका—२०८  
 पेशावर—१७५  
 पोखरिणी—३४  
 पोद्दपादसुत्त—३२  
 पोत्तलिय—६०  
 पोत्तलियुव ११७  
 पौलुपि-इन्द्रधुम्म—६  
 पौष्करसाति—६४  
 प्रकाशमति १८६  
 प्रजापति—४०, १३६  
 प्रतापवत्त—५६  
 प्रतीत्यसमुत्पाद—५३, २३३, २५६  
 प्रधान स्तम्भलोल—१७४, ३३५  
 प्रभामित्र—१८८  
 प्रमगन्द—१२, १३  
 प्रमाणवार्त्तिक—२७४  
 प्रमाणवार्त्तिक त्ववृत्ति—२७४  
 प्रयाग—१७३, १७५, १७६  
 प्रयाग वर्मा—२००  
 प्रवक्ता मुत्त—४० टि०  
 प्रवाहण जैवलि—६  
 प्रशस्तपाद—१६२  
 प्रसेनजित्—२४, ३२, ६०, ६४  
 प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि—२३३ टि०  
 प्राङ्मौर्य बिहार—११ टि०, ७१  
 प्राचीन भारत—१६६ टि०, १६४ टि०,  
 २१६ टि०  
 प्राचीन भारत का इतिहास—५ टि०, १६६ टि०  
 १८४ टि०, १८७  
 टि०, १६० टि०,  
 २०४ टि०, २१८  
 प्राचारिक आश्रमन—१२४  
 प्राचारिक सेठ—८०  
 प्रासदेव—२००  
 प्रोष्ठपाद—३२  
 फ  
 फर्गुसन साहब—२४६  
 फल्लु—४८, ६०  
 फा-तिएन—२१८  
 फा-हिएन—२१८  
 फाहियान—१६२, १६४  
 फा-हू—२१६  
 फिरोजशाह तुगलक—१७५, २६३  
 फुल्लहरि—२३७ टि०,  
 फू-चियेन—२०२  
 फासि—२७७  
 व  
 वंक्हार—५६, ५७, १४६

- बगवाँ—६६  
 बड़गाँव—६५  
 बनगाँव—६० टि०  
 बनारस—६  
 बन्धुल—२४  
 बम्बई-विश्वविद्यालय—५६ टि०, २६६ टि०  
 बराबर पहाड़—१६, १७५, १८२, २५६  
 बलि—३१  
 बलिया—६, ११, २४  
 बर्मा—२४५, २४६, २४७, २५०, २५१, २५४, २७१, २७२, २७७, २६०  
 बर्मी धर्मशाला—२५३  
 बहसतिमित्र—१८२  
 बहुपुत्रक चैत्य—७४, १३२  
 बाँक—५७  
 बाँकुड़ा—५  
 बाँदा—२१  
 बाणभट्ट—३५, २१०, २३१, २६४  
 बालक—१२४  
 बालादित्य—२५७, २५८  
 बालुकाराम बिहार—१६३  
 बाह्रद्वय—२६  
 बिम्बिसार—४, ५, २०, २८, २९, ३३, ३६, ३८, ४४, ६३, ७७, ८६, ८१, ८४, ११५, १२३  
 बिस्नुपुर—२६७  
 बिहार-अनुसंधान-समिति—२६७, २६८  
 बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी—२४४, २६७  
 बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—  
 ६ टि०, १३ टि०, १६० टि०, १८२ टि०, १६६ टि०, १६७ टि०, २१० टि०, २११ टि०, २१४ टि०, २२१ टि०, २२४ टि०  
 बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्—२३५ टि०, २७४ टि०, २७५, २७८  
 बिहार-शरीफ—६, २५, २६८  
 बिहार-हिन्दीसाहित्य-सम्मेलन—२७४  
 बी० ए० मिथ—४० टि०  
 बीवक—८३, ८४  
 बुद्धिल आश्वतराश्वि—६  
 बुद्धकपाल-तंत्र—२२५  
 बुद्धगया (बोधगया)—३५, ५४, ६०, ६३, १२१, १३३, १७२, २३५, २७८  
 बुद्धगोप—३६, ५७, १३६, २०१, २०५, २०६, २०७, २०८, २८१  
 बुद्धगोप-बिहार—२०८  
 बुद्धगोमुपनिषत्—२०६ टि०,  
 बुद्धचरित—३६, ४२, १८६  
 बुद्धचर्या—१५, ४० टि०, ७१, ७६, ८० टि०, ८३, ८३ टि०, २७४  
 बुद्धदत्त—२०१  
 बुद्ध और उनके अनुचर—२२१ टि०, २७२ टि०  
 बुद्धिमान फॉर एवरीबडी—२७६  
 बुलन्दीबाग—२६६  
 बुलि—५, २६१  
 बृहदारण्यक—६ टि०  
 बृहद्वय—२६, २७ टि०, १८२  
 बोधगया-इतिहास—४७  
 बोधिद्रुम—२१७  
 बोधिपथ-प्रदीप—२२४  
 बोधिभद्र—२२३  
 बोधिराजकुमार—३५, १५७  
 बोधिराजकुमार सुचन्त—३६ टि०, ३६, ४२  
 बोधिवृक्ष—४६, २४५



बोधिसत्त्वकर्मादिमार्गावतार—२१५

बोधिसत्त्वमन्यावलि—२२५

बोधिसत्त्वसमन्तभद्र—२६२

बौधायनधौतसूत्र—११

बौद्धधर्मदर्शन—१४ टि०, १६ टि०, ३८  
टि०, ४३ टि०, २०३ टि०,  
२०६ टि०, २१२ टि०,  
२७८, २८५ टि०, २८७ टि०

बृह-सुप्-श्लोद—२१७

ब्रह्मगिरि—१७४

ब्रह्मपुत्र कीर्ति—२२१

ब्रह्मपुराण—८

ब्रह्ममित्र—१८७

ब्रह्मयोगि—६७, १२१

ब्रह्मवैवर्त पुराण—८ टि०

ब्रह्मसर—४५

ब्रह्मस्थान—४५

ब्रह्मयुसुत्तन्त—११६

ब्रिटिश म्युजियम, लंदन—६४ टि०

व्योद्-नम्-मूल-मूछन्—२२१

भ

भंगल ( भगल )—२११, २३७, २३६

भगवद्गीता—६२ टि०

भगवत्शरण उपाध्याय—५ टि०, १६६,  
१८४ टि०, २१८

भगवान्वास—४७ टि०

भगुनगर—२३७

भवन्त आनन्द कौसल्यायन—५० टि०, २७२  
टि०, ३१३ टि०

भइसाल जातक—२४

भइया (भवरिया)—५, ३४, ८६, ६०, १३६

भइ करस—११६

भद्र—१३१

भद्रपानिक—१६४

भद्रकचि—१६२

भद्रवतिका—१०६

भद्रवर्गीय—५८, ५६

भद्रसेन—१६८

भद्राकापिलायनी—७३, ७४, ७५, १४३

भद्राकुण्डलकेशा—१३६, १४४, १४५, १४६

भद्रिक ५६

भमुआ—४

भरगुड-सामम—१४

भरगुड कालाम—१४, ४१, ४२, ४३

भरतसिंह उपाध्याय—१३३ टि०, २०८ टि०,  
२८२ टि०, २८७ टि०

भरहुत—१३५, १८७, १८८

भर्ग—४, २३२

भर्तृ मेण्ड—१६२

भल्लातवाट—२६६

भागलपुर—६, ८६, ११६, २११, २१५, २१६,  
२२२, २३७, २३६, २४०

भागू शिलालेख—१७४, १७५, १७७, ३२०

भागव—१६२

भारतीय अनुशीलन—२३२ टि०

भारतीय इतिहास का उन्मीलन—१०७

भारतीय कला को बिहार की देन—१८७ टि०,  
१८८ टि०, २६६ टि०

भारद्वाज—८२

भार्गव—१२२, १२३

भार्गवगोत्र परिव्राजक—८८

भास्कर वर्मा—२६४

भाल्लपेय—६

मिस्त्रुनी खन्धक—३०४

मिन्नु जगदीश काश्यप—२७५, २७६, २८२,  
३०७ टि०

भिन्नु धर्मरक्षित—३०७ टि०

भिन्नुषी संयुत—२८६

भीम—२४२

भुसुक—२३५, २३६

भूमिज—२३, १०३

भूमिसिंह—२२४

भूमजक—१०३

भकुटी देवी—२०६, २६२

भेषज खंभक—३०१

भोगनगर—१३२

भ

भंकुल पर्वत—७६

भंगोलिया—२७७

भंडनमिश्र—६० टि०

भञ्जयान—२३०

भंदगिरि—१७५

भक्तलिङ्गोत्ताल—१६, १८, ४३, १००, १२२

भखादेव—११६

भग—१७४ टि०

भगध—३, ४, ५, ६, ९, ११, १२, १३, १६, २१, २२, २७, २८, ३०, ३२, ३६, ४७, ६१, ६३, ७२, ८३, १६६, १६१, १६३, १६४, १६६, २०२, २०३, २०५, २०६, २१०, २१३, २२२, २२५, २३६

भक्तिम निकाय—४ टि०, १४ टि०, १६, २३ टि०, २८, ३३, ३६, ४२ टि०, ४३, ६४, ६७ टि०, ६८ टि०, ७० टि०, ७२ टि० ८६ टि०, १००, १०१ टि०, १०२ टि०, ११६, १२२ टि०, १२३ टि०, १२४ टि०, १५८, १५९, १६०, १७८, २७४, २८६

भक्षितार—२१०

भक्षिनामा—२७

भक्षिमान्—२७

भक्तवल्लभ—२३२

भक्तिविहार—२२३

भक्तगाथम—४५

भक्त्य—२१

भधुरा—२६, १७२, २६६

भधुराप्रसाव दीक्षित—२६८ टि०

भदुरा—१७४

भद्र—७३

भध्य एसिया का इतिहास—२७५

भग्यमकावतार—२०६

भग्यमोपदेश—२२४

भनियार मठ—२७, २६६

भनु—२७

भनुस्मृति—१०, ११ टि०, १३४, १३५ टि०

भनोरजन घोष—२६६

भन्दसोरशिला-लेख—१६३ टि०

भर्ग—२३७ टि०

भर्वा—२३७ टि०

भल्ल—१०, ११, २१, ६७

भल्लिका—२४ टि०

भताङ्ग—६७, ६८, १६५, २६२

भहाउपासिका—१८६

भहाकावायन—७८, ११६

भहाकाशय—३२, ३३, ३८, ७२, ७३, ८४, ८५, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८

भहाकाशयपीय—७२

भहाकीद्विल—७० टि०

भहाकोशल—४, २८

भहाखन्धक—२६६

भहागोविंद सुतन्त—७०

- महातीर्थ—३३, ७२  
 महानदी—४५  
 महानन्दी—१६६  
 महानाम—२५, ५६, १५३  
 महापथक—१२५  
 महापञ्च—१६६  
 महापरिनिब्बान सुत्त—२८ टि०, ३६, ६६, टि०, २७४  
 महाप्रलापति गौतमी—३८, ७६  
 महाप्रज्ञ—६४  
 महाबोधिमर्मशाला—२५३  
 महाबोधिसाष्टी—२५२  
 महामारुत—७, ११, २६ टि०, २८, ३०, ३१, ३६, ४५, ४६, १३५  
 महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा—६८  
 महामौद्गल्यायन—१२, २१, ३२, ३८, ५१, ६३, ६४, ६७, ७०, ७२, १२१, १२२, १२७, १२८, १४४, २३२  
 महायानपथसाधनावर्णनसंग्रह—२२५  
 महाराष्ट्र—१७५  
 महालि—२५, ८५  
 महावैस—३६, ७२ टि०, ७५ टि०, १६० टि०, १६८, १७१ टि०, १७४, १८१  
 महावस्त्रो—३ टि०, ५, १३ टि०, २१ टि०, २७ टि०, २६, ३०, ३३, ५३ टि०, ५५ टि०, ६०, ६१, ६४, ७७, ६० टि०, ६१ टि०, ६३ टि०, २६६  
 महावदानसुत्त—३६  
 महावन—२५  
 महावक्त्रा—१६८  
 महावस्तु—३८, ३६  
 महाविजित—६४  
 महावीर तीर्थकर—१३, १६, ८४  
 महावीर सिंह—२७०, २७१  
 महावीरस्वामी—२७०, २७१, २७२  
 महाविदल सुत्तन्त—७०  
 महाशाला—६७, ६६, १६५  
 महासंघिक—१६१, १६०  
 महासचक सुत्तन्त—४२  
 महासुकुलदायि—३३, १००  
 महासेन गुप्त—१६६, २१०  
 महाहस्तिपदीपमसुत्तन्त—७०  
 महित—६५, ६६  
 महिष्मण्डल—१७४  
 महिश्वासक—१६४  
 महिमी—६० टि०  
 मही—५  
 महीपा—२३६  
 महेन्द्र—१८१  
 मागध—११, २५  
 माघ—११६  
 माणक-श्री—२२३  
 माण्डा ग्राम—१२८  
 माधव गुप्त—१६६  
 माण्यन्दिन—१६६  
 माण्यमिक सम्यवाय—२१६  
 माण्यमिका—१८२  
 मानभूमि—५  
 मानसरोवर—३  
 मानसिंह—२६५  
 माया देवी—४०, ४१, १६१  
 मारजित—५३, २२६  
 मारीचि—२६१, २६३  
 मार्कण्डेय पुराण—२२ टि०, २३



मालवा—११०  
मालविकाग्निमित्र—१८५ टि०  
मास्को—१७४, १७५  
मिगलंडिक भ्रमण कुत्तक—११८  
मिगार—१३६, १४०  
मिगारमाता—१४०  
मिगार-मालुषासाद—१४०  
मिहुमिन—२४५, २४६, २५१  
मिहुमिन धर्मशाला—२५३  
मिथिला—४, ५, ११, ३०, ३५, ११६  
मिगान्वर—२०, १८५, १८६, २८८  
मिर्जापुर—६  
मिलिन्दप्रश्न (पत्र)—१६ टि०, २०, ७१,  
१८६, २७६, २८८  
मिश्रक—१८१  
मुक्तापीठ—२१०  
मुंगेर—५, ६  
मुचलिनद—५४  
मुजफ्फरपुर—५  
मुण्डपुष्ट—४७  
मुण्डेश्वरी—४७  
मुनिकल्पाणविलय—१४ टि०  
मुनिमुत्त—१७८  
मुहम्मद बिन बख्तियार-इस्तिबार—२२७,  
२२८, २२९, २४१  
मूजवान्—१२  
मृगकुचिदाव—१२१, १३२  
मृगदाव—१३२  
मृच्छकटिक—२८५  
मेरास्थमिल—२६६  
मेजर मारहूम किट्टो—२४४  
मेण्डक—५, ८६, ६०, १३६  
मेत्तिय—२०३ टि०

मेदनीपुर—५  
मेचिल बोर्ड—२०७  
मेरी फोर्टर—२५३  
मैत्रायणी सुत्त—१०१  
मैत्रेयी—१३५  
मैनेजर ऑफ पब्लिकेशन, देहली—१६४  
मोगलान व्याकरण—२८४  
मोगालि—१६८  
मोगालिपुत्र तिथि—३२, १६८, १६९, १७०,  
१७१, १७२, १७४, १७८,  
१८०, २०५, २८६  
मीरनिवाप—३३  
मोहनजोदड़ो—२६३  
मोहना—४५, ६०

य

यमक—२८८  
यमान्तक—२६१  
यमारितत्र—२३६  
यमुना नदी—२६३  
यपाति—१३५  
यवद्वीप—२५५  
यवन—१७४  
यश—५८  
यशोदेव वर्मन—२५५  
यशोधरा—३८, ४१  
यशोवर्मा—२००, २०१  
यष्टिवन—६२  
यष्टिवन-विहार—१६६  
यज्ञ—६२  
याज्ञवल्क्य—८  
युगपुराण—१८३  
युधिष्ठिर—३५, ४०  
येरांगुडी—१७५

योगाचार-सम्प्रदाय—१६३  
योगेन्द्रनाथ मिश्र—२६८ टि०

र

रत्नकरगुडकव्यूह सूत्र—२०४  
रत्नकीर्ति—२१७  
रत्नगृह—२५०  
रत्नघर चैत्य—५४  
रत्नचक्रम चैत्य—५४  
रत्नमति—२०२  
रत्नरत्नक—१६८  
रत्नवज्र—२१६, २१७  
रत्नसागर—१६८  
रत्नाकर-शाम्भू—२१६, २१७, २३८  
रत्नोदधि—१६८  
रत्नकी बीणा—२६३  
राजगृह ( राजगिर )—१५, २२, २५, २६, २७,

२८, २९, ३३, ३४, ३६,  
४३, ४५, ४६, ६२, ६३,  
६८, ६९, ७०, ७१, ७४,  
७६, ७७, ७८, ७९, ८०,  
८३, ८४, ८७, ८८,  
१००, १०१, १०६,  
१०८, ११०, १११,  
११२, ११४, ११५,  
११६, १२०, १२२,  
१२५, १२६, १२७,  
१२८, १२९, १३२,  
१३६, १३८, १४२,  
१४३, १४४, १४७,  
१४८, १४९, १५१,  
१५३, १५४, १५५,  
१५६, १५७, १५८,  
१६०, १७३, १८०,

१९६, २१८, २२९,  
२६०, २६५, २७२,  
२७८, २८२, २८५,  
२९१, २९२, २९६

राजपाल—२१८, २१९  
राजापत्तन—५४, २५०  
राहु—२२६  
राघ—६८, ६९  
रानीउल—२५०  
रामगाम—१३३  
रामगोपाल मिश्र—७० टि०  
रामायण—३०, ३६  
रामेश्वरम्—१७५, २७१  
रामोदार दास—२७३  
रावचूर—१७५  
रावल सीसाइटी ऑफ ग्रैंड ब्रिटेन एण्ड  
आयरलैंड—२५४  
राष्ट्रपाल परिषद्—२०५  
राहुल—३८, ७६  
राहुलमद्र—२३४  
राहुल सांस्कृत्यायन—१५, ४०, ५४ टि०, ६६  
टि०, ७९ टि०, ८०,  
८३, १२३ टि०, १३०,  
१३२ टि०, २१५ टि०,  
२१६, २३३, २४० टि०,  
२७२, २७३, २८५

रिन्-छेन्-स्नन्—२२१

रिविलागंज—५

रुग्मिनी देव—१७५

रूपनाथ—१७४

रूपसारि—६६

रेवत—३२, ६६, १६२, १६३, २०१,  
२०६, २०७, २८१

रोमपाद—३१

रौनिया ग्राम—२७५

ल

लंका—१८०, २०५, २७७, २८३, २६०

लंकावतार सूत्र—२०३

लहाख—२५३

ललितविस्तर—५, १२, १४, १७ टि०, १८ टि०,  
२१, ३८, ३९, ४०, ४२,  
५३ टि०

लाहं कर्जन—२५२

लिङ्गांग-वंश—२०४, २०५

लिच्छवि—११, १४, १३१

लिन्-सेर-ग्गी-ल्-खड्—२२४

लीलापा—२३८

लीलावज्र—२३८

लुम्बिनी—४१, १७२

लुहिपा—२३४

लोकजित्—५३

लोकनाथ—२६८

लोयकार—१२४

लोला—१३७

लोहितक—१०३ टि०

लौरिया अरेराज—१७५

लौरियानन्दन गढ़—१७५

लहासा—२११, २१२, २२५

व

वंग—१३

वंगन्त—३६

वमामुदा—११८, ११९

वचकुटी—३४

वज्रि—५, २२, २४, २५, ६६, ८३, ११८,  
१२८

वज्रमति—२०५

वज्रयान—२२३, २२६, २३०, २३२, २३३,  
२४०

वज्रयानापत्तिमंजरी—२२५

वज्रशारदा—२६२

वज्रादित्य—१६७

वज्रासन—४६, ५०, ५१, ५४

वज्रासनभूमि—३५

वज्रासनमहाविहार—२२३

वसिष्ठाग्राम—२६८

वत्स—१७, २१, ३६

वत्सगोत्रीय पुण्डरीक—८५

वत्समहि—२६२

वत्सा—१३७

वनपत्र—४५

वनवास—१७४

वराह—२७

वराहमिहिर—१६२

वर्द्धमान—१३, २३, ३२

वर्षाकार—२५, १११, १२८, १२९, १५७,  
१५८

वसन्तपाल—२२०

वसिष्ठ—७, ६

वसु—२५

वसुधारा—२६२

वसुधन्वु—१६२, २-४, २०८, २०९

वसुमती—२५

वसुमित्र—२०४

वसुराज—२०६

वसुवंश—२६

वस्तुपनायिक वस्तुधक—३४ टि०

वाकपाल—२१८

वाचकनवी—१३५

वासिदो—२४५



वादन्याय—२७४  
 वान-हींग—२००  
 वाप्य—५६  
 वाप्यट—२१४  
 वामक—६१  
 वामदेव—६१  
 वामराशि—२२०  
 वामा—१३  
 वायुतत्त्वदीहागीतिका—२३६  
 वायुपुराण—३१ टि०  
 वाराणसी—५७, ५८, ८२, ११६  
 वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालय—२७५  
 वारीन्द्र—२३४  
 वार्पानग्रामिक—१६३  
 वालभग्राम—६६  
 वामिष्ठ—२६  
 वाल्मीकीय रामायण—६ टि०, २२, २३, २५,  
 २८, ३१  
 विक्रमशिला-विश्वविद्यालय—२१५, २१६,  
 २१७, २२२,  
 २२३, २२४,  
 २२६, २२७,  
 २३७, २३८,  
 विग्रहपाल द्वितीय—२१८ टि०, २१६  
 विग्रहव्यावर्तिनी—२७४  
 विजया—१४८  
 विंटरनिंज—२८५  
 विह्वल—२६, ४० टि०  
 विदिशा—१८४, १८६  
 विद्याकोकिल—२१७  
 विद्यामाधमिद्धि—१६६  
 विशालाकार-कलेज—२७५  
 विनय पिटक—३८, ५४, ६३ टि०, ७५, ८४,  
 २७४, २८७, २८८

विन्यवावी—१६२  
 विमल कौण्डिन्य—१५१  
 विमलचरया लाहा—२०८ टि०  
 विमलरत्न-लेखन—२२५  
 विमला—१४३, १४४  
 विमानवधु—२८७  
 विमानवधुटीका—२०८  
 विशाल—१०१, १३८, १३६  
 विशालवत्त—१६३  
 विशाला—२६, ६०, ११६, १३६, १४०, १४१  
 विशाल—२३, २६८  
 विशाला—२२  
 विशुद्धिमग—२०७, २०८, २८२  
 विश्वसेग—१३  
 विश्वामित्र—७, ८, ६, २८, ३०, ३५, ६१  
 विष्णुसरोवर—२३७ टि०,  
 विष्णु—८  
 विष्णुगुप्त—२६४  
 विष्णुनगर—२३६  
 विष्णुपुराण—२२, २३, ३६ टि०, १६६  
 विष्णु शर्मा—१७  
 विसेंट मिश्र—१७४  
 विहार-श्रवणकोश—२७८ टि०  
 विज्ञप्तिमाधतामिद्धि—२७४  
 वीरतनाम—२७७  
 वीरापा—२३६  
 वीताशोक—१७६  
 वीरवज्र—२१७  
 वीरसेत—१६३  
 वेणुवन (कलन्दरकनिवाय)—२८, ६३, ७८, ८२,  
 ८३, १००, ११६, १२०, १२२,  
 १२३, १२४

वेलुवग्राम—१३१  
 वृन्दावन भट्टाचार्य—२१८ टि०  
 वृषभ—२७  
 वेदिक—११२  
 वैदेह—११  
 वैद्यक व्यासगृह्यसंहिता—२२१  
 वैद्यनाथधाम—२७५  
 वैपुल्यवाद—२३०, २३१  
 वैपुल्यसूत्र—२०४  
 वैरंजा—७६  
 वैवस्वत—४६  
 वैशालिक—२३  
 वैशाली—४, ५, ११, १३, १४, २२, २३, २४,  
 २५, २८, ३३, ३६, ३८, ७७, ८२,  
 ८३, ८६, ८८, १४३, १६५, २६८,  
 २६२  
 वैहार—२७  
 व्यावहारिक—१६४  
 वाद्य—१०, ११, १६  
 श  
 शंकराचार्य—६० टि०  
 शक्र—५१  
 शक्रवापी—२७  
 शक्रादित्य—१६७  
 शबरपा—१३४  
 शबरस्वामी—१६२  
 शबरिपा—२३६  
 शब्दकल्पद्रुम—४०  
 शमठ—४५, ४६  
 शपन-आसन सन्धक—३०४  
 शर्मन्-धू न-चिन्—१६६  
 शशांक—२१०  
 शहबाजगढ़ी—२८५

शाक्य—३, १४, ३२, ३६  
 शाक्य-श्रीमद्र—२१७, २२६  
 शान्ता—३१  
 शान्तिदेव—२१३  
 शक्तिपा—२३८  
 शान्तिरक्षित—२१०, २११, २१२, २१३, २१२  
 शार्ङ्गलक्षणविवरण—२०२ टि०  
 शालवन—२५  
 शाहाबाद—४, ६, १५, ५७, ६७, ६८, १४३,  
 २११  
 शिवपुराण—८  
 शिशुनाम—२७  
 शिराएचाला—१४८  
 शिवालयमुष्णय—२१३  
 शीघ्रबुद्ध—१६८  
 शीतला—११३  
 शीतवन—७८  
 शीलपा—२३६  
 शीलमद्र—१६८  
 शीलयज्ञ—६४  
 शु गकाल—१०, १६, २६४  
 शुक्ला—१४२  
 शुद्धोदय—४० टि०, ७८, २६१  
 शुभा—१३६, १५०  
 शुभा द्वितीय—१५१  
 शुभाकर सिंह—२०५  
 शूकरखात—११४  
 शृंगालीपाद—२३६  
 शेरशाह—६  
 शोणामद्र ( सोन नदी )—३५, ५७, ६६, २१०,  
 २१६  
 शोणान्तराल—२६५  
 श्रद्धाकर वर्मा—२२१

भाष्यो—२३, २४, ४४, ६५, ७०, ७१, ७६,  
७७, ७८, ८८, ८९, १०१, १०७,  
१२३, १५३, २६१, २६४

श्रीसर्ग—२२२

श्रीगुप्त—१६२

श्रीगौरीशंकर चटर्जी—२६४ टि०

श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य—१६५

श्रीदुर्लभराज—२६२

श्रीदेव—१६६

श्रीपर्यंत—२३३, २३४, २३६

श्रीमहासामन्त शशांकदेव—२१०

श्रीमालादेवी-सिंहनाद—२०४

श्रीमित्र—२६५

श्रीयुगलकिशोर विहला—२५४

श्रीरामप्रसाद चन्दा—२६४

श्रीचेलीमाधव बरआ—२६४

श्रीशान्तिप्रमुख—२२०

श्रीशिव—४६, ५०

श्रीतसूत्र—११

श्वेतपुर—१७३

श्वेताश्वतरोपनिषद्—१६ टि०

घ

घडङ्गयोगोपदेश—२३६

च

संगीति-परिचाय मूल—६८, १५० टि०

संग्रहसर्ग—२२५

संघदेव गीतम—२०३

संघमित्रा—१७०, १८०, १८१, १८२

संघपवेलद्विपुत्र—१६, १७, ७७, १००, १२२,  
१२७

संघसिद्ध—२०४

संघान—११३, ११४

संघिसंवरपरिवर्त—२२५

संन्यासी-मठ—२४७, २४८, २५१, २६८

संयुक्त आगम—२०४

संयुक्त निकाय—४ टि०, ६२ टि०, ६५ टि०,  
७१, ७२ टि०, ७४ टि०, ७५  
टि०, ७८, ८० टि०, ८१  
टि०, १०५ टि०, १२३, २८६,  
३०७

सच्चक—२५, ८८, ८९, १३७

सच्चसंयुक्तवर्ग—५३ टि०

सचा—८८, १५१

सतास—५६

सत्युक्त—१४५, १४६

सत्यपत्र—६

सत्यमतमगदल—१७४

सद्धर्मपुण्डरीक—१६० टि०

सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रशास्त्र—२०४

सन्तालपरगना—५

सन्तिकेनिदान—५७

सन्तुष्ट—१३१

सप्तआम्रक चैत्य—८६, १३२

सप्तगुणपरिवर्णनकथा—२२१

सप्तपर्णिगुहा—१५५

सप्तशतिका—१६४

सप्तशतिका खन्धक—३०४

सप्तसिन्धु—१०

सप्तिय—१२२

समन्तपासादिका—१५६, २०८, २८४

समाधिवश—६४

समिद्धि—११७

समुद्रगुप्त—२५५

सम्मतीयसंघाराम—२६६

सम्मादिद्विसुत्त—७०

सम्मोहविनोदिनी—२०८



सम्पक् सम्बोधि—३७  
 सर चार्ल्स वेली—२६७  
 सरयू—५  
 सर विलियम जोन्स—२४३  
 सरस्वती ( नदी )—४५  
 सरस्वती ( पत्रिका )—११३ टि०  
 सरहपाद ( सरहपा )—२३३, २३४, २३५  
 सरोजवज्र—२३४  
 सर्पशौण्डिक पहाड़—२३६  
 सर्वकामी—१६२  
 सर्वदर्शनसंग्रह—११ टि०  
 सर्वास्तिवादी—१६०  
 सहजगीति—२३६  
 सहजाति—२६२  
 सहजान्तस्वभाव—२३८  
 सहबाजगद्दी—१७५  
 सहरसा—५, ६०  
 सहसराम ( सासाराम )—४, ४६  
 सहायति—५५  
 सहोर—२११, २२२, २२३  
 साकाश्य—२२६  
 सांक्रान्तिक—१६४  
 सांगधर्मचक्र—२१६  
 साँची—६२, ६४ टि०, ११६, १३५, १८७,  
 १८८, २६२  
 साकल (सागल)—२०, ७३, १४३, १४७,  
 १८५, १८६  
 साकेत—६०, १३६, १८२  
 साणक—१६६  
 साण(क)वासी सम्भूत—१६२, १६३, १६६,  
 १७०  
 सातवाहन—१६०, २३०, २३१  
 सामञ्जस्य सुत्त—१६ टि०, २०, २८ टि०  
 १५६

साम्य-यन-कासिक—२१२  
 साम्येविहार—२१२, २१३  
 सायणाचार्य—११  
 सारथ्यकासिनी—२०८  
 सारदन्द चैत्य—१३२  
 सारन—५, १३२  
 सारनाथ—४६, ५६, ५७, ५८, २१८, २१९,  
 २२०, २२३, २४४, २६४,  
 २७०, २७७, २६५, २६६  
 सारनाथ का इतिहास—२६८ टि०, २२० टि०  
 सारिचक्र—६५ टि०, ६६  
 सारिपुत्त ( सारिपुत्र )—१७, २१, ३२, ३८,  
 ४८, ४९, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७,  
 ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७६, ७७,  
 ८८, ९५, १०३, ११४, १२१, १२२,  
 १२८, १४६, १४८, २६०, २६१, २८६  
 सारिपुत्रप्रकरण—१८६  
 सालवती—१०६, १०७  
 सालिह—१६६  
 सावित्री—४५  
 सासनर्वस—२०७  
 साहिलकार ( पत्रिका )—१३२ टि०  
 साहिलकार-संसद, इलाहाबाद—१३२ टि०  
 सिगापुर—२७५  
 सिंहनादमुत्तन्त—४८  
 सिंहल—१७४, १८१, २४१  
 सिंह सेनापति—२५, ८४, ८५, १४४  
 सिंहा—१४४  
 सिगाल—३४, १००, १०१  
 सिगव—१६६  
 सिद्धन्द्रभूति—२३३ टि०  
 सिद्धपाल—२२०  
 सिद्धपुर—१७५

सिद्धार्थ—३, ६, १०, १३, १४, १५, २२, २३,  
२८, ३२, ३४, ३६, ४१, ४४, ४८, ५२,  
२४८

सिद्धार्थम—३०

सिल्लाव—७४ टि०

सिल्लावती—१०४

सिवान—४

सीतवन—७८, ११५, १३२

सीमान्त—४, ५

सिलोन—२३२ टि०, २७१

सीह-सिह-छेन—२५४

सुकुलुवापी सुत्तन्त—२८

सुगागेय—१८३

सुगाता—४६, ५०, १३०

सुत्तनिपात—३ टि०, ५, २३ टि०, ३३ टि०,  
३६, ४० टि०, ४३ टि०, ६५,  
७१ टि०, ८२ टि०, ६१ टि०,  
६२ टि०, ६८ टि०

सुत्तवाद-सम्प्रदाय—१६४

सुत्तविमंग—२८७

सुत्त—१३०

सुत्त—८२, ८३, ८४

सुत्तेश्या—३१

सुत्तकुमार—२६२

सुत्तचत्र—८६, ८७, ८८

सुत्तीय—१२६, १३०

सुत्तिय—१२६

सुत्तिया—१४०

सुम्द्र—१३१, १३३, १५०

सुम्द्रांगी—१६६

सुम्भूति—२२०

सुम्भलविलासिनी—२०८

सुम्भति—२३

सुम्भतिसेन—२१२, २२६

सुम्भन—१६७

सुम्भना—८६, १३६, १६८

सुम्भगधी—२५

सुम्भाना—१६३, २३३

सुम्भिव—५

सुम्भेनष्वांग (पुस्तक)—५१ टि०, १६० टि०,  
१६८ टि०

सुरय जयसेन—१६६, १६७

सुरेन्द्रनाथ—२५२

सुरेन्द्रबोधि—२१३

सुलतानगंज—२१६, २६५

सुवर्णप्रभासूत्र—२०३

सुवर्णाक्षी—१७४, १८६

सुपीम—१६७, १६८

सुसुमारगिरि—१५, ३५, १५७

सुल—४, ५, ३१

सुल्लेख—२३१

सुत्तरयससुत्तचोपदेश—२२५

सुत्तार्थकार—१८६

सुत्त—१७४

सुत्त—२१

सूर्ययशस्—२१६

सुत्तमदीर्घ—२२१

सेंट मार्टिन—२६८

सेतकगिराक—१०५

सेनानि ग्राम—३६, ४७, ४६, ५०

सेन्विस्तव्य-न-सेन्विस्तव्य सुत्तन्त—७०

सेल—५, ३३, ६४, ६५, ६१, ६२

सोणक—१६६

सोणकोटिविश—३४, ११४, ११५

सोणवण्ड—२०, २६, ३४, ६४, ६५

सोणवण्डसुत्त—२८ टि०, ६४ टि०

सोनपुर—१३८  
सोमा—१४३  
सोरो—१६१  
सौत्रान्तिक—१६३  
सौन्दरनन्द—१८६  
सौरापा—२२५  
स्टीफेंसन—२६८, २६९  
स्थविर महादेव—१७४  
स्थविर माध्यमिक—१७४  
स्थविर रक्षित—१७४  
स्थविर सोम—१७४  
स्थिरपाल—२२०  
स्थिरमति—१९८  
त्यूनर—२५४, २६६  
स्मन-लुंग—२२१  
स्मृतिज्ञान—२२०, २२१  
स्थादाव—१६  
स्वाग—२७७  
स्यालकोट—२०, १४३, १८५  
सोड्-सेन-गम्—२०६  
स्वस्तिक—२७  
स्वागत—११५  
स्वामी श्रद्धानन्द—२५२  
स्वामी सहजानन्द सरस्वती—२७४  
स्वीहांग—१६६

ह

हंससोम—२५४  
हजारीबाग—५, १०५  
हथक आलवक—६६, १००  
हधुआ—२४४  
हरप्रसाद शास्त्री—२५२  
हरिवंशपुराण—७ टि०  
हरिवंश—१६२

हर्षचरितम्—१८३ टि०, २०२ टि०,  
२१० टि०, ३३१, २३४ टि०,  
२६४

हर्षवर्द्धन—१६५, २३२, २५६, २६४, २६५  
हसनसाह—२६८  
हरितपादोपमसुत—१८१  
हाउथोर्न—२४६  
हाजीपुर—११०  
हारीति—११२, ११३  
हितोपदेश—१७  
हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास—१८८ टि०  
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग—७० टि०,  
३१३

हिन्दीसेवीसंसार—२७२  
हिन्दुस्तानी एकेडमी—४४६ टि०  
हिन्दुराज्यवंश—४४ टि०  
हिमालय—३, १०, ४४  
हीनवान—१६४, २६४  
होरक-ग्रासद—२३७ टि०  
हीरानन्द शास्त्री—१६४ टि०, १६५ टि०  
२००, २४६

हुन-लुन—२१०  
हेतुचक्र—२१२  
हेतुविन्दु—२७४  
हेनरी कोलबुक—२४४  
हेचब्रतन्त्री—२३६  
हेवामतन्त्र—२१६  
होई—१४  
हू-तान—२००  
हू-न-सन—२००  
ह्वा-संग—२१३  
ह्वेनसांग—५०, ५५, १६०, १६१, १६५, १६६,  
१६७, १६८, १६९, २४७, २४९,



२६५, २६८, २६९, २७०, २६२,  
२६५, २६६  
होनेसांग का पावा वर्णन—२६५ टि०,  
२६६ टि०,

स

सुद्रक अपरिमितायुष—२०४  
सुद्रशीमित—१६३  
सुवधु—८  
सेमा—१४७, १४८

अ

ज्ञानगर्भ—१६८  
ज्ञानचन्द्र—१६८  
ज्ञानभद्र—२०२  
ज्ञानमंडल-कार्यालय, काशी—२१८ टि०  
ज्ञानभीमिष—२१६  
ज्ञानसिद्धि—२३३  
ज्ञानसेन—२१३  
ज्ञानेन्द्र—२१३



## सहायक ग्रन्थों की सूची

१. महावग्गो ( दो भाग—मूलपालि )—सम्पादक, एन० के० भागवत । प्रकाशक, बंबई विश्वविद्यालय, बंबई—१, सन् १९४४-४५ ई०
२. दीघ निकाय (तीन भाग—मूलपाली)—प्रकाशक, नालन्दा-देवनागरी पालि-ग्रन्थमाला, नालन्दा, सन् १९५८ ई०
३. चूलवग्गो ( मूलपालि )—प्रकाशक, नालन्दा-देवनागरीपालि-ग्रन्थमाला, नालन्दा, सन् १९५८ ई०
४. सुत्तनिपात ( मूलपालि-सहित हिन्दी )—सम्पादक, भिच्छुधर्मरत्न, महाबोधि-सभा, सारनाथ ( बनारस ), सन् १९५१ ई०
५. मज्झिम निकाय ( मूलपालि )—प्रकाशक, नालन्दा-देवनागरीपालि-ग्रन्थमाला, नालन्दा, सन् १९५८ ई०
६. जातकट्ठकथा ( मूलपालि—बुद्धघोष )—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५१ ई०
७. प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि ( अनंगवक्ख )—गायकवाड़ औरियंटल सीरीज, लड़ोदा
८. ज्ञानसिद्धि " " "
९. धम्मपद ( भिच्छु धर्मरचित )—प्रकाशक, मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, कचौड़ी-गली, बनारस, सन् १९५३ ई०
१०. उदान ( उत्तम भिच्छु )—महाबोधिसभा, सारनाथ ( बनारस ), सन् १९३७ ई०
११. अंगुत्तर निकाय ( रोमनस्क्रिप्ट, पालि-१-६ तक )—सम्पादक, रेवरेंड-रिचार्ड्स मौरिस, सन् १८८३-१८८६ ई० और ७ से ११ भाग—सम्पादक, ई० हावर्ड, सन् १८८६-१९०० ई० ; प्रकाशक—पालिटेक्स्ट सोसायटी ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी, लन्दन
१२. सासनवस ( मोविलबोर्ड )—प्रकाशक ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी, लन्दन
१३. ललितविस्तर ( संपा० डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र ) प्रकाशक—जे० डब्लू० योमस, वाटिल मिशन प्रेस, ५७ पार्कस्ट्रीट, कलकत्ता, १८८२ ई०
१४. दीघ निकाय ( हिन्दी )—महाप्रसिद्ध राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक—महाबोधि-सभा, सारनाथ, बनारस
१५. विनय पिटक ( हिन्दी )—पं० राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि-सभा, सारनाथ, बनारस, सन् १९३६ ई०
१६. मज्झिम निकाय ( हिन्दी )—पं० राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि-सभा, सारनाथ ( बनारस ), सन् १९३३ ई०

१७. संयुक्त निकाय ( अनु० भिच्छु जगदीश काश्यप और धर्मरक्षित )—महाबोधिसमा, सारनाथ ( बनारस ), सन् १९५४ ई०
१८. मिलिन्द पञ्चह ( अनु० भिच्छु जगदीश काश्यप )—प्रकाशक, धर्मोदय-समा, कलकत्ता, सन् १९५१ ई०
१९. शेरी-नाथा ( अनु० भरत सिंह उपाध्याय )—प्रकाशक, सत्साहाहित्य-मंडल, नई दिल्ली
२०. जातक (छह भागों में)—अनु० भदन्त आनन्द कौस्तुभायन, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग
२१. महावंस ( गायगर का संस्करण )—भदन्त आनन्द कौस्तुभायन, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग
२२. अथर्ववेद-संहिता (सम्पा० दामोदर सातवले कर)—स्वाध्याय-मण्डल, सतारा ( पूना )
२३. अथर्ववेद—अर्पा-साहित्य-मण्डल, अजमेर, विक्रम-संवत् १९८९
२४. महाभारत—मंडारकर औरियटल प्रिन्टर्स इन्स्टिट्यूट, पूना
२५. वाल्मीकीय रामायण—पाण्डुरंगवावली, बंबई
२६. श्वेताश्वतरोपनिषद्—लेमराल-श्रीकृष्णदास, बैंकटेश्वर प्रेस, बंबई
२७. छान्दोग्योपनिषद्— " " "
२८. बृहदारण्यकोपनिषद्— " " "
२९. तैत्तिरीयोपनिषद्—गीता-प्रेस, गोरखपुर ( उत्तर प्रदेश )
३०. मुण्डकोपनिषद्— " " "
३१. मनुस्मृति ( कुल्लुकभट्ट-टीका )—निर्णयतागर प्रेस, बंबई
३२. हरिवंशपुराण—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
३३. विष्णुपुराण—श्रीरामचन्द्र शर्मा, बंबई
३४. हर्षचरितम् ( वाणभट्ट )—चौखम्भा-संस्कृत सीरीज, बनारस
३५. मालविकाग्निमित्रम् ( कालिदास )— " " "
३६. मृच्छकटिकम् ( शूद्रक )—प्रका०, मास्टर सेनाधीनल प्रेस संस, बनारस
३७. युगपुराण ( सम्पा० डॉ० आर० मनकद )—प्रका०, चारुतर-प्रकाशन, बलम्बिवा-नगर, सन् १९५१ ई०
३८. बुद्धचर्या ( पं० राहुल सांकृत्यायन )—प्रका०, शिवप्रसाद गुप्त, सेवा-उपवन, काशी, विक्रमसंवत् १९८८
३९. तिब्बत में बौद्धधर्म ( पं० राहुल सांकृत्यायन )—प्रका०, किताब-महल, इलाहाबाद, १९४८ ई०
४०. पालि-साहित्य का इतिहास (श्रीभरतसिंह उपाध्याय)—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, सन् १९४९ ई०



४१. बौद्धधर्म-दर्शन ( आचार्य नरेन्द्रदेव )—विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना
४२. भगवान् बुद्ध ( धर्मानन्द कोसम्बी )—साहित्य एकाडमी, नई दिल्ली,  
सन् १९५६ ई०
४३. पालिमहाव्याकरण ( भिक्षु जगदीश काश्यप )—प्रका०, महाबोधि-सभा, सारनाथ  
( बनारस )
४४. चीनी बौद्धधर्म का इतिहास ( डॉ० चाउ-सियांग-कुआंग )—प्रका०, भारती-भंडार,  
इलाहाबाद
४५. अशोक की धर्मलिपियाँ ( महामहोपाध्याय गौरीशंकर-हीराचन्द्र ओझा )—  
प्रका०, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी, वि० सं० १९८०
४६. नालन्दा ( डॉ० हीरानन्द शास्त्री )—प्रकाशक, मैनेजर ऑफ पब्लिकेशन, देहली,  
सन् १९३८ ई०
४७. प्राचीन भारत ( श्रीगंगाप्रसाद मेहता )—हिन्दी प्रकाशन-मण्डल, बनारस,  
सन् १९४८ ई०
४८. पाटलिपुत्र की कथा ( श्रीसत्यकेतु विद्यालंकार )—हिन्दुस्तानी एकाडमी, इलाहाबाद
४९. प्राचीन भारत क इतिहास ( श्रीभगवतशरण उपाध्याय )—प्रका०, हिन्दुस्तानी प्रेस,  
पटना
५०. बुद्ध और उनके अनुचर ( भदन्त आनन्द कोसल्यायन )—प्रयाग-पब्लिशिंग हाउस,  
प्रयाग, सन् १९५० ई०
५१. विहार—एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन ( श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार और श्रीपृथ्वीसिंह  
मेहता )—प्रका०, पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय, १९४० ई०
५२. हिन्दुराज्यतंत्र ( दूसरा खंड )—डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल, प्रकाशक—नागरी-  
प्रचारणी-सभा, काशी, संवत् १९६६
५३. अंधकारयुगीन भारत ( मूल-लेखक, डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल )—  
अनु० श्रीरामचन्द्र वर्मा, प्रका०—नागरीप्रचारिणी-सभा, काशी
५४. बोधगया-इतिकथा ( श्रीजगन्नाथदास )—बोधगया, सन् १९५६ ई०
५५. भारतीय इतिहास का उन्मीलन ( श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार )—५वाँ संस्करण
५६. जयन्तीस्मारक-ग्रन्थ ( प्रका० पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय )—सन् १९४२ ई०
५७. हर्षवर्द्धन ( श्रीगौरीशंकर चटर्जी )—प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकाडमी प्रयाग,  
सन् १९५० ई०
५८. तपोभूमि ( श्रीरामगोपाल मिश्र )—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, संवत् २००७
५९. सुयेनचवांग ( श्रीजगन्मोहन वर्मा )—हिन्दी-पुस्तक-एजेंसी, कलकत्ता, संवत्—  
१९८०
६०. प्राङ्मौर्य विहार ( डॉ० देवसहाय त्रिवेद )—विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना

६१. हिन्दी-साहित्य का वृहद् इतिहास (चौथा खण्ड)—प्रकाशक—नागरी-प्रचारिणी  
सभा, काशी
६२. गुप्तकालीन मुद्रापै (डॉ० अनन्त-सदाशिव अरुतेकर)—बिहार-राष्ट्रभाषा-  
परिषद्, पटना
६३. सारनाथ का इतिहास (श्रीधृन्दावन भट्टाचार्य)—प्रकाशक, ज्ञानमण्डल-ग्रन्थालय,  
काशी, संवत् १९७६
६४. बिहार-अब्दकोश—ले० प्रका०, श्रीगदाधरप्रसाद अम्बष्ठ, पटना, सन् १९५४ ई०
६५. भारतीय कला को बिहार की देन (डॉ० चिन्मयेश्वरीप्रसाद सिंह)—प्रका०  
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना
६६. स्मारचेल का शिला-लेख (डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल)—इंडियन प्रेस,  
प्रयाग, १९२८ ई०
६७. गया एण्ड बोधगया—श्रीविष्णुमाधव बरुआ
६८. दि लाइफ एण्ड वर्क बुद्धघोष—श्रीविमलचरम लाहा
६९. जर्नल एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, भाग ६६
७०. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया—डॉ० विंसेंट स्मिथ, सन् १९२४ ई०
७१. इंडिया हिस्टोरिकल क्वार्टली—मार्च, १९२५ ई०
७२. पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज—श्रीगायगर
७३. गंगा ( मासिक ) का पुरातत्त्वांक—सन् १९३२ ई०, मुलतानगंज, भागलपुर
७४. गंगा ( ,, ), जनवरी, १९३१ ई०
७५. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका ( काशी ), भाग १०, अंक ४, वि० सं० १९८६
७६. साहित्यकार ( बुद्धांक )—साहित्यकार-संसद, इलाहाबाद, सन् १९५६ ई०



## सम-संशोध

पुस्तक के पृ० २१ की २. संख्यावाली टिप्पणी में जहाँ 'ललितविस्तर' छप गया है, वहाँ 'अंगुत्तर निकाय' छपना चाहिए था। इसी प्रकार परिशिष्ट— १ के पृ० २८१ वाला प्रधान शीर्षक 'भाषा और साहित्य को बौद्धधर्म की देन' के स्थान पर 'बौद्धधर्म को भाषा और साहित्य की देन' होना चाहिए। कृपया उक्त भ्रान्तियों का परिमार्जन कर लें।

—लेखक













Central Archaeological Library,  
NEW DELHI. 36906

Call No. 294.3095416  
Tri

Author Tripathi H.

Title श्री २०१३  
विश्व

*"A book that is shut is but a block"*

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY  
GOVT. OF INDIA  
Department of Archaeology  
NEW DELHI.

Please help us to keep the book  
clean and moving.